नमो नमो निम्मलदंसणस्स

पूज्य आनंद-क्षमा-ललित-सुशील-सुधर्मसागर-गुरुभ्यो नमः

सवृत्तिक-आगम-सुत्ताणि

भाग 30

आगम ४०

"आवश्यक" मूलं एवं वृत्तिः [३]

मूल संशोधक :- पूज्यपाद आगमोद्धारक आचार्यश्री आनंदसागरसूरीश्वरजी महाराजसाहेब

अभिनव-संकलनकर्ता :- आगम दिवाकर मुनिश्री दीपरत्नसागरजी [M.Com., M.Ed., Ph.D., श्रुतमहर्षि]

पूज्य शासनप्रभावक आचार्यश्री हर्षसागरसूरिजी की प्रेरणा से
'वर्धमान जैन आगम मंदिर संस्था' पालिताणा

ईस प्रोजेक्ट के संपूर्ण-अनुदान-दाता

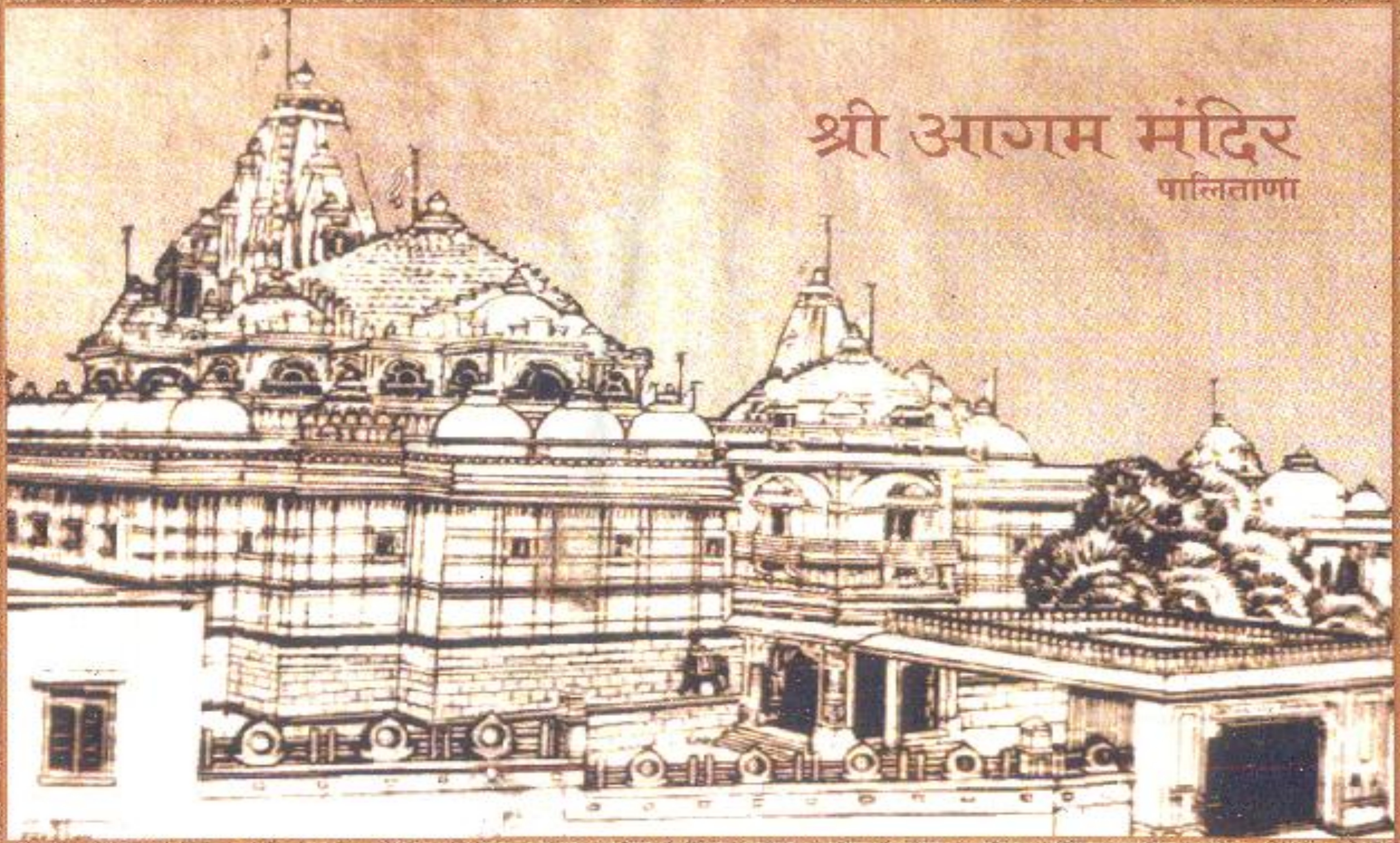

नमो नमो निम्मलदंसणस्स

सवृत्तिक-आगम-सुत्ताणि

मूल संशोधक

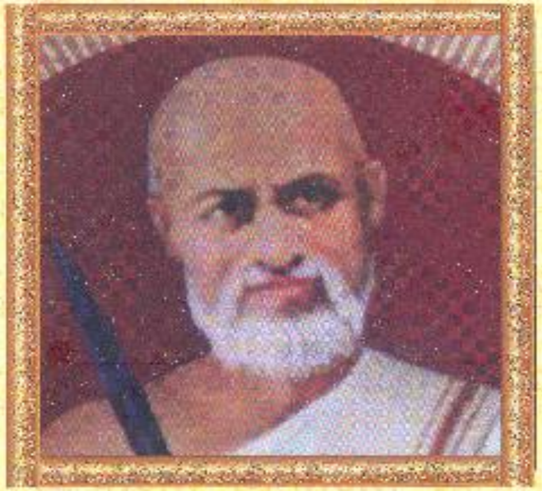

पूज्यपाद आगमोद्धारक आचार्य

श्री आनंदसागरसूरीश्वरजी महाराज

अभिनव-संकलनकर्ता

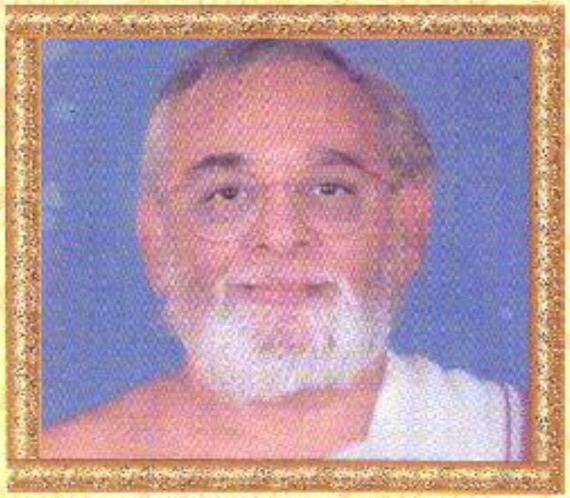

आगम दिवाकर मुनिश्री दीपरत्नसागरजी

[M.Com., M.Ed., Ph.D., श्रुतमहर्षि]

प्रत-प्राप्ति और पेज-सेटिंग कर्ता : www.jainelibrary.org के चेरमन श्री प्रवीणभाई शाह, अमेरिका

मुद्रक : नवप्रभात प्रिन्टींग प्रेस अमदाबाद Mo 9825598855 / 9825306275

आगम

वाचना शताब्दी वर्ष

[भाग-३०] श्री आवश्यक सूत्रम् (मूलसूत्रम्-१/३)

नमो नमो निम्मलदंसणस्स

पूज्य श्रीआनंद-क्षमा-ललित-सुशील-सुधर्मसागर गुरूभ्यो नम:

"आवश्यक" मूलं एवं वृत्ति:

[मूलं + भद्रबाहुस्वामी कृत् निर्युक्ति; + भाष्यं + हरिभद्रसूरि रचिता-वृत्ति:]

भाग-३०, निर्युक्ति:- (९५२ से १२७३.अपूर्ण) + (अध्ययन १ से ४.अपूर्ण)

[शेष निर्युक्ति-१२७३ एवं शेष अध्ययन-४ भाग-३१स्य आरंभे वर्तते]

[आद्य संपादकश्री]

पूज्य आगमोद्धारक आचार्यदेव श्री आनंदसागर सूरीश्वरजी म. सा.

(किञ्चित् वैशिष्ठ्यं समर्पितेन सह)

पुन: संकलनकर्ता→ मुनि दीपरत्नसागर (M.Com., M.Ed., Ph.D. श्रुतमहर्षि)

28/07/2017, शुक्रवार, २०७३ श्रावण शुक्ल ५ 'सवृत्तिक-आगम-सुत्ताणि' श्रेणि भाग-३०

श्री आगमोद्धारक-वाचना-शताब्दी-वर्ष-निमित्त 'आगम-वृत्ति-मुद्रण-प्रोजेक्ट'

सामाचारी-संरक्षक, ज्ञानधनी, आगम-संशोधक, तीव्र-मेधावी, समाधिमृत्यु-प्राप्त, बहुमुखीप्रतिभाधारक

पूज्यपाद आगमोद्धारक आचार्यदेव श्री आनंदसागरसूरीश्वरजी महाराज साहेब

◆ जिन्होने शुद्ध-श्रद्धा, सम्यक्-श्रुत आराधना, यथाख्यातचारित्र के प्रति गति और अंत समय देह-ममत्व के त्याग के द्वारा कायोत्सर्ग नामक अभ्यंतर-तप कि मिशाल कायम कि है ऐसे बहुश्रुत आचार्य श्री सागरानंदसूरीश्वरजी महाराज का परिचय कराना मेरे लिए नामुमकिन है, फ़िर भी गुरुभक्ति बुद्धि से श्रद्धांजली स्वरुप एक मामुली सी झलक पैस करने का यह प्रयास मात्र है |

◆ चारित्र-ग्रहण के बाद अल्प कालमे जो अपने गुरुदेव की छत्रछाया से दूर हो गये, तो भी गुरुदेव के स्वर्ग-गमन को सिर्फ़ कर्मो का प्रभाव मानकर अपने संयम के लक्ष्य प्रति स्थिर रहते हुए अकेले ज्ञान-मार्ग कि साधना के पथ पर चले | पढाई के लिए ही कितने महिनो तक रोज एकासणा तप के साथ बारह किल्लोमिटर पैदल विहार भी किया | लेकिन अपने मंझिल पे डटे रहे, और परिणाम स्वरुप संस्कृत एवं प्राकृत भाषा का, प्राचीन लिपिओ का, व्याकरण-न्याय-साहित्य आदि का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया | जैन आगमशास्त्रो के समुद्र को भी पार कर गए|

◆ एक अकेला आदमी भी क्या नहीं कर शकता? इस प्रश्न का उत्तर हमें इस महापुरुष के जीवन और कवन से मिल गया, जब वे चल पड़े देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण के स्थापित पथ पर. बिना किसी सहाय लिए हुए सिर्फ अकेले ही “जैन-आगम-शास्त्रो” को दीर्घजीवी बनाने के लिए अनेक हस्तप्रतो से शुद्ध-पाठ तैयार किये | दो वैकल्पिक आगम, कल्पसूत्र और निर्युक्तिओ को जोड़कर ४५ आगम-शास्त्रो को संशोधित कर के संपादित किया | फिर पालीताणामें आगम मंदिर बनवाकर आरस-पत्थर के ऊपर ये सभी आगम-साहित्य को कंडारा, सूरतमें ताम्रपत्र पर भी अंकित करवाए और “आगम मंजूषा” नाम से मुद्रण भी करवा के बड़ी बड़ी पेटीमें रखवा के गाँव गाँव भेज दिए | वर्तमानकालमे सर्व प्रथमबार ऐसा कार्य हुआ |

◆ सिर्फ मूल आगम के कार्य से ही उन के कदम रुके नही थे, उन्होंने आगमो की वृत्ति, चूर्णि, निर्युक्ति, अवचूरी, संस्कृत-छाया आदि का भी संशोधन-सम्पादन किया | उपयोगी विषयो के लिए उन्होंने एक लाख श्लोक प्रमाण संस्कृत-प्राकृत नए ग्रंथो की रचना भी की | कितने ही ग्रंथो की प्रस्तावना भी लिखी | ये सम्यक्-श्रुत मुद्रित करवाने के लिए आगमोदय समिति, देवचंद लालभाई इत्यादि विभिन्न संस्था की स्थापना भी की |

◆ ज्ञानमार्ग के अलावा सम्मेतशिखर, अंतरीक्षजी, केशरियाजी आदि तीर्थरक्षा कर के सम्यक-दर्शन-आराधना का परिचय भी दिया | राजाओं को प्रतिबोध कर के और वाचनाओ द्वारा अपनी प्रवचन-प्रभावकता भी उजागर करवाई | बालदिक्षा, देवद्रव्य-संरक्षण, तिथि-प्रश्न इत्यादि विषयोमे सत्य-पक्षमें अंत तक दृढ़ रहे | जैनशासन के लिए जब जरुरत पड़ी तब अदालती कारवाईंओ का सामना भी बड़ी निडरता से किया था |

◆ सागरानंदजी के नाम से मशहूर हो चुके पूज्य आनंदसागरसूरीश्वरजीने अपने परिवार स्वरुप ८७० साधू-साध्वीजी भी शासन को भेट किये |

...ये थे हमारे गुरुदेव “सागरजी”... *......मुनि दीपरत्नसागर...*

संयमैकलक्षी, उपधान-तप-प्रेरक, चारित्र-मार्ग-रागी, प्रवचन-पटु, सुपरिवार-युक्त

पूज्य गच्छाधिपतिआचार्यदेव श्री देवेन्द्रसागरसूरीश्वरजी महाराज साहेब

*** परमपूज्य आचार्यश्री आनंदसागरसूरीश्वरजी के पाट-परंपरामे हुए तिसरे गच्छाधिपति थे पूज्य आचार्य श्री देवेन्द्रसागरसूरीश्वरजी, जो एक पून्यवान् आत्मा थे, दीक्षा ग्रहण के बाद अल्पकालमे ही एक शिष्य के गुरु बन गये | फ़िर क्या ! शिष्यो कि संख्या बढती चली, बढ़ते हुए पुन्य के साथ-साथ वे आखिर 'गच्छाधिपति' पद पे आरूढ़ हो गए | इस महात्मा का पुन्य सिर्फ शिष्यों तक सिमित नही था, वे जहा कहीं भी 'उपधान-तप' की प्रेरणा करते थे, तुरंत ही वहां 'उपधान' हो जाते थे | प्रवचनपटुता एवं पर्षदापुन्य के कारण उन के उपदेश-प्राप्त बहोत आत्माओने संयम-मार्ग का स्वीकार किया | खुद भी संयमैकलक्षी होने के कारण चारित्रमार्ग के रागी तो थे ही, साथसाथ ज्ञानमार्ग का स्पर्श भी उन का निरंतर रहेता था | आप कभी भी दुपहर को चले जाइए, वे खुद अकेले या शिष्य-परिवार के साथ कोई भी ग्रन्थ के अध्ययन-अध्यापनमें रत दिखाई देंगे |

*** ये तो हमने उनके जीवन के दो-तीन पहेलु दिखाए | एक और भी अनुसरणीय बात उन के जीवनमें देखने को मिली थी- 'आराधना-प्रेम'. कैसी भी शारीरिक स्थिति हो, मगर उन्होंने दोनों शाश्वती ओलीजी, [पोष}दशमी, शुक्ल पंचमी, त्रिकाल देववंदन, पर्व या पर्वतिथि के देववंदन आदि आराधना कभी नहीं छोड़ी | आखरी सालोमें जब उन को एहसास हो गया की अब 'अंतिम-आराधना' का अवसर नजदीक है, तब उन के मुहमें एक ही रटण बारबार चालु हो गया- *"अरिहंतनुं शरण, सिद्धनुं शरण, साधुनुं शरण, केवली भगवंते भाखेला धर्मनुं शरण"* इसी चार शरणो के रटण के साथ ही वे समाधि-मृत्यु-रूप सम्यक् निद्रा को प्राप्त हुए थे | ऐसे महान् सूरिवर को भावबरी वंदना | *** मुनि दीपरत्नसागर...

◆◆◆ श्री वर्धमान जैन आगम मंदिर संस्था, पालिताणा ◆◆◆

पूज्यपाद आनंदसागर-सूरीश्वरजी की बौद्धिक-प्रतिभा का मूर्तिमंत स्वरुप ऐसी इस संस्था की स्थापना विक्रम-संवत १९९९ मे महा-वद ५ को हुइ| *पूज्य आचार्य हर्षसागरसूरिजी की प्रेरणा से* जिन की तरफ़ से इस *सवृत्तिक-आगम-सुत्ताणि* के लिए संपूर्ण द्रव्य-सहाय की प्राप्ति हुइ |

शिल्प-स्थापत्य, शिलोत्कीर्ण आगम और समवसरण स्थित नयनरम्य ४५ चौमुख जिन-प्रतिमाजी से सुशोभित ऐसा ये 'आगममंदिर' है, जो शत्रुंजय-गिरिराज कि तलेटीमे स्थित है | वर्तमान २४ जिनवर, २० विहरमान जिनवर और १ शाश्वत मिलाकर ४५ चौमुखजी यहा बिराजमान है | जहां ४० समवसरण की रचना मेरु पर्वत के तिनो काण्ड के वर्णो के अनुसार चार अलग-अलग रंगो के आरस-पत्थर से बना है, देवो द्वारा रचित समवसरण के शास्त्र वर्णन-अनुसार आगम-मंदिर कि समवसरण का स्थापत्य है | ऐसी अनेक विशेषता से युक्त ये आगममंदिर है |

****** मुनि दीपरत्नसागर...***

‘सागर-समुदाय-एकता-संरक्षक, तीर्थ-उद्धार-कार्य-प्रवृत्त, गुणानुरागी’

इस “सवृत्तिक-आगम-सुत्ताणि’ श्रेणि भाग १ से ४० के संपूर्ण अनुदान के प्रेरणादाता

पूज्य शासनप्रभावक आचार्य श्री हर्षसागरसूरिजी महाराज साहेब

पूज्यपाद स्व॰ गच्छाधिपति देवेन्द्रसागर-सूरीश्वरजी के विनयी शिष्य एवं दो गच्छाधिपतिओ के मुख्य सहायक के रुपमे ‘सागर समुदाय’ के सुचारु संचालक पूज्य हर्षसागरसूरिजी, जिन की प्रेरणा से ये “सवृत्तिक-आगम-सुत्ताणि” के मुद्रण के लिए संपूर्ण द्रव्यराशि प्राप्त हुई, उनका अत्यल्प परिचय यहां करेंगे| समुदाय-एकता के लिए सदैव प्रयत्नशील रहते हुए ये महात्मा *समुदाय के साधु-साध्वीजी* की आवश्यकताओकी पूर्ती के लिए भी प्रवृत्त रहेते है, प्राचीन-अर्वाचीन तीर्थो के जीर्णोद्धार एवं विकाश के लिए भी उत्साहित रहेते है, ज्ञान-क्षेत्र अछूता न रहे इसीलिए अनुमोदना, अनुदान एवं समय मिलने पर शास्त्र-वांचनमें भी रूचि रखते है | समुदाय के जरूरतमंद साध्वीजी भगवंतो के आवास का विषय हो या साध्वीजी के विहारमें मजदूर का वेतन चुकाना हो, ऐसे छोटे-छोटे कार्यो के प्रति भी उन का लक्ष्य रहेता है | दर्शन-शुद्धि के लिए जब उन्होंने समग्र भारतवर्ष के १०० साल तक के पुराने जिनालयो में १८ अभिषेक की प्रेरणा की, उस वक्त लगभग सभी अभिषेक-सामग्री की द्रव्य-शुद्धि का ख़याल रखते हुए अपनी मेधावी बुद्धि का परिचय दिया था, साथमे अनुकंपा भाव से पुजारी या विधि करानेवाले को यत्किंचित् बहुमान प्रगट करते हुए कुछ धन-राशि प्रदान करवाई |

ऐसे बहुगुण-संपन्न महात्मा पूज्य आचार्यश्री हर्षसागर-सूरिजी को हम भावभरी वंदना करते हुए इस श्रुतकार्य का प्रारंभ करने जा रहे है |

****** मुनि दीपरत्नसागर***

[कात्रज]पूना, कपडवंज, प्रभासपाटण आदि स्थानोमे आगममंदिर के प्रेरक, कर्मग्रंथ अभ्यासु, निस्पृह महात्मा

पूज्यपाद गच्छाधिपति आचार्य श्री दौलतसागर-सूरीश्वरजी महाराज साहेब

(एवं) अजातशत्रु, स्वाध्याय-रसिक, प्रशांतमूर्ती और अपने गुरु के प्रीतिपात्र

परम पूज्य आचार्य श्री नंदीवर्धनसागर-सूरिजी महाराज साहेब

इस पवित्र श्रुत-कार्यमे दोनो सूरिवरो का स्मरण करते हुए कोटि कोटि वंदना के साथ

.......मुनि दीपरत्नसागर

प्रत सूत्रांक [–] दीप अनुक्रम [–]	पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्ति:

आगमोदयसमितिसिद्धान्तसंग्रहे अङ्कः १.

श्रीमदाचार्यवर्यभद्रबाहुततनिर्युक्तियुतं पूर्वधराचार्यविहितभाष्यभूषितं
श्रीमद्भवविरहहरिभद्रसूरिसूत्रितवृत्त्यलङ्कृतं

श्रीमदावश्यकसूत्रम् (प्रथमो विभागः)

प्रकाशकः जव्हेरी चुनीलाल पन्नालालदत्तकिञ्चिदधिकार्धद्रव्यसाहायेन
शाह–वेणीचन्दसूरचन्द अस्यैकः कार्यवाहकः।

इदं पुस्तकं मुम्बय्यां निर्णयसागरमुद्रणास्पदे कोलभाटवीथ्यां २३ तमे गृहे रामचन्द्र येसू शेडगेद्वारा मुद्रयित्वा प्रकाशितम्।

वीरसंवत्. २४४२. विक्रमसंवत्. १९७२. क्राइष्टस्य. १९१६.

वेतनं सपादरूप्यकद्वयम्।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आवश्यकसूत्रस्य मूल "टाइटल पेज"

मूलाङ्का: ५०+२१ | **आवश्यक मूल-सूत्रस्य विषयानुक्रम** | दीप-अनुक्रमा: ९२

मूलांक:	अध्ययनं	पृष्ठांक	मूलांक:	अध्ययनं	पृष्ठांक:	मूलांक:	अध्ययनं	पृष्ठांक:
०१-०२	१-सामायिकं	०४१	०३-०९	२-चतुर्विंशतिस्तव:	११४	१०- --	३-वंदनकं	१५४
११-३६	४-प्रतिक्रमणं	२३३	३७-६२	५-कायोत्सर्गं	---	६३-९२	६-प्रत्याख्यानं	---

आवश्यक सटीकं (संक्षिप्त) विषयानुक्रम

निर्युक्ति / भाष्य	पीठिका →→→		नि./भा.	अध्ययनं-१- सामायिकं	---	मूलांक	अध्ययनं-४- प्रतिक्रमणं	२३७
			८९०	नमस्कार-व्याख्या	०१२	०११	नमस्कार व सामायिक-सूत्रं	२७५
---	--मंगलं		९१९	अर्हत्, सिद्धादे: निर्युक्ति:	०१२	०१३	चत्वार: लोकोतम-मङ्गल एवं	२७६
००१	--ज्ञानस्य पञ्चप्रकारा:		९६०	सिद्धशिला वर्णनं	०२१	०१४	--------------शरणभूत पदार्था:	२७६
०१३	--उपक्रम-आदि:		९९३	आचार्य-आदीनाम निक्षेपा:	०३२	०१६	संक्षिप्त व ईर्यापथ प्रतिक्रमण	२८२
०८०	--उपोद्घात-निर्युक्ति:		अ०१,मू.१	सामायिक- व्याख्या, स्वरुपम्	०४५	०१७	शयन संबंधी प्रतिक्रमणं	२८४
०८१	--वीरआदिजिनवक्तव्यता			उद्देश-वाचना-अनुज्ञा आदि:	---	०१८	भिक्षाचर्याया: प्रतिक्रमणं	२८६
३४३	--भरतचक्री-कथानकं			सूत्र स्पर्श भङ्गा:	---	०१९	स्वाध्याय, उपकरणप्रतिलेखन	२८९
भा.०३९	--बलदेव-वासुदेव कथानकं			सामायिक-उपसंहार:	---	०२०	असंयम आदि ३३-आशातना	२९०
५४३	--समवसरण वक्तव्यता		अ० २	अध्ययनं-२- चतुर्विंशतिस्तव:	११८		सूत्रोच्चारणे मिथ्यादुष्कृतम्	
५८८	--गणधर वक्तव्यता		मूलं-३	सूत्रपाठ:, कीर्तनं, प्रतिज्ञा,	१२४		प्रवचनस्तुति, वंदना, क्षमापना	
६६६	--दशधा सामाचारी		नि०१०७६	--अर्हत: विशेषणं,	१३६	अ० ५	अध्ययनं-५- कायोत्सर्ग:	
७५४	--निक्षेप, नय, प्रमाणादि		मूलं ४-६	--ऋषभादि नामानि, प्रार्थनादि	१३९		सूत्रपाठ:, कायोत्सर्गस्थापना	
७७८	--निह्नव वक्तव्यता		अ० ३	अध्ययनं-३- वन्दनं	१५८		श्रुतस्तव, सिद्धस्तवादि पाठ:	
७८९	--सामायिकस्वरुपम्		मूलं-१०	--गुरुवन्दन सूत्रपाठ:	२२८	अ० ६	अध्ययनं-५- प्रत्याख्यानं	
८१२	--गति आदि द्वाराणि			--मितावग्रह प्रवेशयाचना	२३०		सम्यक्त्व व श्रावकव्रतप्रतिज्ञा	
				--क्षमापना, प्रतिक्रमण-आदि:	२३१		विविध प्रत्याख्यानादि:	

[आवश्यक- मूलं एवं वृत्तिः] इस प्रकाशन की विकास-गाथा

यह प्रत सबसे पहले "आवश्यक सूत्र" के नामसे सन १९१६ (विक्रम संवत १९७२) में आगमोदय समिति द्वारा प्रकाशित हुई, इस के संपादक-महोदय थे पूज्यपाद आगमोद्धारक आचार्यदेव श्री आनंदसागरसूरीश्वरजी (सागरानंदसूरिजी) महाराज साहेब |

इसी प्रत को फिर अपने नामसे 'जिनशासन आराधना ट्रस्ट' की तरफ से आचार्य श्री हेमचन्द्रसूरिजीने छपवाई, जिसमे उन्होंने खुदने तो कुछ नहीं किया, मगर इसी प्रत को ऑफसेट करवा के, ऊपर अपना नाम एवं अपनी प्रकाशन संस्था का नाम छाप दिया. यह स्पष्ट रूपसे एक प्रकारसे अदत्तादान ही है, ऐसी अनेक प्रतो के अगले दो पेज पलटकर या नए डालकर उन्होंने अपने नामसे छपवाइ है, इस तरह वो अपने आपको बड़ा आगम संरक्षक साबित करनेकी अनुचित चेष्टा कर चुके है |

इसी आवश्यक-सूत्र की प्रत को ऑफसेट की मदद से दुसरोने भी भी प्रकाशित करवाई है, किसीने पूज्यश्री सागरानंदसूरीश्वरजी महाराजश्री का नाम बड़ी इज्जत के साथ अपनी जगह पे ही रखा है, और खुदका नाम पुन: संपादक रूप से पेश किया है तो किसीने अपना नाम आगे कर दिया है और पूज्य सागरानंदसूरीश्वरजीका नाम गौण कर दिया है या उड़ा दिया है |

✤ हमारा ये प्रयास क्यों?✤ आगम की सेवा करने के हमें तो बहोत अवसर मिले, ४५-आगम सटीक भी हमने ३० भागोमे १२५०० से ज्यादा पृष्ठोमें प्रकाशित करवाए है, किन्तु लोगो की पूज्यश्री सागरानंदसूरीश्वरजी के प्रति श्रद्धा तथा प्रत स्वरुप प्राचीन प्रथा का आदर देखकर हमने इसी प्रत को स्केन करवाई, उसके बाद एक स्पेशियल फोरमेट बनवाया, जिसमे बीचमे पूज्यश्री संपादित प्रत ज्यों की त्यों रख दी, ऊपर शीर्षस्थानमे आगम का नाम, फिर अध्ययन--मूलसूत्र-निर्युक्ति-भाष्य आदि के नंबर लिख दिए, ताँकि पढ़नेवाले को प्रत्येक पेज पर कौनसा अध्ययन, सूत्र, निर्युक्ति, भाष्य आदि चल रहे है उसका सरलतासे ज्ञान हो शके | बायीं तरफ आगम का क्रम और इसी प्रत का सूत्रक्रम दिया है, उसके साथ वहाँ 'दीप अनुक्रम' भी दिया है, जिससे हमारे प्राकृत, संस्कृत, हिंदी गुजराती, इंग्लिश आदि सभी आगम प्रकाशनोमें प्रवेश कर शके | हमारे अनुक्रम तो प्रत्येक प्रकाशनोमें एक सामान और क्रमशः आगे बढते हुए ही है, इसीलिए सिर्फ क्रम नंबर दिए है, मगर प्रत में गाथा और सूत्रों के नंबर अलग-अलग होने से हमने जहां सूत्र है वहाँ कौंस [-] दिए है और जहां गाथा है वहाँ ||-|| ऐसी दो लाइन खींची या 'गाथा' शब्द लिखा है| हर पृष्ठ के नीचे विशिष्ठ फूटनोट दी है |

शासनप्रभावक पूज्य आचार्यश्री हर्षसागरसूरिजी म०सा० की प्रेरणासे और श्री वर्धमान जैन आगममंदिर, पालिताणा की संपूर्ण द्रव्य सहाय से ये 'सवृत्तिक-आगम-सुत्ताणि' भाग-३० का मुद्रण हुआ है, हम उन के प्रति हमारा आभार व्यक्त करते है |

.......मुनि दीपरत्नसागर.

प्रत सूत्रांक [–]

दीप अनुक्रम [१]

न किलम्मइ जो तवसा सो तवसिद्धो दढप्पहारिव्व । सो कम्मक्खयसिद्धो जो सव्वक्खीणकम्मंसो ॥९५२॥

व्याख्या—'न क्लामति' न क्लमं गच्छति यः सत्त्वस्तपसा–बाह्याभ्यन्तरेण स एवंभूतस्तपःसिद्धः, अग्लानित्वाद्, दृढप्रहारिवदिति गाथाक्षरार्थः ॥ भावार्थः कथानकादवसेयः, तच्चेदम्—एगो धिज्जाइयओ दुद्दंतो अविणयं करेइ, सो ताओ थाणाओ नीणिओ हिंडंतो चोरपल्लिमल्लिणो, सेणावइणा पुत्तो गहिओ, तंमि मयंमि सोच्चेव सेणावई जाओ, निक्किवं पहणइत्ति दढप्पहारी से णामं कयं । सो अन्नया सेणाए समं एगं गामं हंतुं गओ, तत्थ य एगो दरिद्दो, तेण पुत्तभंडाण मग्गंताणं दुद्धं जाएत्ता पायसो सिद्धो, सो य ण्हाइउं गओ, चोरा य तत्थ पडिया, एगेण सो तस्स पायसो दिट्ठो, छुहियत्ति तं गहाय पहाविओ, ताणि खुड्डगरूवाणि रोवंताणि पिउमूलं गयाणि, हिओ पायसोत्ति, सो रोसेणं मारेमित्ति पहाविओ, महिला अवयासेउं अच्छइ, तहवि जाइ जहिं सो चेव चोरसेणावई गाममज्झे अच्छइ, तेण गंतूण महासंगामो कओ, सेणावइणा चिंतियं–एएण मम चोरा परिभविज्जन्ति, तओ असिं गहाय निद्दयं छिण्णो, महिला से भणइ–हा णिक्किव !

१ एको धिग्जातीयो दुर्दान्तोऽविनयं करोति, स ततः स्थानात् निष्काशितो हिण्डमानश्चौरपल्लीमाश्रितः, सेनापतिना पुत्रो गृहीतः, तस्मिन् मृते स एव सेनापतिर्जातः, निष्कृपं प्रहन्तीति दृढप्रहारी तस्य नाम कृतं । सोऽन्यदा सेनया समं एकं ग्रामं हन्तुं गतः, तत्र चैको दरिद्रः, तेन पुत्रपौत्रेभ्यो मार्गयद्भ्यः दुग्धं याचित्वा पायसं साधितं, स च स्नातुं गतः, चौराश्च तत्र पतिताः, एकेन तस्य तत्पायसं दृष्टं, क्षुधार्त्त इति तद्गृहीत्वा प्रधावितः, तानि क्षुल्लकरूपाणि रुदन्ति पितृमूलं गतानि, हृतं पायसमिति, स रोषेण मारयामीति प्रधावितः, महिला निवारयितुं तिष्ठति, तथापि याति यत्र स एव चौरसेनापतिर्ग्राममध्ये तिष्ठति, तेन गत्वा महासंग्रामः कृतः, सेनापतिना चिन्तितं–एतेन मम चौराः परिभूयन्ते, ततोऽसिं गृहीत्वा निर्दयं छिन्नः, महिला तस्य भणति–हा निष्कृप !

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [–]

दीप अनुक्रम [१]

किमेयं कयंति?, पच्छा सावि मारिया, गब्भोऽवि दोभाए कओ फुरुफुरेइ, तस्स किवा जाया–अहम्मो कओ, चेडरूवेहिंतो दरिद्दत्ति पउत्ती उवलद्धा, दढयरं निव्वेयं गओ, को उवाओत्ति, साहू दिट्ठा, पुच्छिया यऽणेण–भगवं! को एत्थ उवाओ?, तेहिं धम्मो कहिओ, सो य से उवगओ, पच्छा चारित्तं पडिवज्जिय कम्माण समुग्घायणट्ठाए घोरं खंतिअभिग्गहं गिण्हिय तत्थेव विहरइ, तओ हीलिज्जइ हम्मति य, सो संमं अहियासेइ, घोराकारं च कायकिलेसं करेइ, असणाइ व अलंभतो सम्मं अहियासेइ, जावऽणेण कम्मं निग्घाइयं, केवलं से उप्पण्णं, पच्छा सो सिद्धत्ति ॥ उक्तस्तपःसिद्धः, साम्प्रतं कर्मक्षयसिद्धप्रतिपादनाय गाथाचरमदलमाह–'सो कम्म' इत्यादि, स कर्मक्षयसिद्धः, यः किंविशिष्ट इत्यत आह–'सर्वक्षीणकर्मांशः' सर्वे–निरवशेषाः क्षीणाः कर्मांशाः–कर्मभेदा यस्य स तथाविध इति गाथार्थः ॥ साम्प्रतं कर्मक्षयसिद्धमेव प्रपञ्चतो निरुक्तविधिना प्रतिपादयन्नाह—

दीहकालरयं जं तु कम्मं से सिअमट्ठहा । सिअं धंतंति सिद्धस्स सिद्धत्तमुवजायइ ॥ ९५३ ॥

व्याख्या—दीर्घः सन्तानापेक्षयाऽनादित्वात् स्थितिबन्धकालो यस्य तद्दीर्घकालं, निसर्गनिर्मलजीवानुरञ्जनाच्च कर्मैव

---

१ किमेतत्कृतमिति, पश्चात्साऽपि मारिता, गर्भोऽपि द्विधाकृतः स्फुरति, तस्य कृपा जाता–अधर्मः कृतः, चेटरूपेभ्यो दरिद्र इति प्रवृत्तिरुपलब्धा, दृढतरं निर्वेदं गतः, क उपाय इति, साधवो दृष्टाः, पृष्टाश्चानेन–भगवन्! कोऽत्रोपायः?, तैर्धर्मः कथितः, स च तस्योपगतः, पश्चाच्चारित्रं प्रतिपद्य कर्मणां समुद्घातनार्थाय घोरं क्षान्त्यभिग्रहं गृहीत्वा तत्रैव विहरति, ततो हील्यते हन्यते च, स सम्यक् अध्यासयति घोराकारं च कायक्लेशं करोति, अशनादि वाऽलभमानः सम्यगध्यास्ते, यावदनेन कर्म निर्घातितं (निहतं), केवलं तस्योत्पन्नं, पश्चात्स सिद्ध इति ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अथ कर्मक्षयसिद्धस्य स्वरुपम् वर्णयति

प्रत
सूत्रांक
[–]

दीप
अनुक्रम
[१]

भण्यते ततश्च दीर्घकालं च तद्रजश्चेति दीर्घकालरजः, यच्छब्दः सर्वनामत्वादुद्देशवचनः, यत्कर्मेत्थंप्रकारं, तुशब्दो भव्यकर्मविशेषणार्थः, यतो नाभव्यकर्म सर्वथा ध्मायत इति, ततश्च यद्भव्यकर्मेति 'शेषितम्' इति शेषं कृतं शेषितं–स्थित्यादिभिः प्रभूतं सत् स्थितिसङ्ख्यानुभावापेक्षयैवानाभोगसद्दर्शनज्ञानचरणाद्युपायतः शेषम्–अल्पं कृतमिति भावः, प्राक् किंभूतं सच्छेषितम्? इत्याह—'अष्टधा सितम्' अष्टप्रकारं ज्ञानावरणादिभेदेन सितं 'सित वर्णबन्धनयो'रिति वचनात् सितं–बद्धमुच्यते। इदानीं निरुक्तिमुपदर्शयति–तच्छेषितं सितं कर्म ध्मातं, 'ध्मा शब्दाग्निसंयोगयो'रिति वचनात् ध्यानानलेन दग्धं महाग्निना लोहमलवदस्येति सिद्ध इति, एवं कर्मदहनानन्तरं सिद्धस्यैव सतः किं?–सिद्धत्वमुपजायते, नासिद्धस्य, 'भव्योऽसिद्धो न सिध्यती'ति वचनाद्, उपजायत इत्यपि तदात्मनः स्वाभाविकमेव सदनादिकर्मावृतं तदावरणविगमेनाऽऽविर्भवति तत्त्वतः तथाऽपि लौकिकवाचोयुक्त्या व्यवहारदेशनयोपजायत इत्युच्यते, अथवा सिद्धस्य सिद्धत्वं भावरूपमुपजायते, न तु प्रदीपनिर्वाणकल्पमभावरूपमिति नयमतान्तरव्यवच्छेदार्थमेतत्, तथा चाऽऽहुरेके–'दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो, नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्। दिशं न काञ्चिद्विदिशं न काञ्चित्, स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम् ॥ १ ॥' इत्यादि, एवंविधसिद्धत्वभावे दीक्षादिप्रयासवैयर्थ्यात् निरन्वयक्षणभङ्गस्य चायुज्यमानत्वात्, प्रदीपदृष्टान्तस्याप्यसिद्धत्वात्, तथाहि—तत्र त एव पुद्गला भास्वरं रूपं परित्यज्य तामसं रूपान्तरमासादयन्तीत्यलं विस्तरेण, अथवाऽन्यथा व्याख्यायते 'दीर्घकालरयं' इति रयः–वेगः चेष्टाऽनुभवः फलमित्यनर्थान्तरं, ततश्च दीर्घकालो रयोऽस्येति

१ भवे–संसारे भवो भव्यः अभव्य इत्यर्थः

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्ति:

प्रत सूत्रांक [–]

दीप अनुक्रम [१]

आवश्यक-हारिभ-द्रीया ॥४३९॥

नमस्कार० वि० १

दीर्घकालरयं, सन्तानोपभोग्यत्वादिति भावना, यद्वव्यकर्म 'सेसित' मिति श्लेषितमिति संश्लिष्टं लेश्यानुभावात् अष्टधा सितमित्यादि पूर्ववत्, अथवाऽन्यथा व्याख्यायते–दीर्घकालरज इति, तत्र रज इव रजः सूक्ष्मतया स्नेहबन्धनयोग्यत्वाद्वा रज इत्युच्यते, यद्वव्यकर्मेति च नैवं व्याख्यायते, साक्षात्कर्माभिधानेन सर्वनाम्नो निरर्थकत्वात्, प्रकरणादेव भव्यस्याव-गम्यमानत्वाद्, अभव्यस्य सिद्धत्वानुपपत्तेः, ततश्च जन्तुकर्म इति व्याख्यायते, जन्तुः–जीवस्तस्य कर्म जन्तुकर्म, अनेनाब-द्धकर्मव्यवच्छेदमाह, तच्च'से' तस्य जन्तोः 'असितम्' असितमिति कृष्णमशुभं संसारानुबन्धित्वात्, एवंविधस्यैव च क्षयः श्रेयानिति, न तु शुभस्य स्वरूपस्येति भावना, अष्टधा सितमिति पूर्ववदिति गाथार्थः ॥ प्रथमव्याख्यापक्षमधि-कृत्य सम्बन्धमाह–तत्कर्मशेषं तस्य समस्थित्यसमस्थिति वा स्यात्?, न तावत् समस्थिति विषमनिबन्धनत्वात्, नाप्यस-मस्थिति चरमसमये युगपत् क्षयासम्भवादिति, एतदयुक्तम्, उभयथाऽप्यदोषात्, तथाहि–विषमनिबन्धनत्वे सत्यपि विचित्रक्षयसम्भवात् कालतः समस्थितित्वाविरोध एव, चरमपक्षेऽपि समुद्घातगमनेन समस्थितिकरणभावाददोषः, न चैतत् स्वमनीषिकयैवोच्यते, यत आह निर्युक्तिकारः—

नाऊण वेअणिज्जं अइबहुअं आउअं च थोवागं । गंतूण समुग्घायं खवंति कम्मं निरवसेसं ॥ ९५४ ॥

व्याख्या—'ज्ञात्वा' केवलेनावगम्य, किं?–वेदनीयं कर्म, किंभूतं?–'अतिबहु' शेषभवोपग्राहिकर्मापेक्षयाऽतिप्रभूतमि-त्यर्थः, तथाऽऽयुष्कं च कर्म 'स्तोकम्' अल्पं, तदपेक्षयैव ज्ञात्वेति वर्तते, अत्रान्तरे 'गत्वा' प्राप्य 'समुद्घातम्' इति सम्यग्-अपुनर्भावेनोत्–प्राबल्येन कर्मणो हननं घातः–प्रलयो यस्मिन् प्रयत्नविशेषेऽसौ समुद्घात इति तम्, 'क्षपयन्ति' विनाश- ॥४३९॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्तिः

'समुद्घातः, तस्य व्याख्या एवं स्वरुपम् इत्यादि

प्रत
सूत्रांक
[–]

दीप
अनुक्रम
[१]

यन्ति 'कर्म' वेदनीयादि 'निरवशेषम्' इति निरवशेषमिव निरवशेषं प्रभूततमक्षपणाच्छेषस्य चान्तर्मुहूर्त्तमात्रकालावधित्वात्, किञ्चिच्छेषत्वादसत्कल्पनेति भावना, अत्राऽऽह—'ज्ञात्वा वेदनीयमतिबह्वि'त्यत्र को नियमः ? येन तदेव बहु (ग्रं० ११०००) तथाऽऽयुष्कमेवाल्पमिति, अत्रोच्यते, वेदनीयस्य सर्वकर्मभ्यो बन्धकालबहुत्वात् केवलिनोऽपि तद्बन्धकत्वादायुष्कस्य चाल्पत्वात्, उक्तं च–'[1]जाव णं अयं जीवे एयइ वेयइ चलइ फंदइ ताव णं अट्ठविहबंधए वा सत्तविहबंधए वा छविहबंधए वा एगविहबंधए वा णो णं अबंधए' आयुष्कस्य त्वान्तर्मुहूर्तिक एव बन्धकाल इति, उक्तं च–"[2]सियं तिभागे सिय तिभागतिभागे" इत्याद्यलं प्रसङ्गेनेति गाथार्थः ॥ ९५४ ॥ इदानीं समुद्घातादिस्वरूपप्रतिपादनायैवाऽऽह—

दंड कवाडे मंथंतरे अ साहरणया सरीरत्थे । भासाजोगनिरोहे सेलेसी सिज्झणा चेव ॥ ९५५ ॥

व्याख्या—इह समुद्घातं प्रारभमाणः प्रथममेवावर्जीकरणमभ्येति, आन्तर्मौहूर्तिकमुदीरणावलिकायां कर्मपुद्गलप्रक्षेपव्यापाररूपमित्यर्थः, ततः समुद्घातं गच्छति, तस्य चायं क्रमः–इह प्रथमसमय एव स्वदेहविष्कम्भतुल्यविष्कम्भमूर्ध्वमधश्चाऽऽयतमुभयतोऽपि लोकान्तगामिनं जीवप्रदेशसङ्घातं दण्डं दण्डस्थानीयं केवली ज्ञानाभोगतः करोति, द्वितीयसमये तु तमेव दण्डं पूर्वापरदिग्द्वयप्रसारणात् पार्श्वतो लोकान्तगामिनं कपाटमिव कपाटं करोति, तृतीयसमये तदेव कपाटं दक्षिणोत्तर-

१ यावदयं जीव एजते व्येजते चलति स्पन्दते तावदष्टविधबन्धको वा सप्तविधबन्धको वा षड्विधबन्धको वा एकविधबन्धको वा नाबन्धकः । २ स्यात्रिभागे स्यात्त्रिभागत्रिभागे

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [–]

दीप अनुक्रम [१]

दिग्द्वयप्रसारणान्मन्थसदृशं मन्थानं करोति लोकान्तप्रापिणमेव, एवं च लोकस्य प्रायो बहु परिपूरितं भवति, मन्थान्तराण्यपूरितानि भवन्ति, अनुश्रेणिगमनात्, चतुर्थे तु समये तान्यपि मन्थान्तराणि सह लोकनिष्कुटैः पूरयति, ततश्च सकलो लोकः पूरितो भवतीति, तदनन्तरमेव पञ्चमे समये यथोक्तक्रमात् प्रतिलोमं मन्थान्तराणि संहरति–जीवप्रदेशान् सकर्मकान् सङ्कोचयति, षष्ठे समये मन्थानमुपसंहरति घनतरसङ्कोचात्, सप्तमे समये कपाटमुपसंहरति दण्डात्मनि सङ्कोचात्, अष्टमसमये दण्डमुपसंहृत्य शरीरस्थ एव भवति । अमुमवार्थं चेतसि निधायोक्तं दण्डकपाटं मन्थान्तराणि संहरणता प्रतिलोममिति गम्यते, शरीरस्थ इति वचनात्, न चैतत् स्वमनीषिकाव्याख्यानं, यत उक्तम्–प्रथमे समये दण्डं कपाटमथ चोत्तरे तथा समये । मन्थानमथ तृतीये लोकव्यापी चतुर्थे तु ॥ १ ॥ संहरति पञ्चमे त्वन्तराणि मन्थानमथ पुनः षष्ठे । सप्तमके तु कपाटं संहरति ततोऽष्टमे दण्डम् ॥ २ ॥" इति । तस्येदानीं समुद्घातगतस्य योगव्यापारश्चिन्त्यते–योगाश्च–मनोवाक्कायाः, अत्रैषां कः कदा व्याप्रियते ?, तत्र हि मनोवाग्योगयोरव्यापार एव, प्रयोजनाभावात्, काययोगस्यैव केवलस्य व्यापारः, तत्रापि प्रथमाष्टमसमययोरौदारिककायप्राधान्यादौदारिकयोग एव, द्वितीयषष्ठसप्तमे समये पुनरौदारिके तस्माच्च बहिः कार्मणे वीर्यपरिस्पन्दादौदारिककार्मणमिश्रः, त्रिचतुर्थपञ्चमेषु तु बहिरेवौदारिकात् बहुतरप्रदेशव्यापारादसहायः कार्मणयोग एव, तन्मात्रचेष्टनादिति, अन्यत्राप्युक्तम्–"औदारिकप्रयोक्ता प्रथमाष्टमसमययोरसाविष्टः । मिश्रौदारिकयोक्ता सप्तमषष्ठद्वितीयेषु ॥ १ ॥ कार्मणशरीरयोगी चतुर्थके पञ्चमे तृतीये च । समयत्रयेऽपि तस्मिन् भवत्यनाहारको नियमाद् ॥ २ ॥" इति, कृतं प्रसङ्गेन । भाषायोगनिरोध इति, कोऽर्थः ?–परित्यक्तसमुद्घातः कारणवशाद्

॥४४०॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [–]

दीप अनुक्रम [१]

योगत्रयमपि व्यापारयेत्, तदर्थं मध्यवर्तिनं योगमाह–भाषेति, अत्रान्तरेऽनुत्तरसुरपृष्टो मनोयोगं सत्यं वाऽसत्यामृषं वा प्रयुङ्क्ते, एवमामन्त्रणादौ वाग्योगमपि, नेतरौ द्वौ भेदौ द्वयोरपि, काययोगमप्यौदारिकं फलकप्रत्यर्पणादाविति, ततोऽन्तर्मुहूर्तमात्रेणैव कालेन योगनिरोधं करोति, अत्र केचिद् व्याचक्षते–जघन्येनैतावता कालेन उत्कृष्टतस्तु षड्भिर्मासैरिति, एतच्चायुक्तं, 'क्षपयन्ति कर्म निरवशेष'मिति वचनात् फलकादीनां च प्रज्ञापनायां प्रत्यर्पणस्यैवोक्तत्वात्, एवं च सति ग्रहणमपि स्याद्, अलं प्रसङ्गेन, प्रकृतं प्रस्तुमः–स हि योगनिरोधं कुर्वन् प्रथममेव याऽसौ प्रथममेव शरीरप्रदेशसम्बद्धा मनःपर्याप्तिनिर्वृत्तिर्यया पूर्वं मनोद्रव्यग्रहणं कृत्वा भावमनः प्रयुक्तवान् तत्कर्मसंयोगविघटनाय मन्त्रसामर्थ्येन विषमिव स भगवाननुत्तरेणाचिन्त्येन निरावरणेन करणवीर्येण तद्व्यापारं निरुध्य च '[१]पज्जत्तमित्तसन्निस्स जत्तियाइं जहन्नजोगिस्स । होंति मणोदव्वाइं तव्वावारो य जम्मत्तो ॥ १ ॥ तदसंखगुणविहीणं समए २ निरुंभमाणो सो । मणसो सव्वनिरोहं करेज्जऽसंखेज्जसमएहिं ॥ २ ॥ पज्जत्तमेत्तबेंदियजहन्नवयजोगपज्जया जे य । तदसंखगुणविहीणे समए समए निरुंभंतो ॥ ३ ॥ सव्ववइजोगरोहं संखाईएहिं कुणइ समएहिं । तत्तो य सुहुमपणगस्स पढमसमयोववन्नस्स ॥ ४ ॥ जो किर जोगो तदसंखेज्जगुणहीणमेक्किक्के । समए निरुंभमाणो देहतिभागं च मुंचंतो ॥ ५ ॥ रुंभइ स कायजोगं संखाईएहि चेव समएहिं ।

१ पर्याप्तमात्रसंज्ञिनो यावन्ति जघन्ययोगस्य । भवन्ति मनोद्रव्याणि तद्व्यापारश्च यावन्मात्रः ॥ १ ॥ तदसंख्यगुणविहीनं समये समये निरुन्धन् सः । मनसः सर्वनिरोधं कुर्यादसङ्ख्येयसमयैः ॥ २ ॥ पर्याप्तमात्रद्वीन्द्रियस्य जघन्यवचःपर्यवा यावन्तः । तदसङ्ख्येयगुणविहीनान् समये समये निरुन्धन् ॥ ३ ॥ सर्ववचोयोगरोधं संख्यातीतैः करोति समयैः । ततश्च सूक्ष्मपनकस्य प्रथमसमयोत्पन्नस्य ॥ ४ ॥ यः किल जघन्यो योगस्तदसङ्ख्येयगुणहीनमेकैकस्मिन् । समये निरुन्धन् देहत्रिभागं च मुञ्चन् ॥ ५ ॥ रुणद्धि स काययोगं संख्यातीतैरेव समयैः ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्तिः

प्रत
सूत्रांक
[–]

दीप
अनुक्रम
[१]

तो कयजोगनिरोहो सेलेसी भावणांमेइ ॥ ६ ॥ त्ति' ततः शैलेशीं प्रतिपद्यते, तत्र शिलाभिर्निर्वृत्तः शिलानां वाऽयमित्यण् शैलः–पर्वतस्तेषामीशः–प्रभुः शैलेशः, स च मेरुः, तस्येवेयं स्थिरतासाम्यादवस्थेति शैलेशी, अथवा–अशैलेशः सन्नभूततद्भावाच्छैलेशवदाचरति शैलेशीभवतीत्यध्याहारः, अथवा सर्वसंवरः शीलं तस्येशः शीलेशः तस्येयं योगनिरोधावस्थेति शैलेशी, इयं च मध्यमप्रतिपत्त्या ह्रस्वपञ्चाक्षरोद्गिरणमात्रं कालं भवति, स च काययोगनिरोधारम्भात् प्रभृति ध्यायति सूक्ष्मक्रियाऽनिवृत्तिध्यानं, ततः सर्वनिरोधं कृत्वा शैलेश्यवस्थायां व्युच्छिन्नक्रियमप्रतिपातीति, ततो भवोपग्राहिकर्मजालं क्षपयित्वा ऋजुश्रेणिप्रतिपन्नः अस्पृशद्गत्या सिध्यतीति, अत्र बहु वक्तव्यं तत्तु नोच्यते ग्रन्थविस्तरभयादिति गाथार्थः ॥ ९५५ ॥ अनन्तरगाथोपन्यस्तसमुद्घातमात्रापेक्षः संबन्धः । आह–समुद्घातगतानां विशिष्टकर्मक्षयो भवतीति काऽत्रोपपत्तिरिति?, उच्यते, प्रयत्नविशेषः, किं निदर्शनम्? इत्यत आह—

जह उल्ला साडीआ आसुं सुक्कइ विरल्लिआ संती । तह कम्मलहुअ समए वच्चंति जिणा समुग्घायं ॥९५६॥

व्याख्या—'यथा' इत्युदाहरणोपन्यासार्थः, आर्द्रा शाटिका, जलेनेति गम्यते, 'आशु' शीघ्रं 'शुष्यति' शोषमुपयाति, 'विरल्लिता' विस्तारिता सती भवति, तथा तेऽपि प्रयत्नविशेषात् कर्मोदकमधिकृत्य शुष्यन्तीति शेषः, यतश्चैवमतः 'कर्मलघुतासमये व्रजन्ति जिनाः समुद्घात'मिति तत्र कर्मण–आयुष्कस्य लघुता कर्मलघुता, लघोर्भावो लघुता–स्तोकतेत्यर्थः, तस्याः समयः–कालः कर्मलघुतासमयः, स च भिन्नमुहूर्तप्रमाणस्तस्मिन्, अथवा कर्मभिर्लघुता कर्मलघुता, जीवस्येति

१ ततः कृतयोगनिरोधः शैलेशीभावनामेति ॥ ६ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [–] दीप अनुक्रम [१]	

हृदयं, सा च समुद्घातानन्तरभाविन्येव भूतोपचारं कृत्वाऽनागतैव गृह्यते, तस्याः समयस्तस्मिन्, भिन्नमुहूर्त एवेत्यर्थः, व्रजन्ति–गच्छन्ति जिनाः–केवलिनः 'समुद्घातं' प्राक्प्ररूपितस्वरूपमिति गाथार्थः ॥ ९५६ ॥ साम्प्रतं यदुक्तं 'शैलेशीं प्रतिपद्यते सिध्यति चे' ति, तत्रासावेकसमयेन लोकान्ते सिध्यतीत्यागमः, इह च कर्ममुक्तस्य तद्देशनियमेन गतिर्नोपपद्यते इति मा भूदव्युत्पन्नविभ्रम इत्यतस्तन्निरासेनेष्टार्थसिद्ध्यर्थमिदमाह—

लाउअ एरंडफले अग्गी धूमे उसू धणुविमुक्के । गइपुव्वपओगेणं एवं सिद्धाणवि गईओ ॥ ९५७ ॥

व्याख्या—अलाबु एरण्डफलम्, अग्निधूमौ, इषुर्धनुर्विमुक्तः, अमीषां यथा तथा गमनकाले स्वभावतस्तन्निबन्धनाभावेऽपि देशादिनियतैव गतिः पूर्वप्रयोगेण प्रवर्तते, एवमेव व्यवहिततुशब्दस्यैवकारार्थत्वात् सिद्धानामपि गतिरित्यक्षरार्थः ॥ ९५७ ॥ अधुना भावार्थः प्रयोगैर्निदर्श्यते–तत्र कर्मविमुक्तो जीवः सकृदूर्ध्वमेवाऽऽलोकाद्गच्छति, असङ्गत्वेन तथाविधपरिणामत्वादष्टमृत्तिकालेपलिप्ताधोनिमग्नक्रमापनीतमृत्तिकालेपजलतलमर्यादोर्ध्वगामितथाविधालाबुवत् तथा छिन्नबन्धनत्वेन तथाविधपरिणतेस्तद्विधैरण्डफलवत् तथा स्वाभाविकपरिणामत्वादग्निधूमवत् तथा पूर्वप्रयुक्ततत्क्रियातथाविधसामर्थ्याद्धनुःप्रयत्नेरितेषुवद्, इषुः–शर इति गाथार्थः ॥ ९५७ ॥ एवं प्रतिपादिते सत्याह—

कहिं पडिहया सिद्धा, कहिं सिद्धा पइट्ठिया । कहिं बोंदिं चइत्ता णं, कत्थ गंतूण सिज्झई ? ॥ ९५८ ॥

व्याख्या—'क्व प्रतिहताः' क्व प्रतिस्खलिता इत्यर्थः 'सिद्धाः' मुक्ताः, तथा 'क्व सिद्धाः प्रतिष्ठिताः' क्व व्यवस्थिता इत्यर्थः, तथा 'क्व बोन्दिं त्यक्त्वा' क्व तनुं परित्यज्येत्यर्थः, इह बोन्दिः तनुः शरीरमित्यनर्थान्तरं, तथा क्व गत्वा 'सिध्यन्ति' निष्ठितार्था

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्तिः

सिद्ध्-जीवानाम् गति, स्थिति, स्थान आदिनाम् वर्णनं

प्रत सूत्रांक [–]

दीप अनुक्रम [१]

आवश्यक-हारिभ-द्रीया ॥४४२॥

नमस्का० वि० १

भवन्ति, इत्यनुस्वारलोपोऽत्र द्रष्टव्यः, अथवैकवचनतोऽप्येवमुपन्यासः सूत्रशैल्याऽविरुद्ध एव, यतोऽन्यत्रापि प्रयोगः– 'वत्थगंधमलंकारं इत्थीओ सयणाणि य। अच्छंदा जे ण भुंजंति ण से चाइत्ति वुच्चई ॥ १ ॥' इत्यादि गाथार्थः ॥ ९५८ ॥ इत्थं चोदकपक्षमधिकृत्याऽऽह—

अलोए पडिहया सिद्धा, लोअग्गे अ पइट्ठिआ। इहं बोंदिं चइत्ता णं, तत्थ गंतूण सिज्झई ॥ ९५९ ॥

व्याख्या—'अलोके' केवलाकाशास्तिकाये 'प्रतिहताः' प्रतिस्खलिताः सिद्धा इति, इह च तत्र धर्मास्तिकायाद्यभावात् तदानन्तर्यवृत्तिरेव प्रतिस्खलनं, न तु *सम्बन्धिविघातः, प्रदेशानां[1] निष्प्रदेशत्वादिति सूक्ष्मधिया भावनीयं, तथा 'लोकाग्रे च' पञ्चास्तिकायात्मकलोकमूर्धनि च प्रतिष्ठिताः, अपुनरागत्या व्यवस्थिता इत्यर्थः, तथा 'इह' अर्धतृतीयद्वीपसमुद्रान्तः 'बोन्दिं' तनुं 'त्यक्त्वा' परित्यज्य सर्वथा किम्?–'तत्र' लोकाग्रं 'गत्वा' अस्पृशद्गत्या समयप्रदेशान्तरमस्पृशन्नित्यर्थः, 'सिध्यन्ति' निष्ठितार्था भवन्ति सिद्ध्यति वेति गाथार्थः ॥ ९५९ ॥ तत्र 'लोकाग्रे च प्रतिष्ठिता' इति यदुक्तं तदङ्गीकृत्याऽऽह–क पुनर्लोकान्त इत्यत्रान्तरमाह—

ईसीपब्भाराए सीआए जोअणंमि लोगंतो। बारसहिं जोअणेहिं सिद्धी सव्वट्ठसिद्धाओ ॥ ९६० ॥ ॥४४२॥

व्याख्या—ईषत्प्राग्भारा–सिद्धिभूमिस्तस्याः 'सीताया' इति द्वितीयं भूमेर्नामधेयं योजने लोकान्त ऊर्ध्वमिति गम्यते, अध-

---

१ लोकान्तालोकाद्योः संगतत्वात् सिद्धानां च लोकान्तावस्थाननियमात् अलोकप्रदेशेष्वंशेन गत्वा निवर्त्तनरूपं स्खलनं प्रदेशानां निष्प्रदेशत्वाच्च संगतम्, अग्रे तु धर्माद्यभावान्न स्यादेव गमनं * संबन्धे विघातः

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्तिः

सिद्धशीलायाः वर्णनं

प्रत सूत्रांक [–]

दीप अनुक्रम [१]

स्तिर्यक् चैतावति क्षेत्रे तदसम्भवात्, तथा चाऽऽह–द्वादशभिर्योजनैः सिद्धिः ऊर्ध्वं भवति, कुतः?–सर्वार्थसिद्धाद् विमानवरात्, अन्ये तु 'सिद्धिं' लोकान्तक्षेत्रलक्षणामेव व्याचक्षते, तत्त्वं तु केवलिनो विदन्तीति गाथार्थः ॥ ९६० ॥ साम्प्रतमस्या एव स्वरूपव्यावर्णनायाह—

निम्मलदगरयवण्णा तुसारगोखीरहारसरिवन्ना। उत्ताणयछत्तयसंठिआ य भणिया जिणवरेहिं ॥ ९६१ ॥

व्याख्या—निर्मलदगरजोवर्णाः, तत्र दगरजः–श्लक्ष्णोदककणिकाः, तुषारगोक्षीरहारतुल्यवर्णाः, तुषारः–हिमं, गोक्षीरादयः प्रकटार्थाः । संस्थानमुपदर्शयन्नाह–उत्तानच्छत्रसंस्थिता च भणिता जिनवरैरिति, उत्तानच्छत्रवत् संस्थितेति गाथार्थः ॥ ९६१ ॥ अधुना परिधिप्रतिपादनेनास्या एवोपायतः प्रमाणमभिधित्सुराह—

एगा जोअणकोडी बायालीसं च सयसहस्साइं। तीसं चेव सहस्सा दो चेव सया अउणवन्ना ॥ ९६२ ॥

व्याख्या—निगदसिद्धा, नवरं पञ्चचत्वारिंशद्योजनलक्षप्रमाणक्षेत्रस्याल्पमन्यत् परिध्याधिक्यं प्रज्ञापनातोऽवसेयम्, इहौघत इदमिति ॥९६२॥ इदानीमस्या एव बाहुल्यं प्रतिपादयन्नाह—

बहुमज्झदेसभागे अट्ठेव य जोअणाणि बाहल्लं। चरमंतेसु अ तणुई अंगुलऽसंखिज्जईभागं ॥ ९६३ ॥

व्याख्या—मध्यदेशभाग एव बहुमध्यदेशभागस्तस्मिन्नष्टैव योजनानि बाहुल्यम्–उच्चैस्त्वं 'चरिमान्तेषु' पश्चिमान्तेषु तन्वी, कियता तनुत्वेन? इत्यत्राह—अङ्गुलासङ्ख्येयभागं यावत् तन्वीति गाथार्थः ॥ ९६३ ॥ सा पुनरनेन क्रमेणेत्थं तन्वीति दर्शयति—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [–]
दीप अनुक्रम [१]

आवश्यक-हारिभ-द्रीया ॥४४३॥ | नमस्कार० वि० १

गंतूण जोअणं जोअणं तु परिहाइ अंगुलपुहुत्तं । तीसेऽविअ पेरंता मच्छिअपत्ताउ तणुअयरा ॥ ९६४ ॥

व्याख्या—गत्वा योजनं योजनं तु वीप्सा 'परिहायइ'त्ति परिहीयते 'अङ्गुलपृथक्त्वं' पृथक्त्वं पूर्ववत्, 'एवम्' अनेन प्रकारेण हानिभावे सति तस्या अपि च पर्यन्ताः, किं ?–मक्षिकापत्रात् तनुतरा घृतपूर्णतथाविधकरोटिकाकारेति गाथार्थः ॥९६४॥ स्थापना चेयं । अस्याश्चोपरि योजनचतुर्विंशतिभागे सिद्धा भवन्तीति ॥ अत एवाऽऽह—

ईसीपब्भाराए सीआए जोअणंमि जो कोसो । कोसस्स य छब्भाए सिद्धाणोगाहणा भणिआ ॥ ९६५ ॥

व्याख्या—ईषत्प्राग्भारायाः सीताया इति पूर्ववत्, 'योजने' उपरिवर्तिनि यः क्रोश उपरिवर्त्येव, क्रोशस्य च तस्य 'षड्भागे' उपरिवर्तिन्येव सिद्धानामवगाहना भणिता, लोकाग्रे च प्रतिष्ठिता इति वचनाद्, अयं गाथार्थः ॥ ९६५ ॥ अमुमेवार्थं समर्थयन्नाह—

तिन्नि सया तित्तीसा धणुत्तिभागो अ कोसछब्भाओ । जं परमोगाहोऽयं तो ते कोसस्स छब्भाए ॥ ९६६ ॥

व्याख्या—त्रीणि शतानि धनुषां त्रयस्त्रिंशदधिकानि धनुस्त्रिभागश्च क्रोशषड्भागो वर्तते 'यत्' यस्मात् परमावगाहोऽयं सिद्धानामिति वर्तते, ततस्ते क्रोशस्य षड्भाग इति गाथार्थः ॥ ९६६ ॥ अथ कथं पुनस्तत्र तेषामुपपातोऽवगाहना वेत्यत्रोच्यते— ॥४४३॥

उत्ताणउव्व पासिल्लउव्व अहवा निसन्नओ चेव । जो जह करेइ कालं सो तह उववज्जए सिद्धो ॥ ९६७ ॥

व्याख्या—उत्तानको वा पृष्ठतो वा अर्धावनतादिस्थानतः पार्श्वस्थितो वा तिर्यक्स्थितो वा, अथवा निष्पन्न(षण्ण)कश्चैव

Jain Education International | For Personal & Private Use Only | www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्ति:

प्रत सूत्रांक [–]

दीप अनुक्रम [१]

इति प्रकटार्थं, किं बहुना ?, यो 'यथा' येन प्रकारेणावस्थितः सन् करोति कालं स 'तथा' तेन प्रकारेणोपपद्यते सिद्ध इति गाथार्थः ॥ ९६७ ॥ किमित्येतदेवम् ? इत्यत आह—

इहभवभिन्नागारो कम्मवसाओ भवंतरे होइ। न य तं सिद्धस्स जओ तंमी तो सो तयागारो ॥ ९६८ ॥

व्याख्या—इहभवभिन्नाकारः 'कर्मवशात्' कर्मवशेन 'भवान्तरे' स्वर्गादौ भवति, तदाकारभेदस्य कर्मनिबन्धनत्वात्, न च कर्म सिद्धस्य, यतः 'तस्मिन्' अपवर्गे ततोऽसौ सिद्धः 'तदाकारः' पूर्वभवाकार इति गाथार्थः ॥ ९६८ ॥ तथा किं च—

जं संठाणं तु इहं भवं चयंतस्स चरमसमयंमि। आसी अ पएसघणं तं संठाणं तहिं तस्स ॥ ९६९ ॥

व्याख्या—यत् संस्थानमत्रैव 'भवं' संसारं मनुष्यभवं वा त्यजतः सतश्चरमसमये आसीत् प्रदेशघनं तदेव संस्थानं तत्र तस्य भवति, त्रिभागेन रन्ध्रापूरणादिति गाथार्थः ॥ ९६९ ॥ तथा चाऽऽह—

दीहं वा हस्सं वा जं चरमभवे हविज्ज संठाणं। तत्तो तिभागहीणा सिद्धाणोगाहणा भणिआ ॥ ९७० ॥

व्याख्या—'दीर्घं वा' पञ्चधनुःशतप्रमाणं 'ह्रस्वं वा' हस्तद्वयप्रमाणं, वाशब्दात् मध्यमं वा विचित्रं यत् 'चरमभवे' पश्चिमभवे भवेत् संस्थानं 'ततः' तस्मात् संस्थानात् त्रिभागहीना, कुतः ?–त्रिभागेन शुषिरपूरणात्, सिद्धानामवगाहना, अवगाहन्तेऽस्यामवस्थायामित्यवगाहना—स्वावस्थैवेति भावः, 'भणिता' उक्ता तीर्थकरगणधरैरिति गाथार्थः ॥ ९७० ॥ साम्प्रतमुत्कृष्टादिभेदभिन्नामवगाहनामभिधित्सुराह—

तिन्नि सया तित्तीसा धणुत्तिभागो अ होइ बोद्धव्वो। एसा खलु सिद्धाणं उक्कोसोगाहणा भणिआ ॥ ९७१ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्ति:

प्रत
सूत्रांक
[–]

दीप
अनुक्रम
[१]

आवश्यक-हारिभद्रीया ॥४४४॥ — नमस्कार० वि० १

चत्तारि अ रयणीओ रयणितिभागूणिआ य बोद्धव्वा । एसा खलु सिद्धाणं मज्झिमओगाहणा भणिआ ॥९७२॥
एगा य होइ रयणी अट्ठेव य अंगुलाइ साहीआ । एसा खलु सिद्धाणं जहन्नओगाहणा भणिआ ॥ ९७३ ॥

व्याख्या—एतास्तिस्रोऽपि निगदसिद्धाः, नवरमाक्षेपपरिहारौ भाष्यकृतोक्तौ, तौ चेमौ–'किंह मरुदेवीमाणं? नाभीओ जेण किंचिदूणा सा । तो किर पंचसयं चिय अहवा संकोयओ सिद्धा ॥ १ ॥ सत्तूसिएसु सिद्धी जहन्नओ किहमिहं बिहत्थेसु ? । सा किर तित्थकरेसुं सेसाणं सिज्झमाणाणं ॥ २ ॥ ते पुण होज्ज बिहत्था कुम्मापुत्तादओ जहन्नेणं । अन्ने संवट्टियसत्तहत्थसिद्धस्स हीणत्ति ॥ ३ ॥ बाहुल्लतो य सुत्तंमि सत्त पंच य जहन्नमुक्कोसं । इहरा हीणब्भहियं होज्जंगुलधणुपुहुत्तेहिं ॥ ४ ॥ अच्छेरयाइ किंचिवि सामन्नसुए ण देसियं सव्वं । होज्ज व अणिबद्धं चिय पंचसयादेसवयणं व ॥ ५ ॥' इत्यादि कृतं प्रसङ्गेन । साम्प्रतमुक्तानुवादेनैव संस्थानलक्षणं सिद्धानामभिधातुकाम आह—

ओगाहणाइ सिद्धा भवत्तिभागेण हुंति परिहीणा । संठाणमणित्थंत्थं जरामरणविप्पमुक्काणं ॥ ९७४ ॥

---

१ कथं मरुदेवीमानं ?, नाभितो येन किञ्चिदूना सा । ततः किल पञ्चशतमेव अथवा संकोचतः सिद्धा ॥ १ ॥ सप्तोच्छ्रितेषु सिद्धिः जघन्यतः कथमिह द्विहस्तेषु ? । सा किल तीर्थकराणां शेषाणां सिध्यताम् ॥ २ ॥ ते पुनर्भवेयुर्द्विहस्ताः कूर्मापुत्रादयो जघन्येन । अन्ये संवर्त्तितसप्तहस्तसिद्धस्य हीनेति ॥ ३ ॥ बाहुल्यतश्च सूत्रे सप्त पञ्च (शतानि) च जघन्या उत्कृष्टा (च)। इतरथा हीनमभ्यधिकं (क्रमशः) भवेदङ्गुलधनुःपृथक्त्वैः ॥ ४ ॥ आश्चर्यादि (आश्चर्यतया) किञ्चिदपि सामान्यश्रुते न देशितं सर्वम् । भवेद्वाऽनिबद्धमेव पञ्चशतानादेशवचनवत् ॥ ५ ॥

॥४४४॥

Jain Education International — For Personal & Private Use Only — www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्तिः

प्रत
सूत्रांक
[–]

दीप
अनुक्रम
[१]

व्याख्या—निगदसिद्धा, नवरम् 'अनित्थंस्थम्' इतीदंप्रकारमापन्नमित्थम् इत्थं तिष्ठतीति इत्थस्थं न इत्थंस्थं अनित्थंस्थमिति केनचित् प्रकारेण लौकिकेनास्थितमित्यर्थः ॥ ९७४ ॥ आह–ओघत एते किं देशभेदेन स्थिता ? उत नेति ?, नेत्याह—कुत इति ?, अत्रोच्यते, यस्मात्—

जत्थ य एगो सिद्धो तत्थ अणंता भवक्खयविमुक्का । अन्नुन्नसमोगाढा पुट्ठा सव्वे अ लोगंते ॥ ९७५ ॥

व्याख्या—यत्रैव देशे चशब्दस्यैवकारार्थत्वात् एकः 'सिद्धः' निर्वृतः, तत्रानन्ताः किं ?,–'भवक्षयविमुक्ता' इति भवक्षयेण विमुक्ताः भवक्षयविमुक्ताः, अनेन पुनः स्वेच्छया भवावतरणशक्तिमत्सिद्धव्यवच्छेदमाह, अन्योऽन्यसमवगाढाः, तथाविधाचिन्त्यपरिणामवत्त्वात्, धर्मास्तिकायादिवत् , 'पुट्ठा सवे य लोगंते'त्ति स्पृष्टाः–लग्नाः सर्वे च लोकान्ते, अथवा स्पृष्टः सर्वैश्च लोकान्त इति, लोकाग्रे च प्रतिष्ठिता इति वचनाद्, अयं गाथार्थः ॥ ९७५ ॥ तथा—

फुसइ अणंते सिद्धे सव्वपएसेहि निअमसो सिद्धो । तेऽवि असंखिज्जगुणा देसपएसेहिँ जे पुट्ठा ॥ ९७६ ॥

व्याख्या—स्पृशत्यनन्तान् सिद्धान् सर्वप्रदेशैः आत्मसम्बन्धिभिः 'नियमात्' नियमेन सिद्ध इति, तथा तेऽप्यसङ्ख्येयगुणा वर्तन्ते देशप्रदेशैर्ये स्पृष्टाः, तेभ्यः सर्वदेशप्रदेशस्पृष्टेभ्यः, कथं ?–सर्वात्मप्रदेशैरनन्ताः स्पृष्टाः, तथैकैकप्रदेशेनाप्यनन्ता एव, स चासङ्ख्येयप्रदेशात्मकः, ततश्च मूलानन्तकं सकलजीवप्रदेशासङ्ख्येयानन्तकैर्गुणितं यथोक्तमेव भवतीति गाथार्थः ॥ ९७६ ॥ स्थापना चेयं— साम्प्रतं सिद्धानेव लक्षणतः प्रतिपादयन्नाह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [–]

दीप अनुक्रम [१]

आवश्यक-हारिभ-द्रीया ॥४४५॥

नमस्कार० वि० १

असरीरा जीवघणा उवउत्ता दंसणे अ नाणे अ। सागारमणागारं लक्खणमेअं तु सिद्धाणं ॥ ९७७ ॥

व्याख्या—अविद्यमानशरीराः, औदारिकादिपञ्चविधशरीररहिता इत्यर्थः, जीवाश्चेति घनाश्चेति विग्रहः, घनग्रहणं शुषिरापूरणाद्, उपयुक्ताः, क्व ?, 'दर्शने च' केवलदर्शने 'ज्ञाने च' केवल एवेति, इह च सामान्यसिद्धलक्षणमेतदिति ज्ञापनार्थं सामान्यालम्बनदर्शनाभिधानमादावदुष्टमिति, तथा च सामान्यविषयं दर्शनं विशेषविषयं ज्ञानमिति, ततश्च साकारानाकारं सामान्यविशेषरूपमित्यर्थः, 'लक्षणं' तदन्यव्यावृत्तं स्वरूपमित्यर्थः 'एतद्' अनन्तरोक्तं, तुशब्दो वक्ष्यमाणनिरुपमसुखविशेषणार्थः, 'सिद्धानां' निष्ठितार्थानामिति गाथार्थः ॥ ९७७ ॥ साम्प्रतं केवलज्ञानदर्शनयोरशेषविषयतामुपदर्शयति—

केवलनाणुवउत्ता जाणंती सव्वभावगुणभावे। पासंति सव्वओ खलु केवलदिट्ठीहिऽणंताहिं ॥ ९७८ ॥

व्याख्या—केवलज्ञानेनोपयुक्ताः केवलज्ञानोपयुक्ताः न त्वन्तःकरणेन, तदभावादिति, किं ?, 'जानन्ति' अवगच्छन्ति 'सर्वभावगुणभावान्' सर्वपदार्थगुणपर्यायानित्यर्थः, प्रथमो भावशब्दः पदार्थवचनः द्वितीयः पर्यायवचन इति, गुणपर्यायभेदस्तु सहवर्तिनो गुणाः क्रमवर्तिनः पर्याया इति, तथा 'पश्यन्ति सर्वतः खलु' खलुशब्दस्यावधारणार्थत्वात् सर्वत एव, 'केवलदृष्टिभिरनन्ताभिः' केवलदर्शनैरनन्तैरित्यर्थः, अनन्तत्वात् सिद्धानामिति, इह चाऽऽदौ ज्ञानग्रहणं प्रथमतया तदुपयोगस्थाः सिद्ध्यन्तीति ज्ञापनार्थमिति गाथार्थः ॥ ९७८ ॥ आह–किमेते युगपज्जानन्ति पश्यन्ति च ? इत्याहोश्विद्युगपदिति, अत्रोच्यते, अयुगपत्, कथमवसीयते ?, यत आह— ॥४४५॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्ति:

प्रत सूत्रांक [–]

दीप अनुक्रम [१]

नाणंमि दंसणंमि अ इत्तो एगयरयंमि उवउत्ता । सव्वस्स केवलिस्सा जुगवं दो नत्थि उवओगा ॥ ९७९ ॥

व्याख्या—ज्ञाने दर्शने च 'एत्तो'त्ति अनयोरेकतरस्मिन्नुपयुक्ताः, किमिति ?, यतः सर्वस्य केवलिनः सत्त्वस्य 'युगपद्' एकस्मिन् काले द्वौ न स्तः उपयोगौ, तत्स्वाभाव्यात्, क्षायोपशमिकसंवेदने तथादर्शनात्, अत्र बहु वक्तव्यं तत्तु नोच्यते ग्रन्थविस्तरभयादिति गाथार्थः ॥ ९७९ ॥ साम्प्रतं निरुपमसुखभाजश्च त इत्येतदुपदर्शयन्नाह—

नवि अत्थि माणुसाणं तं सुक्खं नेव सव्वदेवाणं । जं सिद्धाणं सुक्खं अव्वाबाहं उवगयाणं ॥ ९८० ॥

व्याख्या—नैवास्ति 'मानुषाणां' चक्रवर्त्यादीनामपि तत् सौख्यं, नैव 'सर्वदेवानाम्' अनुत्तरसुरपर्यन्तानामपि, यत् सिद्धानां सौख्यम्, 'अव्याबाधामुपगताना'मिति तत्र विविधा आबाधा व्याबाधा न व्याबाधा अव्याबाधा तामुप–सामीप्येन गतानां–प्राप्तानामिति गाथार्थः ॥ ९८० ॥ यथा नास्ति तथा भङ्ग्योपदर्शयति—

सुरगणसुहं समत्तं सव्वद्धापिंडिअं अणंतगुणं । न य पावइ मुत्तिसुहंऽणंताहिवि वग्गवग्गूहिं ॥ ९८१ ॥

व्याख्या—'सुरगणसुखं' देवसङ्घातसुखं 'समस्तं' सम्पूर्णम् अतीतानागतवर्तमानकालोद्भवमित्यर्थः, पुनश्च 'सव्वद्धापिंडिअं' सर्वकालसमयगुणितं, तथाऽनन्तगुणमिति, तदेवंप्रमाणं किलासद्भावकल्पनयैकैकाकाशप्रदेशे स्थाप्यते, इत्येवं सकललोकालोकाकाशानन्तप्रदेशपूरणेनानन्तं भवति, न च प्राप्नोति तथाप्रकर्षगतमपि 'मुक्तिसुखं' सिद्धिसुखम्, अनन्तैरपि वर्गवर्गैर्वर्गितमिति गाथार्थः ॥ ९८१ ॥ तथा चैतदभिहितार्थानुवाद्येवाऽऽह ग्रन्थकारः—

सिद्धस्स सुहो रासी सव्वद्धापिंडिओ जइ हविज्जा । सोऽणंतवग्गभइओ सव्वागासे न माइज्जा ॥ ९८२ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [–]

दीप अनुक्रम [१]

आवश्यक-हारिभ-द्रीया ॥४४६॥

नमस्कार० वि० १

व्याख्या—सिद्धस्य सम्बन्धिभूतः सुखराशिः, सुखसङ्घात इत्यर्थः, 'सर्वाद्धापिण्डितः' सर्वकालसमयगुणितः यदि भवेदित्यनेन कल्पनामात्रतामाह, सः 'अनन्तवर्गभक्तः' अनन्तवर्गापवर्गितः सन् समीभूत एवेति भावार्थः, 'सर्वाकाशे' लोकालोकाकाशे न मायात्, अयमत्र भावार्थः–इह किल विशिष्टाह्लादरूपं सुखं गृह्यते, ततश्च यत आरभ्य शिष्टानां सुखशब्दप्रवृत्तिः तमाह्लादमवधीकृत्यैकैकगुणवृद्धितारतम्येन तावदसावाह्लादो विशेष्यते यावदनन्तगुणवृद्ध्या निरतिशय-गुणनिष्ठां गतः, ततश्चासावत्यन्तोपमातीतैकान्तौत्सुक्यविनिवृत्तिस्तिमिततमकल्पश्चरमाह्लाद एव सदा सिद्धानामिति, तस्मा-च्चारतः प्रथमाच्चोर्ध्वमपान्तरालवर्तिनो ये गुणतारतम्येनाह्लादविशेषास्ते सर्वाकाशप्रदेशादिभ्योऽपि भूयांस इत्यतः कि-लोक्तं–'सव्वागासे ण माएज्ज'त्तीत्यादि, अन्यथा नियतदेशावस्थितिः तेषां कथमिति सूरयोऽभिदधतीति, तथा चैतत्सं-वाद्यार्षवेदेऽप्युक्तम्, इत्यलं व्यासङ्गेनेति गाथार्थः ॥९८२॥ साम्प्रतमस्यैवंभावस्यापि सतः निरुपमतां प्रतिपादयन्नाह—

जह नाम कोइ मिच्छो नगरगुणे बहुविहे विआणंतो। न चएइ परिकहेउं उवमाइ तहिं असंतीए ॥ ९८३ ॥

व्याख्या—यथा नाम कश्चित् म्लेच्छः 'नगरगुणान्' सद्गृहनिवासादीन् 'बहुविधान्' अनेकप्रकारान् विजानन्नरण्यगतः सन्नन्यम्लेच्छेभ्यो न शक्नोति परिकथयितुं, कुतो निमित्तात्?, इत्यत आह–उपमायां तत्रासत्यामिति गाथाक्षरार्थः ॥ ९८३ ॥ भावार्थः कथानकादवसेयः, तच्चेदम्—एगो महारण्णवासी मिच्छो रण्णे चिट्ठइ, इओ य एगो राया आसेण अवहरिउं तं अडविं पवेसिओ, तेण दिट्ठो, सक्कारेऊण जणवयं णीओ, रण्णावि सो णयरं, पच्छा उवयारित्ति गाढमुवचरिओ ॥४४६॥

१ एको महारण्यवासी म्लेच्छोऽरण्ये तिष्ठति, इतश्चैको राजाऽश्वेनापहृत्य तामटवीं प्रवेशितः, तेन दृष्टः, सत्कार्य जनपदं नीतः, राज्ञाऽपि स नगरं, पश्चादुपकारीति गाढमुपचरितः,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्तिः

प्रत
सूत्रांक
[–]

दीप
अनुक्रम
[१]

जहा राया तहा चिट्ठइ धवलघराईभोगेणं, विभासा, कालेण रण्णं सरिउमारद्धो, रण्णा विसज्जिओ गओ, रण्णिगा पुच्छंति– केरिसं णयरंति ?, सो विआणंतोऽवि तत्थोवमाऽभावा ण सक्कइ णयरगुणे परिकहिउं । एस दिट्ठंतो, अयमत्थोवणओत्ति—

इअ सिद्धाणं सुक्खं अणोवमं नत्थि तस्स ओवम्मं। किंचि विसेसेणित्तो सारिक्खमिणं सुणह वुच्छं ॥९८४॥

व्याख्या—'इय' एवं सिद्धानां सौख्यमनुपमं वर्तते, किमित्यत आह–यतो नास्ति तस्यौपम्यमिति, तथाऽपि बालजनप्रतिपत्तये किञ्चिद्विशेषेण 'एत्तो'त्ति आर्षत्वादस्य सादृश्यमिदं–वक्ष्यमाणलक्षणं शृणुत, वक्ष्य इति गाथार्थः ॥

जह सव्वकामगुणिअं पुरिसो भोत्तूण भोअणं कोइ । तण्हाछुहाविमुक्को अच्छिज्ज जहा अमिअतित्तो ॥९८५॥

व्याख्या—'यथा' इत्युदाहरणोपन्यासार्थः 'सर्वकामगुणितं' सकलसौन्दर्यसंस्कृतं पुरुषो भुक्त्वा भोजनं कश्चित्, भुज्यत इति भोजनं, तृट्क्षुद्विमुक्तः सन् आसीत यथाऽमृततृप्तः, अबाधारहितत्वाद्, इह च रसनेन्द्रियमेवाधिकृत्येष्टविषयप्राप्त्यौत्सुक्यविनिवृत्त्या सुखप्रदर्शनं सकलेन्द्रियार्थावाप्त्याऽशेषौत्सुक्यनिवृत्त्युपलक्षणार्थम्, अन्यथा बाधान्तरसम्भवात् सुखाभाव इति, उक्तं च–"वेणुवीणामृदङ्गादिनादयुक्तेन हारिणा । श्लाघ्यस्मरकथाबद्धगीतेन स्तिमितः सदा ॥१॥ कुट्टिमादौ विचित्राणि, दृष्ट्वा रूपाण्यनुत्सुकः । लोचनानन्ददायीनि, लीलावन्ति स्वकानि हि ॥ २ ॥ अम्बरागुरुकर्पूरधूपगन्धानितस्ततः । पटवासादिगन्धांश्च, व्यक्तमाघ्राय निःस्पृहः ॥ ३ ॥ नानारससमायुक्तं, भुक्त्वाऽन्नमिह मात्रया । पीत्वोदकं च

---

१ यथा राजा तथा तिष्ठति धवलगृहादिभोगेन, विभाषा, कालेनारण्यं स्मर्तुमारब्धः, राज्ञा विसृष्टो गतः, आरण्यकाः पृच्छन्ति–कीदृशं नगरमिति ?, स विजानन्नपि तत्रोपमाऽभावान्न शक्नोति नगरगुणान् परिकथयितुं । एष दृष्टान्तः, अयमत्रोपनय इति ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [–]

दीप अनुक्रम [१]

आवश्यक-हारिभ-द्रीया ॥४४७॥ — नमस्कार० वि० १

तृप्तात्मा, स्वादयन् स्वादिमं शुभम् ॥ ४ ॥ मृदुतूलीसमाक्रान्तदिव्यपर्यङ्कसंस्थितः । सहसाऽम्भोदसंशब्दश्रुतेर्भयघनं भृशम् ॥ ५ ॥ इष्टभार्यापरिष्वक्तैः*स्तद्रतान्तेऽथवा नरः । सर्वेन्द्रियार्थसम्प्राप्त्या, सर्वबाधानिवृत्तिजम् ॥ ६ ॥ यद्वेदयति शं हृद्यं, प्रशान्तेनान्तरात्मना । मुक्तात्मनस्ततोऽनन्तं, सुखमाहुर्मनीषिणः ॥ ७ ॥" इति गाथार्थः ॥ ९८५ ॥

इअ सव्वकालतित्ता अउलं निव्वाणमुवगया सिद्धा । सासयमव्वाबाहं चिट्ठंति सुही सुहं पत्ता ॥ ९८६ ॥

व्याख्या—'इअ' एवं सर्वकालतृप्ताः स्वस्वभावावस्थितत्वात्, अतुलं निर्वाणमुपगताः सिद्धाः, सर्वदा सकलौत्सुक्यविनिवृत्तेः, यतश्चैवमतः 'शाश्वतं' सर्वकालभावि 'अव्याबाधं' व्याबाधापरिवर्जितं सुखं प्राप्ताः सुखिनः सन्तस्तिष्ठन्तीति योगः। सुखं प्राप्ता इत्युक्ते सुखिन इत्यनर्थकं, न, दुःखाभावमात्रमुक्तिसुखनिरासेन वास्तवसुखप्रतिपादनार्थत्वादस्य, तथाहि– अशेषदोषक्षयतः शाश्वतमव्याबाधं सुखं प्राप्ताः सुखिनः सन्तस्तिष्ठन्ति न तु दुःखाभावमात्रान्विता एवेति गाथार्थः॥ ९८६ ॥ साम्प्रतं वस्तुतः सिद्धपर्यायशब्दान् प्रतिपादयन्नाह—

सिद्धत्ति अ बुद्धत्ति अ पारगयत्ति अ परंपरगयत्ति । उम्मुक्ककम्मकवया अजरा अमरा असंगा य ॥ ९८७ ॥

व्याख्या—'सिद्धा इति च' कृतकृत्यत्वात् 'बुद्धा इति च' केवलेन विश्वावगमात् 'पारगता इति च' भवार्णवपारगमनात् 'परम्परागता इति च' पुण्यबीजसम्यक्त्वज्ञानचरणक्रमप्रतिपत्त्यु+पायमुक्तत्वात् परम्परया गताः परम्परागता उच्यन्ते, ॥४४७॥

* परित्यक्त० + प्रतिपत्त्योपाय०

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत
सूत्रांक
[–]

दीप
अनुक्रम
[१]

उन्मुक्तकर्मकवचाः सकलकर्मवियुक्तत्वात्, तथा अजरा वयसोऽभावात्, अमरा आयुषोऽभावात्, असङ्गाश्च सकलक्लेशाभावादिति गाथार्थः ॥ ९८७ ॥ साम्प्रतमुपसंहरन्नाह—

निच्छिन्नसव्वदुक्खा जाइजरामरणबंधणविमुक्का । अव्वाबाहं सुक्खं अणुहुंती सासयं सिद्धा ॥ ९८८ ॥

व्याख्या—वस्तुतो व्याख्यातैवेति न प्रतन्यते ॥

सिद्धाण नमोक्कारो जीवं० ॥ ९८९ ॥ सिद्धाण नमुक्कारो धन्नाण० ॥ ९९० ॥ सिद्धाण नमुक्कारो एवं० ॥ ९९१ ॥ सिद्धाण नमुक्कारो सव्व० बिइअं होइ मंगलं ॥ ९९२ ॥

गाथासमूहः सामान्यतोऽर्हन्नमस्कारवदवसेयः, विशेषतस्तु सुगम एवेति ॥ उक्तः सिद्धनमस्काराधिकारः, साम्प्रतमाचार्यनमस्कारः, तत्राचार्य इति कः शब्दार्थः, उच्यते,–'चर गतिभक्षणयोः' इत्यस्य (चरेः) आङि वा गुरा (पा० ३–१–१०० वार्त्तिके) विति ण्यति आचार्य इति भवति, आचर्यतेऽसावित्याचार्यः, कार्यार्थिभिः सेव्यत इत्यर्थः, अयं च नामादिभेदाच्चतुर्विधः, तथा चाऽऽह—

नामंठवणादविए भावंमि चउव्विहो उ आयरिओ । दव्वंमि एगभविआई लोइए सिप्पसत्थाई ॥ ९९३ ॥

व्याख्या—नामाचार्यः स्थापनाचार्यः द्रव्याचार्यो भावाचार्य इति, तत्र नामस्थापनाचार्यौ सुगमौ, द्रव्याचार्यमागमनोआगमादिभेदं प्रायः सर्वत्र तुल्यविचारत्वादनादृत्य ज्ञशरीरादिव्यतिरिक्तं द्रव्याचार्यमभिधातुकाम आह—'द्रव्य' इति द्रव्याचार्यः, 'एकभविकादिः' एकभविकः बद्धायुष्कः अभिमुखनामगोत्रश्चेति, अथवा आदिशब्दाद्-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्ति:

'आचार्य' अर्थ, चतुर्विध-भेदा:, स्वरुपम्, तस्य नमस्कारस्य फ़लम्

प्रत सूत्रांक [–]

दीप अनुक्रम [१]

द्रव्यभूत आचार्य द्रव्याचार्यः, भूतशब्द उपमावाची, द्रव्यनिमित्तं वा य आचारवानित्यादि, भावाचार्यः–लौकिको लोकोत्तरश्च, तत्र लौकिकः शिल्पशास्त्रादिः, तत्परिज्ञानात् तदभेदोपचारेणैवमुच्यते, अन्यथा शिल्पादिग्राहको गृह्यते, अन्ये त्वेवं भेदमकृत्वौघत एवैनमपि द्रव्याचार्यं व्याचक्षत इति गाथार्थः ॥ ९९३ ॥ अधुना लोकोत्तरान् भावाचार्यान् प्रतिपादयन्नाह—

पंचविहं आयारं आयरमाणा तहा पभासंता । आयारं दंसंता आयरिया तेण वुच्चंति ॥ ९९४ ॥

व्याख्या—'पञ्चविधं' पञ्चप्रकारं–ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवीर्यभेदात्, 'आचार' मिति आङ् मर्यादायां चरणं चारः–मर्यादया कालनियमादिलक्षणया चार आचार इति, उक्तं च–'काले विणए बहुमाणे' इत्यादि, तमाचरन्तः सन्तः अनुष्ठानरूपेण, तथा प्रभाषमाणाः अर्थाद् व्याख्यानेन, तथाऽऽचारं दर्शयन्तः सन्तः प्रत्युपेक्षणादिक्रियाद्वारेण, मुमुक्षुभिः सेव्यन्ते येन कारणेनाचार्यास्तेनोच्यन्त इति गाथार्थः ॥ ९९४ ॥ अमुमेवार्थं स्पष्टयन्नाह—

आयारो नाणाई तस्सायरणा पभासणाओ वा । जे ते भावायरिया भावायारोवउत्ता य ॥ ९९५ ॥

व्याख्या—'आचारः' पूर्ववत् ज्ञानादिपञ्चप्रकारः, तस्य आचारस्याऽऽचरणात् प्रभाषणाद्वा, वाशब्दाद् दर्शनाद्वा हेतोर्ये मुमुक्षुभिर्गुणैर्वा ज्ञानादिभिराचर्यन्ते ते भावाचार्या उच्यन्ते, एतच्चाऽऽचरणाद्यनुपयोगतोऽपि सम्भवति यतः अत आह–'भावाचारोपयुक्ताश्च' भावार्थमाचारो भावाचारः तदुपयुक्ताश्चेति गाथार्थः ॥ ९९५ ॥ आयरियणमोक्कारो ४ इत्यादिगाथाप्रपञ्चः सामान्येनार्हन्नमस्कारवदवसेयः विशेषतस्तु सुगम एवेति ॥ ॥४४८॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत
सूत्रांक
[–]

दीप
अनुक्रम
[१]

उक्त आचार्यनमस्काराधिकारः ॥ साम्प्रतमुपाध्यायनमस्काराधिकारः, तत्रोपाध्याय इति कः शब्दार्थः ?, उच्यते–‘इङ् अध्ययने’ इत्यस्य ‘इङश्चे’ति (पा० ३–३–२१) घञ् उपाध्यायः, उपेत्याधीयतेऽस्मात् साधवः सूत्रमित्युपाध्यायः, स च नामादिभेदाच्चतुर्विध इति, आह च—

नामंठवणादविए भावंमि चउव्विहो उवज्झाओ। दव्वे लोइअ सिप्पाइ निण्हगा वा इमे भावे ॥ ९९६ ॥

व्याख्या—इयं हि तत्त्वत आचार्यगाथातुल्ययोगक्षेमैवेति न प्रतन्यते, नवरं निह्नवा वेति यदुक्तं तत्र ते ह्यभिनिवेशदोषेणैकमपि पदार्थमन्यथा प्ररूपयन्तो मिथ्यादृष्टय एव इत्यतो द्रव्योपाध्याया इति ॥

बारसंगो जिणक्खाओ सज्झाओ कहिओ बुहेहिं। तं उवइसंति जम्हा उवज्झाया तेण वुच्चंति ॥ ९९७ ॥

व्याख्या—द्वादशाङ्ग आचारादिभेदात् ‘जिनाख्यातः’ अर्हत्प्रणीतः स्वाध्यायः वाचनानिबन्धनत्वात् इह सूत्रमेव गृह्यते, कथितः ‘बुधैः’ गणधरादिभिः, य इति गम्यते, ‘तं’ स्वाध्यायमुपदिशन्ति वाचनारूपेण यस्मात् कारणादुपाध्यायास्तेनोच्यन्ते, उपेत्याधीयतेऽस्मादित्यन्वर्थोपपत्तेरिति गाथार्थः ॥ ९९७ ॥ साम्प्रतमागमशैल्याऽक्षरार्थमधिकृत्योपाध्यायशब्दार्थं निरूपयन्नाह—

उत्ति उवओगकरणे ज्झत्ति अ झाणस्स होइ निद्देसे। एएण हुंति उज्झा एसो अन्नोऽवि पज्जाओ ॥ ९९८ ॥

व्याख्या—उ इत्येतदक्षरं उपयोगकरणे वर्तते, ज्झ इति चेदं ध्यानस्य भवति निर्देशे, ततश्च प्राकृतशैल्या एतेन कारणेन भवति उज्झा, उपयोगपुरस्सरं ध्यानकर्तार इत्यर्थः, एषोऽन्योऽपि पर्याय इति गाथार्थः ॥ ९९८ ॥ अथवा—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्तिः

‘उपाध्याय- अर्थ, विविध-व्याख्याः, चतुर्विध-भेदाः, इत्यादि

प्रत सूत्रांक [–] दीप अनुक्रम [१]

आवश्यक-हारिभद्रीया ॥४४९॥

उत्ति उवओगकरणे वत्तिअ पावपरिवज्जणे होइ । झत्ति अ झाणस्स कए उत्ति अ ओसक्कणा कम्मे ॥ ९९९ ॥

नमस्कार० वि० १

व्याख्या—निगदसिद्धा, नवरमुपयोगपूर्वकं पापपरिवर्जनतो ध्यानारोहणेन कर्माण्यपनयन्तीत्युपाध्याया इत्यक्षरार्थः, अक्षरार्थाभावे च पदार्थाभावप्रसङ्गात्पदस्य तत्समुदायरूपत्वादक्षरार्थः प्रतिपत्तव्य इत्यलं विस्तरेण ॥९९९॥ ‘उवज्झायनमोक्कारो’ ४ इत्यादिगाथापूगः सामान्येनार्हन्नमस्कारवदवसेयः, विशेषस्तु सुगम एवेति ॥

उक्त उपाध्यायनमस्काराधिकारः ॥ साम्प्रतं साधुनमस्काराधिकारः, तत्र ‘राध साध संसिद्धा’ वित्यस्य उणूप्रत्ययान्तस्य साधुरिति भवति, अभिलषितमर्थं साधयतीति साधुः, स च नामादिभेदतः, तथा चाऽऽह—

नामं १ ठवणासाहू २ दव्वसाहू अ ३ भावसाहू अ ४ । दव्वंमि लोइआई भावंमि अ संजओ साहू ॥१०००॥

व्याख्या—वस्तुतो गतार्थैवेति न विव्रियते ॥ द्रव्यसाधून् प्रतिपादयन्नाह—

घडपडरहमाईणि उ साहंता हुंति दव्वसाहुत्ति । अहवावि दव्वभूआ ते हुंती दव्वसाहुत्ति ॥ १००१ ॥

व्याख्या—निगदसिद्धा, नवरमथवाऽपि ‘द्रव्यभूता’ इति भावपर्यायशून्याः ॥ भावसाधून् प्रतिपादयन्नाह—

निव्वाणसाहए जोए, जम्हा साहंति साहुणो । समा य सव्वभूएसु, तम्हा ते भावसाहुणो ॥ १००२ ॥ ॥४४९॥

व्याख्या—निर्वाणसाधकान् ‘योगान्’ सम्यग्दर्शनादिप्रधानव्यापारान् यस्मात् साधयन्ति साधवः विहितानुष्ठानपरत्वात्, तथा समाश्च सर्वभूतेष्विति योगप्राधान्यख्यापनार्थमेतत्, तस्मात्ते भावसाधव इति गाथार्थः ॥ १००२ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्तिः

‘साधु’- अर्थ, विविध-व्याख्याः, चतुर्विध-भेदाः, इत्यादि

प्रत सूत्रांक [–]

दीप अनुक्रम [१]

किं पिच्छसि साहूणं तवं व निअमं व संजमगुणं वा । तो वंदसि साहूणं? एअं मे पुच्छिओ साह ॥ १००३ ॥

व्याख्या—निगदसिद्धा ॥

विसयसुहनिअत्ताणं विसुद्धचारित्तनिअमजुत्ताणं । [1]तच्चगुणसाहयाणं सदा[2]यकिच्चुज्जयाण नमो ॥ १००४ ॥

व्याख्या—निगदसिद्धैव,

असहाइ सहायत्तं करंति मे संजमं करिंतस्स । एएण कारणेणं नमामिऽहं सव्वसाहूणं ॥ १००५ ॥

व्याख्या—परमार्थसाधनप्रवृत्तौ सत्यां जगत्यसहाये सति प्राकृतशैल्या वाऽसहायस्य सहायत्वं कुर्वन्ति मम संयमं कुर्वतः सतः, अनेन प्रकारेण नमाम्यहं सर्वसाधुभ्य इति गाथार्थः ॥ १००५ ॥ 'साहूण नमोक्कारो ४ इत्यादिगाथाविस्तरः सामान्येनार्हन्नमस्कारवदवसेयः, विशेषस्तु सुखोन्नेय इति कृतं प्रसङ्गेन ॥ उक्तं वस्तुद्वारम्, अधुनाऽऽक्षेपद्वारावयवार्थ-प्रचिकटिषयेदमाह—

[3]नवि संखेवो व वित्थारु संखेवो दुविहु सिद्धसाहूणं । वित्थारओऽणेगविहो पंचविहो न जुज्जई तम्हा ॥१००६॥

व्याख्या—इहास्या गाथाया अंशकक्रमनियमाच्छन्दोविचितौ लक्षणमनेन पाठेन विरुध्यते 'न संखेवो' इत्यादिना, यत इहाद्य एव पञ्चमात्रोऽशकः इत्यतोऽपपाठोऽयमिति, ततश्चापिशब्द एवात्र विद्यमानार्थो द्रष्टव्यः, 'णवि संखेवो' इत्यादि, इह किल सूत्रं संक्षेपविस्तरद्वयमतीत्य न वर्तते, तत्र संक्षेपवत् सामायिकसूत्रं, विस्तरवच्चतुर्दश पूर्वाणि, इदं

---

१ सव्व० २ साहण० ३ इतः प्राक् 'एसो पंचनमुक्कारो' इत्यादिश्लोकः पुस्तकादर्शेषु, न च वृत्तौ व्याख्यातः सूचितो वा सः ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [–]

दीप अनुक्रम [१]

आवश्यक-हारिभद्रीया ॥४५०॥

पुनर्नमस्कारसूत्रमुभयातीतं, यतोऽत्र न संक्षेपो नापि विस्तर इत्यपिशब्दस्य व्यवहितः सम्बन्धः, 'संक्षेपो द्विविध' इति यद्ययं संक्षेपः स्यात् ततस्तस्मिन् सति द्विविध इति–द्विविध एव नमस्कारो भवेत्, सिद्धसाधुभ्यामिति, कथं ?, परिनिर्वृताहर्दादीनां सिद्धशब्देन ग्रहणात् संसारिणां च साधुशब्देनेति, तथा च नैते संसारिणः सर्वे एव साधुत्वमतिलङ्घ्य वर्तन्त इति, तदभावे शेषगुणाभावात्, अतस्तन्नमस्कार एवेतरनमस्कारभावात्, अथायं विस्तरः, इत्येतदप्यचारु, यस्माद् विस्तरतोऽनेकविधः प्राप्नोति, तथा च—ऋषभाजितसम्भवाभिनन्दनसुमतिपद्मप्रभसुपार्श्वचन्द्रप्रभेत्यादिमहावीरवर्द्धमानस्वामिपर्यन्तेभ्यश्चतुर्विंशत्यर्हद्भ्यः, तथा सिद्धेभ्योऽपि विस्तरेण–अनन्तरसिद्धेभ्यः परम्परसिद्धेभ्यः प्रथमसमयसिद्धेभ्यः द्वितीयतृतीयसमयादिसङ्ख्येयासङ्ख्येयानन्तसमयसिद्धेभ्यः, तथा तीर्थलिङ्गचारित्रप्रत्येकबुद्धादिविशेषणविशिष्टेभ्यः तीर्थकरसिद्धेभ्यः अतीर्थकरसिद्धेभ्यः तीर्थसिद्धेभ्यः इत्येवमादिरनन्तशो विस्तरः, यतश्चैवमत आह—पक्षद्वयमप्यङ्गीकृत्य पञ्चविधः–पञ्चप्रकारो न युज्यते यस्मान्नमस्कार इति गाथार्थः ॥ १००६ ॥ गतमाक्षेपद्वारम्, अधुना प्रसिद्धिद्वारावयवार्थ उच्यते–तत्र यत्तावदुक्तं 'न संक्षेप' इति, तन्न, संक्षेपात्मकत्वात्, ननु स कारणवशात् कृतार्थाकृतार्थापरिग्रहेण सिद्धसाधुमात्रक एवोक्तः, सत्यमुक्तोऽयुक्तस्त्वसौ, कारणान्तरस्यापि भावात्, तच्चोक्तमेव, अथवा वक्ष्यामः 'हेतुनिमित्त'मित्यादिना, सति च द्वैविध्ये सकलगुणनमस्कारासम्भवादेकपक्षस्य व्यभिचारित्वात्, तथा चाऽऽह—

नमस्कार० वि० १

अरहंताई निअमा साहू साहू अ तेसु भइअव्वा। तम्हा पंचविहो खलु हेउनिमित्तं हवइ सिद्धो ॥१००७॥

व्याख्या—इहार्हदादयो नियमात् साधवः, तद्गुणानामपि तत्र भावात्, साधवस्तु 'तेषु' अर्हदादिषु 'भक्तव्याः' विकल्प-

॥४५०॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [–]

दीप अनुक्रम [१]

नीयाः, यतस्ते न सर्वेऽर्हदादयः, किं तर्हि?, केचिदर्हन्त एव ये केवलिनः, केचिदाचार्याः सम्यक् सूत्रार्थविदः, केचिदुपाध्यायाः सूत्रविद एव, केचिदेतद्व्यतिरिक्ताः शिष्यकाः साधव एव, नार्हदादय इति, ततश्चैकपदव्यभिचारान्न तुल्याभिधानता, तन्नमस्करणे च नेतरनमस्कारफलमिति, प्रयोगश्च–साधुमात्रनमस्कारो विशिष्टार्हदादिगुणनमस्कृतिफलप्रापणसमर्थो न भवति, तत्सामान्याभिधाननमस्कारत्वात्, मनुष्यमात्रनमस्कारवत् जीवमात्रनमस्कारवद्वेति, तस्मात् पञ्चविध एव नमस्कारः, खलुशब्दस्यावधारणार्थत्वात्, विस्तरेण च व्यक्त्यपेक्षया कर्तुमशक्यत्वात्, तथा—'हेतुनिमित्तं भवति सिद्ध' इति, तत्र हेतुर्नमस्कारार्हत्वे य उक्तः 'मग्गे अविप्पणासो'त्ति इत्यादि तन्निमित्तं चोपाधिभेदाद्भवति सिद्धः पञ्चविध इति गाथार्थः ॥ १००७ ॥ गतं प्रसिद्धिद्वारम्, अधुना क्रमद्वारावयवार्थं प्रतिपादयन्नाह—

पुव्वाणुपुव्वि न कमो नेव य पच्छाणुपुव्वि एस भवे। सिद्धाईआ पढमा बीआए साहुणो आई ॥ १००८ ॥

व्याख्या—इह क्रमस्तावद् द्विविधः–पूर्वानुपूर्वी च पश्चानुपूर्वी चेति, अनानुपूर्वी तु क्रम एव न भवति, असमञ्जसत्वात्, तत्रायमर्हदादिक्रमः पूर्वानुपूर्वी न भवति, सिद्धाद्यनभिधानाद्, एकान्तकृतकृत्यत्वेनार्हन्नमस्कार्यत्वेन च सिद्धानां प्रधानत्वात्, प्रधानस्य चाभ्यर्हितत्वेन पूर्वाभिधानादिति भावार्थः, तथा नैव च पश्चानुपूर्व्येष क्रमो भवेत्, साध्वाद्यनभिधानात्, इह सर्वपाश्चात्याः अप्रधानत्वात् साधवः, ततश्च तानभिधाय यदि पर्यन्ते सिद्धाभिधानं स्यात् स्यात् पश्चानुपूर्वीति, तथा चामुमेवार्थं प्रतिपादयन्नाह–सिद्धाद्या प्रथमा–पूर्वानुपूर्वी, भावना प्रतिपादितैव, 'द्वितीयायां' पश्चानुपूर्व्यां साधव आदौ, युक्तिः पुनरप्यत्राभिहितैवेति गाथार्थः ॥ १००८ ॥ साम्प्रतं पूर्वानुपूर्वीत्वमेव प्रतिपादयन्नाह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [–]

दीप अनुक्रम [१]

आवश्यक-हारिभ-द्रीया ॥४५१॥

नमस्कार० वि० १

अरहंतुवएसेणं सिद्धा नज्जंति तेण अरिहाई । नवि कोई परिसाए पणमित्ता पणमई रण्णो ॥ १००९ ॥

व्याख्या—इह 'अर्हदुपदेशेन' आगमेन सिद्धाः 'ज्ञायन्ते' अवगम्यन्ते प्रत्यक्षादिगोचरातिक्रान्ताः सन्तो यतस्तेनार्हदादिपूर्वानुपूर्वी क्रम इति गम्यते, अत एव चार्हतामभ्यर्हितत्वं, कृतकृत्यत्वं चाल्पकालव्यवहितत्वात् प्रायः समानमेव, तथा अर्हन्नमस्कार्यत्वमप्यसाधनम्, अर्हन्नमस्कारपूर्वकसिद्धत्वयोगेनार्हतामपि वस्तुतः सिद्धनमस्कार्यत्वात् प्रधानत्वादिति भावना, आह–यद्येवमाचार्यादिस्तर्हि क्रमः प्राप्तः, अर्हतामपि तदुपदेशेन संवित्तेरिति, अत्रोच्यते, न, इहार्हत्सिद्धयोरेवायं वस्तुतस्तुल्यबलयोर्विचारः श्रेयान्, परमनायकभूतत्वाद्, आचार्यास्तु तत्परिषत्कल्पा वर्तन्ते, नापि कश्चित् परिषदं 'प्रणम्य' प्रणामं कृत्वा ततः प्रणमति राज्ञ इत्यतोऽचोद्यमेतदिति गाथार्थः ॥ १००९ ॥ उक्तं क्रमद्वारम्, अधुना प्रयोजनफलप्रदर्शनायेदमाह—

इत्थ य पओअणमिणं कम्मखओ मंगलागमो चेव । इहलोअपारलोइअ दुविह फलं तत्थ दिट्ठंता ॥ १०१० ॥

व्याख्या—'अत्र च' नमस्कारकरणे प्रयोजनमिदं–यदुत करणकाल एवाक्षेपेण 'कर्मक्षयः' ज्ञानावरणीयादिकर्मापगमः, अनन्तपुद्गलापगममन्तरेण भावतो नकारमात्रस्याप्यप्राप्तेरित्यादि भावितं, तथा मङ्गलागमश्चैव यः करणकालभावीति, तथा कालान्तरभावि पुनरैहलौकिकपारलौकिकभेदभिन्नं 'द्विविधं फलं' द्विप्रकारं फलं, 'तत्र दृष्टान्ताः' वक्ष्यमाणलक्षणा इति गाथार्थः ॥ १०१० ॥ ॥४५१॥

इह लोइ अत्थकामा२आरुग्गं३अभिरई४ अ निप्फत्ती५। सिद्धी अ६सग्ग७सुकुलप्पचायाई८अ परलोए॥१०११॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [–]

दीप अनुक्रम [१]

व्याख्या—इह लोकेऽर्थकामौ भवतः, तथाऽऽरोग्यं भवति नीरुजत्वमित्यर्थः, एते चार्थादयः शुभविपाकिनोऽस्य भवन्ति, तथा चाह—अभिरतिश्च भवति, आभिमुख्येन रतिः–अभिरतिः इह लोकेऽर्थादिभ्यो भवति, परलोके च तेभ्य एव शुभानुबन्धित्वान्निष्पत्तिः, पुण्यस्येति गम्यते, अथवाऽभिरतेश्च निष्पत्तिरित्येकवाक्यतैव, तथा 'सिद्धिश्च' मुक्तिश्च, तथा स्वर्गः सुकुलप्रत्यायातिश्च परलोक इत्यामुष्मिकं फलं॥ इह च सिद्धिश्चेत्यादिक्रमः प्रधानफलापेक्ष्युपायख्यापनश्च (नार्थः), तथाहि–विरला एवैकभवेन सिद्धिमासादयन्ति, अनासादयन्तश्चाविराधकाः स्वर्गसुकुलोत्पत्तिमन्तरेण नावस्थान्तरमनुभवन्तीति गाथार्थः ॥ १०११ ॥ साम्प्रतं यथाक्रममेवार्थादीनधिकृत्योदाहरणानि प्रतिपादयन्नाह—

इहलोगंमि तिदंडी १ सादिव्वं २ माउलिंगवण ३ मेव । परलोइ चंडपिंगल ४ हुंडिअ जक्खो ५ अ दिट्ठंता ।१०१२।

व्याख्या—अक्षरगमनिका सुज्ञेया, भावार्थः कथानकेभ्योऽवसेयः, तानि चामूनि–[१]नमोक्कारो अत्थावहो, कहंति?, उदाहरणं–जहा एगस्स सावगस्स पुत्तो धम्मं न लएइ, सोऽवि सावओ कालगओ, सो वि*वहाराहओ एवं चेव विहरइ। अन्नया तेसिं घरसमीवे परिव्वायओ आवासिओ, सो तेण समं मित्तिं करेइ, अन्नया भणइ–आणेहि निरुवहयं अणाहमडयं जओ ते ईसरं करेमि, तेण मग्गिओ लद्धो उब्बद्धओ मणुस्सो, सो मसाणं णीओ, जं च तत्थ पाउग्गं । सो य दारओ

---

१ नमस्कारोऽर्थावहः, कथमिति ?, उदाहरणम्–यथैकस्य श्रावकस्य पुत्रो धर्मं नाश्रयति, सोऽपि श्रावकः कालगतः, स व्यवहाराहत एवमेव विहरति । अन्यदा तेषां (श्रावकजनानां) गृहसमीपे परिव्राजक आवासितः, स तेन समं मैत्रीं करोति, अन्यदा भणति–आनय निरुपहतं अनाथमृतकं यतस्त्वां ईश्वरं करोति, तेन मार्गितं लब्ध उद्बद्धो मनुष्यः, स श्मशानं नीतः, यच्च तत्र प्रायोग्यं । स च दारकः * ०ऽवि बाहिराहओ (व्यसनोपहतः)।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [–]

दीप अनुक्रम [१]

आवश्यक-हारिभ-द्रीया ॥४५२॥

नमस्कार० वि० १

पिंयरिं नमोकारं सिक्खाविओ, भणिओ य–जाहे बीहेज्जसि ताहे एयं पढिज्जसि, विज्जा एसा, सो तस्स मयगस्स पुरओ ठविओ, तस्स य मयगस्स हत्थे असी दिन्नो, परिवायओ विज्जं परियत्तेइ, उट्ठिउमारद्धो वेयालो, सो दारओ भीओ हियए नमोक्कारं परियट्टेइ, सो वेयालो पडिओ, पुणोऽवि जवेइ, पुणोवि उट्ठिओ, सुट्ठुतरागं परियट्टेइ, पुणोऽवि पडिओ, तिदंडी भणइ–किंचि जाणसि ?, भणइ–नत्थि, पुणोऽवि जवइ, ततियवारा, पुणोऽवि पुच्छिओ, पुणो णवकारं करेइ, ताहे वाणमंतरेण रुसिएण तं खग्गं गहाय सो तिदंडी दो खंडीकओ, सुवन्न*कोडी +जाओ, अंगोवंगाणि य से जुत्तजुत्ताणि काउं सवरात्तिं †वूढं ईसरो जाओ नमोक्कारफलेणं, जइ ण होन्तो नमोकारो तो वेयालेण मारिज्जंतो, सो सुवन्नं होंतो॥ कामनिप्फत्ती,–कहं ?, एगा साविगा तीसे भत्ता मिच्छादिट्ठी अन्नं भज्जं आणेउं मग्गइ, तीसे तणएण न लहइ से सवत्तगंति, चिंतेइ–किह मारेमि?, अण्णया कण्हसप्पो घडए छुभित्ता आणीओ, संगोविओ, जिमिओ भणइ–आणेहि पुप्फाणि अमुगे घडए ठवियाणि, सा

१ पित्रा शिक्षितो नमस्कारं, भणितश्च–यदा बिभीयास्तदैनं पठेः, विद्यैषा, स तस्य मृतकस्य पुरतः स्थापितः, तस्य च मृतकस्य हस्तेऽसिर्दत्तः, परिव्राजको विद्यां परिवर्त्तयति, उत्थातुमारब्धो वैतालः, स दारको भीतो हृदि नमस्कारं परावर्त्तयति, स वैतालः पतितः, पुनरपि जपति, पुनरप्युत्थितः, सुष्ठुतरं परिवर्त्तयति, पुनरपि पतितः, त्रिदण्डी भणति–किञ्चित् जानीषे ?, भणति–न, पुनरपि जपति, तृतीयवारं, पुनरपि पृष्टः, पुनर्नमस्कारं करोति (परावर्त्तयति), तदा व्यन्तरेण रुष्टेन तं खड्गं गृहीत्वा स त्रिदण्डी द्विखण्डीकृतः, सुवर्णकोटिकः (सुवर्णपुरुषः) जातः, अङ्गोपाङ्गानि च तस्य युक्तयुक्तानि (पृथक् पृथक्) कृत्वा सर्वरात्रौ व्यूढः ईश्वरो जातो नमस्कारफलेन, यदि नाभविष्यन्नमस्कारस्तदा वैतालेनामारिष्यत् स (च) सौवर्णोऽभविष्यत् ॥ कामनिष्पत्तिः,–कथम् ?, एका श्राविका तस्या भर्त्ता मिथ्यादृष्टिरन्यां भार्यां आनेतुं मार्गयति, तस्याः सम्बन्धेन न लभते तस्याः सापत्न्यमिति, चिन्तयति–कथं मारयामि ?, अन्यदा कृष्णसर्पो घटे क्षिप्त्वाऽऽनीतः, संगोपितः, जिमितो भणति–आनय पुष्पाणि अमुकस्मिन् घटे स्थापितानि, सा * खोडी + जाया † छढं ॥४५२॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत
सूत्रांक
[–]

दीप
अनुक्रम
[१]

पविट्ठा, अंधकारंति नमोकारं करेइ, जइवि मे कोइ खाएज्जा तोवि मे मरंतीए नमोकारो ण नस्सहिति, हत्थो छूढो, सप्पो देवयाए अवहिओ, पुप्फमाला कया, सा गहिया, दिन्ना य से, सो संभंतो चिंतेइ–अन्नाणि, कहियं, गओ पेच्छइ घडगं पुप्फगंधं च, णवि इत्थ कोइ सप्पो, आउट्टो पायपडिओ सबं कहेइ खामेइ य, पच्छा सा चेव घरसामिणी जाया, एवं कामावहो ॥ आरोग्गाभिरई–एगं णयरं, णईए तडे खरकम्मिएणं सरीरचिंताए निग्गएणं णईए वुज्झंतं माउलिंगं दिट्ठं, रायाए उवणीयं, सूयस्स हत्थे दिन्नं, जिमियस्स उवणीयं, पमाणणं अइरित्तं वन्नेण गंधेणं अइरित्तं, तस्स मणुसस्स तुट्ठो, भोगो दिण्णो, राया भणइ–अणुणईए मग्गह, जाव लद्धं, पत्थयणं गहाय पुरिसा गया, दिट्ठो वणसंडो, जो गेण्हइ फलाणि सो मरइ, रण्णो कहियं, भणइ–अवस्सं आणेयवाणि, अक्खपडिया वच्चंतु, एवं गया आणेन्ति, एगो पविट्ठो सो बाहिं उच्छुब्भइ, अन्ने आणंति, सो मरइ, एवं काले वच्चंते सावगस्स परिवाडी जाया, गओ तत्थ, चिंतेइ–मा विराहियसामन्नो

---

१ प्रविष्टा, अन्धकारमिति नमस्कारं करोति (गुणयति), यद्यपि मां कोऽपि खादेत् तथापि मम म्रियमाणाया नमस्कारो न नङ्क्ष्यतीति, हस्तः क्षिप्तः, सर्पो देवतयाऽपहृतः, पुष्पमाला कृता, सा गृहीता, दत्ता च तस्मै, स संभ्रान्तश्चिन्तयति–अन्यानि, कथितं, गतः पश्यति घटं पुष्पगन्धं च, नैवात्र कोऽपि सर्पः, आवर्जितः पादपतितः सर्वं कथयति क्षमयति च, पश्चात्सैव गृहस्वामिनी जाता, एवं कामावहः ॥ आरोग्याभिरतिः–एकं नगरं, नद्यास्तीरे खरकर्मिकेण शरीरचिन्तायै निर्गतेन नद्यामुह्यमानं बीजपूरकं दृष्टं, राज्ञ उपनीतं, सूदस्य हस्ते दत्तं, जिमत उपनीतं, प्रमाणेनातिरिक्तं वर्णेन गन्धेनातिरिक्तं तस्मै मनुष्याय तुष्टः, भोगो दत्तः, राजा भणति–अनुनदि मार्गयत यावल्लब्धं (भवति), पथ्यदनं गृहीत्वा पुरुषा गताः, दृष्टो वनखण्डः, यो गृह्णाति फलानि स म्रियते, राज्ञे कथितं, भणति–अवश्यमानेतव्यानि, अक्षपतिताः (अक्षपातलिकया) व्रजन्तु, एवं गता आनयन्ति, एकः प्रविष्टः स बहिर्निक्षिपति, अन्ये आनयन्ति, स म्रियते, एवं काले व्रजति श्रावकस्य परिपाटी जाता, गतस्तत्र, चिन्तयति–मा विराधितश्रामण्यः

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [–]

दीप अनुक्रम [१]

आवश्यक-हारिभ-द्रीया

॥४५३॥

नमस्कार० वि० १

कोइ होज्जत्ति निसीहिया नमोक्कारं च करेंतो ढुक्कइ, वाणमंतरस्स चिंता, संबुद्धो, वंदइ, भणइ–अहं तत्थेव साहरामि, गओ, रण्णो कहियं, संपूइओ, तस्स ओसीसे दिणे दिणे ठवेइ, एवं तेण अभिरई भोगा य लद्धा, जीवयाओ य, किं अन्नं आरोग्गं ?, रायावि तुट्ठो ॥ परलोए नमोक्कारफलं–वसंतपुरे णयरे जियसत्तू राया, तस्स गणिया साविया, सा चंडपिंगलेण चोरेण समं वसइ। अन्नया कयाइ तेण रण्णो घरं हयं, हारो णीणिओ, भीएहिं संगोविज्जइ। अन्नया उज्जाणियागमणं, सव्वाओ विभूसियाओ गणियाओ वच्चंति, तीए सव्वाओ अइसयामित्ति सो हारो आविद्धो, जीसे देवीए सो हारो तीसे दासीए सो नाओ, कहियं रण्णो, सा केण समं वसइ ?, कहिए चंडपिंगलो गहिओ, सूले भिन्नो, तीए चिंतियं–मम दोसेण मारिओत्ति सा से नमोक्कारं देइ, भणइ य–नीयाणं करेहि जहा–एयस्स रण्णो पुत्तो आयामित्ति, कयं, अग्गमहिसीए उदरे उववण्णो, दारओ जाओ, सा साविया कीलावणधावीया जाया। अन्नया चिंतेइ–कालो समो गब्भस्स य मरणस्स य,

---

१ कश्चित् भूदिति नैषेधिकीं नमस्कारं च कुर्वन् गच्छति, व्यन्तरस्य चिन्ता, संबुद्धः, वन्दते, भणति–अहं तत्रैवानेष्ये, गतः, राज्ञः कथितं, संपूजितः तस्य उच्छीर्षे दिने दिने स्थापयति, एवं तेनाभिरतिर्भोगाश्च लब्धाः, जीवितवांश्च, किमन्यद् आरोग्यं ?, राजापि तुष्टः ॥ परलोके नमस्कारफलं–वसन्तपुरे नगरे जितशत्रू राजा, तस्य गणिका श्राविका, सा चण्डपिङ्गलेन चौरेण समं वसति। अन्यदा कदाचित् तेन राज्ञो गृहं हृतं, हार आनीतः, भीताभ्यां संगोप्यते। अन्यदोद्यानिकागमनं, सर्वा विभूषिता गणिका व्रजन्ति, तया सर्वाभ्योऽतिशायिनी स्यामिति (सर्वा अतिशये इति) स हार आविद्धः, यस्या देव्याः स हारस्तस्या दास्या स ज्ञातः, कथितं राज्ञे, सा केन समं वसति ?, कथिते चण्डपिङ्गलो गृहीतः, शूले भिन्नः, तया चिन्तितं–मम दोषेण मारित इति सा तस्मै नमस्कारं ददाति, भणति च–निदानं कुरु यथा–एतस्य राज्ञः पुत्र उत्पद्य इति, कृतं, अग्रमहिष्या उदरे उत्पन्नः, दारको जातः, सा श्राविका क्रीडनधात्री जाता। अन्यदा चिन्तयति–कालः समो गर्भस्य च मरणस्य च,

॥४५३॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्तिः

प्रत
सूत्रांक
[–]

दीप
अनुक्रम
[१]

होज्जं कयाइ, रमावेंती भणइ–मा रोव चंडपिंगलत्ति, संबुद्धो, राया मओ, सो राया जाओ, सुचिरेण कालेण दोवि पव्वइयाणि, एवं सुकुलपच्चायाई तम्मूलागं च सिद्धिगमणं ॥ अहवा बितियं उदाहरणं–महुराए णयरीए जिणदत्तो सावओ, तत्थ हुंडिओ चोरो, णयरं मुसइ, सो कयाइ गहिओ सूले भिन्नो, पडिचरह बितिज्जयावि से नज्जिहिंति, मणूसा पडिचरंति, सो सावओ तस्स नाइदूरेण वीईवयइ, सो भणइ–सावय ! तुमंसि अणुकंपओ तिसाइओऽहं, देह मम पाणियं जा मरामि, सावओ भणइ–इमं नमोकारं पढ जा ते आणेमि पाणियं, जइ विस्सारेहिसि तो आणीयंपि ण देमि, सो ताए लोलयाए पढइ, सावओवि पाणियं गहाय आगओ, एवेलं पाहामोत्ति नमोकारं घोसंतस्सेव निग्गओ जीवो, जक्खो आयाओ। सावओ तेहिं माणुस्सेहिं गहिओ चोरभत्तदायगोत्ति, रण्णो निवेइयं, भणइ–एयंपि सूले भिंदह, आघायणं निज्जइ, जक्खो ओहिं पउंजइ, पेच्छइ सावयं, अप्पणो य सरीरयं, पव्वयं उप्पाडेऊण णयरस्स उवरिं ठाऊण भणइ–सावयं भट्टारयं न

१ भवेत्कदाचित्, रमयन्ती भणति–मा रोदीः चण्डपिङ्गल इति, संबुद्धो, राजा मृतः, स राजा जातः, सुचिरेण कालेन द्वावपि प्रव्रजितौ। एवं सुकुलप्रत्यायातिः तन्मूलं च सिद्धिगमनं ॥ अथवा द्वितीयमुदाहरणं–मथुरायां नगर्यां जिनदत्तः श्रावकः, तत्र हुण्डिकश्चौरः, नगरं मुष्णाति, स कदाचित् गृहीतः शूले भिन्नः, प्रतिचरत सहाया अपि तस्य ज्ञायन्त इति मनुष्याः प्रतिचरन्ति, स श्रावकस्तस्य नातिदूरेण व्यतिव्रजति, स भणति–श्रावक ! त्वमसि अनुकम्पकः तृषितोऽहं देहि मह्यं पानीयं यन्म्रिये, श्रावको भणति–इमं नमस्कारं पठ यावत्तुभ्यमानयामि पानीयं, यदि विस्मरिष्यसि तदाऽऽनीतमपि न दास्यामि, स तया लोलुपतया पठति श्रावकोऽपि पानीयं गृहीत्वाऽऽगतः, अधुना पास्यामीति नमस्कारं घोषयत एव निर्गतो जीवः, यक्ष आयातः। श्रावकस्तैर्मनुष्यैर्गृहीतश्चौरभक्तदायक इति, राज्ञे निवेदितं, भणति–एनमपि शूले भिन्त्त, आघातं नीयते, यक्षोऽवधिं प्रयुक्ते, पश्यति श्रावकमात्मनश्च शरीरकं, पर्वतमुत्पाट्य नगरस्योपरि स्थित्वा भणति– श्रावकं भट्टारकं न

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१]

दीप अनुक्रम [२]

आवश्यक-हारिभद्रीया ||४५४||

नमस्कार० वि० १

याणेह १, खामेह, मा भे सवे चूरेहामि, देवणिम्मिंयस्स पुवेण से आययणं कयं, एवं फलं लब्भइ नमोक्कारेणेति गाथार्थः ॥ ॥१०१२॥ उक्ता नमस्कारनिर्युक्तिः, साम्प्रतं सूत्रोपन्यासार्थं प्रत्यासत्तियोगाद् वस्तुतः सूत्रस्पर्शनिर्युक्तिगतामेव गाथामाह–

★ **नंदिअणुओगदारं विहिवदुवुग्घाइयं च नाऊणं । काऊण पंचमंगल आरंभो होइ सुत्तस्स ॥ १०१३ ॥**

व्याख्या—नन्दिश्चानुयोगद्वाराणि चेत्येकवद्भावाद् नन्दिअनुयोगद्वारं, 'विधिवद्' यथावद् 'उपोद्घातं च' उद्देसे इत्यादिलक्षणं 'ज्ञात्वा' विज्ञाय, भणित्वेति वा पाठान्तरं, तथा कृत्वा 'पञ्चमङ्गलानि' नमस्कारमित्यर्थः, किम् ?, आरम्भो भवति सूत्रस्य, इह च पुनर्नन्द्याद्युपन्यासः किल विधिनियमख्यापनार्थः, नन्द्यादि ज्ञात्वैव भणित्वैव वा, नान्यथेति, उपोद्घातभेदोपन्यासोऽपि सकलप्रवचनसाधारणत्वेन तस्य प्रधानत्वात्, प्रधानस्य च सामान्यग्रहणेऽपि भेदेनाभिधानदर्शनाद्, यथा ब्राह्मणा आयाता वशिष्ठोऽप्यायात इति, कृतं चसूर्येति गाथार्थः ॥ १०१३ ॥ सम्बन्धान्तरप्रतिपादनायैवाऽऽह—

कयपंचनमुक्कारो करेइ सामाइयंति सोऽभिहिओ । सामाइअंगमेव य जं सो सेसं तओ वुच्छं ॥ १०१४ ॥

व्याख्या—कृतः पञ्चनमस्कारो येन स तथाविधः शिष्यः सामायिकं करोतीत्यागमः, सोऽभिहितः पञ्चनमस्कारः, सामायिकाङ्गमेव च यदसौ, सामायिकाङ्गता च प्रागुक्ता, 'शेषं' सूत्रं 'ततः' तस्माद्वक्ष्यत इति गाथार्थः ॥ १०१४॥ तच्चेदम्– ||४५४||

करेमि भंते! सामाइयं, सव्वं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं,मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि, तस्स भन्ते! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि

१ जानीथ?, क्षामयत, मा भवतः सर्वांश्चुरं, देवनिर्मितेन (तात् चैत्यात) पूर्वस्यां तस्यायतनं कृतं । एवं फलं लभ्यते नमस्कारेणेति । * नयरस्स.

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्ति:

***** अत्र अध्ययनं -१- 'सामायिकं' आरभ्यते *****

प्रत
सूत्रांक
[१]

दीप
अनुक्रम
[२]

इह च सूत्रानुगम एव (सूत्रं) अहीनाक्षरादिगुणोपेतमुच्चारणीयं, तद्यथा–अहीनाक्षरमनत्यक्षरमव्याविद्धाक्षरमस्खलितममिलितमव्यत्याम्रेडितं प्रतिपूर्णं परिपूर्णघोषं कण्ठोष्ठविप्रमुक्तं वाचनोपगतम्, इत्यमूनि प्राग् व्याख्यातत्वान्न व्याख्यायन्ते, ततस्तस्मिन्नुच्चरिते सति केषाञ्चिद्भगवतां साधूनां केचनार्थाधिकारा अधिगता भवन्ति, केचन त्वनधिगताः, ततश्चानधिगताधिगमनाय व्याख्या प्रवर्तत इति, तल्लक्षणं चेदं–'संहिता च पदं चैव, पदार्थः पदविग्रहः। चालना प्रत्यवस्थानं, व्याख्या तन्त्रस्य षड्विधा॥ १॥' इति, तत्रास्खलितपदोच्चारणं· संहिता, अथवा–परः सन्निकर्षः संहिता, यथा करेमि भंते! सामाइयमित्यादि जाव वोसिरामित्ति। पदं च पञ्चधा, तद्यथा–नामिकं नैपातिकम् औपसर्गिकम् आख्यातिकं मिश्रं चेति, तत्र अश्व इति नामिकं खल्विति नैपातिकं परीत्यौपसर्गिकं धावतीत्याख्यातिकं संयत इति मिश्रम्, अथवा सुबन्तं तिङन्तं च, 'सुप्तिङन्तं पद' (पा० १–४–१४) मिति वचनात्, तत्र करोमि भयान्त! सामायिकं, सर्वं सावद्यं योगं प्रत्याख्यामि यावज्जीवया त्रिविधं त्रिविधेन, मनसा वाचा कायेन न करोमि न कारयामि कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजाने, तस्य भयान्त! प्रतिक्रमामि निन्दामि गर्हामि आत्मानं व्युत्सृजामीति पदानि। अधुना पदार्थः–स च चतुर्विधः, तद्यथा–कारकविषयः समासविषयस्तद्धितविषयो निरुक्तिविषयश्च, तत्र कारकविषयः–पचतीति पाचकः, समासविषयः–राज्ञः पुरुषो राजपुरुष इति, तद्धितविषयः–वसुदेवस्यापत्यं वासुदेवः, निरुक्तिविषयः–भ्रमति च रौति च भ्रमरः, अत्रापि, 'डुकृञ् करण' इत्यस्य लट्प्रत्ययान्तस्य 'तनादिकृञ्भ्य उ (पा० ३–१–७९) रिति उत्त्वे गुणे रपरत्वे च कृते करोमीति भवति अभ्युपगमश्चास्यार्थः, एवं प्रकृतिप्रत्ययविभागः सर्वत्र वक्तव्यः, इह तु ग्रन्थविस्तरभयान्नोक्त इति, भयं प्रतीतं, तथा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्ति:

अथ 'करेमि भंते' सूत्रस्य विशद् व्याख्या आरभ्यते

प्रत सूत्रांक [१]

दीप अनुक्रम [२]

आवश्यक-हारिभ-द्रीया ॥४५५॥

सूत्रस्पर्श० वि० १

वक्ष्यामश्चोपरिष्टादिति, अन्तो–विनाशः, भयस्यान्त इत्ययमेव पदविग्रहः, पदपृथक्करणं पदविग्रह इति, सामायिकपदार्थः पूर्ववत्, सर्वमित्यपरिशेषवाची शब्दः, अवद्यं–पापं सहावद्येन सावद्यः–सपाप इत्यर्थः, युज्यत इति योगः–व्यापारस्तं, प्रत्याख्यामीति, प्रतिशब्दः प्रतिषेधे आङ् आभिमुख्ये ख्या प्रकथने, ततश्च प्रतीपमभिमुखं ख्यापनं सावद्ययोगस्य करोमि प्रत्याख्यामीति, अथवा प्रत्याचक्ष इति 'चक्षिङ् व्यक्तायां वाचि' अस्य प्रत्याङ्पूर्वस्यायमर्थः प्रतिषेधस्यादरेणाभिधानं करोमि प्रत्याचक्षे, 'यावज्जीवये' त्यत्र यावच्छब्दः परिमाणमर्यादावधारणवचनः, तत्र परिमाणे यावत् मम जीवनपरिमाणं तावत् प्रत्याख्यामीति, मर्यादायां यावज्जीवनमिति, मरणमर्यादाया आरान्न मरणकालमात्र एवेति, अवधारणे यावज्जीवनमेव तावत् प्रत्याख्यामि, न तस्मात् परत इत्यर्थः, जीवनं जीवेत्ययं क्रियाशब्दः परिगृह्यते तया, अथवा प्रत्याख्यानक्रिया गृह्यते, यावज्जीवो यस्यां सा यावज्जीवा तया, 'त्रिविध' मिति तिस्रो विधा यस्य सावद्ययोगस्य स त्रिविधः, स च प्रत्याख्येयत्वेन कर्म संपद्यते, कर्मणि च द्वितीया विभक्तिः, अतस्तं त्रिविधं योगं–मनोवाक्कायव्यापारलक्षणं, 'कायवाङ्मनः कर्मयोगः' (तत्वा० अ० ६ सू० १) इति वचनात्, त्रिविधेनेति करणे तृतीया, 'मनसा वाचा कायेन' तत्र 'मन ज्ञाने' मननं मन्यते वाऽनेनेति असुन्प्रत्यये मनः, तच्चतुर्द्धा–नामस्थापनाद्रव्यभावैः, द्रव्यमनस्तद्योग्यपुद्गलमयं, भावमनो मन्ता जीव एव, 'वच परिभाषणे' वचनम् उच्यते वाऽनयेति वाक्, साऽपि चतुर्विधैव नामादिभिः, तत्र द्रव्यवाक् शब्दपरिणामयोग्यपुद्गला जीवपरिगृहीता भाववाक् पुनस्त एव पुद्गलाः शब्दपरिणाममापन्नाः, 'चिञ् चयने' चयनं चीयते वाऽनेनेति "निवासचितिशरीरोपसमाधानेष्वादेश्च कः" (पा० ३–३–४१) इति कायः, जीवस्य निवासात् पुद्ग-

॥४५५॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१]

दीप अनुक्रम [२]

लानां चितेः पुद्गलानामेव केषाञ्चित् शरणात् तेषामेवावयवसमाधानात् कायः–शरीरं, सोऽपि चतुर्द्धा नामादिभिः, तत्र द्रव्यकायो ये शरीरत्वयोग्याः अगृहीतास्तत्स्वामिना च जीवेन ये मुक्ता यावत्तं परिणामं न मुञ्चन्ति तावद् द्रव्यकायः, भावकायस्तु तत्परिणामपरिणता जीवबद्धा जीवसम्प्रयुक्ताश्च, अनेन त्रिविधेन करणभूतेन, त्रिविधं पूर्वाधिकृतं सावद्यं योगं न करोमि न कारयामि कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामि–नानुमन्येऽहमिति, तस्येत्यधिकृतो योगः संबध्यते, भयान्त इति पूर्ववत्, प्रतिक्रमामि–निवर्तेऽहमित्युक्तं भवति, निन्दामीति जुगुप्से इत्यर्थः, गर्हामीति च स एवार्थः, किन्त्वात्मसाक्षिकी निन्दा गुरुसाक्षिकी गर्हेति, किं जगुप्से ?–'आत्मानम्' अतीतसावद्ययोगकारिणं, 'व्युत्सृजामी'ति विविधार्थो विशेषार्थो वा विशब्दः उच्छब्दो भृशार्थः सृजामि–त्यजामीत्यर्थः, विविधं विशेषेण वा भृशं त्यजामि व्युत्सृजामि, एवं तावत्पदार्थपद-विग्रहौ यथासम्भवमुक्तौ, अधुना चालनाप्रत्यवस्थाने वक्तव्ये, तदत्रान्तरे सूत्रस्पर्शनिर्युक्तिरुच्यते, स्वस्थानत्वात्, आह च निर्युक्तिकारः—

अक्खलिअसंहिआई वक्खाणचउक्कए दरिसिअंमि । सुत्तप्फासिअनिज्जुत्तिवित्थरत्थो इमो होइ ॥ १०१५ ॥

व्याख्या—'अक्खलिआइ'त्ति अस्खलितादौ सूत्र उच्चरिते, तथा संहितादौ व्याख्यानचतुष्टये दर्शिते सति, किं ?–सूत्रस्पर्शनिर्युक्तिविस्तरार्थः अयं भवतीति गाथार्थः ॥ १०१५ ॥

करणे १ भए अ २ अंते ३ सामाइअ ४ सव्वए अ ५ वज्जे अ ६ ।
जोगे ७ पच्चक्खाणे ८ जावज्जीवाइ ९ तिविहेणं १० ॥ १०१६ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१]

दीप अनुक्रम [२]

आवश्यक-हारिभद्रीया ॥४५६॥

सूत्रस्पर्श० वि० १

व्याख्या—करणं भयं च अन्तः सामायिकं सर्वं च वर्जं च योगः प्रत्याख्यानं यावज्जीवया त्रिविधेनेति पदानि, पदार्थं तु भाष्यगाथाभिर्न्यक्षेण प्रतिपादयिष्यतीति गाथासमासार्थः ॥ १०१६ ॥ साम्प्रतं करणनिक्षेपं प्रदर्शयन्नाह—

नामं १ ठवणा २ दविए ३ खित्ते ४ काले ५ तहेव भावे अ ६।
एसो खलु करणस्सा निक्खेवो छव्विहो होइ ॥ १५२ ॥ (भा०)+

व्याख्या—अक्षरगतं पदार्थमात्रमधिकृत्य निगदसिद्धा, साम्प्रतं द्रव्यकरणप्रतिपादनायाऽऽह—

जाणगभविअइरित्तं सन्ना नोसन्नओ भवे करणं। सन्ना कडकरणाई नोसन्ना वीससपओगे ॥ १५३ ॥ (भा०)

व्याख्या—इह यथासम्भवं द्रव्यस्य द्रव्येण द्रव्ये वा करणं द्रव्यकरणं, तच्च नोआगमतो ज्ञभव्यातिरिक्तं संज्ञा नोसंज्ञातो भवेत् करणं, एतदुक्तं भवति-ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तं द्रव्यकरणं द्विधा-संज्ञाकरणं नोसंज्ञाकरणं च, तत्र संज्ञाकरणं कटकरणादि, आदिशब्दात् पेलुकरणादिपरिग्रहः, पेलुशब्देन रुतपूणिकोच्यते, अयमत्र भावार्थः-कटनिर्वर्तकमयोमयं चित्रसंस्थानं पोल्लि*कादि तथा रुतपूणिकानिर्वर्तकं शलाकाशल्यकाङ्गरुहादि संज्ञाद्रव्यकरणमन्वर्थोपपत्तेरिति, आह-इदं नामकरणमेव पर्यायमात्रतः संज्ञाकरणमिति न कश्चिद्विशेष इति, उच्यते, इह नामकरणमभिधानमात्रं गृह्यते, संज्ञाकरणं त्वन्वर्थतः संज्ञायाः करणं २, द्रव्यस्य संज्ञया निर्दिश्यमानत्वात्, तथा च भाष्यकारेणाप्येतदेवाभ्यधायि-“सन्ना णामंति मई ॥४५६॥

१ संज्ञा नामेति मतिः। + निर्युक्तिगाथा इत्यपि * पाइल्लकादिः।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्तिः

करण द्वार, कारणस्य षड् निक्षेपा:

प्रत
सूत्रांक
[१]

दीप
अनुक्रम
[२]

तं णो णामं जमभिधाणं ॥१॥ जं वा तदत्थविकले कीरइ दवं तु दवणपरिणामं । पेलुकरणाइ न हि तं तयत्थसुण्णं ण वा सद्दो ॥ २ ॥ जइ ण तदत्थविहीणं तो किं दवकरणं ? जओ तेणं । दवं कीरइ सण्णाकरणंति य करणरूढिओ ॥ ३ ॥" 'नोसंज्ञे'ति नोसंज्ञाद्रव्यकरणं, तच्च द्विधा–प्रयोगतो विश्रसातश्च, अत एवाह–वीससपओगेत्ति गाथार्थः ॥ तत्र विश्रसाकरणं द्विप्रकारं–साधनादिभेदात्, अत एवाह ग्रन्थकारः—

वीससकरणमणाई धम्माईण परपचयाजो(यज्जो)गा। साई चक्खुप्फासिअमब्भाइमचक्खुमणुमाई॥१५४॥ भा०

व्याख्या—विश्रसा स्वभावो भण्यते तेन करणं विश्रसाकरणम्, इह च 'कृत्यलुटो बहुल' (पा० ३–३–११३) मिति वचनात् करणादिषु यथाप्रयोगमनुरूपार्थः करणशब्दोऽवसेय इति, 'अनादि' आदिरहितं 'धर्मादीना'मिति धर्माधर्माकाशास्तिकायानामन्योऽन्यसमाधानं करणमिति गम्यते, आह–करणशब्दस्तावदपूर्वप्रादुर्भावे वर्तते, ततश्च करणं चानादि चेति विरुद्धम्, उच्यते, नावश्यमपूर्वप्रादुर्भाव एव, किं तर्हि ?, अन्योऽन्यसमाधानेऽपीति न दोषः, अथवा 'परप्रत्यययोगा'दिति परवस्तुप्रत्ययभावाद्धर्मास्तिकायादीनां तथा तथा योग्यताकरणमिति, एवमप्यनादित्वं विरुध्यत इति चेत्, न, अनन्तशक्तिप्रचितद्रव्यपर्यायोभयरूपत्वे सति वस्तुनो द्रव्यादेशेनाविरोधादित्यत्र बहु वक्तव्यं तत्तु नोच्यते, गमनिकामात्रत्वात् प्रारम्भस्येति, अथवा परप्रत्यययोगात् तत्तत्पर्यायभवनं साद्येव करणं, देवदत्तादिसंयोगाद्धर्मादीनां विशिष्ट-

---

१ तन्नो नाम यदभिधानम् ॥१॥ यद्वा तदर्थविकले क्रियते द्रव्यं तु द्रवणपरिणामः । पेलुकरणादि न हि तत्तदर्थशून्यं न वा शब्दः ॥२॥ यदि न तदर्थविहीनं तदा किं द्रव्यकरणं ? यतस्तेन । द्रव्यं क्रियते संज्ञाकरणमिति च करणरूढेः ॥ ३ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्ति:

प्रत सूत्रांक [१] दीप अनुक्रम [२]

पर्याय इत्यर्थः, एवमरूपिद्रव्याण्यधिकृत्योक्तं साद्यमनाद्यं च विश्रसाकरणम्, अधुना रूपिद्रव्याण्यधिकृत्य साद्येव चाक्षुषेतरभेदमाह–सादि चक्षुःस्पर्श चाक्षुषमित्यर्थः, अभ्रादि, आदिशब्दात् शक्रचापादिपरिग्रहः, 'अचक्खु'त्ति अचाक्षुषमण्वादि, आदिशब्दात् द्व्यणुकादिपरिग्रहः, करणता चेह कृतिः करणमितिकृत्वा, अन्यथा वा स्वयं बुद्ध्या योज्जनीयेति गाथार्थः ॥ चाक्षुषाचाक्षुषभेदमेव विशेषेण प्रतिपादयन्नाह–

संघायभेअतदुभयकरणं इंदाउहाइ पच्चक्खं। दुअअणुमाईणं पुण छउमत्थाईणऽपच्चक्खं ॥ १५५ ॥ (भा०)

व्याख्या–सङ्घातभेदतदुभयैः करणं संघातभेदतदुभयकरणम् इन्द्रायुधादिस्थूलमनन्तपुद्गलात्मकं प्रत्यक्षं, चाक्षुषमित्यर्थः, द्व्यणुकादीनाम्, आदिशब्दात्तथाविधानन्ताणुकान्तानां पुनः करणमिति वर्तते, किं ?, छद्मस्थादीनाम् ? आदिशब्दः स्वगतानेकभेदप्रतिपादनार्थ इति, अप्रत्यक्षम्–अचाक्षुषमिति गाथार्थः ॥ उक्तं विश्रसाकरणम्, अधुना प्रयोगकरणं प्रतिपादयन्नाह–

जीवमजीवे पाओगिअं च चरमं कुसुंभरागाई। जीवप्पओगकरणं मूले तह उत्तरगुणे अ ॥ १५६ ॥ (भा०)

व्याख्या–इह प्रायोगिकं द्वेधा–जीवप्रायोगिकमजीवप्रायोगिकं च, प्रयोगेन निर्वृत्तं प्रायोगिकं, चरमम्–अजीवप्रयोगकरणं कुसुम्भरागादि, आदिशब्दाच्छेषवर्णादिपरिग्रहः ॥ एवं तावदल्पवक्तव्यत्वादभिहितमोघतोऽजीवप्रयोगकरणमिति, अधुना जीवप्रयोगकरणमाह–जीवप्रयोगकरणं द्विप्रकारं–'मूल' इति मूलगुणकरणं, तथा 'उत्तरगुणे[ति]च' उत्तरगुणकरणं ॥४५७॥

१ करणता २ छद्मस्थगतानां

Jain Education International | For Personal & Private Use Only | www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१]

दीप अनुक्रम [२]

चेति गाथासमासार्थः ॥ व्यासार्थं तु ग्रन्थकार एव वक्ष्यति, तत्राल्पवक्तव्यत्वादेवाजीवप्रयोगकरणमादावेवाभिधित्सुराह—

जं जं निज्जीवाणं कीरइ जीवप्पओगओ तं तं । वन्नाइ रूवकम्माइ वावि अज्जीवकरणं तु ॥ १५७ ॥ (भा०)

व्याख्या—यद् यन्निर्जीवानां पदार्थानां क्रियते–निर्वर्त्यते 'जीवप्रयोगतो' जीवप्रयोगेण तत्तद्वर्णादि कुसुम्भादेः रूपकर्मादि वा कुट्टिमादौ अजीवविषयत्वात्तदजीवकरणमिति गाथार्थः ॥

जीवप्पओगकरणं दुविहं मूलप्पओगकरणं च । उत्तरपओगकरणं पंच सरीराइं पढमंमि ॥ १५८ ॥ (भा०)

व्याख्या—जीवप्रयोगकरणं 'द्विविधं' द्विप्रकारं–मूलप्रयोगकरणमुत्तरप्रयोगकरणं च, चशब्दस्य व्यवहित उपन्यासः, पञ्च शरीराणि 'प्रथमं' मूलप्रयोगकरणमिति गाथार्थः ॥

ओरालियाइआइं ओहेणिअरं पओगओ जमिह । निप्फण्णा निप्फज्जइ आइल्लाणं च तं तिण्हं ॥१५९॥ (भा०)

व्याख्या—औदारिकादीनि, आदिशब्दाद्वैक्रियाहारकतैजसकार्मणशरीरपरिग्रहः, 'ओघेन' इति सामान्येन, 'इतरत्' उत्तरप्रयोगकरणं गृह्यते, तल्लक्षणं चेदं–'प्रयोगतः' प्रयोगेणैव यद् 'इह' लोके निष्पन्नाः, मूलप्रयोगेण निष्पद्यत इति 'तद्' उत्तरकरणं, आद्यानां च तत् त्रयाणाम्, एतदुक्तं (ग्रं ११५००) भवति–पञ्चानामौदारिकादिशरीराणामाद्यं सङ्घातकरणं मूलप्रयोगकरणमुच्यते, अङ्गोपाङ्गादिकरणं तूत्तरकरणमौदारिकादीनां त्रयाणां, न तु तैजसकार्मणयोः, तदसम्भवादिति गाथार्थः ॥ १५९ ॥ तत्रौदारिकादीनामष्टाङ्गानि मूलकरणानि, तानि चामूनि—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१]

दीप अनुक्रम [२]

आवश्यक-हारिभद्रीया ॥४५८॥

सूत्रस्पर्श० वि० १

सीस १ मुरो २ अर ३ पिट्ठी ४ दो बाहू ६ ऊरुआ य ८ अट्ठंगा।
अंगुलिमाइ उवंगा अंगोवंगाणि सेसाणि ॥ १६० ॥ (भाष्यम्)

व्याख्या—निगदसिद्धा, नवरमङ्गोपाङ्गानि 'शेषाणि' करपादादीनि गृह्यन्ते ॥ किञ्च—

केसाईउवरयणं उरालविउव्वि उत्तरं करणं । ओरालिए विसेसो कन्नाइविणट्ठसंठवणं ॥ १६१ ॥ (भा०)

व्याख्या—'केशाद्युपरचनं' केशादिनिर्माणसंस्कारौ, आदिशब्दान्नखदन्ततद्रागादिपरिग्रहः औदारिकवैक्रिययोरुत्तरकरणं, यथासम्भवं चेह योजना कार्येति, तथौदारिके विशेष उत्तरकरणे इति, कर्णादिविनष्टसंस्थापनं, नेदं वैक्रियादौ, विनाशाभावाद्, विनष्टस्य च सर्वथा विनाशेन संस्थापनाभावादिति गाथार्थः ॥ इत्थंभूतमुत्तरकरणमाहारके नास्ति, गमनागमनादि तु भवति, अथवेदमन्यादृक् त्रिविधं करणं, तद्यथा–सङ्घातकरणं परिशाटकरणं सङ्घातपरिशाटकरणं च, तत्राऽऽद्यानां शरीराणां तैजसकार्मणरहितानां त्रिविधमप्यस्ति, द्वयोस्तु चरमद्वयमेवेति, आह च—

आइल्लाणं तिण्हं संघाओ साडणं तदुभयं च । तेआकम्मे संघायसाडणं साडणं वावि ॥ १६२ ॥ (भा०)

व्याख्या—वस्तुतो व्याख्यातैवेति न व्याख्यायते ॥ साम्प्रतमौदारिकमधिकृत्य सङ्घातादिकालमानमभिधित्सुराह—

संघायमेगसमयं तहेव परिसाडणं उरालंमि । संघायणपरिसाडण खुड्डागभवं तिसमऊणं ॥ १६३ ॥ (भा०)

व्याख्या—'सङ्घातम्' इति सर्वसङ्घातकरणमेकसमयं भवति, एकान्तादानस्यैकसामयिकत्वात्, घृतपूपदृष्टान्तोऽत्र, यथा–घृतपूर्णप्रतप्तायां तापिकायां सम्पानकप्रक्षेपात् स पूपः प्रथमसमय एवैकान्तेन स्नेहपुद्गलानां ग्रहणमेव करोति,

॥४५८॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्तिः

प्रत
सूत्रांक
[१]

दीप
अनुक्रम
[२]

न त्यागम्, अभावाद्, द्वितीयादिषु तु ग्रहणमोक्षौ, तथाविधसामर्थ्ययुक्तत्वात्, पुद्गलानां च सङ्घातभेदधर्मत्वात्, एवं जीवोऽपि तत्प्रथमतयोत्पद्यमानः सन्नाद्यसमये औदारिकशरीरप्रायोग्याणां द्रव्याणां ग्रहणमेव करोति, न तु मुञ्चति, अभावाद्, द्वितीयादिषु तु ग्रहणमोक्षौ, युक्तिः पूर्ववत्, अतः सङ्घातमेकसमयमिति स्थितं, तथैव 'परिशाटन'मिति परिशाटनाकरणमेकसमयमिति वर्तते, सर्वपरिशाटस्याप्येकसामयिकत्वादेवेति, 'औदारिक' इत्यौदारिकशरीरे 'संघायणपरिसाडण'त्ति सङ्घातनपरिशाटनकरणं तु क्षुल्लकभवग्रहणं त्रिसमयोनं, तत् पुनरेवं भावनीयं–जघन्यकालस्य प्रतिपादयितुमभिप्रेतत्वात् विग्रहेणोत्पाद्यते, ततश्च द्वौ विग्रहसमयावेकः सङ्घातसमय इति, तैर्न्यूनं, तथा चोक्तम्–'[१]दो विग्गहंमि समया समयो संघायणाए तेहूणं । खुड्डागभवग्गहणं सवजहन्नो ठिई कालो ॥ १ ॥' इह च सर्वजघन्यमायुष्कं क्षुल्लकभवग्रहणं प्राणापानकालस्यैकस्य सप्तदशभाग इति, उक्तं च भाष्यकारेण—'[२]खुड्डागभवग्गहणा सत्तरस हवंति आणपाणूंमि'त्ति गाथार्थः ॥

एयं जहन्नमुक्कोसयं तु पलिअत्तिअं तु समऊणं । विरहो अंतरकालो ओराले तस्सिमो होइ ॥ १६४ ॥ (भा०)

व्याख्या—इदं जघन्यं सङ्घातादिकालमानम् उत्कृष्टं तु सङ्घातपरिशाटकरणकालमानमौदारिकमाश्रित्य पल्योपमत्रितयमेव समयोनम्, इयमत्र भावना–इहोत्कृष्टकालस्य प्रतिपाद्यत्वादयमविग्रहसमापन्नः इह भवात् परभवं गच्छन्निहभवशरीरशाटं कृत्वा परभवायुषस्त्रिपल्योपमकालस्य प्रथमसमये शरीरसङ्घातं करोति, ततो द्वितीयसमयादारभ्य सङ्घातपरि-

१ द्वौ विग्रहे समयौ समयश्च संघातनायाः तैरूनम् । क्षुल्लकभवग्रहणं सर्वजघन्यः स्थितिकालः ॥ १ ॥ २ क्षुल्लकभवग्रहणानि सप्तदश भवन्ति आनप्राणे ॥

Jain Education International
For Personal & Private Use Only
www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१] दीप अनुक्रम [२]

आवश्यक-हारिभद्रीया ॥४५९॥ सूत्रस्पर्श० वि० १

शाटोभयकाल इति, तेन सङ्घातनासमयेन ऊनं पल्योपमत्रयमिति, उक्तं च—"[1]उक्कोसो समऊणो जो सो संघातणासमयहीणो। चोयग–किह न दुसमयविहूणो साडणसमएऽवणीयंमि ? ॥ १ ॥ भण्णइ भवचरिमंमिवि समये संघातसाडणा चेव। परभवपढमे साडणमओ तदूणो ण कालोत्ति ॥ २ ॥ चो०–जइ परपढमे साडो णिव्विग्गहदो य तंमि संघातो। णणु सव्वसाडसंघातणाओं समए विरुद्धाओ ॥ ३ ॥ आ०–जम्हा विगच्छमाणं विगयं उप्पज्जमाणमुप्पण्णं। तो परभवाइसमए मोक्खादाणाणमविरोहो ॥४॥ चुइसमए णेहभवो इहदेहविमोक्खओ जहातीए । जइ परभवोवि ण तहिं तो सो को होउ संसारी ? ॥ ५ ॥ णणु जह विग्गहकाले देहाभावेऽवि परभवग्गहणं।तह देहाभावंमिवि होज्जेहभवोऽवि को दोसो ? ॥ ६ ॥ आ०–जं चिय विग्गहकालो देहाभावेवि तो परभवो सो। चुइसमएऽवि ण देहो न विग्गहो जइ स को होइ? ॥७॥" एवमौदारिके जघन्येतरभेदः सङ्घातपरिशाटकाल उक्तः। सङ्घातपरिशाटयोस्त्वेक एव (समयः), द्वितीयस्यासम्भवाद्,

१ उत्कृष्टः समयोनो यः स संघातनासमयहीनः। चोदकः–कथं न द्विसमयविहीनः शाटनसमयेऽपनीते ? ॥ १ ॥ भण्यते भवचरमेऽपि समयं संघातशाटने एव। परभवप्रथमे शाटनमतस्तदूनो न काल इति ॥ २ ॥ चोदकः–यदि परभवप्रथमे शाटो निर्विग्रहतश्च तस्मिन् संघातः। ननु सर्वशाटसंघातने समये विरुद्धे ॥ ३ ॥ आचार्यः—यस्माद्विगच्छत् विगतमुत्पद्यमानमुत्पन्नम्। ततः परभवादिसमये मोक्षादानयोर्न विरोधः ॥ ४ ॥ च्युतिसमये नेहभव इहदेहविमोक्षतो यथाऽतीते। यदि परभवोऽपि न तत्र तदा स को भवतु संसारी ? ॥ ५ ॥ ननु यथा विग्रहकाले देहाभावेऽपि परभवग्रहणम्। तथा देहाभावेऽपि भवेदिह भवोऽपि को दोषः ? ॥ ६ ॥ २ आ०–यस्मादेव विग्रहकालो देहाभावेऽपि ततः (एव) परभवः सः। च्युतिसमयेऽपि न देहो न विग्रहो यदि स को भवेत् ? ॥ ७ ॥

॥४५९॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्तिः

प्रत
सूत्रांक
[१]

दीप
अनुक्रम
[२]

अधुना सङ्घातादिविरहो जघन्येतरभेदोऽभिधीयते, तथा चाऽऽह–विरहः कः?, उच्यते, अन्तरकालः, औदारिके तस्य सङ्घातादेरयं भवतीति गाथार्थः ॥

तिसमयहीणं खुड्डुं होइ भवं सव्वबंधसाडाणं। उक्कोस पुव्वकोडी समओ उअही अ तित्तीसं॥ १६५॥ (भा०)

व्याख्या—त्रिसमयहीनं क्षुल्लं भवति, 'भवम्' इति भवग्रहणं, सर्वबन्धशाटयोरन्तरकाल इति, तत्र त्रिसमयहीनं सर्वबन्धस्य क्षुल्लं तु सम्पूर्णं सर्वशाटस्येति, उत्कृष्टः पूर्वकोटिसमयः, तथा 'उदधीनि च (धयश्च)' सागरोपमाणि च त्रयस्त्रिंशत् सर्वबन्धस्य, समयोनस्त्वयमेव शाटस्येति गाथाक्षरार्थः ॥ भावार्थस्तु भाष्यगाथाभ्योऽवसेयस्ताश्चेमाः–"संघायंतरकालो जहन्नओ खुड्डुयं तिसमऊणं। दो विग्गहंमि समया तइओ संघायणासमओ ॥ १ ॥ तेहूणं खुड्डुभवं धरिउं परभवमविग्गहेणेव। गंतूण पढमसमए संघाययओ स विण्णेओ ॥ २ ॥ उक्कोसं तेत्तीसं समयाहियपुव्वकोडिअहिआइं। सो सागरोवमाइं अविग्गहेणेह संघायं ॥३॥ काऊण पुव्वकोडिं धरिउं सुरजेट्ठमाउयं तत्तो। भोत्तूण इहं तइए समए संघाययंतस्स ॥४॥' इदं पुनः सर्वशाटान्तरं जघन्यं क्षुल्लकभवमानं, कथम्?, इहानन्तरातीतभवचरमसमये कश्चिदौदारिकशरीरी सर्वशाटं कृत्वा वनस्पतिष्वागत्य सर्वजघन्यं क्षुल्लकभवग्रहणायुष्कमनुपाल्य पर्यन्ते सर्वशाटं करोति, ततश्च क्षुल्लकभवग्रहणमेव भवति,

---

१ संघातान्तरकालो जघन्यतः क्षुल्लकभवग्रहणं त्रिसमयोनम्। द्वौ विग्रहे समयौ तृतीयः संघातनासमयः ॥ १ ॥ तैरूनं क्षुल्लकभवं धृत्वा परभवमविग्रहेणैव। गत्वा प्रथमसमये संघातयतः स विज्ञेयः ॥ २ ॥ उत्कृष्टः त्रयस्त्रिंशत् समयाधिकपूर्वकोट्यधिकानि। स सागरोपमाणि अविग्रहेणेह संघातम् ॥ ३ ॥ कृत्वा पूर्वकोटीं धृत्वा सुरज्येष्ठमायुष्कं ततः। भुक्त्वा इह तृतीये समये संघातयतः ॥ ४ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [१]

दीप अनुक्रम [२]

उत्कृष्टं तु त्रयस्त्रिंशत् सागरोपमाणि पूर्वकोट्याऽधिकानि, कथम्?, इह कश्चित् संयतमनुष्य औदारिकसर्वशाटं कृत्वाऽनुत्तरसुरेषु त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यतिवाह्य पुनर्मनुष्येष्वौदारिकसर्वसङ्घातं कृत्वा पूर्वकोट्यन्ते औदारिकसर्वशाटं करोतीति, उक्तं च भाष्यकारेण–"[1]खुड्डागभवग्गहणं जहन्नमुक्कोसयं च तित्तीसं। तं सागरोवमाइं संपुन्ना पुव्वकोडी उ ॥ १ ॥' गुरवस्तु व्याचक्षते–तदारम्भसमयस्य पूर्वभवशाटेनावरुद्धत्वात् समयहीनं क्षुल्लकभवग्रहणं जघन्यं शाटान्तरमिति, तथा च किलैवमक्षराणि नीयन्ते–त्रिसमयहीनं क्षुल्लकमित्येतदपि न्याय्यमेवास्माकं प्रतिभाति, किन्त्वतिगम्भीरधिया भाष्यकृता सह विरुध्यत इति गाथार्थः ॥ इदानीं सङ्घातपरिशाटान्तरमुभयरूपमप्यभिधित्सुराह—

अंतरमेगं समयं जहन्नमोरालगहणसाडस्स। सतिसमया उक्कोसं तित्तीसं सागरा हुंति ॥ १६६ ॥ (भा०)

व्याख्या—'अन्तरम्' अन्तरालम्, एकं समयं 'जघन्यं' सर्वस्तोकम् औदारिकग्रहणशाटयोरिति, सत्रिसमयान्युत्कृष्टं त्रयस्त्रिंशत् सागरोपमाणि भवन्तीति गाथाक्षरार्थः ॥ भावार्थस्तु भाष्यगाथाभ्यामवसेयः, ते चेमे–"[3]उभयंतरं जहण्णं समओ निव्विग्गहेण संघाए। परमं सतिसमयाइं तित्तीसं उदहिनामाइं ॥ १ ॥ अणुभविउं देवाइसु तेत्तीसमिहागयस्स तइयंमी। समए संघायतओ नेयाइं समयकुसलेहिं ॥ २ ॥" उक्तौदारिकमधिकृत्य सर्वसङ्घातादिवक्तव्यता, साम्प्रतं वैक्रियमधिकृत्योच्यते, तत्रेयं गाथा—

1 क्षुल्लकभवग्रहणं जघन्यमुत्कृष्टं च त्रयस्त्रिंशत्। तत् सागरोपमाणि संपूर्णानि पूर्वकोटी तु ॥ १ ॥ 2 त्रिभिरूनं सर्वबन्धस्य समयोनं सर्वशाटस्येति भावार्थः। 3 उभयान्तरं जघन्यं समयो निर्विग्रहेण संघाते। परमं सत्रिसमयानि त्रयस्त्रिंशत् उदधिनामानि ॥ २ ॥ अनुभूय देवादिषु त्रयस्त्रिंशतमिहागतस्य तृतीये। समये संघातयत एव ज्ञेयानि समयकुशलैः ॥ २ ॥ * संवाययओ दुविहं साडंतरं वोच्छं (इति वि० भा०)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्ति:

प्रत सूत्रांक [१]

दीप अनुक्रम [२]

वेउव्विअसंघाओ जहन्नु समओ उ दुसमउक्कोसो । साड़ो पुण समयं चिअ विउव्वणाए विणिद्दिट्ठो ॥१६७॥(भा०)

अस्या व्याख्या–वैक्रियसङ्घातः कालतो 'जघन्यः' सर्वस्तोकः समय एव, तुशब्दस्यैवकारार्थत्वेनावधारणार्थत्वाद्, अयं चौदारिकशरीरिणां वैक्रियलब्धिमतां विकुर्वणारम्भे देवनारकाणां च तत्प्रथमतया शरीरग्रहण इति, तथा 'द्विसमय' इति द्विसमयमान उत्कृष्टः वैक्रियसङ्घात इति वर्तते कालश्चेति गम्यते, स पुनरौदारिकशरीरिणो वैक्रियलब्धिमतस्तद्विकुर्वाणारम्भ एव वैक्रियसङ्घातं समयेन कृत्वाऽऽयुष्कक्षयात् मृतस्याविग्रहगत्या देवेषूपपद्यमानस्य वैक्रियमेव सङ्घातयतोऽवसेय इति भावना, शाटः पुनः समयमेव कालतः 'विकुर्वणायां' वैक्रियशरीरविषयो विनिर्दिष्ट इति गाथाक्षरार्थः ॥ अधुना सङ्घातपरिशाटकालमानमभिधित्सुराह—

संघायणपरिसाडो जहन्नओ एगसमइओ होइ । उक्कोसं तित्तीसं सायरणामाइं समऊणा ॥ १६८ ॥ (भा०)

व्याख्या—इह वैक्रियस्यैव सङ्घातपरिशाटः खलूभयरूपः कालतो जघन्य एकसामयिको भवति, उत्कृष्टस्त्रयस्त्रिंशत् सागरोपमाणि सागरनामानि समयोनानीति गाथाक्षरार्थः ॥ भावार्थस्त्वयम्—'उभयं जहण्ण समओ सो पुण दुसमयविउव्वियमयस्स । परमतराइं संघातसमयहीणाइं तेत्तीसं ॥ १ ॥' इदानीं वैक्रियमेवाधिकृत्य सङ्घाताद्यन्तरमभिधित्सुराह—

सव्वग्गहोभयाणं साडस्स य अंतरं विउव्विस्स । समओ अंतमुहुत्तं उक्कोसं रुक्खकालीअं ॥ १६९ ॥ (भा०)

---

१ उभयस्मिन् जघन्यः समयः स पुनर्द्विसमयवैक्रियमृतस्य । परमतराणि संघातसमयहीनानि त्रयस्त्रिंशत् ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१]
दीप अनुक्रम [२]

व्याख्या—इह 'सर्वग्रहोभययोः' सङ्घातसंघातपरिशाटयोरित्यर्थः, शाटस्य च 'अन्तरं' विरहकालः 'वैक्रियस्य' वैक्रियशरीरसम्बन्धिनः समयः सङ्घातस्योभयस्य च, अन्तर्मुहूर्तं शाटस्य, इदं तावज्जघन्यं त्रयाणामपि कथं ज्ञायत इति चेत्? यत आह–उत्कृष्टं 'वृक्षकालिकं' वृक्षकालेनानन्तेन निर्वृत्तं वृक्षकालिकमिति गाथाक्षरार्थः ॥ भावार्थस्त्वयं–'संघातंतर समयो दुसमयविउव्वियमयस्स तइयंमि । सो दिवि संघातयतो तइए व मयस्स तइयंमि ॥ १ ॥' अविग्रहेण सङ्घातयतः द्वितीयसङ्घातपरिशाटस्य समय एवान्तरमिति, 'उभयस्स चिरविउव्वियमयस्स देवे सविग्गह गयस्स । साडस्संतोमुहुत्तं तिण्हवि तरुकालमुक्कोसं ॥ १ ॥' उक्ता वैक्रियशरीरमधिकृत्य सङ्घातादिवक्तव्यता, साम्प्रतमाहारकमधिकृत्यैनां प्रतिपादयन्नाह—

आहारे संघाओ परिसाडो अ समयं समं होइ । उभयं जहन्नमुक्कोसयं च अंतोमुहुत्तं तु ॥ १७० ॥ (भा०)

व्याख्या—'आहार' इत्याहारकशरीरे सङ्घातः–प्राथमिको ग्रहः परिशाटश्च–पर्यन्ते मोक्षश्च, कालतः 'समयं' कालविशेषं 'समं' तुल्यं भवति, सङ्घातोऽपि समयं शाटोऽपि समयमित्यर्थः, 'उभयं' सङ्घातपरिशाटोभयं गृह्यते, तज्जघन्यत उत्कृष्टतश्चान्तर्मुहूर्तमेव भवतीति वर्तते, अन्तर्मुहूर्तमात्रकालावस्थायित्वादस्येति गर्भार्थः, उत्कृष्टात्तु जघन्यो लघुतरो वेदितव्य इति गाथार्थः ॥ साम्प्रतमाहारकमेवाधिकृत्य सङ्घाताद्यन्तरमभिधातुकाम आह—

बंधणसाडुभयाणं जहन्नमंतोमुहुत्तमंतरणं । उक्कोसेण अवड्ढं पुग्गलपरिअट्टदेसूणं ॥ १७१ ॥ (भा०) ॥४६१॥

१ संघातान्तरं समयो द्विसमयवैक्रियमृतस्य तृतीये । स दिवि संघातयतः तृतीये वा मृतस्य तृतीये ॥ १ ॥ २ उभयस्य चिरविकुर्वितमृतस्य देवे सविग्रहं गतस्य । शाटस्यान्तर्मुहूर्त्तं त्रयाणामपि तरुकालमुत्कृष्टम् ॥ १ ॥

Jain Education International | For Personal & Private Use Only | www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१]

दीप अनुक्रम [२]

व्याख्या—बन्धनं–सङ्घातः शाटः–शाट एव उभयं सङ्घातशाटौ अमीषां बन्धनशाटोभयानां 'जघन्यं' सर्वस्तोकम् 'अन्तर्मुहूर्तमन्तरणम्' अन्तर्मुहूर्तविरहकालः, सकृत्परित्यागानन्तरमन्तर्मुहूर्तेनैव तदारम्भादिति भावना, उत्कर्षतः अर्द्धपुद्गलपरावर्तो देशोनोऽन्तरमिति, सम्यग्दृष्टिकालस्योत्कृष्टस्याप्येतावत्परिमाणत्वादिति गाथार्थः ॥ उक्ताऽऽहारकशरीरमधिकृत्य सङ्घातादिवक्तव्यता, इदानीं तैजसकार्मणे अधिकृत्याऽऽह—

तेआकम्माणं पुण संताणाणाइओ न संघाओ। भव्वाण हुज्ज साडो सेलेसीचरमसमयंमि ॥ १७२॥ (भा०)

व्याख्या—तैजसकार्मणयोः पुनर्द्वयोः शरीरयोः सन्तानानादितः कारणात्, किं ?, न सङ्घातः–न तत्प्रथमतया ग्रहणं, प्रागेव सिद्धिप्रसङ्गात्, भव्यानां भवेत् शाटः केषाञ्चित्, कदेति ?, अत आह—शैलेशीचरमसमये, स चैकसामायिक एवेति गाथार्थः ॥

उभयं अणाइनिहणं संतं भव्वाण हुज्ज केसिंचि। अंतरमणाइभावा अच्चंतविओगओ नेसिं ॥ १७३ ॥ (भा०)

व्याख्या—'उभयम्' इति सङ्घातपरिशाटोभयं प्रवाहमङ्गीकृत्य सामान्येन 'अनाद्यनिधनम्' अनाद्यपर्यवसितमित्यर्थः, 'सान्तं' सपर्यवसानमुभयं भव्यानां भवेत् केषाञ्चित्, न तु सर्वेषामिति, अन्तरमनादिभावादत्यन्तवियोगतश्च नानयोरिति गाथार्थः ॥ १७३ ॥ अथवेदमन्यज्जीवप्रयोगनिर्वृत्तं चतुर्विधं करणमिति, आह च—

अहवा संघाओ१साडणं च२उभयं३ तहोभयनिसेहो ४। पड १ संख २ सगड २ थूणा ४ जीवपओगे जहासंखं १७४

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१]

दीप अनुक्रम [२]

आवश्यक-हारिभ-द्रीया

॥४६२॥

व्याख्या—अथवाशब्दः प्रकारान्तरप्रदर्शनार्थः, 'सङ्घात' इति सङ्घातकरणं, 'सातनं च' शातनकरणं च 'उभयं' सङ्घातशातनकरणं 'तथोभयनिषेध' इति सङ्घातपरिशाटशून्यम्। अमीषामेवोदाहरणानि दर्शयन्नाह—पटः शङ्खः शकटं स्थूणा, 'जीवप्रयोग' इति जीवप्रयोगकरणे तत्कायव्यापारमाश्रित्य यथासङ्ख्यमेतान्युदाहरणानि समवसेयानि, तथाहि—पटस्तन्तुसङ्घातात्मकत्वात् सङ्घातकरणं शङ्खस्त्वेकान्तसाटकरणादेव शाटकरणं शकटं तक्षणकीलिकादियोगादुभयकरणं स्थूणा पुनरूर्ध्वतिर्यक्करणयोगात् संघातशाटविरहादुभयशून्या इति गाथार्थः॥ उक्तं जीवप्रयोगकरणम्, आह—'जं जं निज्जीवाणं कीरइ जीवप्पओगओ तं तं' इत्यादिनाऽस्याजीवकरणतैव युक्तियुक्तेति, अत्रोच्यते, न, अभिप्रायापरिज्ञानाद्, इहादावेवाथवाशब्दप्रयोगतः प्रकारान्तरमात्रप्रदर्शनार्थमेतदुक्तं, ततश्चात्र व्युत्पत्तिभेदमात्रमाश्रीयते, जीवप्रयोगात् करणं जीवप्रयोगकरणमिति, ज्यायांश्चान्वर्थ इत्यलं प्रसङ्गेन॥ उक्तं द्रव्यकरणं, साम्प्रतं क्षेत्रकरणस्यावसरः, तत्रेयं निर्युक्तिगाथा—

सूत्रस्पर्श० करणस्व० वि० १

खित्तस्स नत्थि करणं आगासं जं अकित्तिमो भावो। वंजणपरिआवन्नं तहावि पुण उच्छुकरणाई॥ १०१७॥

अस्या व्याख्या—इह 'क्षेत्रस्य' नभसः 'नास्ति करणं' निर्वृत्तिकारणाभावान्न विद्यते करणं मुख्यवृत्त्या 'आकाशं' क्षेत्रं 'यद्' यस्मात् 'अकृत्रिमो भावः' अकृतकः पदार्थः, अकृतकस्य च सतो नित्यत्वात् करणानुपपत्तिरिति भावः। आह—यद्येवं किमिति निर्युक्तिकारेण निक्षेपगाथायामुपन्यस्तमिति ?, अत्रोच्यते, व्यञ्जनपर्यायापन्नं तथापि पुनरिक्षुकरणाद्यस्त्येवेति, इह व्यञ्जनशब्देन क्षेत्राभिव्यञ्जकत्वात् पुद्गलाः गृह्यन्ते, तत्सम्बन्धात् पर्यायः कथञ्चित् प्रागवस्थापरित्यागेनावस्थान्तरापत्तिरित्यर्थः, तमापन्नं पुनस्तथाऽपि यदा विवक्ष्यते तदा पर्यायो द्रव्यादनन्य इति पर्यायद्वारेण क्षेत्रकरण-

॥४६२॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१]

दीप अनुक्रम [२]

मस्तीति सभावार्थोऽक्षरगमनिका ॥ उपचारमात्राद्वेक्षुकरणादि, यथेक्षुक्षेत्रकरणं शालिक्षेत्रकरणम्, अथवाऽऽदिशब्दाद् यत्र प्ररूप्यते क्रियते वेति गाथार्थः ॥ १०१७ ॥ उक्तं क्षेत्रकरणम्, इदानीं कालकरणस्यावसरः, तत्रेयं गाथा—

कालेवि नत्थि करणं तहावि पुण वंजणप्पमाणेणं । बवबालवाइकरणेहिंऽणेगहा होइ ववहारो ॥ १०१८ ॥

अस्या व्याख्या—कलनं कालः कलासमूहो वा कालस्तस्मिन् कालेऽपि, न केवलं क्षेत्रस्य, किं ?, नास्ति करणं—न विद्यते कृतिः, कुतः ?—तस्य वर्तनादिरूपत्वाद्, वर्तनादीनां च स्वयमेव भावात्, समयाद्यपेक्षायां च परोपादानत्वादिति भावना, आह—यद्येवं किमिति निर्युक्तिकृतोपन्यस्तमिति ?, अत्रोच्यते, तथाऽपि पुनर्व्यञ्जनप्रमाणेन भवतीति शेषः, इह व्यञ्जनशब्देन विवक्षया वर्तनाद्यभिव्यञ्जकत्वाद् द्रव्याणि गृह्यन्ते, तत्प्रमाणेन—तन्नीत्या तद्बलेन भवतीति, तथाहि—वर्तनादयस्तद्धर्तां कथञ्चिदभिन्ना एव, ततश्च तद्धर्तां करणे तेषामपि करणमेवेति भावना, समयादिकालापेक्षायामपि व्यवहारनयादस्ति कालकरणमिति, आह च—बवबालवादिकरणैरनेकधा भवति व्यवहार इति, अत्रादिशब्दात् कौलवादीनि गृह्यन्ते, उक्तं च—'बवं च बालवं चेव, कोलवं थीविलोयणं । गराइ वणियं चेव, विट्ठी भवइ सत्तमा ॥ १ ॥ एयाणि सत्त करणाणि चलाणि वट्टंति, अवराणि सउणिमाईणि चत्तारि थिराणि, उक्तं च—'सउणि चउप्पय णागं किंछुग्घं च करणं थिरं चउहा । बहुलचउद्दसिरत्ती सउणी सेसं तियं कमसो ॥ १ ॥ एस एत्थ भावणा—बहुलचउद्दसिराईए सउणी हवति,

१ बवं च बालवं चैव कौलवं स्त्रीविलोचनम् । गरादि वणिक् चैव विष्टिर्भवति सप्तमी ॥ १ ॥ एतानि सप्त करणानि चलानि वर्त्तन्ते, अपराणि शकुन्यादीनि चत्वारि स्थिराणि,—शकुनिश्चतुष्पदं नागः किंस्तुघ्नं च करणानि स्थिराणि चतुर्धा । कृष्णचतुर्दशीरात्रौ शकुनिः शेषं त्रिकं क्रमशः ॥ १ ॥ एषाऽत्र भावना—कृष्णचतुर्दशीरात्रौ शकुनिर्भवति

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [१]

दीप अनुक्रम [२]

आवश्यक-हारिभ-द्रीया ॥४६३॥

सूत्रस्पर्श० करणस्व० वि० १

[1]सेसं तियं चउप्पयाई करणं अमावासाए दिया राओ य तो पडिवयदियाय, तओ सुद्धपडिवयणिसादौ बवाईणि हवंति, एएसिं च परिजाणणोवाओ–पक्खतिहओ दुगुणिया दुरूवहीणा य सुक्कपक्खंमि । सत्तहिए देवसियं तं चिय रूवाधियं रत्तिं ॥ १ ॥ एसेत्थ भावणा–अहिगयदिणंमि करणजाणणत्थं पक्खतिहिओ दुगुणियत्ति–अहिगयतिहिं पडुच्च अइगआ दुगुणा कज्जंति, जहा सुद्धचउत्थीए दुगुणा अट्ठ हवंति 'दुरूवहीण'त्ति तओ दोण्णि रूवाणि पाडिज्जंति, सेसाणि छ सत्तहिं भागे देवसियं करणं भवइ, एत्थ य भागाभावा छच्चेव, तओ बवाइकमेण चादुप्पहरिगकरणभोगेणं चउत्थीए दिवसओ वणियं हवइ, 'तं चिय रूवाहियं रत्तिं'ति रत्तीए विट्ठी, कण्हपक्खे पुणो दो रूवा ण पाडिज्जंति, एवं सव्वत्थ भावणा कायव्वा, भणियं च—'किण्हनिसि तइय दसमी सत्तमी चाउद्दसीय अह विट्ठी । सुक्कचउत्थेकारसि निसि अट्ठमि पुन्निमा य दिवा ॥ १ ॥ सुद्धस्स पडिवयनिसि पंचमिदिण अट्ठमीए रत्तिं तु । दिवसस्स बारसी पुन्निमा य रत्तिं बवं होइ ॥ २ ॥

१ शेषं त्रयं चतुष्पदादिकरणं अमावास्याया दिवा रात्रौ च ततः प्रतिपद्दिवसे च, ततः शुद्धप्रतिपन्निशादौ बवादीनि भवन्ति, एतेषां च परिज्ञानोपायः–पक्षतिथयो द्विगुणिता द्विरूपहीनाश्च शुक्लपक्षे । सप्तहृते दैवसिकं तदेव रूपाधिकं रात्रौ ॥ १ ॥ एषाऽत्र भावना–अधिकृतदिने करणज्ञानार्थं पक्षतिथयो द्विगुणिता इति अधिकृततिथिं प्रतीत्य अतिगता द्विगुणाः क्रियन्ते, यथा शुक्लचतुर्थ्यां द्विगुणा अष्ट भवन्ति, द्विरूपहीना इति ततो द्वे रूपे पात्येते, शेषाणि षट् सप्तभिर्भागे दैवसिकं करणं भवति, अत्र च भागाभावात् षडेव, ततो बवादिक्रमेण चातुष्प्राहरिककरणभोगेन चतुर्थ्यां दिवसे वणिक् भवति, 'तदेव रूपाधिकं रात्रा' विति रात्रौ विष्टिः, कृष्णपक्षे पुनर्द्वे रूपे न पात्येते, एवं सर्वत्र भावना कर्त्तव्या, भणितं च–कृष्णे निशि तृतीयायां दशम्यां सप्तम्यां चतुर्दश्यां अह्नि विष्टिः । शुक्ले चतुर्थ्यां एकादश्यां निशि अष्टम्यां पूर्णिमायां च दिवा ॥ १ ॥ शुक्लस्य प्रतिपन्निशि पञ्चमीदिने अष्टम्या रात्रौ तु । द्वादश्या दिवसे पूर्णिमायाश्च रात्रौ बवं भवति ॥ २ ॥

॥४६३॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१]

दीप अनुक्रम [२]

[१]बहुलस्स चउत्थीए दिवा य तह सत्तमीइ रत्तिंमि। एक्कारसीय उ दिवा बवकरणं होइ नायवं ॥ ३ ॥ इत्यलं प्रसङ्गेनेति गाथार्थः ॥ १०१८ ॥ उक्तं कालकरणम्, अधुना भावकरणमभिधीयते, तत्र भावः पर्याय उच्यते, तस्य च जीवाजीवोपाधिभेदेन द्विभेदत्वात् तत्करणमप्योघतो द्विविधमेवेति, अत आह—

जीवमजीवे भावे अजीवकरणं तु तत्थ वन्नाई। जीवकरणं तु दुविहं सुअकरणं नो अ सुअकरणं ॥ १०१९ ॥

व्याख्या—इहानुस्वारस्यालाक्षणिकत्वाज्जीवाजीवयोः सम्बन्धि 'भाव' इति भावविषयं करणमवसेयमिति, अल्पवक्तव्यत्वादजीवभावकरणमेवादावुपदर्शयति–'अजीवकरणं तु' तुशब्दस्य विशेषणार्थत्वादजीवभावकरणं परिगृह्यते, 'तत्र' तयोर्मध्ये वर्णादि, इह परप्रयोगमन्तरेणाभ्रादेर्नानावर्णान्तरगमनं तदजीवभावकरणम्, आदिशब्दाद् गन्धादिपरिग्रहः, तत्राऽऽह–ननु च द्रव्यकरणमपि विश्रसाविषयमित्थंप्रकारमेवोक्तं, को न्वत्र भावकरणे विशेष इति?, उच्यते, इह भावाधिकारात् पर्यायप्राधान्यमाश्रीयते तत्र तु द्रव्यप्राधान्यमिति विशेषः, जीवकरणं तु पुनः 'द्विविधं' द्विप्रकारं–श्रुतकरणं नोश्रुतकरणं च, श्रुतकरणमिति श्रुतस्य जीवभावत्वाच्छ्रुतभावकरणं, नोश्रुतभावकरणं च गुणकरणादि, चशब्दस्य व्यवहितः सम्बन्ध इति गाथार्थः ॥ १०१९ ॥ साम्प्रतं जीवभावकरणेनाधिकार इति तदेव यथोद्दिष्टं तथैव भेदतः प्रतिपिपादयिषुराह—

बद्धमबद्धं तु सुअं बद्धं तु दुवालसंग निद्दिट्ठं। तव्विवरीअमबद्धं निसीहमनिसीह बद्धं तु ॥ १०२० ॥

---

१ कृष्णस्य चतुर्थ्यां दिवसे च तथा सप्तम्यां रात्रौ। एकादश्यास्तु दिवसे बवकरणं भवति ज्ञातव्यम् ॥ ३ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत
सूत्रांक
[१]

दीप
अनुक्रम
[२]

व्याख्या—इह बद्धमबद्धं तु श्रुतं, तुशब्दो विशेषणार्थः, किं विशिनष्टि?–लौकिकलोकोत्तरभेदमिदमेवमिति, तत्र पद्यगद्यबन्धनाद् बद्धं शास्त्रोपदेशवत्, अत एवाह–बद्धं तु द्वादशाङ्गम्–आचारादि गणिपिटकं निर्दिष्टं, तुशब्दस्य विशेषणार्थत्वाल्लोकोत्तरमिदं, लौकिकं तु भारतादि विज्ञेयमिति, तद्विपरीतमबद्धम् लौकिकलोकोत्तरभेदमेवावसेयमिति, 'निसीहमनिसीह बद्धं तु'त्ति इह बद्धश्रुतं निशीथमनिषीथं च, तुशब्दः पूर्ववत्, तत्र रहस्ये पाठाद् रहस्योपदेशाच्च प्रच्छन्नं निषीथमुच्यते, प्रकाशपाठात् प्रकाशोपदेशत्वाच्चानिषीथमिति गाथार्थः ॥ १०२० ॥ साम्प्रतमनिषीथनिषीथयोरेव स्वरूपप्रतिपादनायाह—

भूआपरिणयविगए सद्दकरणं तहेव न निसीहं। पच्छन्नं तु निसीहं निसीहनामं जहऽज्झयणं ॥ १०२१ ॥

व्याख्या—भूतम्–उत्पन्नम् अपरिणतं–नित्यं विगतं–विनष्टं, ततश्च भूतापरिणतविगतानि, एतदुक्तं भवति–'उप्पण्णे इ वा विगए इ वा धुवे इ वा' इत्यादि, शब्दकरणमित्यनेनोक्तिमाह, तथा चोक्तम्–'उत्ती[१] तु सद्दकरणे' इत्यादि, तदेवं भूतादिशब्दकरणं 'न निषीथ'मिति निषीथं न भवति, प्रकाशपाठात् प्रकाशोपदेशत्वाच्च, प्रच्छन्नं तु निषीथं रहस्यपाठाद् रहस्योपदेशाच्च निषीथनाम यथाऽध्ययनमिति गाथार्थः ॥ १०२१ ॥ अथवा निषीथं गुप्तार्थमुच्यते, "जहा[२]–अग्गाणीए विरिए अत्थिनत्थिप्पवायपुव्वे य पाठो–जत्थेगो दीवायणो भुंजइ तत्थ दीवायणसयं भुंजइ जत्थ दीवायणसयं भुंजइ तत्थ

१ उक्तिस्तु शब्दकरणे २ यथाऽग्रायणीये वीर्ये अस्तिनास्तिप्रवादपूर्वे च पाठः–यत्रैको द्वीपायनो भुङ्क्ते तत्र द्वीपायनशतं भुङ्क्ते, यत्र द्वीपायनशतं भुङ्क्ते तत्रैको

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्ति:

प्रत सूत्रांक [१]

दीप अनुक्रम [२]

एगो दीवायणो भुंजइ, एवं हम्मइ वि जाव जत्थ दीवायणसयं हम्मइ तत्थेगो दीवायणो हम्मइ," तथा चामुमे-वार्थमभिधातुकाम आह—

अग्गेणीअंमि य जहा दीवायण जत्थ एग तत्थ सयं। जत्थ सयं तत्थेगो हम्मइ वा भुंजए वावि ॥ १०२२ ॥

व्याख्या—सम्प्रदायाभावान्न प्रतन्यत इति ॥

एवं बद्धमबद्धं आएसाणं हवंति पंचसया। जह एगा मरुदेवी अच्चंतत्थावरा सिद्धा ॥ १०२३ ॥

व्याख्या—'एवम्' इत्यनन्तरोक्तप्रकारं 'बद्धं' लोकोत्तरं, लौकिकं त्वत्रारण्यकादि द्रष्टव्यम्, अबद्धं पुनरादेशानां भवन्ति पञ्च शतानि, किम्भूतानि ?, अत आह–यथैका–तस्मिन् समयेऽद्वितीया 'मरुदेवी' ऋषभजननी 'अत्यन्तस्थावरा' इत्यनादिवनस्पतिकायादुद्वृत्त्य 'सिद्धा' निष्ठितार्था सञ्जातेति,उपलक्षणमेतदन्येषामपि स्वयम्भूरमणजलधिमत्स्यपद्मपत्राणां वलयव्यतिरिक्तसकलसंस्थानसम्भवादीनामिति, लौकिकमप्यङ्गिकाप्रत्यङ्गिकादिकरणं ग्रन्थानिबद्धं वेदितव्यमिति गाथार्थः ॥ १०२३ ॥ अत्र वृद्धसम्प्रदायः–आरुहए पवयणे पंच आएससयाणि जाणि अणिबद्धाणि, तत्थेगं मरुदेवा णवि अंगे ण उवंगे पाठो अत्थि जहा–अच्चंतं थावरा होइऊण सिद्धत्ति, बिइयं सयंभुरमणे समुद्दे मच्छाणं पउमपत्ताण य सव्वसंठाणाणि

१ द्वीपायनो भुंक्ते, एवं हन्यतेऽपि यावत् यत्र द्वीपायनशतं हन्यते तत्रैको द्वीपायनो हन्यते २ आर्हते प्रवचने पञ्चादेशशतानि यान्यनिबद्धानि, तत्रैकं मरुदेवा नैवाङ्गे नोपाङ्गे पाठोऽस्ति यथा–अत्यन्तं स्थावरा (द्) भूत्वा (अनादिवनस्पतेरागत्य) सिद्धेति, द्वितीयं स्वयम्भूरमणे समुद्रे मत्स्यानां पद्मपत्राणां च सर्वसंस्थानानि

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्तिः

मरुदेवी मातरः कथानकं

प्रत सूत्रांक [१]

दीप अनुक्रम [२]

अत्थि वलयसंठाणं मोत्तुं, तइयं विण्हुस्स सातिरेगजोयणसयसहस्सविउव्वणं, चउत्थं करडओकुरुडा *दोसट्ठियरुवज्झाया, कुणालाणयरीए निद्धमणमूले वसही, वरिसासु देवयाणुकंपणं, नागरेहि निच्छुहणं, करडेण रूसिएण वुत्तं–'वरिस देव! कुणालाए,' उक्कुरुडेण भणियं–'दस दिवसाणि पंच य' पुणरवि करडेण भणियं–'मुट्ठिमेत्ताहिं धाराहिं' उक्कुरुडेण भणियं–'जहा रत्तिं तहा दिवं' एवं वोत्तूणमवक्कंता, कुणालाएवि पण्णरसदिवसअणुबद्धवरिसणेणं सजाणवया (सा) जलेण उक्कंता तओ ते तइयवरिसे साएए णयरे दोऽवि कालं काऊण अहे सत्तमाए पुढवीए काले णरगे बावीससागरोवमट्ठिईआ णेरइया संवुत्ता। कुणालाणयरीविणासकालाओ तेरसमे वरिसे महावीरस्स केवलणाणसमुप्पत्ती। एयं अनिबद्धं, एवमाइ पंचाएससयाणि अबद्धाणि॥ एवं लोइयं अबद्धकरणं बत्तीसं अड्डियाओ बत्तीसं पच्चड्डियाओ सोलस करणाणि, लोगप्पवाहे पंचट्ठाणाणि तंजहा–आलीढं पच्चालीढं वइसाहं मंडलं समपयं, तत्थालीढं दाहिणं पायं अग्गओहुत्तं काउं

---

१ सन्ति वलयसंस्थानं मुक्त्वा, तृतीयं विष्णोः सातिरेकयोजनशतसहस्रं वैक्रियं, चतुर्थं कुरुटोत्कुरुटौ दोषार्त्तेतरोपाध्यायौ कुणालायां नगर्यां निर्धमन (जलनिर्गमनमार्गे) मूले वसतिः (तयोः), वर्षासु (वर्षावासे) देवतानुकम्पनं, नागरैर्निष्काशनं, करटेन रुष्टेनोक्तं–'वर्ष देव! कुणालायां,' उत्कुरुटेन भणितं–'दश दिवसान् पञ्च च' पुनरपि करटेन भणितं–मुष्टिमात्राभिर्धाराभिः' उत्कुरुटेन भणितं–'यथा रात्रौ तथा दिवा' एवमुक्त्वाऽपक्रान्तौ, कुणालायामपि पञ्चदशदिवसानुबद्धवर्षणेन सजनपदा (कुणाला) जलेनापक्रान्ता, ततस्तौ तृतीये वर्षे साकेते नगरे द्वावपि कालं कृत्वाऽधः सप्तम्यां पृथिव्यां काले नरके द्वाविंशतिसागरोपमस्थितिकौ नैरयिकौ संवृत्तौ। कुणालानगरीविनाशकालात्त्रयोदशे वर्षे महावीरस्य केवलज्ञानसमुत्पत्तिः। एतदनिबद्धं, एवमादीनि पञ्चादेशशतानि अबद्धानि॥ एवं लौकिकमबद्धकरणं द्वात्रिंशदड्डिकाः द्वात्रिंशत्प्रत्यड्डिकाः षोडश करणानि, लोकप्रवाहे पञ्च स्थानानि, तद्यथा–आलीढं प्रत्यालीढं वैशाखं मण्डलं समपादं, तत्रालीढं दक्षिणं पादमग्रतोभूतं कृत्वा * दोसढियरुव०

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत
सूत्रांक
[१]

दीप
अनुक्रम
[२]

वामपायं पच्छओहुत्तं ओसारेइ, अंतरं दोण्हवि पायाणं पंचपाया, एवं चेव विवरीयं पच्चालीढं, वइसाहं पण्हीओ अब्भिंतराहुत्तीओ समसेढीए करेइ, अग्गिमयलो बहिराहुत्तो, मंडलं दोवि पाए दाहिणवामहुत्ता ओसारेत्ता ऊरुणोवि आउंटावेइ जहा मंडलं भवइ, अंतरं चत्तारि पया, समपायं दोवि पाए समं निरंतरं ठवेइ, एयाणि पंचट्ठाणाणि, लोगप्पवाए(हे) सयणकरणं छट्ठं ठाणं, इत्यलं विस्तरेण ॥ उक्तं श्रुतकरणम्, अधुना नोश्रुतकरणमभिधित्सुराह—

नोसुअकरणं दुविहं गुणकरणं तह य जुंजणाकरणं । गुणकरणं पुण दुविहं तवकरणे संजमे अ तहा ॥१०२४॥

व्याख्या—श्रुतकरणं न भवतीति नोश्रुतकरणम्, 'अमानोनाः प्रतिषेधवाचका' इति वचनात्, 'द्विविधं' द्विप्रकारं 'गुणकरणम्' इति गुणानां करणं गुणकरणं, गुणानां कृतिरित्यर्थः, 'तथा' इति निर्देशे 'चः' समुच्चये व्यवहितश्चास्य योगः, कथं ?, 'योजनाकरणं च' मनःप्रभृतीनां व्यापारकृतिश्चेत्यर्थः, गुणकरणं पुनः 'द्विविधं' द्विप्रकारं, कथं ?, 'तपकरणम्' इति तपसः अनशनादेर्बाह्याभ्यन्तरभेदभिन्नस्य करणं तपःकरणं, तपःकृतिरिति हृदयं, तथा 'संजमे अ'त्ति संयमविषयं च पञ्चाश्रवविरमणादिकरणमिति भाव इत्ययं गाथार्थः ॥ १०२४ ॥ इदानीं योजनाकरणं व्याचिख्यासुराह—

जुंजणकरणं तिविहं मण १ वय२काए अ३मणसि सचाई । सट्ठाणि तेसि भेओ चउ१चउहा२सत्तहा ३ चेव १०२५

---

१ वामपादं पश्चात्कृत्यापसारयति, अन्तरं द्वयोरपि पादयोः पञ्च पादाः, एवमेव विपरीतं प्रत्यालीढं, वैशाखं पार्ष्णी अभ्यन्तरे समश्रेण्या करोति, अग्रतलौ बाह्यतः, मण्डलं द्वावपि पादौ दक्षिणवामतः अपसार्य ऊरू अपि आकुञ्चति यथा मण्डलं भवति, अन्तरं चत्वारः पादाः, समपादं द्वावपि पादौ समं निरन्तरं स्थापयति, एतानि पञ्च स्थानानि, लोकप्रवादे (हे) शयनकरणं षष्ठं स्थानम्।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्ति:

प्रत सूत्रांक [१] दीप अनुक्रम [२]

आवश्यक-हारिभद्रीया ॥४६६॥

सूत्रस्पर्श० करणस्व० वि० १

व्याख्या—योजनाकरणं 'त्रिविधं' त्रिप्रकारं 'मणवइकाए य'त्ति मनोवाक्कायविषयं, तत्र 'मनसि सत्यादि' मनोविषयं सत्यादियोजनाकरणं तद्यथा—सत्यमनोयोजनाकरणम्, असत्यमनोयोजनाकरणं, सत्यमृषामनोयोजनाकरणम्, असत्यामृषामनोयोजनाकरणमिति, 'स्वस्थाने' प्रत्येकं मनोवाक्कायलक्षणे 'तेषां' योजनाकरणानां 'भेदः' विभागः 'चउ चउहा सत्तहा चेव'त्ति अयमत्र भावार्थः–मनोयोजनाकरणं चतुर्भेदं सत्यमनोयोजनाकरणादि दर्शितमेव, एवं वाग्योजनाकरणमपि चतुर्भेदमेव द्रष्टव्यं, काययोजनाकरणं तु सप्तभेदं, तद्यथा–औदारिककाययोजनाकरणम्, एवमौदारिकमिश्रम्, एवं वैक्रियकायः एवं वैक्रियमिश्रम्, एवमाहारककायः एवमाहारकमिश्रम्, एवं कार्मणकाययोजनाकरणमिति गाथार्थः ॥ १०२५ ॥ इत्थं तावद् व्यावर्णितं यथोद्दिष्टं करणम्, अधुनाऽत्र येनाधिकार इति तद्दर्शनायाऽऽह—

भावसुअसद्दकरणे अहिगारो इत्थ होइ कायव्वो । नोसुअकरणे गुणजुंजणे अ जहसंभवं होइ ॥ १०२६ ॥

व्याख्या—भावश्रुतशब्दकरणे 'अधिकारः' अवतारो भवति कर्तव्यः श्रुतसामायिकस्य, न तु चारित्रसामायिकस्य, तस्य अन्ते यथासम्भवाभिधानाद्, इह च भावश्रुतं सामायिकोपयोग एव, शब्दकरणमप्यत्र तच्छब्दविशिष्टः श्रुतभाव एव विवक्षितो न तु द्रव्यश्रुतमिति, तत्र वस्तुतोऽस्यानवतारात्, तथा नोश्रुतकरणमधिकृत्य 'गुणजुंजणे य'त्ति गुणकरणे योजनाकरणे च यथासम्भवं भवति, अधिकरणमिति गम्यते, तत्र यथासम्भवमिति गुणकरणे चारित्रसामायिकस्यावतारः, तपःसंयमगुणात्मकत्वाच्चारित्रस्य, योजनाकरणे च मनोवाग्योजनायां सत्यासत्यामृषाद्वये द्वयस्यापि भावनीयः, काययोज- ॥४६६॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१]

दीप अनुक्रम [२]

नायामपि द्वयस्याद्यस्यैवेति गाथार्थः ॥ १०२६ ॥ साम्प्रतं सामायिककरणमेवाव्युत्पन्नविनेयवर्गव्युत्पादनार्थं सप्तभिरनुयोगद्वारैः कृताकृतादिभिः निरूपयन्नाह—

कयाकयं १ केण कयं २ केसु अ दव्वेसु कीरई वावि ३।
काहे व कारओ ४ नयओ ५ करणं कइविहं ६ (च) कहं ७ ? ॥ १०२७ ॥

व्याख्या—'कयाकयं'ति सामायिकस्य करणमिति क्रियां श्रुत्वा चोदक आक्षिपति-एतत्सामायिकमस्याः क्रियायाः प्राक् किं कृतं क्रियते ? आहोस्विदकृतमिति, उभयथाऽपि दोषः, कृतपक्षे भावादेव करणानुपपत्तेः, अकृतपक्षेऽपि वान्ध्येयादेरिव करणानुपपत्तिरेवेति, अत्र निर्वचनं, कृतं चाकृतं च कृताकृतं, नयमतभेदेन भावना कार्या, केन कृतमिति वक्तव्यं, तथा केषु द्रव्येष्विष्टादिषु क्रियते ?, कदा वा कारकोऽस्य भवतीति वक्तव्यं, 'नयत' इति केनालोचनादिना नयेनेति, तथा करणं 'कइविहं' कतिभेदं 'कथं' केन प्रकारेण लभ्यत इति वक्तव्यमयं गाथासमासार्थः ॥ १०२७ ॥ अवयवार्थं तु प्रतिद्वारं भाष्यकार एव वक्ष्यति, तत्राऽऽद्यद्वारावयवार्थाभिधित्सयाऽऽह—

उप्पन्नाणुप्पन्नं कयाकयं इत्थ जह नमुक्कारे। दा० १। केणंति अत्थओ तं जिणेहिं सुत्तं गणहरेहिं॥१७५॥(दा०२)भा०

व्याख्या—इहोत्पन्नानुत्पन्नं कृताकृतमभिधीयते, सर्वमेव च वस्तूत्पन्नानुत्पन्नं क्रियते, द्रव्यपर्यायोभयरूपत्वाद्वस्तुन इति, अत्र नैगमादिनयैर्भावना कार्येति, अत एवाऽऽह—अत्र यथा नमस्कारे नयभावना कृता तथैव कर्तव्येति गम्यते,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सामायिककारणस्य सप्त अनुयोगद्वारै: निरूपणं

प्रत सूत्रांक [१] दीप अनुक्रम [२]

आवश्यक-हारिभद्रीया ॥४६७॥

सूत्रस्पर्श० करणस्व० वि० १

सा पुनर्नमस्कारानुसारेणैव भावनीयेति द्वारम्। सा पुण भावणा–इह केइ उप्पन्नं इच्छंति, केइ अणुप्पन्नं इच्छंति, ते य णेगमाई सत्त मूलणया, तत्थ णेगमोऽणेगविहो, तत्थाइणेगमस्स अणुप्पन्नं कीरइ णो उप्पण्णं, कम्हा ?, जहा पंच अत्थिकाया णिच्चा एवं सामाईयंपि ण कयाइ णासि ण कयाइ ण भवदि ण कयाइ ण भविस्सइ, भुविं च भवइ अ भविस्सइ, धुवे णिइए अक्खए अव्वए अवट्ठिए णिच्चे ण एस भावे केणइ उप्पाइए-त्तिकट्टु, जदावि भरहेरवएहिं वासेहिं वोच्छिज्जइ तयावि महाविदेहे वासे अव्वोच्छित्ती तम्हा अणुप्पन्नं। सेसाणं णेगमाणं छण्ह य संगहाईण नयाणं उप्पन्नं कीरइ, जेणं पण्णरससुवि कम्मभूमीसु पुरिसं पडुच्च उप्प-ज्जइ, जइ उप्पन्नं कहं उप्पन्नं ?, तिविहेण सामित्तेण उप्पत्ती भवइ, तंजहा–समुट्ठाणेणं वायणाए लद्धीए, तत्थ को णओ कं उप्पत्तिं इच्छइ ?, तत्थ जे पढमवज्जा णेगमा संगहववहारा य ते तिविहंपि उप्पत्तिं इच्छंति, समुट्ठाणेणं जहा तित्थग-रस्स सएणं उवट्ठाणेणं, वायणाए वायणायरियणिस्साए जहा भगवया गोयमसामी वाइओ, लद्धीए वा अभवियस्स

---

१ सा पुनर्भावना–इह केचिदुत्पन्नमिच्छन्ति, केचिदनुत्पन्नमिच्छन्ति, ते च नैगमादयः सप्त मूलनयाः, तत्र नैगमोऽनेकविधः, तत्रादिनैगमस्यानुत्पन्नं क्रियते नोत्पन्नं, कस्मात्?, यथा पञ्चास्तिकाया नित्या एवं सामायिकमपि न कदाचिन्नासीत् न कदाचिन्न भवति न कदाचिन्न भविष्यति, भूतं च भवति च भवि-ष्यति, ध्रुवं नैत्यिकं अक्षयमव्ययं अवस्थितं नित्यं नैष भावः केनचिदुत्पादित इतिकृत्वा, यदापि भरतैरवतेषु वर्षेषु व्युच्छिद्यते तदाऽपि महाविदेहेषु वर्षेषु अव्यवच्छित्तिः तस्मादनुत्पन्नं। शेषाणां नैगमानां षण्णां च संग्रहादीनां नयानामुत्पन्नं क्रियते, यतः पञ्चदशस्वपि कर्मभूमिषु पुरुषं प्रतीत्योत्पद्यते, यद्युत्पन्नं कथमुत्पन्नं ?, त्रिविधेन स्वा-मित्वेनोत्पत्तिर्भवति, तद्यथा–समुत्थानेन वाचनया लब्ध्या, तत्र को नयः कामुत्पत्तिमिच्छति ?, तत्र ये प्रथमवर्जा नैगमाः संग्रहव्यवहारौ च ते त्रिविधामप्युत्प-त्तिमिच्छन्ति, समुत्थानेन यथा तीर्थकरस्य स्वकेनोत्थानेन, वाचनया वाचनाचार्यनिश्रया यथा भगवता गौतमस्वामी वाचितः, लब्ध्या वाऽभव्यस्य ॥४६७॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्ति:

प्रत सूत्रांक [१]

दीप अनुक्रम [२]

णेत्थि, भवियस्स पुण उवएसगमंतरेणावि पडिमाइ दट्ठूणं सामाइयावरणिज्जाण कम्माण खओवसमेणं सामाइयलद्धी समुप्पज्जइ, जहा सयंभूरमणे समुद्दे पडिमासंठिया य मच्छा पउमपत्तावि पडिमासंठिदा साहुसंठिया य, सव्वाणि किर तत्थ संठाणाणि अत्थि मोत्तूण वलयसंठाणं, एरिसं णत्थि जीवसंठाणंति, ताणि संठाणाणि दट्ठूण कस्सइ संमत्तसुयचरित्ताचरित्तसामाइयाइ उप्पज्जेज्जा । उज्जुसुओ पढमं समुट्ठाणेणं नेच्छइ, किं कारणं ?, भगवं चेव उट्ठाणं, स एव वायणायरिओ गोयमप्पभिईणं, तेण दुविहं–वायणासामित्तं लद्धिसामित्तं च, जं भणियं–वायणायरियणिस्साए सामाइयलद्धी जस्स उप्पज्जइ, तिण्णि सद्दणया लद्धिमिच्छंति, जेण उट्ठाणे वायणायरिए य विज्जमाणेवि अभवियस्स ण उप्पज्जइ, लब्धेरभावात्, एवं उप्पण्णं अणुप्पण्णं वा सामाइयं कज्जइ, कयाकयंति दारं गतं, अधुना द्वितीयद्वारमधिकृत्याऽऽह–‘केन’ इति, केन कृतमित्यत्र निर्वचनम्, ‘अर्थतः’ अर्थमङ्गीकृत्य ‘तत्’ सामायिकं

---

१ नास्ति, भव्यस्य पुनरुपदेशकमन्तरेणापि प्रतिमादि दृष्ट्वा सामायिकावरणीयानां कर्मणां क्षयोपशमेन सामायिकलब्धिः समुत्पद्यते, यथा स्वयम्भूरमणे समुद्रे प्रतिमासंस्थिताश्च मत्स्याः पद्मपत्राण्यपि प्रतिमासंस्थितानि साधुसंस्थितानि च, सर्वाणि किल तत्र संस्थानानि सन्ति मुक्त्वा वलयसंस्थानं, ईदृशं नास्ति जीवसंस्थानमिति, तानि संस्थानानि दृष्ट्वा कस्यचित्सम्यक्त्वश्रुतचारित्राचारित्रसामायिकादिरुत्पद्येत । ऋजुसूत्रः प्रथमां समुत्थानेन (इति) नेच्छति, किं कारणं ?, भगवानेवोत्थानं, स एव वाचनाचार्यो गौतमप्रभृतीनां, तेन द्विविधं वाचनास्वामित्वं लब्धिस्वामित्वं च, यद्भणितं–वाचनाचार्यनिश्रया सामायिकलब्धिर्यस्योत्पद्यते, त्रयः शब्दनया लब्धिमिच्छन्ति, येन उत्थाने वाचनाचार्ये च विद्यमानेऽपि अभव्यस्य नोत्पद्यते, एवमुत्पन्नं अनुत्पन्नं वा सामायिकं क्रियते, कृताकृतमिति द्वारं गतं ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१] दीप अनुक्रम [२]

आवश्यक-हारिभद्रीया ॥४६८॥

सूत्रस्पर्श० करणस्व० वि० १

'जिनैः' तीर्थकरैः, सूत्रं त्वङ्गीकृत्य गणधरैरिति, व्यवहारमतमेतत् , निश्चयमतं तु व्यक्त्यपेक्षया यो यत्स्वामी तत्तेनै-वेति, व्यक्त्यपेक्षश्चेह तीर्थकरगणधरयोरुपन्यासो वेदितव्यः, प्रधानव्यक्तित्वाद्, अन्यथा पुनरुक्तदोषप्रसङ्ग इति, उक्तं च भाष्यकारेण–'णणु णिग्गमे गयं चिय केण कयंति त्ति का पुणो पुच्छा? । भण्णइ स बज्झकत्ता इहंतरंगो विसेसोऽयं ॥१॥" बाह्यकर्ता सामान्येनान्तरङ्गस्तु व्यक्त्यपेक्षयेति भावना, अयं गाथार्थः॥ साम्प्रतं केषु द्रव्येषु क्रियत इत्येतद् विवृण्वन्नाह—

तं केसु कीरई तत्थ नेगमो भणइ इट्ठदव्वेसु । सेसाण सव्वदव्वेसु पज्जवेसुं न सव्वेसुं ॥१७६॥ (दा० ३)(भा०)

व्याख्या—'तत्' सामायिकं 'केषु' द्रव्येषु स्थितस्य सतः 'क्रियते' निर्वर्त्यत इति द्रव्येषु प्रश्नः, नयप्रविभागेनेह निर्वचनं तत्र 'णेगमो भणइ' नैगमनयो भाषते–'इष्टद्रव्येषु' इति मनोज्ञपरिणामकारणत्वान्मनोज्ञेष्वेव शयनाशनादिद्रव्येष्विति, तथा-हि–'मणुण्णं भोयणं भोच्चा, मणुण्णं सयणासणं । मणुण्णंसि अगारंसि, मणुण्णं झायए मुणी ॥ १ ॥' इत्यागमः, 'शेषाणां' सङ्ग्रहादीनां सर्वद्रव्येषु, शेषनया हि परिणामविशेषात् कस्यचित् किञ्चिन्मनोज्ञमिति व्यभिचारात् , सर्वद्रव्येषु स्थितस्य क्रियते यत्र मनोज्ञः परिणाम इति मन्यन्ते, पर्यायेषु न सर्वेष्ववस्थानाभावात्, तथाहि–यो यत्र निषद्यादौ स्थितः न स तत्र तत्सर्वपर्यायेषु, एकभाग एव स्थितत्वात्, इत्थं चैतदङ्गीकर्तव्यम्, अन्यथा पुनरुक्तदोषप्रसङ्गः, तथा चोक्तं ॥४६८॥

१ ननु निर्गमे गतमेव केन कृतमितीति का पुनः पृच्छा? । भण्यते स बाह्यकर्त्ता इहान्तरङ्गो विशेषोऽयम् ॥ १ ॥ २ मनोज्ञं भोजनं भुक्त्वा मनोज्ञं शयनासनम् । मनोज्ञेऽगारे मनोज्ञं ध्यायति मुनिः ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [१]

दीप अनुक्रम [२]

भाष्यकारेण–"णणु भणियमुवग्घाए केसुत्ति इहं कओ पुणो पुच्छा ?। केसुत्ति तत्थ विसओ इह केसु ठियस्स तल्लाहो ॥१॥ तो किह सवद्दवावत्थाणं ? णणु जाइमेत्तवयणाओ। धम्माइसवदवाहारो सबो जणोऽवस्सं ॥ २ ॥" अथवोपोद्घाते सर्वद्रव्याणि विषयः सामायिकस्य, इह तान्येव सर्वद्रव्याणि सामायिकस्य हेतुः, श्रद्धेयज्ञेयक्रियानिबन्धनत्वात्, अथवाऽन्यथा पुनरुक्तपरिहारः–कृताकृतादिगाथायां कृतमकृतं वा सामायिकं कार्यं कर्म, कर्तुरीप्सिततमत्वात्, केन कृतमिति कर्तुः प्रश्नः, केषु द्रव्येष्विति साधकतमकरणप्रश्नः, प्राकृते तृतीयाबहुवचनं सप्तमीबहुवचनतुल्यं तृतीयार्थे वा सप्तमीं कृत्वा निर्देशः, न चैतदपि स्वमनीषिकाव्याख्यानं, यतो भाष्यकारेणाप्यभ्यधायि–"विसओवि उवग्घाए केसुत्तीहं स एव हेउत्ति। सद्धेयणेयकिरियाणिबंधणं जेण सामइयं ॥ १ ॥' अहवा कयाकयाइसु कज्जं केण व कयं च कत्तत्ति। केसुत्ति करणभावो ततियत्थे सत्तमीं काउं ॥ २ ॥' इत्यलं प्रसङ्गेनेति गाथार्थः ॥ १७६ ॥ द्वारं ॥ साम्प्रतं कदा कारकोऽस्य भवतीत्येतन्नयैर्निरूपयन्नाह—

काहु? उदिट्ठे नेगम उवट्ठिए संगहो अ ववहारो। उज्जुसुओ अक्कमंते सद्दु समत्तंमि उवउत्तो॥१७७॥(दा०४)(भा०)

व्याख्या—कदाऽसौ सामायिकस्य कारको भवतीति प्रश्नः, इह नयैर्निर्वचनं 'उदिट्ठे णेगम'त्ति उद्दिष्टे सति नैगमो

---

१ ननु भणितमुपोद्घाते केष्विति इह कुतः पुनः पृच्छा ?। केष्विति तत्र विषय इह केषु स्थितस्य तल्लाभः ॥ १ ॥ तदा कथं सर्वद्रव्यावस्थानं ? ननु जातिमात्रवचनात्। धर्मादिसर्वद्रव्याधारः सर्वो जनोऽवश्यम् ॥ २ ॥ २ विषयोऽप्युः (यो वो) पोद्घाते केष्वितीह स एव हेतुरिति। श्रद्धेयज्ञेयक्रियानिबन्धनं येन सामायिकम् ॥ १ ॥ अथवा कृताकृतादिषु कार्यं केन वा कृतं च कर्त्तेति। केष्विति करणभावः तृतीयार्थे सप्तमीं कृत्वा ॥ २ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१] दीप अनुक्रम [२]

आवश्यक-हारिभद्रीया ॥४६९॥

मन्यते, इयमत्र भावना–सामान्यग्राहिणो नैगमनयस्योद्दिष्टमात्र एव सामायिके गुरुणा शिष्योऽनधीयानोऽपि तत्क्रियाऽननुष्ठायी सन् सामायिकस्य कर्ता वनगमनप्रस्थितप्रस्थककर्तृवत् , यस्मादुद्देशोऽपि तस्य कारणं सामायिकस्य, तस्मिंश्च कारणे कार्योपचारः, 'उवठ्ठिए संगहो य ववहारो'त्ति सङ्ग्रहो व्यवहारश्च मन्यते–उपस्थितः सन् कारको भवतीति, इयमत्र भावना–इहोद्देशानन्तरं वाचनाप्रार्थनाय यदा वन्दनं दत्त्वोपस्थितो भवति तदा प्रत्यासन्नतरकारणत्वात् सङ्ग्रहव्यवहारयोः कारक इति, ऋजुसूत्र आक्रामन् कारको भवतीति मन्यते, एतदुक्तं भवति–उद्देशानन्तरं गुरुपादमूले वन्दित्वोपस्थितः–सामायिकं पठितुमारब्धः कारकः, वृद्धास्तु व्याचक्षते–न पठन्नेव, किन्तु समासेः कारक इति सामायिकक्रियां वा प्रतिपद्यमानस्तदुपयोगरहितोऽपि कारकः, यस्मात् सामायिकार्थस्य सामायिकशब्दक्रिये असाधारणं कारणम्, असाधारणकारणेन च व्यपदेश इति, 'सद्दु समत्तंमि उवउत्तो'त्ति शब्दादयो नया मन्यन्ते–समाप्ते सत्युपयुक्त एव कारको भवति, त्रयाणां च शब्दादीनां नयानां शब्दक्रियावियुक्तोऽपि सामायिकोपयुक्तः कारकः, मनोज्ञतथापरिणामरूपत्वात् सामायिकस्येति भावना, अयं गाथार्थः ॥ १७७ ॥ कदा कारक इति गतं, नयतो–नयप्रपञ्चत इत्यर्थः, अथवा कदा कारक इत्येतावद् द्वारं गतं, नयत इत्येतत्तु द्वारान्तरमेव, अतस्तदभिधित्सयाऽऽह—

सूत्रस्पर्श० करणस्व० वि० १

आलोअणा य १ विणए २ खित्त ३ दिसाऽभिग्गहे अ ४ काले ५ ।
रिक्ख ६ गुणसंपया वि अ ७ अभिवाहारे अ ८ अट्ठमए ॥ १७८ ॥ (द्वा० ५) (भा०) ॥४६९॥

व्याख्या—इहाऽऽभिमुख्येन गुरोरात्मदोषप्रकाशनम्–आलोचनानयः, तथा विनयश्च पदधावनानुरागादिः, तथा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१]

दीप अनुक्रम [२]

'क्षेत्रम्' इक्षुक्षेत्रादि, तथा दिगभिग्रहश्च वक्ष्यमाणलक्षणः, कालश्चाहरादिः, तथा रिक्षसम्पत्–नक्षत्रसंपत् गुणसंपच्च गुणाः–प्रियधर्मादयः, अभिव्याहरणम् अभिव्याहारश्चाष्टमो नय इति गाथासमासार्थः ॥ १७८ ॥ व्यासार्थं तु प्रतिपदं भाष्यकार एव सम्यग् न्यक्षेण वक्ष्यति, तथा चाऽऽद्यद्वारव्याचिख्यासयाऽऽह—

पव्वज्जाए जुग्गं तावइ आलोअणं गिहत्थेसुं। उवसंपयाइ साहुसु सुत्ते अत्थे तदुभए अ ॥१७९॥ (प०१)(भा०)

व्याख्या—प्रव्रज्यायाः–निष्क्रमणस्य यत् प्राणिजातं स्त्रीपुरुषनपुंसकभेदं 'योग्यम्' अनुरूपं तदन्वेषणं, यदिति वाक्यशेषः, तावत्येवाऽऽलोचनाऽवलोकना वा, केषु?–'गृहस्थेषु' गृहस्थविषय इति, एतदुक्तं भवति–योग्यं हि सर्वोपाधिशुद्धमेव भवति, ततश्च तदन्वेषणेन सर्वस्यैव विधेः कस्त्वं? को वा ते निर्वेदः? इत्यादिप्रश्नादेराक्षेप इति, ततश्च प्रयुक्तालोचनस्य योग्यताऽवधारणानन्तरं सामायिकं दद्यात्, न शेषाणां प्रतिषिद्धदीक्षाणामिति नयः। एवं तावद् गृहस्थस्याकृतसामायिकस्य सामायिकार्थमालोचनोक्ता, साम्प्रतं कृतसामायिकस्य यतेः प्रतिपादयन्नाह–उपसम्पदि साधुषु आलोचनेति वर्तते, सूत्रे अर्थे तदुभये च, इयमत्र भावना–सामायिकसूत्राद्यर्थं यदा कश्चिदुपसम्पदं प्रयच्छति यतिस्तदाऽसावालोचनां ददाति, अत्र विधिः सामाचार्यामुक्त एव, आह–अल्पं सामायिकसूत्रं, तत्कथं तदर्थमपि यतेरुपसम्पत्?, तदभावे वा कथं यतिः? कथं वा प्रतिक्रमणमन्तरेण शुद्धिरिति?, अत्रोच्यते, मन्दग्लानादिव्याघाताद् विस्मृतसूत्रस्य यतेः सूत्रार्थमप्युपसम्पदविरुद्धैव, एष्यत्कालं वा दुष्षमान्तमालोक्यानागतामर्षकं सूत्रमिति, तदभावेऽपि च तदा चारित्रपरि

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्ति:

प्रत सूत्रांक [१]

दीप अनुक्रम [२]

णामोपेतत्वादसौ यतिरेव, शुद्धिश्चास्य यावत् सूत्रमधीतं तावत् तेनैव प्रतिक्रमणं कुर्वत इत्यलं विस्तरेणेति गाथार्थः ॥ ॥ १७९ ॥ द्वारम् ॥ अधुनैकगाथयैव विनयादिद्वारत्रयं व्याचिख्यासुराह—

आलोइए विणीअस्स दिज्जए तं (पडि २) पसत्थखित्तंमि । (प० ३)
अभिगिज्झ दो दिसाओ चरंतिअं वा जहाकमसो ॥ १८० ॥ (प० ४) (भा०)

व्याख्या—आलोचिते सति विनीतस्य, पादधावनानुरागादिविनयवत इत्यर्थः, उक्तं च भाष्यकारेण–'अणुरत्तो भत्तिगओ अमुई अणुयत्तओ विसेसण्णू । उज्जुत्तगऽपरितंतो इच्छियमत्थं लहइ साहू ॥ १ ॥' दीयते 'तत्' सामायिकं, तस्यापि न यत्र तत्र क्वचित्, किं तर्हि?, 'प्रशस्तक्षेत्रे' इक्षुक्षेत्रादाविति, अत्राप्युक्तं–'उच्छुवणे सालिवणे पउमसरे कुसुमिए य वणसंडे। गंभीरसाणुणाए पयाहिणजले जिणघरे वा ॥ १ ॥ देज्ज ण उ भग्गझामियसुसाणसुण्णासु सण्णगेहेसु । छारंगारकयारामेज्झाईदव्वदुट्ठे वा ॥ २ ॥' तथा 'अभिगृह्य' अङ्गीकृत्य द्वे 'दिशौ' पूर्वां वोत्तरां वा दीयत इति वर्तते, तथा चरन्तीं वा, तत्र चरन्ती नाम यस्यां दिशि तीर्थकरकेवलिमनःपर्यायज्ञान्यवधिज्ञानिचतुर्दशपूर्वधरादयो यावद् युगप्रधाना इति विहरन्ति, यथाक्रमश इति गुणापेक्षया तासु दिक्षु यथाक्रमेण दीयत इति, उक्तं च–पुव्वाभिमुहो उत्तरमुहो व देज्जाऽहवा पडिच्छिज्जा।

१ अनुरक्तो भक्तिगतोऽमोची अनुवर्त्तको विशेषज्ञः । उद्यतकोऽपरितान्त इष्टमर्थं लभते साधुः ॥ १ ॥ २ इक्षुवने शालीवने पद्मसरसि कुसुमिते च वनखण्डे । गम्भीरसानुनादे प्रदक्षिणजले जिनगृहे वा ॥ १ ॥ दद्यात् न तु भग्नध्यामितश्मशानशून्येषु संज्ञागेहेषु । क्षाराङ्गारकचवरामेध्यादिद्रव्यदुष्टे वा ॥२॥ ३ पूर्वाभिमुख उत्तरमुखो वा दद्यादथवा प्रतीच्छेत् ।* ०ण्णामणुण्ण० प्र.

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१]

दीप अनुक्रम [२]

जाएं जिणादओ वा दिसाएँ जिणचेइयाइं वा ॥ १ ॥' इति गाथार्थः ॥ १८० ॥ द्वारत्रयं गतम्, अधुना कालादिद्वारत्रयमेकगाथयैवाभिधित्सुराह—

पडिकुट्ठदिणे वज्जिअ रिक्खेसु अ मिगसिराइ भणिएसुं । पियधम्माई गुणसंपयासु तं होइ दायव्वं॥१८१॥भा०)

व्याख्या—प्रतिक्रुष्टानि–प्रतिषिद्धानि दिनानि–वासराः, प्रतिक्रुष्टानि च तानि दिनानि चेति विग्रहः, तानि चतुर्दश्यादीनि वर्जयित्वाऽप्रतिक्रुष्टेष्वेव पञ्चम्यादिषु दातव्यमिति योगः, उक्तं च–"चाउद्दसिं पण्णरसिं वज्जेज्जा अट्ठमिं च नवमिं च । छट्ठिं च चउत्थिं बारसिं च दोण्हंपि पक्खाणं ॥ १ ॥" एतेष्वपि दिनेषु प्रशस्तेषु मुहूर्तेषु दीयते, नाप्रशस्तेषु, तथा 'ऋक्षेषु' नक्षत्रेषु च मृगशिरादिषु, 'उक्तेषु' ग्रन्थान्तराभिहितेषु, न तु प्रतिषिद्धेषु, उक्तं च—"मियँसिरअद्दापूसो तिण्णि य पुव्वाइ मूलमस्सेसा । हत्थो चित्ता य तहा दह वुड्ढिकराइं णाणस्स ॥ १ ॥" तथा–'संझागयं रविगयं विड्डुरं सग्गहं विलंबिं च । राहुहयं गहभिन्नं च वज्जए सत्त नक्खत्ते ॥ २ ॥' तथा प्रियधर्मादिगुणसम्पत्सु सतीषु 'तत्' सामायिकं भवति दातव्यमिति, उक्तं च–"पियँधम्मो दढधम्मो संविग्गोऽवज्जभीरु असढो य । खंतो दंतो गुत्तो थिरव्वय जिइंदिओ उज्जू ॥१॥"विनीतस्याप्येता गुणसम्पदोऽन्वेष्टव्या इति गाथार्थः॥१८१॥(प.५-६-७)साम्प्रतं चरमद्वारव्याचिख्यासयाऽऽह—

---

१ यस्यां जिनादयो वा दिशि जिनचैत्यानि वा ॥ १ ॥ २ चतुर्दशीं पञ्चदशीं वर्जयेत् अष्टमीं च नवमीं च । षष्ठीं च चतुर्थीं द्वादशीं च द्वयोरपि पक्षयोः ॥ १ ॥ ३ मृगशिरः आर्द्रा पुष्यं तिस्रश्च पूर्वा मूलमश्लेषा । हस्तश्चित्रा च तथा दश वृद्धिकराणि ज्ञानस्य ॥ १ ॥ संध्यागतं रविगतं विड्वरं सग्रहं विलम्बि च । राहुहतं ग्रहभिन्नं च वर्जयेत् सप्त नक्षत्राणि ॥ १ ॥ ४ प्रियधर्मा दृढधर्मा संविग्नोऽवद्यभीरुरशठश्च । क्षान्तो दान्तो गुप्तः स्थिरव्रतो जितेन्द्रिय ऋजुः ॥१॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [१]

दीप अनुक्रम [२]

आवश्यक-हारिभद्रीया ॥४७१॥

सूत्रस्पर्श० करणस्व० वि० १

अभिवाहारो कालिअसुअंमि सुत्तत्थतदुभएणं ति। दव्वगुणपज्जवेहि अ दिट्ठीवायंमि बोद्धव्वो॥१८२॥(प०८)भा०

व्याख्या—'अभिव्याहरणम्' आचार्यशिष्ययोर्वचनप्रतिवचने अभिव्याहारः, स च 'कालिकश्रुते' आचारादौ 'सुत्तत्थतदुभएणं'ति सूत्रतः अर्थतस्तदुभयतश्चेति, इयमत्र भावना–शिष्येणेच्छाकारेणेदमङ्गाद्युद्दिशत इत्युक्ते सतीच्छापुरस्सरमाचार्यवचनम्–अहमस्य साधोरिदमङ्गमध्ययनमुद्देशं वोद्दिशामि–वाचयामीत्यर्थः, आप्तोपदेशपारम्पर्यख्यापनार्थं क्षमाश्रमणानां हस्तेन, न स्वोत्प्रेक्षया, सूत्रतोऽर्थतस्तदुभयतो वाऽस्मिन् कालिकश्रुते अ(त)थोत्कालिके, दृष्टिवादे कथमिति?, तदुच्यते–'दव्वगुणपज्जवेहि य दिट्ठीवायंमि बोद्धव्वो' द्रव्यगुणपर्यायैश्च 'दृष्टिवादे' भूतवादे बोद्धव्योऽभिव्याहार इति, एतदुक्तं भवति–शिष्यवचनानन्तरमाचार्यवचनमुद्दिशामि सूत्रतोऽर्थतश्च द्रव्यगुणपर्यायैः अनन्तगमसहितैरिति, एवं गुरुणा समादिष्टेऽभिव्याहारे शिष्याभिव्याहारः–ब्रवीति शिष्यः–उद्दिष्टमिदं मम, इच्छाम्यनुशासनं क्रियमाणं पूज्यैरिति, एवमभिव्याहारद्वारमष्टमं नीतिविशेषैर्नयैर्गतमिति गाथार्थः ॥ १८२ ॥ व्याख्याता प्रतिद्वारगाथा, साम्प्रतमधिकृतमूलद्वारगाथायामेव करणं कतिविधमिति व्याचिख्यासुराह—

उद्देस१ समुद्देसे२ वायण३ मणुजाणणं च४ आयरिए। सीसम्मि उद्दिसिज्जंतमाइ एअं तु जं कइहा ॥१८३॥ भा०दा०६

व्याख्या—इह गुरुशिष्ययोः सामायिकक्रियाव्यापारणं करणं, तच्चतुर्द्धा–'उद्देस समुद्देसे'ति उद्देशकरणं समुद्देशकरणं 'वायणमणुजाणणं च'त्ति वाचनाकरणमनुज्ञाकरणं च, छन्दोभङ्गभयादिह वाचनाकरणमत्रोपन्यस्तम्, अन्यथाऽमुना क्रमेण इह–उद्देशो वाचना समुद्देशोऽनुज्ञा चेति गुरोर्व्यापारः, 'आयरिए'त्ति गुराविदं करणं गुरुविषयमित्यर्थः, 'सीसम्मि ॥४७१॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१]

दीप अनुक्रम [२]

उद्दिसिज्जंतमाइ' शिष्ये–शिष्यविषयम् उद्दिश्यमानादि–उद्दिश्यमानकरणं वाच्यमानकरणं समुद्दिश्यमानकरणम् अनुज्ञायमानकरणं च, 'एयं तु जं कइह'त्ति एतदेव चतुर्विधं तद् यदुक्तं कतिविधमिति गाथार्थः ॥ १८३ ॥ आह–पूर्वमनेकविधं नामादिकरणमभिहितमेव, इह पुनः किमिति प्रश्नः?, उच्यते, तत् पूर्वगृहीतस्य करणमनेकविधमुक्तम्, इह पुनरस्मिन् गुरुशिष्यदानग्रहणकाले चतुर्विधं करणमिति, पूर्वं वा करणमविशेषेणोक्तम्, इह गुरुशिष्यक्रियाविशेषाद् विशेषितमिति न पुनरुक्तम्, अथवाऽयमेव करणस्यावसरः, पूर्वत्रानेकान्तद्योतनार्थं विन्यासः कृत इति विचित्रा सूत्रस्य कृतिरित्यलं विस्तरेण, द्वारं ६ । कथमिति द्वारमिदानीं, तत्रेयं गाथा—

कह सामाइअलंभो? तस्सव्वविघाइदेसवाघाई । देसविघाईफड्डगअणंतवुड्ढीविसुद्धस्स ॥ १०२८ ॥

एवं ककारलंभो सेसाणवि एवमेव कमलंभो(दा०) । एअं तु भावकरणं करणे अ भए अ जं भणिअं ॥१०२९॥

अस्या व्याख्या–'कथं' केन प्रकारेण सामायिकलाभ इति प्रश्नः, अस्योत्तरं–तस्य–सामायिकस्य सर्वविघातीनि देशविघातीनि च स्पर्द्धकानि भवन्ति, इह सामायिकावरणं–ज्ञानावरणं दर्शनावरणं [मिथ्यात्व]मोहनीयं च, अमीषां द्विविधानि स्पर्द्धकानि–देशघातीनि सर्वघातीनि च, तत्र सर्वघातिषु सर्वेषूद्घातितेषु सत्सु देशघातिस्पर्द्धकानामप्यनन्तेषूद्घातितेष्वनन्तगुणवृद्ध्या प्रतिसमयं विशुध्यमानः शुभशुभतरपरिणामो भावतः ककारं लभते, तदनन्तगुणवृद्ध्यैव प्रतिसमयं विशुद्धमानः सन् रेफमित्येवं शेषाण्यपि, अत एवाऽऽह–देशघातिस्पर्द्धकानन्तवृद्ध्या विशुद्धस्य सतः ॥ किं?— 'एव'मित्यादि,—पूर्वार्द्धं गतार्थम्, आह—उपक्रमद्वारेऽभिहितमेतत्–क्षयोपशमात् जायते, पुनश्चोपोद्घातेऽभिहितमेतत्–

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१]

दीप अनुक्रम [२]

कथं लभ्यत इति तत्रोक्तम्, इह किमर्थं प्रश्न इति पुनरुक्तता, उच्यते, त्रयमप्येतदपुनरुक्तं, कुतः ?, यस्मादुपक्रमे क्षयोपशमात् सामायिकं लभ्यत इत्युक्तम्, उपोद्घाते स एव क्षयोपशमस्तत्कारणभूतः कथं लभ्यत इति प्रश्नः, इह पुनर्विशेषिततरः प्रश्नः—केषां पुनः कर्मणां स क्षयोपक्षम इति प्रत्यासन्नतरकारणप्रश्न इत्यलं प्रसङ्गेन । द्वारमेवोपसंहरन्नाह—एतदेव—अनन्तरोदितं सामायिककरणं यत्तद्भावकरणं 'करणेय'त्ति उपन्यस्तद्वारपरामर्शः । 'भएय'त्ति भयमपि 'यद् भणितं' यदुक्तमिति गाथाद्वयार्थः ॥ १०२८–२९ ॥ मूलद्वारगाथायां करणमित्येतद् द्वारं व्याख्यातम्, एतद्व्याख्यानाच्च सूत्रेऽपि करोमीत्ययमवयव इति, अधुना द्वितीयावयवव्याचिख्यासयाऽऽह—

होइ भयंतो भयअंतगो अ रयणा भयस्स छब्भेआ । सव्वंमि वन्निएऽणुकमेण अंतेवि छब्भेआ ॥१८४॥ (भा०)

व्याख्या—भवति भदन्त इत्यत्र 'भदि कल्याणे सुखे च' अर्थद्वये धातुः 'जॄविशिभ्यां झच्' (उ. पा. ४१२) औणादिकप्रत्ययो दृष्टः, तं दृष्ट्वा प्रकृतिरुह्यते, भदि कल्याण इति अनुनासिकलोपश्चेति, तस्यौणादिकविधानात्, ततश्च भदन्त इति भवति, भदन्तः—कल्याणः सुखश्चेत्यर्थः, प्राकृतशैल्या वा भवति भवान्त इति, अत्र भवस्य—संसारस्यान्तस्तेनाऽऽचार्येण क्रियत इति भवान्तकरत्वाद् भवान्त इति, तथा—भयान्तश्चेत्यत्र भयं—त्रासः तमाचार्यं प्राप्य भयस्यान्तो भवतीति भयान्तो—गुरुः, भयस्य वाऽन्तको भयान्तक इति, तस्याऽऽमन्त्रणं, 'रचना' नामादिविन्यासलक्षणा, भयस्य 'षड्भेदाः' षट्प्रकाराः—नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालभावभेदभिन्नाः, तत्र पञ्च प्रकाराः प्रसिद्धाः, षष्ठं भावभयं सप्तधा—इहलोकभयं परलोकभयमादानभयमकस्माद्भयमश्लोकभयमाजीविकाभयं मरणभयं चेति, तत्रापीहलोके भयं स्वभवाद् यत् प्राप्यते ॥४७२॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१]
दीप अनुक्रम [२]

परलोकभयं परभवात्, किञ्चनद्रव्यजातमादानं तस्य नाशहरणादिभ्यो भयम् आदानभयं, यत्तु बाह्यनिमित्तमन्तरेणा-हेतुकं भयम् अकस्माद् भवति तदाकस्मिकं, 'श्लोक श्लाघायां' श्लोकनं श्लोकः श्लाघा-प्रशंसा तद्विपर्ययोऽश्लोकस्तस्माद् भयमश्लोकभयम्, आजीविकाभयं-दुर्जीविकाभयं, प्राणपरित्यागभयं मरणभयमिति, एवं सर्वस्मिन् वर्णिते 'अनुक्रमेण' उक्तलक्षणेनान्तेऽपि षड् भेदा इति, तत्र 'अम गत्यादिषु' अमनमन्तः-अवसानमित्यर्थः, अस्मिन्नपि षड् भेदाः, तद्यथा— नामान्तः स्थापनान्तः द्रव्यान्तः क्षेत्रान्तः कालान्तः भावान्तश्चेति, नामस्थापने क्षुण्णे, द्रव्यान्तो घटाद्यन्तः, क्षेत्रान्त ऊर्ध्वलोकादिक्षेत्रान्तः, कालान्तः समयाद्यन्तः, भावान्तः औदयिकादिभावान्तः ॥

एवं सव्वंमिऽवि वन्निअंमि इत्थं तु होइ अहिगारो । सत्तभयविप्पमुक्के तहा भवंते भयंते अ ॥१८५॥ (भा०)

व्याख्या—'एवम्' उक्तेन प्रकारेण 'सर्वस्मिन्' अनेकभेदभिन्ने भयादौ वर्णिते सति 'अत्र तु' प्रकृते भवत्यधिकारः-प्रकृतयोजना सप्तभयविप्रमुक्तो यस्तेन, तथा भवान्तो यः भदन्तश्चेति, पश्चानुपूर्व्या ग्रन्थ इति गाथाद्वयार्थः ॥ १८५ ॥ मूलद्वारगाथायां व्याख्यातं भयान्तद्वारद्वयं, तद्व्याख्यानाच्च भदन्तभवान्तभयान्त इति गुर्वामन्त्रणार्थः सूत्रावयव इति, उक्तं च –भाष्यकारेण 'आमंतेइ करेमी भदंत! सामाइयंति सीसोऽयं । आहामंतणवयणं गुरुणो किंकारणमिणंति? ॥१॥ भणइ–गुरुकुलवासोवसंगहत्थं जहा गुणत्थीह । णिच्चं गुरुकुलवासी हवेज्ज सीसो जओऽभिहियं ॥२॥ नाणस्स होइ भागी

---

१ आमन्त्रयति करोमि भदन्त ! सामायिकमिति शिष्योऽयम् । आह आमन्त्रणवचनं गुरोः किंकारणमिदमिति ? ॥ १ ॥ भण्यते–गुरुकुलवासोपसंग्रहार्थं यथा गुणार्थीह । नित्यं गुरुकुलवासी भवेत् शिष्यो यतोऽभिहितम् ॥ २ ॥ ज्ञानस्य भवति भागी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१]

दीप अनुक्रम [२]

आवश्यक-हारिभद्रीया ॥४७३॥

थिरयरओ दंसणे चरित्ते य। धन्ना आवकहाए गुरुकुलवासं न मुंचंति ॥ ३ ॥ आवस्सयंपि णिच्चं गुरुपामूलंमि देसियं होइ। वीसुंपि हि संवसओ कारणओ जयइ सेज्जाए ॥ ४ ॥ एवं चिय सवावस्सयाइ आपुच्छिऊण कज्जाइं। जाणाविय-मामंतणवयणाओ जेण सवेसिं ॥ ५ ॥ सामाइयमाईयं भदंतसद्दो य जं तयाईए। तेणाणुवत्तइ तओ करेमि भंतेत्ति सवेसु ॥ ६ ॥ किच्चाकिच्चं गुरुवो विदंति विणयपडिवत्तिहेउं च। ऊसासाइ पमोत्तुं तयणापुच्छाय पडिसिद्धं ॥ ७ ॥ गुरुविरहंमिवि ठवणागुरुवि सेवोवँदंसणत्थं च। जिणविरहंमिऽवि जिणबिंबसेवणामंतणं सफलं ॥ ८ ॥ रन्नो व परोक्खस्सवि जह सेवा मंतदेवयाए वा। तह चेव परोक्खस्सवि गुरुणो सेवा विणयहेउं ॥ ९ ॥" इत्यादि, कृतं विस्तरेण ॥ साम्प्रतं सामायिकद्वारव्याचिख्यासयाऽऽह—

सूत्रस्पर्श॰ करणस्व॰ वि॰ १

सामं १ समं च २ सम्मं ३ इग ४ मवि सामाइअस्स एगट्ठा। नामं ठवणा दविए भावंमि अ तेसि निक्खेवो ॥१०३०

महुरपरिणाम सामं १ समं तुला २ संम खीरखंडजुई ३। दोरे हारस्स चिई इग ४ मेआइं तु दव्वंमि ॥१०३१॥

---

१ स्थिरतरो दर्शने चारित्रे च। धन्या यावत्कथं गुरुकुलवासं न मुञ्चन्ति ॥ ३ ॥ आवश्यकमपि नित्यं गुरुपादमूले देशितं भवति। विष्वगपि हि संवसतः कारणतो यतते शय्यायाम् ॥ ४ ॥ एवमेव सर्वावश्यकानि आपृच्छ्य कार्याणि। ज्ञापितमामन्त्रणवचनात् येन सर्वेषाम् ॥ ५ ॥ सामायिकमादौ भदन्तशब्दश्च यत्तदादौ। तेनानुवर्त्तते ततः करोमि भदन्त इति सर्वेषु ॥ ६ ॥ कृत्याकृत्यं गुरवो विदन्ति विनयप्रतिपत्तिहेतवे च। उच्छ्वासादि प्रमुच्य तदनापृच्छया प्रतिषिद्धम् ॥ ७ ॥ गुरुविरहेऽपि स्थापनागुरुरपि सेवोपदर्शनार्थं च। जिनविरहेऽपि जिनबिम्बसेवनामन्त्रणं सफलम् ॥ ८ ॥ राज्ञ इव परोक्षस्यापि यथा सेवा मन्त्रदेवताया वा। तथैव परोक्षस्यापि गुरोः सेवा विनयहेतवे ॥ ९ ॥ * रूवदेसोवदं॰ (वि॰)

॥४७३॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्तिः

'साम' शब्दस्य एकार्थकाः शब्दाः

प्रत सूत्रांक [१]

दीप अनुक्रम [२]

व्याख्या—इह सामं समं च सम्यक् ‘इगमवि’ देशी+पदं क्वापि प्रदेशार्थे वर्तते, सम्पूर्णशब्दावयवमेवाधिकृत्याऽऽह—सामायिकस्यैकार्थिकानि । अमीषां निक्षेपमुपदर्शयन्नाह—नामस्थापनाद्रव्येषु भावे च नामादिविषय इत्यर्थः, ‘तेषां’ सामप्रभृतीनां निक्षेपः, कार्य इति गम्यते, स चायं—नामसाम स्थापनासाम द्रव्यसाम भावसाम च, एवं समसम्यक्पदयोरपि द्रष्टव्यः ॥ तत्र नामस्थापने क्षुण्णे एव, द्रव्यसामप्रभृतींश्च प्रतिपादयन्नाह—

‘महुरे’त्यादि,—इहौघतो मधुरपरिणामं द्रव्यं—शर्करादि द्रव्यसाम समं ‘तुला’ इति भूतार्थालोचनायां समं तुलाद्रव्यं, सम्यक् ‘क्षीरखण्डयुक्तिः’ क्षीरखण्डयोजनं द्रव्यसम्यगिति, तथा ‘दोरे’ इति सूत्रदवरके मौक्तिकान्येवाधिकृत्य भाविपर्यायापेक्षया ‘हारस्य’ मुक्ताकलापस्य चयनं चितिः—प्रवेशनं द्रव्येकम्, अत एवाह—‘एयाइं तु दव्वंमि’त्ति एतान्युदाहरणानि द्रव्यविषयाणीति गाथाद्वयार्थः ॥ १०३१ ॥ साम्प्रतं भावसामादि प्रतिपादयन्नाह—

आओवमाइ परदुक्खमकरणं १ रागदोसमज्झत्थं । नाणाइतिगं ३ तस्साइ पोअणं ४ भावसामाई ॥ १०३२॥

व्याख्या—आत्मोपमया—आत्मोपमानेन परदुःखाकरणं भावसामेति गम्यते, इह चानुस्वारोऽलाक्षणिकः, एतदुक्तं भवति-आत्मनीव *परदुःखाकरणपरिणामो भावसाम, तथा ‘रागद्वेषमाध्यस्थ्यम्’ अनासेवनया रागद्वेषमध्यवर्तित्वं समं, सर्वत्राऽऽत्मनस्तुल्यरूपेण वर्तनमित्यर्थः, तथा ज्ञानादित्रयमेकत्र सम्यगिति गम्यते, तथाहि—ज्ञानदर्शनचारित्रयोजनं सम्यगेव, मोक्षप्रसाधकत्वादिति भावना, ‘तस्य’ इति सामादि सम्बध्यते, ‘आत्मनि प्रोतनम्’ आत्मनि प्रवेशनम् इकमुच्यते, अत एवाऽऽह‡—

+ देशीपदे *परदुःखाकरणं प० ‡ इत्यत एवाह—‘भावसामाई’ भावसामादीनि प्रतिपत्तव्यानीति प्र.

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्ति:

प्रत सूत्रांक [१]

दीप अनुक्रम [२]

आवश्यक-हारिभ-द्रीया ॥४७४॥

सूत्रस्पर्श० करणस्व० वि० १

'भावसामाई' भावसामादावेतान्युदाहरणानीति गाथार्थः ॥ १०३२ ॥ सामायिकशब्दयोजना चैवं द्रष्टव्या–इहाऽत्मन्येव साम्न इकं निरुक्तनिपातनात् [यद् यल्लक्षणेनानुपपन्नं तत् सर्वं निपातनात् सिद्धमिति] साम्नो नकारस्याऽऽय आदेशः, ततश्च सामायिकम्, एवं समशब्दस्याऽऽयादेशः, समस्य वा आयः समायः स एव सामायिकमिति, एवमन्यत्रापि भावना कार्येति कृतं प्रसङ्गेन ॥ साम्प्रतं सामायिकपर्यायशब्दान् प्रतिपादयन्नाह—

समया सम्मत्त पसत्थ संति सुविहिअ सुहं अनिंदं च । अदुगुंछिअमगरिहिअं अणवज्जमिमेऽवि एगट्ठा॥१०३३

व्याख्या—निगदसिद्धैव । आह–अस्य निरुक्तावेव 'सामाइयं समइय' मित्यादिना पर्यायशब्दाः प्रतिपादिता एव तत् पुनः किमर्थमभिधानमिति?, उच्यते, तत्र पर्यायशब्दमात्रता, इह तु वाक्यान्तरेणार्थनिरूपणमिति, एवं प्रतिशब्दमर्थाभेदतोऽनन्ता गमा अनन्ताः पर्याया इति चैकस्य सूत्रस्येति ज्ञापितं भवति, अथवाऽसम्मोहार्थं तत्रोक्तावप्यभिधानमदुष्टमेव इत्यत एवोक्तम्–'इमेऽवि एगट्ठ'त्ति एतेऽपि तेऽपीत्यदोषः ॥ साम्प्रतं कण्ठतः स्वयमेव चालनां प्रतिपादयन्नाह ग्रन्थकारः—

को कारओ ?, करंतो किं कम्मं ?, जं तु कीरई तेण । किं कारयकरणाण य अन्नमणन्नं च? अक्खेवो ॥ १०३४ ॥ ॥४७४॥

व्याख्या—इह 'करोमि भदन्त ! सामायिकम्' इत्यत्र कर्तृकर्मकरणव्यवस्था वक्तव्या, यथा करोमि राजन् ! घटमित्युक्ते कुलालः कर्ता घट एव कर्म दण्डादि करणमिति, एवमत्र कः कारकः कुलालसंस्थानीयः ? इत्यत आह–'करेंतो'त्ति तत् कुर्वन्नात्मैव, अथ किं कर्म घटादिसंस्थानीयम् ? इत्यत्राऽऽह–यत्तु 'क्रियते' निर्वर्त्यते 'तेन' कर्त्रा तच्च तद्गुणरूपं सामा-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्ति:

प्रत सूत्रांक [१]

दीप अनुक्रम [२]

यिकमेव, तुशब्दः करणप्रश्ननिर्वचनसङ्ग्रहार्थः, यथा कर्म निर्दिष्टमेवं किं करणमित्युद्देशादिचतुर्विधमिति निर्वचनम्, एवं व्यवस्थिते सत्याह–'किं कारगकरणाण य'त्ति किं कारककरणयोः ?, चशब्दात् कर्मणश्च परस्परतः कुलालघटदण्डादीनामिवान्यत्वम्, आहोश्विदनन्यत्वमेवेति ?, उभयथाऽपि दोषः, कथम् ?, अन्यत्वे सामायिकवतोऽपि तत्फलस्य मोक्षस्याभावः, तदन्यत्वाद्, मिथ्यादृष्टेरिव, अनन्यत्वे तु तस्योत्पत्तिविनाशाभ्यामात्मनोऽप्युत्पत्तिविनाशप्रसङ्ग इति, अनिष्टं चैतत्, तस्यानादिमत्त्वाभ्युपगमादित्याक्षेपश्चालनेति गाथार्थः ॥ १०३४ ॥ विजृम्भितं चात्र भाष्यकारेण–"[1]अन्नत्ते समभावाभावाओ तप्पओयणाभावो । पावइ मिच्छस्स व से सम्मामिच्छाऽविसेसो य ॥ १ ॥ अह व मई–भिन्नेणवि धणेण सधणोत्ति होइ ववएसो । सधणो य धणाभागी जह तह सामाइयस्सामी ॥ २ ॥ तं ण जओ जीवगुणो सामइयं तेण विफलता तस्स । अन्नत्तणओ जुत्ता परसामइयस्स वाऽफलता ॥ ३ ॥ जइ भिन्नं तब्भावेऽवि नो तओ तस्सभावरहिओत्ति । अण्णाणिच्चिय णिच्चं अंधो व समं पईवेणं ॥ ४ ॥ एगत्ते तन्नासे नासो जीवस्स संभवे भवणं । कारगसंकरदोसो तदेकयाकप्पणा वावि ॥ ५ ॥" इत्यादि, इत्थं चालनामभिधायाधुना प्रत्यवस्थानं प्रतिपादयन्नाह—

---

१ अन्यत्वे समभावाभावात् तत्प्रयोजनाभावः । प्राप्नोति मिथ्यादृष्टेरिव तस्य सम्यक्त्वमिथ्यात्वाविशेषश्च ॥ १ ॥ अथ च मतिः–भिन्नेनापि धनेन सधन इति भवति व्यपदेशः । सधनश्च धनाभागी यथा तथा सामायिकस्वामी ॥ २ ॥ तन्न यतो जीवगुणः सामायिकं तेन विफलता तस्य । अन्यत्वात् युक्ता परसामायिकस्य वाऽ (सेवा) फलता ॥ ३ ॥ यदि भिन्नं तद्भावेऽपि न सकः (सामायिकयुक्तः) तत्स्वभावरहित इति । अज्ञान्येव नित्यं अन्धो यथा समं प्रदीपेन ॥ ४ ॥ एकत्वे तन्नाशे नाशो जीवस्य संभवे भवनम् । कारकसंकरदोषस्तदेकताकल्पना वापि ॥ ५ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१]
दीप अनुक्रम [२]

आया हु कारओ मे सामाइय कम्म करणमाया य। परिणामे सइ आया सामाइयमेव उ पसिद्धी ॥१०३५॥

व्याख्या—ईहाऽऽत्मैव कारको मम, तस्य स्वातन्त्र्येण प्रवृत्तेः, तथा सामायिकं कर्म तद्गुणत्वात्, करणं चोद्देशादिलक्षणं तत्क्रियत्वादात्मैव, तथाऽपि यथोक्तदोषाणामसम्भव एव, कुत इत्याह—यस्मात् परिणामे सत्यात्मा सामायिकं, परिणमनं—परिणामः कथञ्चित् पूर्वरूपापरित्यागेनोत्तररूपापत्तिरिति. उक्तं च—"नार्थान्तरगमो यस्मात्, सर्वथैव न चाऽगमः। परिणामः प्रमासिद्ध, इष्टश्च खलु पण्डितैः ॥ १ ॥" इत्यादि, तस्मिन् परिणामे सति, अयमत्र भावार्थः—परिणामे सति तस्य नित्यानित्याद्यनेकरूपत्वाद् द्रव्यगुणपर्यायाणामपि भेदाभेदसिद्धेः, अन्यथा सकलसंव्यवहारोच्छेदप्रसङ्गाद्, एकान्तपक्षेणान्यत्वानन्यत्वयोरनभ्युपगमाद्, इत्थं चैकत्वानेकत्वपक्षयोः कर्तृकर्मकरणव्यवस्थासिद्धेः 'आत्मा' जीवः सामायिकमेव तु प्रसिद्धिः, तथाहि—न तदेकान्तेन अन्यत् †तद्गुणत्वान्न चानन्य(त्त)द्गुणत्वादेवेति, इत्थं चैतदङ्गीकर्तव्यम्, अन्यथा गुणगुणिनोरेकान्तभेदे विप्रकृष्टगुणमात्रोपलब्धौ प्रतिनियतगुणिविषय एव संशयो न स्यात्, तदन्येभ्योऽपि तस्य भेदाविशेषात्, दृश्यते च यदा कश्चिद्धरिततरुतरुणशाखाविसररन्ध्रोदरान्तरतः किमपि शुक्लं पश्यति तदा किमियं पताका किं वा बलाकेत्येवं प्रतिनियतगुणिविषय इति, अभेदपक्षे तु संशयानुत्पत्तिरेव, गुणग्रहणत एव तस्यापि गृहीतत्वादित्यलं विस्तरेणेति गाथार्थः ॥ १०३५ ॥ भाष्यकारदूषणानि त्वमूनि—"आया हु कारओ मे सामाइय कम्म करणमाआ य। तम्हा आया ॥४७५॥

१ आत्मैव कारको मे सामायिकं कर्म करणमात्मैव । तस्मादात्मैव * इहात्मनैव † तद्ग्रहणत्वा०

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१]

दीप अनुक्रम [२]

सामाइयं च परिणामओ एक्कं ॥ १ ॥ जं णाणाइसहावं सामाइय जोगमाइकरणं च । उभयं च स परिणामो परिणामा-णण्णया जं च ॥२॥ तेणाया सामइयं करणं च चसद्दओ अभिण्णाइं । णणु भणियमणण्णत्ते तण्णासे जीवणासोत्ति ॥ ३ ॥ जइ तप्पज्जयनासो को दोसो होउ ? सवहा नत्थि । जं सो उप्पायवयधुवधम्माणंतपज्जाओ ॥४॥ सव्वं चिय पइसमयं उप्पज्जइ णासए य णिच्चं च । एवं चेव य सुहदुक्खबंधमोक्खाइसब्भावो ॥ ५ ॥ एगं चेव य वत्थुं परिणामवसेण कारगंतरयं । पावइ तेणादोसो विवक्खया कारगं जं च ॥ ६ ॥ कुंभोऽवि सज्जमाणो कत्ता कम्मं स एव करणं च । णाणाकारगभावं लहइ जहेगो विवक्खाए ॥ ७ ॥ जह वा नाणाणण्णो नाणी नियओवओगकालंमि । एगोऽवि तस्सभावो सामाइयकारगो चेवं ॥ ८ ॥ " साम्प्रतं परिणामपक्षे सत्येकत्वानेकत्वपक्षयोरविरोधेन कर्तृकर्मकरणव्यवस्थामुपदर्शयन्नाह—

एगत्ते जह मुट्ठिं करेइ अत्थंतरे घडाईणि । दव्वत्थंतरभावे गुणस्स किं केण संबद्धं ! ॥ १०३६ ॥

व्याख्या—'एकत्वे' कर्तृकर्मकरणाभेदे कर्तृकर्मकरणभावो दृष्टः, यथा मुष्टिं करोति, अत्र देवदत्तः कर्ता तद्धस्त एव

---

१ सामायिकं च परिणामत ऐक्यम् ॥ १ ॥ यस्माज्ज्ञानादिस्वभावं सामायिकं योगादि (कर्माह) करणं च । उभयं च स परिणामः परिणामानन्यता यच्च ॥ २ ॥ तेनात्मा सामायिकं करणं च चशब्दतोऽभिन्नानि । ननु भणितमनन्यत्वे तन्नाशे जीवनाश इति ॥ ३ ॥ यदि तत्पर्यायनाशः (सामायिकरूपप०) को दोषो भवतु ? सर्वथा नास्ति । यत्सः (आत्मा) उत्पादव्ययध्रौव्यधर्माऽनन्तपर्यायः ॥ ५ ॥ सर्वमेव प्रतिसमयमुत्पद्यते नश्यति च नित्यं च । एवमेवच सुखदुःखबन्धमोक्षादिसद्भावः ॥ ६ ॥ एकमेव च वस्तु परिणामवशेन कारकान्तरताम् । प्राप्नोति तेनादोषः--विवक्षया कारकाणि यत् ॥ ६ ॥ कुम्भोऽपि सृज्यमानः कर्ता कर्म च स एव करणं च । नानाकारकभावं लभते यथैको विवक्षया ॥ ७ ॥ यथा वा ज्ञानानन्यो ज्ञानी निजोपयोगकाले । एकोऽपि तत्स्वभावः सामायिककारकश्चैवम् ॥ ८ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१]

दीप अनुक्रम [२]

कर्म तस्यैव च प्रयत्नविशेषः करणमिति, तथाऽर्थान्तरे–कर्तृकर्मकरणानां भेदे दृष्ट एव तद्भावः, तथा चाऽऽह—घटादीनि यथा करोतीति वर्तते, तत्रापि कुलालः कर्ता घटः कर्म दण्डादि करणमिति । इह च सामायिकं गुणो वर्तते, स च गुणिनः कथञ्चिदेव भिन्न इति । विपक्षे बाधामुपदर्शयति–द्रव्यात् सकाशाद्, गुणिन इत्यर्थः, एकान्तेनैवार्थान्तरभावे–भेदे सति, कस्य ?–गुणस्य, किं केन सम्बद्धमिति?,न किञ्चित् केनचित् सम्बद्धं, ज्ञानादीनामपि गुणत्वात्तेषामपि चाऽऽत्मादिगुणिभ्य एकान्तभिन्नत्वात् , संवेदनाभावतः सर्वव्यवस्थानुपपत्तेरिति भावना, एवमेकान्तेनानर्थान्तरभावेऽपि दोषा अभ्यूह्या इति गाथार्थः ॥ १०३६ ॥ कण्ठतस्तावदुक्ते चालनाप्रत्यवस्थाने, अत एव चात्र पुनरुक्तदोषोऽपि नास्ति, अनुवादद्वारेण चालनाप्रत्यवस्थानप्रवृत्तेरित्यलं प्रसङ्गेन, प्रकृतं प्रस्तुमः, तत्र सर्वं सावद्यं योगमित्याद्यवशिष्यते, तदिह सर्वशब्दनिरूपणायाऽऽह—

नामं १ ठवणा २ दविए ३ आएसे ४ निरवसेसए ५ चेव । तह सव्वधत्तसव्वं च ६ भावसव्वं च सत्तमयं ७॥

व्याख्या—इह सर्वमिति कः शब्दार्थः?, उच्यते,‘सृ गतौ’ इत्यस्य औणादिको वप्रत्ययः सर्वशब्दो वा निपात्यते स्रियते स इति श्रियते वाऽनेनेति सर्वः, तदिदं च नामसर्वं स्थापनासर्वं द्रव्यसर्वम् आदेशसर्वं निरवशेषसर्वं, तथा सर्वधत्तसर्वं च भावसर्वं च सप्तममिति समासार्थः ॥ १०३७ ॥ व्यासार्थं तु भाष्यकारः स्वयमेव वक्ष्यति, तत्र नामस्थापने क्षुण्णत्वादनादृत्य शेषभेदव्याचिख्यासया पुनराह—

दविए चउरो भंगा सव्व१मसव्वे अ २ दव्व १ देसे अ २। आएस सव्वगामो नीसेसे सव्वगं दुविहं॥१८५॥(भा०) ॥४७६॥

व्याख्या—‘द्रव्य’ इति द्रव्यसर्वे चत्वारो भङ्गा भवन्ति, तानेव सूचयन्नाह—‘सव्वमसव्वे अ दव्व देसे य’त्ति–अयमत्र

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्तिः

‘सर्व’ शब्दस्य निरूपणं

प्रत सूत्रांक [१]

दीप अनुक्रम [२]

भावार्थः—इह यद्विवक्षितं द्रव्यमङ्गुल्यादि तत् कृत्स्नं-परिपूर्णम् अनूनं स्वैरवयवैः सर्वमुच्यते, सकलमित्यर्थः, एवं तस्यैव द्रव्यस्य कश्चित्स्वावयवो देशः कृत्स्नतया–स्वावयवपरिपूर्णतया यदा सकलो विवक्ष्यते तदा देशोऽपि सर्वः, एवमुभयस्मिन् द्रव्ये तद्देशे च सर्वत्वं, तयोरेव यथास्वमपरिपूर्णतायामसर्वत्वं, ततश्चतुर्भङ्गी–द्रव्यं सर्वं देशोऽपि सर्वः १ द्रव्यं सर्वं देशोऽसर्वः २ देशः सर्वः द्रव्यमसर्वं ३ देशोऽसर्वः द्रव्यमप्यसर्वम् ४, अत्र यथाक्रममुदाहरणं—सम्पूर्णमङ्गुलि द्रव्यसर्वं तदेव देशोनं द्रव्यमसर्वं, तथा देशः–पर्व तत्सम्पूर्णं देशसर्वम् पर्वैकदेशः देशासर्वम् , एवं द्रव्यसर्वम् । अथाऽऽदेशसर्वमुच्यते—आदेशनम् आदेश उपचारो व्यवहारः, स च बहुतरे प्रधाने वाऽऽदिश्यते देशेऽपि, यथा विवक्षितं घृतमभिसमीक्ष्य बहुतरे भुक्ते स्तोके च शेषे उपचारः क्रियते–सर्वं घृतं भुक्तं भक्तं वा, प्रधानेऽप्युपचारः, यथा ग्रामप्रधानेषु पुरुषेषु गतेषु ग्रामो गत इति व्यपदिश्यते, तत्र प्रधानपक्षमेवाधिकृत्याऽऽह ग्रन्थकारः—'आएस सव्वगामो'त्ति आदेशसर्वं सर्वो ग्रामो गत इत्यायात इति वेति क्रियाभावनोक्तैव । एवमादेशसर्वमुक्तम्, अथ निरवशेषसर्वमभिधीयते, तत्राऽऽह—'निस्सेसे सव्वगं दुविहं'ति निरवशेषसर्वं 'द्विविधं' द्विप्रकारं (ग्रन्थाग्रम्० १२०००) सर्वापरिशेषसर्वं तद्देशापरिशेषसर्वं चेति गाथार्थः ॥ १८५ ॥ अत्रोदाहरणमाह, तत्र—

अणिमिसिणो सव्वसुरा सव्वापरिसेससव्वगं एअं १ । तद्देसापरिसेसं सव्वे काला जहा असुरा २॥१८६॥(भा०)

व्याख्या—'अनिमेषिणः सर्वसुराः' अनिमिषनयनाः सर्वे देवा इत्यर्थः, सर्वापरिशेषसर्वमेतत्, यस्मान्न कश्चिद्देवानां मध्येऽनिमिषत्वं व्यभिचरतीति, तथा तद्देशापरिशेषमिति–तद्देशपरिशेषसर्वं सर्वे काला यथा असुरा इति, इयमत्र भावना-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्ति:

- अत्र मूल संपादकस्य मुद्रणशुद्धि-स्खलनत्वात् भाष्य क्रमांक -१८५ द्विवारान् मुद्रितं दृश्यते

प्रत सूत्रांक [१]

दीप अनुक्रम [२]

आवश्यक-हारिभद्रीया ॥४७७॥

सामायिक-निक्षेपनि० वि० १

तेषामेव देवानां देश एको निकायः असुराः, ते च सर्व एवासितवर्णा इति गाथार्थः ॥१८६॥ सर्वधत्तसर्वप्रतिप्रादनायाऽऽह—

सा हवइ सव्वधत्ता दुपडोआरा जिआ य अजिआ य। दव्वे सव्वघडाई सव्वद्धत्ता पुणो कसिणं॥१८७॥(भा०)

व्याख्या—सा भवति 'सव्वधत्ता' इत्यत्र सर्वं—जीवाजीवाख्यं वस्तु धत्तं—निहितमस्यां विवक्षायामिति सर्वधत्ता, ननु 'दधातेर्हि' (पा०७–४–४२) ति हिशब्दादेशाद्धितमिति भवितव्यं कथं धत्तमिति ?, उच्यते, प्राकृते देशीपदस्याविरुद्धत्वान्न दोषः, अथवा धत्त इति डित्थवदव्युत्पन्न एव यदृच्छाशब्दः, अथवा सर्वं दधातीति सर्वधं—निरवशेषवचनं सर्वधमात्तं—आगृहीतं यस्यां विवक्षायां सा सर्वधात्ता, एवमपि निष्ठान्तस्य पूर्वनिपातः, 'जातिकालसुखादिभ्यः परवचन- (पा०६–२–१७०) मिति परनिपात एव, अथवा सर्वधेन आत्ता सर्वधात्ता तया यत् सर्वं तत् सर्वधात्तासर्वमिति, सा च भवति सर्वधात्ता 'दुपडोयार'त्ति द्विप्रकारा—जीवाश्चाजीवाश्च, यस्मात् यत् किञ्चनेह लोकेऽस्ति तत् सर्वं जीवाश्चाजीवाश्च, न ह्येतद्व्यतिरिक्तमन्यदस्ति, अत्राऽऽह—द्रव्यसर्वस्य सर्वधत्तासर्वस्य च को विशेष इति?, अयमभिप्रायः—द्रव्यसर्वमपि विवक्षयाऽशेषद्रव्यविषयमेव, अत्रोच्यते, 'दव्वे सव्वघडाई' इह द्रव्यसर्वे सर्वे घटादयो गृह्यन्ते, आदिशब्दादङ्गुल्यादिपरिग्रहः, सर्वधत्ता पुनः कृत्स्नं वस्तु व्याप्य व्यवस्थितेति विशेष इत्ययं गाथार्थः ॥ १८७ ॥ अधुना भावसर्वमुच्यते—

भावे सव्वोदइओदयलक्खणओ जहेव तह सेसा। इत्थ उ खओवसमिए अहिगारोऽसेससव्वे अ॥१८८॥(भा०) ॥४७७॥

व्याख्या—'भाव' इति द्वारपरामर्शः, सर्वो द्विप्रकारोऽपि शुभाशुभभेदेन औदयिकः—उदयलक्षणः कर्मोदयनिष्पन्न इत्यर्थः यथैवायमुक्तस्तथा शेषा अपि स्वलक्षणतो वाच्या इति वाक्यशेषः, तत्र मोहनीयकर्मोपशमस्वभावतः शुभः सर्व

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१]

दीप अनुक्रम [२]

एवौपशमिकः, कर्मणां क्षयादेव शुभः सर्वः क्षायिकः, शुभाशुभश्च मिश्रः सर्वः क्षायोपशमिकः, परिणतिस्वभावः सर्वः शुभाशुभश्च पारिणामिकः एवं व्युत्पत्त्यर्थप्ररूपणां कृत्वा प्रकृतयोजनामुपदर्शयन्नाह—'एत्थ उ'इत्यादि, अत्र तु 'क्षायोपशमिक' इति क्षायोपशमिकभावसर्वेण अधिकारः, अवतार उपयोग इत्यर्थः, 'अशेषसर्वेण च' निरवशेषसर्वेण चेति गाथार्थः ॥ १८८ ॥ व्याख्यातः सौत्रः सर्वावयवः, साम्प्रतं सावद्यावयवव्याचिख्यासयाऽऽह—

कम्ममवज्जं जं गरिहिअंति कोहाइणो व चत्तारि । सह तेण जो उ जोगो पच्चक्खाणं हवइ तस्स ॥ १०३८ ॥

व्याख्या—'कर्म' अनुष्ठानमवद्यं भण्यते, किमविशेषेण ?, नेत्याह—'यद् गर्हितम्' इति यन्निन्द्यमित्यर्थः, क्रोधादयो वा चत्वारः, अवद्यमिति वर्तते, सर्वावद्यहेतुत्वात् तेषां कारणे कार्योपचारात्, सह तेन–अवद्येन 'यस्तु योगः' य एव व्यापारः असौ सावद्य इत्युच्यते, 'प्रत्याख्यानं' निषेधलक्षणं भवति 'तस्य' सावद्ययोगस्य, पाठान्तरं वा—'कम्मं वज्जं जं गरहियं'ति इह तु 'वृजी वर्जने' इत्यस्य वर्जनीयं वर्ज्यं त्यजनीयमित्यर्थः, शेषं पूर्ववत्, नवरं सह वर्ज्येन सवर्ज्यः प्राकृते सकारस्य दीर्घादेशात् सावज्जमिति गाथार्थः॥१०३८॥ अधुना योगोऽभिधीयते, स च द्विधा—द्रव्ययोगो भावयोगश्च, तथा चाऽऽह–

दव्वे मणवयकाए जोगा दव्वा दुहा उ भावंमि । जोगा सम्मत्ताई पसत्थ इअरो उ विवरीओ ॥ १०३९ ॥

व्याख्या—'द्रव्य' इति द्वारपरामर्शः, 'मणवइकाए जोगा दव्वे'ति मनोवाक्काययोग्यानि द्रव्याणि द्रव्ययोगः, एतदुक्तं भवति—जीवेनागृहीतानि गृहीतानि वा स्वव्यापाराप्रवृत्तानि द्रव्ययोग इति, द्रव्याणां वा हरीतक्यादीनां योगो द्रव्ययोगः, 'दुहा उ भावंमि'त्ति द्विधैव द्विप्रकार एव, 'भाव' इति भावविषयः 'जोगो'त्ति योगोऽधि-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्तिः

'सावद्य' शब्दस्य व्याख्यानं क्रियते

प्रत सूत्रांक [१]
दीप अनुक्रम [२]

आवश्यक-हारिभद्रीया ॥४७८॥ | सामायिक-निक्षेपनि० वि० १

कृतः–प्रशस्तोऽप्रशस्तश्च, तत्र 'सम्मत्ताई पसत्थ'त्ति सम्यक्त्वादीनाम्, आदिशब्दाद् ज्ञानचरणपरिग्रहः, प्रशस्तः युज्यतेऽनेन करणभूतेनाऽऽत्माऽपवर्गेणेतिकृत्वा, 'इयरो उ विवरीओ'त्ति इतरस्तु मिथ्यात्वादियोंगः, 'विपरीत' इत्यप्रशस्तो वर्तते, युज्यतेऽनेनाऽऽत्माऽष्टविधेन कर्मणेतिकृत्वाऽयं गाथार्थः ॥ १०३९ ॥ सावद्यं योगमिति व्याख्यातौ सूत्रावयवाविति, अधुना प्रत्याख्यामीत्यवयवप्रस्तावात् प्रत्याख्यानं निरूप्यते, इह प्रत्याख्यामीति वा प्रत्याचक्षे इति वा उत्तमपुरुषैकवचने द्विधा शब्दौ, तत्राऽऽद्यः प्रत्याख्यामीति, प्रतिशब्दः प्रतिषेधे आङ् आभिमुख्ये ख्या प्रकथने, प्रतीपं आभिमुख्येन ख्यापनं सावद्ययोगस्य करोमि प्रत्याख्यामीति, अथवा 'चक्षिङ् व्यक्तायां वाचि' प्रतिषेधस्याऽऽदरेणाभिधानं करोमि प्रत्याचक्षे, प्रतिषेधस्याख्यानं प्रत्याख्यानं निवृत्तिरित्यर्थः, इदं च षट्प्रकारं नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रातीच्छाभावभेदभिन्नमिति, *तत्र च नामस्थापने क्षुण्णत्वादनादृत्य द्रव्यप्रत्याख्यानादि प्रतिपादयन्नाह—

दव्वंमि निण्हगाई ३ निव्विसयाई अ होइ खित्तंमि ४। भिक्खाईणमदाणे अइच्छ ५ भावे पुणो दुविहं ६॥१०४०॥

व्याख्या—द्रव्यमिति द्वारपरामर्शः, 'निण्हगाइ'त्ति निह्नवादिप्रत्याख्यानम्, आदिशब्दाद् द्रव्ययोर्द्रव्याणां द्रव्यभूतस्य द्रव्यहेतोर्वा यत् प्रत्याख्यानं तद् द्रव्यप्रत्याख्यानमिति, 'निव्विसयाई य होइ खित्तंमि'त्ति निर्विषयादि च भवति क्षेत्र इति, तत्र निर्विषयस्याऽऽदिष्टस्य क्षेत्रप्रत्याख्यानम्, आदिशब्दान्नगरादिप्रतिषिद्धपरिग्रहः, 'भिक्षादीनामदानेऽति[ग]च्छे'ति भिक्षणं–भिक्षा प्राभृतिकोच्यते, आदिशब्दाद् वस्त्रादिपरिग्रहः, तेषामदाने सत्यतिगच्छेति वचनमतीच्छेति वेति ॥४७८॥

* तथा चाह–नामं ठवणा दविए खित्तमदिच्छा य भावओ तं च। नामाभिहाणमुत्तं ठवणागारक्खनिक्खेवो ॥ १ ॥ इति गाथा क्वचित् ॥ ०दिच्छेति वा अतिगच्छप्रत्या०

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [१] दीप अनुक्रम [२]

प्रत्याख्यानं, 'भावे पुणो दुविहं'ति भाव इति द्वारपरामर्शः, भावप्रत्याख्यानं पुनर्द्विविधं, तत्र भावप्रत्याख्यानमिति भावस्य–सावद्ययोगस्य प्रत्याख्यानं भावतो वा–शुभात् परिणामोत्पादाद् भावहेतोर्वा–निर्वाणार्थं वा भाव एव वा–सावद्ययोगविरतिलक्षणः प्रत्याख्यानं भावप्रत्याख्यानमिति गाथार्थः ॥ १०४० ॥ साम्प्रतं द्वैविध्यमेवोपदर्शयन्नाह—

सुअ णोसुअ सुअ दुविहं पुव्व १ मपुव्वं २ तु होइ नायव्वं। नोसुअपच्चक्खाणं मूले १ तह उत्तरगुणे अ २ ॥१०४१॥

व्याख्या—'सुयणोसुय'त्ति श्रुतप्रत्याख्यानं नोश्रुतप्रत्याख्यानं च, 'सुयं दुविहं'ति श्रुतप्रत्याख्यानं द्विविधं, द्वैविध्यमेव दर्शयति–'पुव्वमपुव्वं तु होइ णायव्वं'ति पूर्वश्रुतप्रत्याख्यानमपूर्वश्रुतप्रत्याख्यानं च भवति ज्ञातव्यमिति, तत्र पूर्वश्रुतप्रत्याख्यानं प्रत्याख्यानसंज्ञितं पूर्वमेव, अपूर्वश्रुतप्रत्याख्यानं त्वातुरप्रत्याख्यानादिकमिति, तथा 'नोसुयपच्चक्खाणं'ति नोश्रुतप्रत्याख्यानं श्रुतप्रत्याख्यानादन्यदित्यर्थः, 'मूले तह उत्तरगुणे य'त्ति मूलगुणप्रत्याख्यानमुत्तरगुणप्रत्याख्यानं च, तत्र मूलगुणप्रत्याख्यानं देशसर्वभेदं, देशतः श्रावकाणां सर्वतस्तु संयतानामिति, इहाधिकृतं सर्वं, सामायिकानन्तरं सर्वशब्दोपादानादिति गाथार्थः ॥१०४१॥ इह च वृद्धसम्प्रदायः 'पच्चक्खाणे उदाहरणं रायधूयाए–वरिसं मंसं न खाइयं, पारणए अणेगाणं जीवाणं घाओ कओ, साहूहिं संबोहिया, पव्वइया, पुव्वं दव्वपच्चक्खाणं पच्छा भावपच्चक्खाणं जातमिति कृतं प्रसङ्गेन। प्रत्याख्यामीति व्याख्यातः सूत्रावयवः, अधुना यावज्जीवतयेति व्याख्यायते—इह चाऽऽदौ भावार्थमेवाभिधित्सुराह—

१ प्रत्याख्याने उदाहरणं राजदुहितुः–वर्षं मांसं न खादितं, पारणकेऽनेकेषां जीवानां घातः कृतः, साधुभिः संबोधिता, प्रव्रजिता, पूर्वं द्रव्यप्रत्याख्यानं, पश्चाद्भावप्रत्याख्यानं जातं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१]

दीप अनुक्रम [२]

आवश्यक हारिभद्रीया ॥४७९॥

सामायिक-निक्षेपनि० वि० १

जावदवधारणंमि जीवणमवि पाणधारणे भणिअं। आपाणधारणाओ पावनिवित्ती इहं अत्थो ॥ १०४२ ॥

व्याख्या—यावद् इत्ययं शब्दोऽवधारणे वर्तते, जीवनमपि प्राणधारणे भणितं, 'जीव प्राणधारण' इति वचनात्, ततश्चाप्राणधारणात्-प्राणधारणं यावत् पापनिवृत्तिरित्यर्थः, परतस्तु न विधिर्नापि प्रतिषेधो, विधावाशंसादोषप्रसङ्गात् प्रतिषेधे तु सुरादिषूत्पन्नस्य भङ्गप्रसङ्गादिति गाथार्थः ॥१०४२॥ इह च जीवनं जीव इति क्रियाशब्दोऽयं, न जीवतीति जीव आत्मपदार्थः, जीवनं तु प्राणधारणं, जीवनं जीवितं चेत्येकोऽर्थः, तत्र जीवितं दशधा वर्तते, तदेव तावदादौ निरूपयन्नाह—

नामं १ ठवणा २ दविए ३ ओहे ४ भव ५ तब्भवे अ ६ भोगे अ ७।
संजम ८ जस ९ कित्तीजीविअं च १० तं भण्णई दसहा ॥ १०४३ ॥

व्याख्या—नामजीवितं स्थापनाजीवितं द्रव्यजीवितम् ओघजीवितं भवजीवितं तद्भवजीवितं भोगजीवितं च तथा संयमजीवितं यशोजीवितं कीर्तिजीवितं च तद्भण्यते दशधेति गाथासमासार्थः ॥ १०४३ ॥ अवयवार्थं तु भाष्यकारः स्वयमेव वक्ष्यति, तत्र नामस्थापने क्षुण्णत्वादनादृत्य शेषभेदव्याचिख्यासयाऽऽह—

दव्वे सचित्ताई ३ आउअसद्दव्वया भवे ओहे ४। नेरइयाईण भवे ५ तब्भव तत्थेव उववत्ती ६ ॥ १८९॥ (भा०)

व्याख्या—'द्रव्य' इति द्वारपरामर्शः, द्रव्यजीवितं सचित्तादि, आदिशब्दान्मिश्राचित्तपरिग्रहः, इह च कारणे कार्योपचाराद् येन द्रव्येण सचित्ताचित्तमिश्रभेदेन पुत्रहिरण्योभयरूपेण यस्य यथा जीवितमायत्तं तस्य तथा तद्द्रव्यजीवित- ॥४७९॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत
सूत्रांक
[१]

दीप
अनुक्रम
[२]

मिति, *द्विपदादिद्रव्यस्य चान्ये, उक्तं द्रव्यजीवितं, 'आउयसद्दवया भत्रे ओहे'त्ति आयुरिति प्रदेशकर्म तद्द्रव्यसहचरितं जीवस्य प्राणधारणं सदैव संसारे भवेदोघ इति द्वारपरामर्शः ओघजीवितं, सामान्यजीवितमित्यर्थः, इदं चाङ्गीकृत्य यदि परं सिद्धा मृताः, न पुनरन्ये कदाचन इत्युक्तमोघजीवितं, 'णेरइयाईण भवे'त्ति नारकादीनामिति, आदिशब्दात् तिर्यङ्नरामरपरिग्रहः, भव इति द्वारपरामर्शः, स्वभवे स्थितिर्भवजीवितमिति, उक्तं भवजीवितं, 'तब्भव तत्थेव उववत्ति'त्ति तस्मिन् भवे जीवितम् तद्भवजीवितं, इदं चौदारिकशरीरिणामेव भवति, यत आह—तत्रैवोपपत्तिः, तत्रैवोपपात इत्यर्थः, भवश्च तदायुष्कबन्धस्य प्रथमसमयादारभ्य यावच्चरमसमयानुभवः, स चौदारिकशरीरिणां तिर्यङ्-मनुष्याणां,तद्भवोपपत्तिमागतानां तद्भवजीवितं भवति, ननु च भवजीवितमनन्तरं चतुर्द्धा वर्णितं नारकादिगतिसमापन्नानां याऽवस्था, तत्र स्वायुष्कबन्धकालात् प्रभृति सर्वैव भवस्थितिः यथास्वमबाधासहिता भवजीवितम्, इह तु तद्भवजीविते आबाधोनिका कर्मस्थितिः, तद्भवोदयात् प्रभृति कर्मनिषेकः तद्भवजीवितमिति महान् विशेषः, तत् किमर्थमौदारिकाणामेव?, उच्यते ?, तेषां हि गर्भकालव्यवहितं योनिनिःसरणं जन्मोच्यते, तेन च गर्भकालेन सहैव तद्भवजीवितं, वैक्रियशरीरिणां तूपपातादेव कालान्तराव्यवहितं जन्मेति जीवितं स्वाबाधाकालसहितमितिकृत्वा तद्भवजीवितमौदारिकाणामेव सुप्रतिपादमिति, तेषां चेदं स्वकायस्थित्यनुसारतो विज्ञेयमिति गाथार्थः ॥ १८९ ॥ उक्तं तद्भवजीवितं,

भोगंमि चक्किमाई ७ संजमजीअं तु संजयजणस्स ८। जस ९ कित्ती अ भगवओ १० संजमनरजीव अहिगारो १०४४

व्याख्या—भोगंमित्ति द्वारपरामर्शः, भोगजीवितं च चक्रवर्त्यादीनाम्, आदिशब्दाद्बलदेववासुदेवादिपरिग्रहः, उक्तं च

* पारदादिद्रव्यावस्थेत्यन्ये.

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [१] दीप अनुक्रम [२]

आवश्यक-हारिभद्रीया ||४८०|| | सामायिक-निक्षेपनि० वि० १

भोगजीवितं, 'संजमजीयं तु संजयजणस्स'त्ति संयमजीवितं तु 'संयतजनस्य' साधुलोकस्य, उक्तं संयमजीवितं, 'जसकित्ती य भगवओ'त्ति यशोजीवितं भगवतो महावीरस्य, कीर्तिजीवितमपि तस्यैव, अयं चानयोर्विशेषः—दानपुण्यफला कीर्त्तिः, पराक्रमकृतं यशः' इति, अन्येत्विदमेकमेवाभिदधति, असंयमजीवितं चाविरतिगतं संयमप्रतिपक्षतो गृह्णन्तीति, 'संजमनरजीव अहिगारो'त्ति–संयमनरजीवितेनेहाधिकार इति गाथार्थः ॥ १०४४ ॥ यावज्जीवता चेह 'जीव प्राणधारण' इत्यस्याव्ययीभावे समासे 'यावदवधारण' (पा० २–१–८) इत्यनेन निर्वृत्ते भावप्रत्यय उत्पादिते यावज्जीवं भावः षष्ठ्या अव्ययादाप्सुपः (पा० २–४–८२) इति सुपलुक्, तस्य 'भावस्त्वतलौ' (पा० ५–१–११९) विति तलि स्त्रीलिङ्गता यावज्जीवता तया यावज्जीवतया, तत्रालाक्षणिकवर्णलोपात् 'जावज्जीवाए' इति सिद्धम्, अथवा प्रत्याख्यानक्रिया अन्यपदार्थ इति तामभिसमीक्ष्य समासो बहुव्रीहिः, यावज्जीवो यस्यां सा यावज्जीवा तयेत्यलं प्रसङ्गेन, तिस्रो विधा यस्य योगस्य स त्रिविधः सावद्ययोगः, स च प्रत्याख्येय इति कर्म संपद्यते, कर्मणि च द्वितीया विभक्तिः, तं त्रिविधं योगं, त्रिविधेनैव करणेन, करणे तृतीयेति, मनसा वाचा कायेन चेति, अत्र मनःप्रभृतीनां पूर्वं स्वरूपं दर्शितमेवेति न प्रतन्यते, नवरं भावार्थ उच्यते–तत्र 'त्रिविधं त्रिविधेने'त्यत्रानन्तरस्य करणस्य विवरणसूत्रमेवेदं, यदुत–मनसा वाचा कायेनेति, तस्य च करणस्य कर्म प्रत्याख्येयो योगस्तमपि सूत्र एव विवृणोति–न करोमि न कारयामि कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामि–नानुमन्येऽहमिति। अत्राऽऽह–किं पुनः कारणमुद्देशक्रममतिलङ्घ्य व्यत्यासेन निर्देशः कृत इति?, अत्रोच्यते, योगस्य करणतन्त्रो(न्त्रतो)पदेशनार्थं, तथाहि—योगः करणवश एव, करणानां भावे योगस्यापि भावादभावे चाभावादिति, करणाना- ||४८०||

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्ति:

प्रत सूत्रांक [१]

दीप अनुक्रम [२]

मेव तथा क्रियारूपेण परिणतेरित्यत्र बहु वक्तव्यं तत्तु नोच्यते ग्रन्थविस्तरभयादिति, अपरस्त्वाह—न करोमि न कारयामि कुर्वन्तं न समनुजानामीत्येतावता ग्रन्थेन गतेऽन्यमपीत्यतिरिच्यते, तथा चातिरिक्तेन सूत्रेण नार्थः, उच्यते, साभिप्रायकमिदम्, अनुक्तस्याप्यर्थस्य सङ्ग्रहार्थं, यस्मात् सम्भावनेऽपिशब्दोऽयं, सोऽयमपिशब्दः उभयशब्दमध्यस्थ एतत् करोति–यथा कुर्वन्तं नानुजानामि एवं कारयन्तमप्यनुज्ञापयन्तमप्यन्यं नानुजानामि, तथा यथा वर्त्तमानकाले कुर्वन्तमन्यं न समनुजानामीति एवमपिशब्दादतीतकाले कृतवन्तमपि कारितवन्तमपि तथाऽनागतेऽपि काले करिष्यन्तमपि कारयिष्यन्तमपीति त्रिकालोपसङ्ग्रहो वेदितव्य इति, न क्रियाक्रियावतोर्भेद एव अतो न केवला क्रिया सम्भवतीति ख्यापनार्थमन्यग्रहणम्, अत्रापि बहु वक्तव्यं तत्तु नोच्यते मा भूत् मुग्धमतिविनेयसम्मोह इति, किञ्चित्तु सूत्रस्पर्शनिर्युक्तौ वक्ष्याम इति । एवं तावदिदमेतावत् सूत्रस्य व्याख्यातम् ॥ इह च सर्वं सावद्यं योगं प्रत्याख्यामीत्यत्र प्रत्याख्यानं गृहस्थान् साधूंश्चाधिकृत्य भेदपरिणामतो निरूपयन्नाह—

सीआलं भंगसयं तिविहं तिविहेण समिइगुत्तीहिं । सुत्तप्फासिअनिज्जुत्तिवित्थरत्थो गओ एवं ॥ १०४५ ॥

व्याख्या—गुरवस्तु व्याचक्षते–तदिदमेतावत् सूत्रस्य व्याख्यातं, साम्प्रतं त्रिविधं त्रिविधेनेत्येतदेव किल व्याचष्टे, तत्र त्रिविधं सावद्यं योगं प्रत्याख्येयं कृतकारितानुमतिभेदभिन्नं त्रिविधेन मनसा वाचा कायेनेति करणेन प्रत्याख्याति यतः अतस्तद्भेदोपदर्शनायैवाऽऽह–सिआलं भंगसयं गाहा ॥ अत्राऽऽह—यद्येवमिह सर्वसावद्ययोगप्रत्याख्यानाधिकारात् सप्तचत्वारिंशदधिकशतं प्रत्याख्यानभेदानां गृहस्थप्रत्याख्यानभेदत्वादयुक्तमेतदिति, अत्रोच्यते, न, प्रत्याख्यानसामान्यतो गृहस्थप्रत्या-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्तिः

'प्रत्याख्यान'स्य निरूपणं

प्रत सूत्रांक [१]

दीप अनुक्रम [२]

ख्यानभेदाभिधानेऽप्यदोषत्वादित्यलं प्रसङ्गेन, प्रकृतं प्रस्तुमः, तत्र 'सीयालं भंगसयं'ति–एतद्भाव्यते, 'सीयालं भंगसयं गिहिपच्चक्खाणभेयपरिमाणं । तं च विहिणा इमेणं भावेयव्वं पयत्तेणं ॥ १ ॥ तिन्नि तिया तिन्नि दुगा तिन्निक्किका य होंति योगेसुं । तिदुएक्कं तिदुएक्कं तिदुएक्कं चेव करणाइं ॥ २ ॥ पढमे लब्भइ एगो सेसेसु पएसु तिय तिय तियं च । दो नव तिय दो नवगा तिगुणिय सीयालभंगसयं ॥ ३ ॥' का पुनरत्र भावना ?, उच्यते—ण करेइ ण कारवेइ करेंतमपि अण्णं ण समणुजाणइ मणेणं वायाए काएणं एस एक्को भेओ १ । चो०–न करेईच्चाइतिगं गिहिणो कह होइ देसविरअस्स ? । आ०–भन्नइ विसयस्स बहिं पडिसेहो अणुमईएवि ॥४॥ केई भणंति गिहिणो तिविहंतिविहेण नत्थि संवरणं । तं णजओ णिद्दिट्ठं पन्नत्तीए विसेसेउं ॥ ५ ॥ तो कह निज्जुत्तीएऽणुमइणिसेहोत्ति ? सो सविसयंमि । सामण्णेणं नत्थि उ तिविहं तिविहेण को दोसो ? ॥६॥ पुत्ताईसंतइणिमित्तमित्तमेक्कारसिं पवण्णस्स । जंपंति केइ गिहिणो दिक्खाभिमुहस्स तिविहंपि॥७॥

---

१ सप्तचत्वारिंशं शतं भङ्गानां गृहिप्रत्याख्यानभेदपरिमाणम् । तच्च विधिनैतेन भावयितव्यं प्रयत्नेन ॥ १ ॥ त्रयस्त्रिकास्त्रयो द्विकास्त्रय एककाश्च भवन्ति योगेषु । त्रयो द्वावेकस्त्रयो द्वावेकस्त्रयो द्वावेकश्चैव करणानि ॥२॥ प्रथमे लभ्यते एकः शेषेषु पदेषु त्रिकं त्रिकं त्रिकं च । द्वौ नवकौ त्रिकं द्वौ नवकौ त्रिगुणिते सप्तचत्वारिंशं भङ्गशतम् ॥ ३ ॥ न करोति न कारयति कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानाति मनसा वाचया कायेनैष एको भेदः । चोदकः–न करोतीत्यादित्रिकं गृहिण कथं भवति देशविरतस्य? । आचार्य आह–भण्यते विषयाद्बहिः प्रतिषेधोऽनुमतेरपि ॥ ४ ॥ केचिद् भणन्ति गृहिणस्त्रिविधंत्रिविधेन नास्ति संवरणम् । तन्न यतो निर्दिष्टं प्रज्ञप्तौ विशिष्य ॥ ५ ॥ तत्कथं निर्युक्तौ अनुमतिनिषेधः इति?, स स्वविषये । सामान्येन नास्त्येव त्रिविधंत्रिविधेन को दोषः?॥ ६ ॥ पुत्रादिसंततिनिमित्तमात्रेणैकादशीं प्रपन्नस्य । जल्पन्ति केचिद्गृहिणो दीक्षाभिमुखस्य त्रिविधमपि ॥ ७ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१]

दीप अनुक्रम [२]

¹आह कहं पुण मणसा करणं कारावणं अणुमई य । जह वयतणुजोगेहिं करणाई तह भवे मणसा ॥ ८ ॥ तदहीणत्ता वइतणुकरणाईणं अहव मणकरणं । सावज्जजोगमणणं पन्नत्तं वीयरागेहिं ॥ ९ ॥ कारवणं पुण मणसा चिंतेइ य करेउ एस सावज्जं । चिंतेई य कए पुण सुट्ठु कयं अणुमई होइ ॥ १० ॥ एस एक्को भेओ गओ ॥ इयाणिं बितिओ भेओ–ण करेइ ण कारवेइ करेंतंपि अण्णं ण समणुजाणइ मणेण वायाए एस एक्को १, तहा मणेणं काएण य बितिओ २, तहा वायाए काएण य ततिओ ३, एस बितिओ मूलभेओ गओ ॥ इयाणिं तइओ–ण करेइ न कारवेइ करेंतंपि अण्णं ण समणुजाणइ मणेण एक्को १ वायाए बितिओ २ काएण ततिओ ३ एस तइओ मूलभेओ गओ । इयाणिं चउत्थो–ण करेइ ण कारवेइ मणेण वायाए काएणं एक्को १ ण करेइ करेंतंपि णाणुजाणइ बितीओ २ ण कारवेइ करेंतं णाणुजाणइ ३ तइओ एस चउत्थो मूलभेओ, इयाणिं पंचमो–ण करेइ ण कारवेइ मणेणं वायाए एस एक्को १ ण करेइ करेंतं

---

१ आह–कथं पुनर्मनसा करणं कारणमनुमतिश्च । यथा वाक्तनुयोगाभ्यां करणादयस्तथा भवेयुर्मनसा ॥ ८ ॥ तदधीनत्वात् वाक्तनुकरणादीनामथवा मनःकरणं । सावद्ययोगमननं प्रज्ञप्तं वीतरागैः ॥ ९ ॥ कारणं पुनर्मनसा चिन्तयति च करोत्येष सावद्यम् । चिन्तयति च कृते पुनः सुष्ठु कृतमनुमतिर्भवति ॥ १० ॥ एष एको भेदो गतः १ । इदानीं द्वितीयो भेदः–न करोति न कारयति कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानाति मनसा वाचा एष एकः १ तथा मनसा कायेन च द्वितीयः २ तथा वाचा कायेन च तृतीयः ३ एष द्वितीयो मूलभेदो गतः २ । इदानीं तृतीयः–न करोति न कारयति कुर्वन्तमपि अन्यं न समनुजानाति मनसैकः १ वाचा द्वितीयः २ कायेन तृतीयः ३ एष तृतीयो मूलभेदो गतः ३ । इदानीं चतुर्थो–न करोति न कारयति मनसा वाचा कायेनैकः १ न करोति कुर्वन्तमपि नानुजानाति द्वितीयो २ न कारयति कुर्वन्तं नानुजानाति तृतीयः ३ एष चतुर्थो मूलभेदः ४ । इदानीं पञ्चमः–न करोति न कारयतिः मनसा वाचा एष एकः १ न करोति कुर्वन्तं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१]
दीप अनुक्रम [२]

आवश्यक-हारिभद्रीया ॥४८२॥

सूत्रस्पर्शि कनि० वि० १

णाणुजाणइ एस बितिओ २ ण कारवेति णाणुजाणइ एस तइओ ३ एए तिन्नि भंगा मणेण वायाए लद्धा, अन्नेऽवि तिन्नि, मणेणं काएण य एमेव लब्भंति ३, तहाऽवरेवि वायाए काएण य लब्भंति तिन्नि तिन्नि ३, एवमेव एए सबे णव, एवं पञ्चमोऽप्युक्तो मूलभेद इति। इयाणिं छट्ठो–ण करेइ ण कारवेइ मणेणं एस एक्को, तह य ण करेइ करेंतं णाणुजाणइ मणेणं एस बितिओ, ण कारवेइ करेंतं णाणुजाणइ मणसैव तृतीयः, एवं वायाए काएणवि तिन्नि तिण्णि भंगा लब्भंति, उक्तः षष्ठोऽपि मूलभेदः, अधुना सप्तमोऽभिधीयते इति–ण करेइ मणेणं वायाए काएण य एक्को, एवं ण कारवेइ मणादीहिं एस बितिओ, करेंतं णाणुजाणइत्ति तइओ, सप्तमोऽप्युक्तो मूलभेद इति। इदानीमष्टमः–ण करेइ मणेणं वायाए एक्को तहा मणेण काएण य एस बितिओ, तहा वायाए काएण य एस तइओ, एवं ण कारवेइ एत्थवि तिन्नि भंगा एवमेव लब्भंति, करेंतं णाणुजाणइ एत्थ वि तिण्णि, एष उक्तोऽष्टमः। इदानीं नवमः–न करेइ मणेण एक्को १ ण कारवेइ बितिओ २ करेंतं णाणुजाणइ एस तइओ, एवं वायाए

---

१ नानुजानाति एष द्वितीयः २ न कारयति नानुजानाति एष तृतीयः ३ एते त्रयो, भङ्गा मनसा वाचा लब्धाः अन्येऽपि त्रयो, मनसा कायेन चैवमेव लभ्यन्ते ३तथाऽपरेऽपि वाचा कायेन च लभ्यन्ते त्रयः २, ३, एवमेते सर्वे नव, एवं पञ्चमोऽप्युक्तो मूलभेदः ५ इति। इदानीं षष्ठो–न करोति न कारयति मनसा एष एकः, तथैव न करोति कुर्वन्तं नानुजानाति मनसा एष द्वितीयः, न कारयति कुर्वन्तं नानुजानाति मनसैव तृतीयः, एवं वाचा कायेनापि त्रयस्त्रयो भङ्गा लभ्यन्ते ६। न करोति मनसा वाचा कायेन चैकः, एवं न कारयति मनआदिभिरेष द्वितीयः, कुर्वन्तं नानुजानातीति तृतीयः ७। न करोति मनसा वाचा एकः तथा मनसा कायेन च एष द्वितीयः तथा वाचा कायेन च एष तृतीयः, एवं न कारयति अत्रापि त्रयो भङ्गा एवमेव लभ्यन्ते, कुर्वन्तं नानुजानाति अत्रापि त्रयः ८। न करोति मनसा एकः न कारयति द्वितीयः कुर्वन्तं नानुजानाति एष तृतीयः, एवं वाचा ॥४८२॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१]

दीप अनुक्रम [२]

बितियं काएणवि होइ तितयमेव, नवमोऽप्युक्तः इदानीमागतगुणनं क्रियते—‘लद्धफलमाणमेअं भंगा उ हवंति अउणपण्णासं। तीयाणागयसंपइगुणियं कालेण होइ इमं ॥ १ ॥ सीयालं भंगसयं कह ? कालतिएण होइ गुणणाओ। तीयस्स पडिक्कमणं पच्चुप्पन्नस्स संवरणं ॥ २ ॥ पच्चक्खाणं च तहा होइ य एसस्स एव गुणणाओ। कालतिएणं भणियं जिणगणहरवायएहिं च ॥ ३ ॥ एवं तावद् गृहस्थप्रत्याख्यानभेदाः प्रतिपादिताः, साम्प्रतं साधुप्रत्याख्यानभेदान् सूचयन्नाह—‘तिविहं तिविहेणं’ति अयमत्र भावार्थः–त्रिविधं त्रिविधेनेत्यनेन सर्वसावद्ययोगप्रत्याख्यानादर्थतः सप्तविंशतिभेदानाह—ते चैवं भवन्ति–इह सावद्ययोगः प्रसिद्ध एव हिंसादिः, तं स्वयं सर्वं न करोति न कारयति कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानाति, एकैकं करणत्रिकेन–मनसा वाचा कायेनेति नव भेदाः, अतीतानागतवर्तमानकालत्रयसम्बद्धाश्च सप्तविंशतिरिति, इदं च प्रत्याख्याने भेदजालं ‘समिइगुत्तीहिं’ति समितिगुप्तिषु सतीषु भवति, समितिगुप्तिभिर्वा निष्पद्यते, तत्रेर्यासमितिप्रमुखाः प्रवीचाररूपाः समितयः पञ्च गुप्तयश्च प्रवीचाराप्रवीचाररूपा मनोगुप्त्याद्यास्तिस्र इति, उक्तं च—‘समिओ नियमा गुत्तो गुत्तो समियत्तणंमि भइयव्वो। कुसलवइमुदीरंतो जं वइगुत्तोऽवि समिओऽवि ॥ १ ॥’ अन्ये तु व्याचक्षते–

---

१ द्वितीयं कायेनापि भवति त्रितयमेव ९। १ लब्धफलमानमेतत् भङ्गास्तु भवन्त्येकोनपञ्चाशत्। अतीतानागतसम्प्रतिगुणितं कालेन भवतीदम् ॥ १ ॥ सप्तचत्वारिंशं भङ्गशतं, कथं ? कालत्रिकेण भवति गुणनात्। अतीतस्य प्रतिक्रमणं प्रत्युत्पन्नस्य संवरणम् ॥ २ ॥ प्रत्याख्यानं च तथा भवति चैष्यस्य एवं गुणनात्। कालत्रिकेन भणितं (सप्तचत्वारिंशं शतं) जिनगणधरवाचकैश्च ॥ ३ ॥ २ समितो नियमाद्गुप्तो गुप्तः समितत्वे भक्तव्यः। कुशलं वच उदीरयन् यद्वचोगुप्तोऽपि समितोऽपि ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [१]

दीप अनुक्रम [२]

आवश्यक-हारिभद्रीया ॥४८३॥

किलैता अष्टौ प्रवचनमातरः सामायिकसूत्रसङ्ग्रहः, तत्र 'करेमि भंते! सामाइयं'ति पंच समिईओ गहिआओ, 'सव्वं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि'त्ति तिण्णि गुत्तीओ गहियाओ, एत्थ समिईओ पवत्तणे निग्गहे य गुत्तीओत्ति, एयाओ अट्ठ पवयणमायाओ जाहिं सामाइयं चोद्दसय पुव्वाणि मायाणि, माउगाओत्ति मूलं भणियंति होइ ॥ इहैव प्रायः सूत्रस्पर्शनिर्युक्तिवक्तव्यताया उक्तत्वात् मध्यग्रहणे च तुलादण्डन्यायेनाऽऽद्यन्तयोरप्याक्षेपादिदमाह—'सुत्तप्फासियणिज्जुत्तिवित्थरत्थो गओ एवं'ति सूत्रस्पर्शनिर्युक्तिविस्तरार्थो गतः, 'एवम्' उक्तेन प्रकारेणेति गाथार्थः ॥ १०४५ ॥ साम्प्रतं सूत्र एवातीतादिकालग्रहणं त्रिविधमुक्तमिति दर्शयन्नाह—

सूत्रस्पर्शिकनि० वि० १

सामाइअं करेमी पच्चक्खामी पडिक्कमामित्ति । पच्चुप्पन्नमणागयअईअकालाण गहणं तु ॥ १०४६ ॥

व्याख्या—सामायिकं करोमि तथा प्रत्याख्यामि सावद्यं योगमिति, तथा प्रतिक्रमामीति प्राकृतस्य, इदं हि यथासङ्ख्यमेव प्रत्युत्पन्नानागतातीतकालानां ग्रहणमिति, उक्तं च—'अईयं णिंदइ पडुप्पन्नं संवरेइ अणागयं पच्चक्खाइ'त्ति गाथार्थः ॥ १०४६ ॥ साम्प्रतं तस्य भदन्त! प्रतिक्रमामीत्येतद् व्याख्यायते—तत्र 'तस्ये' त्यधिकृतो योगः संबध्यते, ननु च प्रतिक्रमामीत्यस्याः क्रियायाः सोऽधिकृतो योगः कर्म, कर्मणि च द्वितीया विभक्तिरतस्तमित्यभिधेये तस्येत्यभिधीयते

---

१ करोमि भदन्त! सामायिकमिति पञ्च समितयो गृहीताः, सर्वं सावद्यं योगं प्रत्याचक्ष इति तिस्रो गुप्तयो गृहीताः, अत्र समितयः प्रवर्त्तने निग्रहे च गुप्तय इति, एता अष्ट प्रवचनमातरो याभिः (यासु वा) सामायिकं चतुर्दश च पूर्वाणि मातानि, मातर इति मूलं इति भणितं भवति । २ अतीतं निन्दति प्रत्युत्पन्नं संवृणोति अनागतं प्रत्याख्याति

॥४८३॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१]

दीप अनुक्रम [२]

किमर्थमिति ?, आह–प्रयोजनार्थं षष्ठी विवक्षातः प्रयुक्ता सम्बन्धलक्षणाऽवयवलक्षणा वा, योऽसौ योगस्त्रिकालविषयस्तस्यातीतं सावद्यमंशमवयवं प्रतिक्रमामि न शेषं वर्तमानमनागतं वा, केचित् पुनरविभागज्ञाः अविशिष्टमेव सामान्यं योगं सम्बन्धयन्ति, तन्न युज्यते, अविशिष्टस्य त्रिकालविषयस्य प्रतिक्रमणप्रयोजनाभावात्, ग्रन्थगुरुत्वापत्तेश्च, अविशिष्टमपि संबध्य पुनर्विशेषेऽवस्थापनीयस्तच्छब्द इति ग्रन्थगुरुता, यदेतत् प्रतिक्रमणमेतत् प्रायश्चित्तमध्ये पठितमतः प्रायश्चित्तमासेवितेऽतीतविषयमिति गतत्वादतीतप्रतिक्रमणमिति न वक्तव्यम्, इह पुनरुक्तत्वप्रसङ्गात्, यस्मादस्य प्रतिक्रमामीतिशब्दस्य कर्मणा भवितव्यमवश्यं, तच्च भूतं सावद्ययोगं मुक्त्वा नान्यत् कर्म भवितुमर्हति, तस्मात्तस्येत्यवयवलक्षणया षष्ठ्या सम्बन्धः ॥ आह–यद्येवं पुनरुक्तादिभयादभिधीयते तत इदमपरमाशङ्कापदमिति दर्शयति—

तिविहेणंति न जुत्तं पडिपयविहिणा समाहिअं जेण । अत्थविगप्पणयाए गुणभावणयत्ति को दोसो? ॥१०४७॥

व्याख्या—'त्रिविधं त्रिविधेने'त्यत्र त्रिविधेनेत्ययुक्तमिति, अत आह—'प्रतिपदविधिना समाहितं येन' यस्मात् प्रतिपदमभिहितमेव,'मनसा वाचा कायेने'ति, अत्रोच्यते, अर्थविकल्पनया गुणभावनयेति वा को दोषः ?, एतदुक्तं भवति—अर्थविकल्पसङ्ग्रहार्थं न पुनरुक्तम्, अथवा गुणभावना पुनः पुनरभिधानाद्भवतीति न दोषः, अथवा मनसा वाचा कायेनेत्यभिहिते प्रतिपदं न करोमि न कारयामि नानुजानामीति 'यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाना' मिति यथासङ्ख्यक्रमनिष्टं मा प्रापदिति त्रिविधेनैकैकमुच्यते, त्रिविधमित्यत्राप्ययमेव प्रायः परिहार इति गाथार्थः ॥ १०४७ ॥ इत्यलं प्रसङ्गेन, प्रकृतं प्रस्तुमः, 'तस्य भदन्त ! प्रतिक्रमामी'त्यत्र भदन्तः पूर्ववद् अतिचारनिवृत्तिक्रियाभिमुखश्च तद्विशुद्ध्यर्थमामन्त्रयत इति

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१]

दीप अनुक्रम [२]

आवश्यक-हारिभद्रीया ॥४८४॥

सूत्रस्पर्शिकनि० वि० १

अत्राऽऽह—ननु पूर्वमुक्त एव भदन्तः स एवानुवर्तिष्यते, एवमर्थं चादौ प्रयुक्त इत्यतः किं पुनरनेनेति?, अत्रोच्यते, अनुवर्तनार्थमेव अयं पुनरनुस्मरणाय प्रयुक्तः, यतः परिभाषा—अनुवर्तन्ते च नाम विधयो, न चानुवर्तनादेव भवन्ति, किं, तर्हि?, यत्नाद्भवन्ति, 'स चायं यत्नः पुनरुच्चारण'मिति, अथवा सामायिकक्रियाप्रत्यर्पणवचनोऽयं भदन्तशब्दः, अनेन चैतत् ज्ञापितं भवति—सर्वक्रियावसाने गुरोः प्रत्यर्पणं कार्यमिति, उक्तं च भाष्यकारेण—'सामाइयपच्चप्पणवयणो वाऽयं भदंतसद्दोत्ति। सबकिरियावसाणे भणियं पच्चप्पणमणेणं ॥ १ ॥" इति कृतं प्रसङ्गेन, प्रतिक्रमामीत्यत्र प्रतिक्रमणं मिथ्यादुष्कृतमभिधीयते, तच्च द्विधा—द्रव्यतो भावतश्च, तथा चाह निर्युक्तिकारः—

दव्वंमि निण्हगाई कुलालमिच्छंति तत्थुदाहरणं। भावंमि तदुवउत्तो मिआवई तत्थुदाहरणं ॥ १०४८ ॥

व्याख्या—द्रव्य इति द्वारपरामर्शः, द्रव्यप्रतिक्रमणं तदभेदोपचारात् तद्भेदोच्यते, अत एवाह—निह्नवादि, आदिशब्दादनुपयुक्तादिपरिग्रहः, कुलालमिथ्यादुष्कृतं तत्रोदाहरणं, तच्चेदम्—एगस्स कुंभकारस्स कुडीए साहुणो ठिया, तत्थेगो चेल्लओ तस्स कुंभगारस्स कोलालाणि अंगुलिधणुहएणं पाहाणएहिं विंधइ, कुंभगारेण पडिजग्गिउं दिट्ठो, भणिओ य–कीस मे कोलालाणि काणेसि?, खुड्डुओ भणइ–मिच्छामि दुक्कडंति, एवं सो पुणोऽवि विंधिऊण मिच्छामिदुक्कडंति, ॥४८४॥

१ सामायिकप्रत्यर्पणवचनो वाऽयं भदन्तशब्द इति। सर्वक्रियावसाने भणितं प्रत्यर्पणमनेन ॥१॥ २ एकस्य कुम्भकारस्य कुट्यां (गृहे) साधवः स्थिताः, तत्रैकः क्षुल्लकस्तस्य कुम्भकारस्य भाजनानि अङ्गुलधनुषा पाषाणैः काणीकरोति, कुम्भकारेण प्रतिजागर्य दृष्टः, भणितश्च–कथं मम भाजनानि काणयसि?, क्षुल्लको भणति–मिथ्या मे दुष्कृतमिति, एवं स पुनरपि काणयित्वा मिथ्या मे दुष्कृतमिति (करोति),

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्तिः

'मिथ्यादुष्कृतं' पदस्य द्रव्य तथा भाव-भेदेन प्ररुपणा

प्रत
सूत्रांक
[१]

दीप
अनुक्रम
[२]

[1]पच्छा कुंभगारेण तस्स खुड्डगस्स कन्नामोडओ दिन्नो, सो भणइ–दुक्खाविओऽहं, कुंभगारो भणइ–मिच्छामि दुक्कडं, एवं सो पुणो पुणो कन्नामोडियं दाऊण मिच्छादुक्कडंति करेइ, पच्छा चेल्लओ भणइ–अहो सुंदरं मिच्छामिदुक्कडंति, कुंभगारो भणइ–तुज्झवि एरिसं चेव मिच्छा दुक्कडंति, पच्छा ठिओ विंधियव्वस्स। 'जं दुक्कडंति मिच्छा तं चेव णिसेवई पुणो पावं। पच्चक्खमुसावाई मायाणियडिप्पसंगो य ॥ १ ॥ एयं दव्वपडिक्कमणं ॥ भावप्रतिक्रमणं प्रतिपादयति—भाव इति द्वारपरामर्श एव, 'तदुपयुक्त एव' तस्मिन्-अधिकृते शुभव्यापारे उपयुक्तस्तदुपयुक्तो यत् करोति, मृगापतिः तत्रोदाहरणं, तच्चेदम्—[2]भगवं वद्धमाणसामी कोसंबीए समोसरिओ, तत्थ चंदसूरा भगवंतं वंदगा सविमाणा ओइण्णा, तत्थ मियावई अज्जा उदयणमाया दिवसोत्तिकाउं चिरं ठिया, सेसाओ साहुणीओ तित्थयरं वंदिऊण सनिलयं गयाओ, चंदसूरावि तित्थयरं वंदिऊण पडिगया, सिग्घमेव वियालीभूयं, मियावई संभंता, गया अज्जचंदणासगासं।

---

१ पश्चात् कुम्भकारेण तस्य क्षुल्लकस्य कर्णामोटको दत्तः, स भणति–दुःखितोऽहं, कुम्भकारो भणति–मिथ्या मे दुष्कृतं, एवं स पुनः पुनः कर्णामोटकं दत्वा मिथ्यादुष्कृतमिति करोति, पश्चात्क्षुल्लको भणति–अहो सुन्दरं मिथ्यामेदुष्कृतमिति, कुम्भकारो भणति–तवापि ईदृशमेव मिथ्यामेदुष्कृतमिति, पश्चात्स्थितः काणनात्–। यद्दुष्कृतमिति मिथ्या (कृत्वा) तदेव निषेवते पुनः पापम्। प्रत्यक्षमृषावादी मायानिकृतिप्रसङ्गश्च ॥ १ ॥ एतद्द्रव्यप्रतिक्रमणं। २ भगवान् वर्धमानस्वामी कौशाम्ब्यां समवसृतः, तत्र चन्द्रसूर्यौ भगवन्तं वन्दितुं सविमानाववतीर्णौ, तत्र मृगावती आर्योदयनमाता दिवस इतिकृत्वा चिरं स्थिता, शेषाः साध्व्यस्तीर्थकरं वन्दित्वा स्वनिलयं गताः, चन्द्रसूर्यावपि तीर्थकरं वन्दित्वा प्रतिगतौ, शीघ्रमेव विकालीभूतं, मृगावती संभ्रान्ता, गता आर्यचन्दनासकाशं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्ति:

प्रत सूत्रांक [१] दीप अनुक्रम [२]

आवश्यक हारिभ-द्रीया ॥४८५॥

ताओ य ताव पडिक्कंताओ, मियावई आलोएउं पवत्ता, अज्जचंदणाए भण्णइ–कीस अज्जे ! चिरं ठियासि ?, न जुत्तं नाम तुमं उत्तमकुलप्पसूयाए एगागिणीए चिरं अच्छिउंति, सा सब्भावेण मिच्छामिदुक्कडंति भणमाणी अज्जचंदणाए पाएसु पडिया, अज्जचंदणा य ताए वेलाए संथारं गया, ताहे निद्दा आगया, पसुत्ता, मियावईएवि तिव्वसंवेगमावण्णाए पायपडियाए चेव केवलणाणं समुप्पण्णं । सप्पो य तेणंतेणमुवागओ, अज्जचंदणाए य संथारगाओ हत्थो ओलंबिओ, मियावईए मा खज्जिहितित्ति सो हत्थो संथारगं चडाविओ, सा विउद्धा भणइ–किमेयंति?, अज्जवि तुमं अच्छसित्ति मिच्छामि दुक्कडं, निद्दप्पमाएणं ण उट्ठावियासि, मियावई भणइ–एस सप्पो मा भे खाहिइत्ति अतो हत्थो चडाविओ, सा भणइ–कहिं ? सो, सा दाएइ, अज्जचंदणा अपेच्छमाणी भणइ–अज्जे ! किं ते अइसओ ?, सा भणइ–आमं, तो किं छाउमत्थिओ केवलिओत्ति ?, भणइ–केवलिओ, पच्छा अज्जचंदणा पाएसु पडिऊण भणइ–मिच्छामि दुक्कडंति,

सूत्रस्पर्शि-कनि० वि० १

---

१ ताश्च तावत्प्रतिक्रान्ताः, मृगावत्यालोचितुं प्रवृत्ता, आर्यचन्दनया भण्यते–कथमार्ये ! चिरं स्थिताऽसि ?, न युक्तं नाम तव उत्तमकुलप्रसूताया एकाकिन्याः चिरं स्थातुमिति, सा सद्भावेन मिथ्या मे दुष्कृतमिति भणन्ती आर्यचन्दनायाः पादयोः पतिता, आर्यचन्दना च तस्यां वेलायां संस्तारके स्थिता, तदा निद्राऽऽगता, प्रसुप्ता, मृगावत्या अपि तीव्रसंवेगमापन्नायाः पादपतिताया एव केवलज्ञानं समुत्पन्नं । सर्पश्च तेन मार्गेणोपागतः, आर्यचन्दनायाश्च हस्तः संस्तारकादवलम्बितः, मृगावत्या मा खादीदिति स हस्तः संस्तारके चटापितः, सा विबुद्धा भणति–किमेतदिति, अद्यापि त्वं तिष्ठसीति मिथ्यामेदुष्कृतं, निद्राप्रमादेन नोत्थापिताऽसि, मृगावती भणति–एष सर्पो मा भवन्तं खादीदिति भावत्को (अतो)हस्तश्चटापितः, सा भणति–क सः?, सा दर्शयति, आर्यचन्दना अपश्यन्ती भणति–आर्ये किं तवातिशयः ?, सा भणति–ओम्, तर्हि किं छाद्मस्थिकः कैवलिक इति ?, भणति–कैवलिकः, पश्चादार्यचन्दना पादयोः पतित्वा भणति–मिथ्या मे दुष्कृतमिति

॥४८५॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत
सूत्रांक
[१]

दीप
अनुक्रम
[२]

केवली आसाइओत्ति, इयं भावपडिक्कमणं। एत्थ गाहा—'जइ य पडिक्कमियव्वं अवस्स काऊण पावयं कम्मं। तं चेव न कायव्वं तो होइ पए पडिक्कंतो ॥ १ ॥' त्ति गाथार्थः ॥ १०४८ ॥ इह च प्रतिक्रमामीति भूतात् सावद्ययोगान्निवर्तेऽह—मित्युक्तं भवति, तस्माच्च निर्वृत्तिर्यत्तदनुमतेर्विरमणमिति, तथा निन्दामीति गर्हामि, अत्र निन्दामीति जुगुप्सेत्यर्थः गर्हामीति च तदेवोक्तं भवति, एवं तर्हि को भेद एकार्थत्वे ?, उच्यते, सामान्यार्थाभेदेऽपीष्टविशेषार्थो गर्हाशब्दः, यथा सामान्ये गमनार्थे गच्छतीति गौः, सर्पतीति सर्पः, तथाऽपि गमनविशेषोऽवगम्यते, शब्दार्थादेव, एवमिहापि निन्दागर्हयोरिति ॥ तं चार्थविशेषं दर्शयति—

सचरित्तपच्छयावो निंदा तीए चउक्कनिक्खेवो। दव्वे चित्तयरसुआ भावेसु बहू उदाहरणा ॥ १०४९ ॥

व्याख्या—सचरित्रस्य सत्त्वस्य पश्चात्तापो निन्दा, स्वप्रत्यक्षं जुगुप्सेत्यर्थः, उक्तं च–"आत्मसाक्षिकी निन्दा" "तीए चउक्कनिक्खेवो'त्ति तस्यां तस्या वा नामादिभेदचतुष्को निक्षेप इति, तत्र नामस्थापने अनादृत्याऽऽह—'दवे चित्तकरसुया भावेसु बहू उदाहरण'त्ति द्रव्यनिन्दायां चित्रकरसुतोदाहरणं, सा जहा रण्णा परिणीया अप्पाणं णिंदियाइयत्ति, भावनिन्दायां सुबहून्युदाहरणानि योगसङ्ग्रहेषु वक्ष्यन्ते, लक्षणं पुनरिदं—'हा ! दुट्ठु कयं हा ! दुट्ठु कारियं दुट्ठु अणुमयं इ'त्ति। अंतो अंतो डज्झइ पच्छातावेण वेवंतो ॥ १ ॥' त्ति गाथार्थः ॥ १०४९ ॥

१ केवल्याशातित इति, इदं भावप्रतिक्रमणं। अत्र गाथा–यदि च प्रतिक्रान्तव्यमवश्यं कृत्वा पापकं कर्म। तदेव न कर्त्तव्यं तदा भवति पदे प्रतिक्रान्तः ॥१॥ इति २ सा यथा राज्ञा परिणीताऽऽत्मानं निन्दितवतीति। ३ हा दुष्टु कृतं हा दुष्टु कारितं दुष्टु नुमतं इति। अन्तरन्तर्दह्यते पश्चात्तापेन वेपमानः (वेरन्)॥१॥इति।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्तिः

निन्दा तथा गर्हा शब्दस्य अर्थविशेषं कथयते

प्रत सूत्रांक [१] दीप अनुक्रम [२]

आवश्यक-हारिभ-द्रीया ॥४८६॥

सूत्रस्पर्शि-कनि० वि० १

गरहावि तहाजाईअमेव नवरं परप्पगासणया। दव्वंमि मरुअनायं भावेसु बहू उदाहरणा ॥ १०५० ॥

व्याख्या—गर्हाऽपि 'तथाजातीयैवे'ति निन्दाजातीयैव, नवरमेतावान् विशेषः–परप्रकाशनया गर्हा भवति, या गुरोः प्रत्यक्षं जुगुप्सा सा गर्हेति, 'परसाक्षिकी गर्हे'ति वचनाद्, असावपि चतुर्विधैव, तत्र नामस्थापने अनादृत्यैवाह–'दव्वंमि मरुअणायं भावेसु बहू उदाहरण'त्ति। तत्र द्रव्यगर्हायां मरुकोदाहरणं, तच्चेदम्—आणंदपुरे मरुओ ण्हुसाए समं संवासं काऊण उवज्झायस्स कहेइ जहा सुविणए ण्हुसाए समं संवासं गओमित्ति। भावगर्हाए साधू उदाहरणं—'गंतूण गुरुसगासे काऊण य अंजलिं विणयमूलं। जह अप्पणो तह परे जाणावण एस गरहा उ ॥ १ ॥' त्ति गाथार्थः ॥१०४९॥ तत्र निन्दामि गर्हामीत्यत्र गर्हा जुगुप्सोच्यते, तत्र किं जुगुप्से ?, 'आत्मानम्' अतीतसावद्ययोगकारिणमश्लाघ्यम्, अथवाऽत्राणम्–अतीतसावद्ययोगत्राणविरहितं जुगुप्से, सामायिकेनाधुना त्राणमिति, अथवा 'अत सातत्यगमने' अतनमतीतं–सावद्ययोगं सततभवनप्रवृत्तं निवर्तयामीति, 'व्युत्सृजामी'ति विविधार्थो विशेषार्थो वा विशब्दः उच्छब्दो भृशार्थः सृजामि–त्यजामीत्यर्थः, विविधं विशेषेण वा भृशं त्यजामि व्युत्सृजामि, अतीतसावद्ययोगं व्युत्सृजामीति वा, अवशब्दोऽधःशब्दस्यार्थे विशेषेणाधः सृजामीत्यर्थः, नन्वेवं सावद्ययोगपरित्यागात् करोमि भदन्त ! सामायिकमिति सावद्ययोगनिवृत्तिरुच्यते, तस्य व्यवसृजामि शब्दप्रयोगे वैपरीत्यमापद्यते, तन्न, यस्मात् मांसादिविरमणक्रियानन्तरं व्यवसृजामीति प्रयुक्ते तद्विपक्षत्यागो मांसभक्षणनिवृत्तिरभिधीयते, एवं सामायिकानन्तरमपि प्रयुक्ते व्यवसृजामिशब्दे तद्विपक्ष- ॥४८६॥

१ आनन्दपुरे मरुकः स्नुषया समं संवासं कृत्वा उपाध्यायाय कथयति, यथा स्वप्ने स्नुषया समं संवासं गतोऽस्मीति। भावगर्हायां साधुरुदाहरणम्–गत्वा गुरुसकाशं कृत्वा चाञ्जलिं विनयमूलम्। यथाऽऽत्मनस्तथा परेषां ज्ञापनमेषा गर्हा तु ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१]

दीप अनुक्रम [२]

त्यागोऽवगम्यते, स च तद्विपक्षः सुगम एवेत्यत्र बहु वक्तव्यं तत्तु नोच्यते, ग्रन्थविस्तरभयाद्, गमनिकामात्रप्रधानत्वात् प्रारम्भस्य ॥ साम्प्रतं व्युत्सर्गप्रतिपादनायाऽऽह ग्रन्थकारः—

दव्वविउस्सग्गे खलु पसन्नचंदो हवे उदाहरणं। पडिआगयसंवेगो भावंमिवि होइ सो चेव ॥ १०५१ ॥

व्याख्या—इह द्रव्यव्युत्सर्गः–गणोपधिशरीरान्नपानादिव्युत्सर्गः, अथवा द्रव्यव्युत्सर्गः आर्तध्यानादिध्यायिनः कायोत्सर्ग इति, अत एवाऽऽह—द्रव्यव्युत्सर्गे खलु प्रसन्नचन्द्रो भवत्युदाहरणं, भावव्युत्सर्गस्त्वज्ञानादिपरित्यागः, अथवा धर्मशुक्लध्यायिनः कायोत्सर्ग एव, तथा चाऽऽह—प्रत्यागतसंवेगो 'भावेऽपि' भावव्युत्सर्गेऽपि भवति स एव–प्रसन्नचन्द्र उदाहरणमिति गाथाक्षरार्थः ॥ १०५१ ॥ भावार्थः कथानकादवसेयः, तच्चेदम्—खिइपइट्ठिए णयरे पसन्नचंदो राया, तत्थ भगवं महावीरो समोसढो, तओ राया धम्मं सोऊण संजायसंवेगो पव्वइओ, गीयत्थो जाओ। अण्णया जिणकप्पं पडिवज्जिउकामो सत्तभावणाए अप्पाणं भावेइ, तेणं कालेणं रायगिहे णयरे मसाणे पडिमं पडिवन्नो, भगवं च महावीरो तत्थेव समोसढो, लोगोऽवि वंदगो णीइ, दुवे य वाणियगा खिइपइट्ठियाओ तत्थेव आयाया, पसन्नचंदं पासिऊण एगेण भणियं–एस अम्हाणं सामी रायलच्छिं परिच्चइय तवसिरिं पडिवन्नो, अहो से धन्नया, बितिएण भणियं–कुओ एयस्स धण्णया ?,

१ क्षितिप्रतिष्ठिते नगरे प्रसन्नचन्द्रो राजा, तत्र भगवान् महावीरः समवसृतः, ततो राजा धर्मं श्रुत्वा संजातसंवेगः प्रव्रजितः, गीतार्थो जातः। अन्यदा जिनकल्पं प्रतिपत्तुकामः सत्त्वभावनयाऽऽत्मानं भावयति, तस्मिन् काले राजगृहे नगरे श्मशाने प्रतिमां प्रतिपन्नः, भगवांश्च महावीरस्तत्रैव समवसृतः, लोकोऽपि वन्दको निर्गच्छति, द्वौ च वणिजौ क्षितिप्रतिष्ठितात् तत्रैवागतौ, प्रसन्नचन्द्रं दृष्ट्वा एकेन भणितं–एषोऽस्माकं स्वामी राज्यलक्ष्मीं परित्यज्य तपःश्रियं प्रतिपन्नः, अहो अस्य धन्यता, द्वितीयेन भणितं–कुत एतस्य धन्यता ?,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्ति:

'व्युत्सर्ग' पदस्य प्रतिपादनम्

प्रत सूत्रांक [१]

दीप अनुक्रम [२]

जो असंजायबलं पुत्तं रज्जे ठविऊण पव्वइओ, सो तवस्सी दाइगेहिं परिभविज्जइ, णयरं च उत्तिमक्खयं पवण्णं ताव, एवमणेण बहुओ लोगो दुक्खे ठविओत्ति अदट्ठव्वो एसो, तस्स तं सोऊण कोवो जाओ, चिंतियं चऽणेण–को मम पुत्तस्स अवकरेइत्ति ?, नूणममुगो, ता किं तेण ?, एयावत्थगओ णं वावाएमि, माणससंगामेण रोद्दज्झाणं पवन्नो, हत्थिणा हत्थिं विवाएइत्ति, विभासा। एत्थंतरे सेणिओ भगवं वंदओ णीइ, तेणवि दिट्ठो वंदिओ य, अणेण ईसिंपि न य निज्झाइंतओ, सेणिएण चिंतियं–सुक्कज्झाणोवगओ एस भगवं, ता एरिसंमि झाणे कालगयस्स का गइ भवइत्ति भगवंतं पुच्छिस्सं, तओ गओ वंदिऊण पुच्छिओऽणेण भगवं–जंमि झाणे ठिओ मए वंदिओ पसन्नचंदो तंमि मयस्स कहिं उववाओ भवइ ?, भगवया भणियं–अहे सत्तमाए पुढवीए, तओ सेणिएण चिंतियं–हा ! किमेयंति?, पुणो पुच्छिस्सं। एत्थंतरंमि अ पसन्नचंदस्स माणसे संगामे पहाणनायगेण सहावडियस्स असिसत्तिचक्ककप्पणिप्पमुहाइं खयं गयाइं पहरणाइं, तओऽणेण सिरत्ताणेणं

---

१ योऽसंजातबलं पुत्रं राज्ये स्थापयित्वा प्रव्रजितः, स तपस्वी दायादैः परिभूयते, नगरं चोत्तमं क्षयं प्रपन्नं तावत्, एवमनेन बहुको लोको दुःखे स्थापित इत्यद्रष्टव्य एषः, तस्य तत् श्रुत्वा कोपो जातः, चिन्तितं चानेन–को मम पुत्रमपकरोतीति ?, नूनममुकः, तत् किं तेन ?, एतदवस्थागतो (ऽपि) तं व्यापादयामि, मानससंग्रामेण रौद्रं ध्यानं प्रपन्नः, हस्तिना हस्तिनं व्यापादयतीति विभाषा। अत्रान्तरे श्रेणिको भगवन्तं वन्दितुं निर्गच्छति, तेनापि दृष्टो वन्दितश्च, अनेनेषदपि न च निर्ध्यातः, श्रेणिकेन चिन्तितं–शुक्लध्यानोपगत एष भगवान्, तदीदृशे ध्याने कालगतस्य का गतिर्भवतीति भगवन्तं प्रक्ष्यामि, ततो गतो वन्दित्वा पृष्टोऽनेन भगवान्–यस्मिन् ध्याने स्थितो मया वन्दितः प्रसन्नचन्द्रस्तस्मिन्मृतस्य कोपपातो भवति ?, भगवता भणितं–अधः सप्तम्यां पृथिव्यां, ततः श्रेणिकेन चिन्तितं–हा किमेतदिति ?, पुनः प्रक्ष्यामि। अत्रान्तरे च प्रसन्नचन्द्रस्य मानसे संग्रामे प्रधाननायकेन सहापतितस्यासिशक्तिचक्रकल्पनीप्रमुखानि क्षयं गतानि प्रहरणानि, ततोऽनेन शिरस्त्राणेन

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [१]

दीप अनुक्रम [२]

वावाएमित्ति परामुसियमुत्तिमंगं, जाहे लोयं कयंति, तओ संवेगमावण्णो महया विसुज्झमाणपरिणामेण अत्ताणं निंदिउं पयत्तो, समाहियं चणेण पुणरवि सुक्कं झाणं। एत्थंतरंमि सेणिएणवि पुणोऽवि भगवं पुच्छिओ–भगवं! जारिसे झाणे संपइ पसन्नचंदो•वट्टइ तारिसे मयस्स कहिं उववाओ ?, भगवया भणियं–अणुत्तरसुरेसुंति, तओ सेणिएण भणियं–पुव्वं किमन्नहा परूवियं उआहु मया अन्नहा अवगच्छियंति ?, भगवया भणियं–न अन्नहा परूवियं, सेणिएण भणियं–किं वा कहं वत्ति ?, तओ भगवया सव्वो वुत्तंतो साहिओ। एत्थंतरंमि य पसन्नचंदसमीवे दिव्वो देवदुंदुहिसणाहो महन्तो कलयलो उद्धाइओ, तओ सेणिएण भणियं–भगवं! किमेयंति ?, भगवया भणियं–तस्सेव विसुज्झमाणपरिणामस्स केवलणाणं समुप्पण्णं, तओ से देवा महिमं करेंति। एस एव दव्वविउस्सग्गभावविउस्सग्गेसु उदाहरणं॥ साम्प्रतं समाप्तौ यथाभूतोऽस्य कर्ता भवति सामायिकस्य तथाभूतं संक्षेपतोऽभिधित्सुराह—

सावज्जजोगविरओ तिविहं तिविहेण वोसिरिअ पावं। सामाइअमाईए एसोऽणुगमो परिसमत्तो॥ १०५२॥

---

१ व्यापादयामीति परामृष्टमुत्तमाङ्गं, यदा लोचः कृत इति, ततः संवेगमापन्नः महता विशुध्यमानपरिणामेनात्मानं निन्दितुं प्रवृत्तः, समाहितं चानेन पुनरपि शुक्लं ध्यानं। अत्रान्तरे श्रेणिकेनापि पुनरपि भगवान् पृष्टः–भगवन्! यादृशे ध्याने सम्प्रति प्रसन्नचन्द्रो वर्त्तते तादृशे मृतस्य क्वोपपातः ?, भगवता भणितं–अनुत्तरसुरेष्विति, ततः श्रेणिकेन भणितं–पूर्वं किमन्यथा प्ररूपितमुताहो मयाऽन्यथाऽवगतमिति ?, भगवता भणितं–नान्यथा प्ररूपितं, श्रेणिकेन भणितं–किं वा कथं वेति ?, ततो भगवता सर्वो वृत्तान्तः कथितः। अत्रान्तरे च प्रसन्नचन्द्रसमीपे दिव्यो देवदुन्दुभिसनाथो महान् कलकल उत्थितः, ततः श्रेणिकेन भणितं–भगवन्! किमेतदिति ?, भगवता भणितं–तस्यैव विशुध्यमानपरिणामस्य केवलज्ञानं समुत्पन्नं, ततस्तस्य देवा महिमानं कुर्वन्ति। एष एव द्रव्यव्युत्सर्गभावव्युत्सर्गयोरुदाहरणं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१]

दीप अनुक्रम [२]

व्याख्या—सावद्ययोगविरतः, कथमित्याह—त्रिविधं त्रिविधेन व्युत्सृज्य पापं न तु सापेक्ष एवेत्यर्थः, पाठान्तरं वा सावद्ययोगविरतः सन् त्रिविधं त्रिविधेन व्युत्सृजति पापमेष्यं, 'सामायिकादौ'सामायिकारम्भसमये एषोऽनुगमः परिसमाप्तः, अथवा सामायिकादौ सूत्र इति, आदिशब्दात् सर्वमित्याद्यवयवपरिग्रह इति गाथार्थः ॥१०५२॥ उक्तोऽनुगमः, सम्प्रति नयाः, ते च नैगमसङ्ग्रहव्यवहारऋजुसूत्रशब्दसमभिरूढैवम्भूतभेदभिन्नाः खल्वोघतः सप्त भवन्ति, स्वरूपं चैतेषामधः सामायिकाध्ययने न्यक्षेण प्रदर्शितमेवेति नेह प्रतन्यते, इह पुनः स्थानाशून्यार्थमेते ज्ञानक्रियानयद्वयान्तर्भावद्वारेण समासतः प्रोच्यन्ते, ज्ञाननयः क्रियानयश्च, तथा चाऽऽह—

विज्जाचरणनएसुं सेससमोआरणं तु कायव्वं । सामाइअनिज्जुत्ती सुभासिअत्था परिसमत्ता ॥ १०५३ ॥

व्याख्या—'विज्जाचरणनएसुं'ति विद्याचरणनययोः ज्ञानक्रियानययोरित्यर्थः, 'सेससमोयारणं तु कायवं'ति शेषनयसमवतारः कर्तव्यः, तुशब्दो विशेषणार्थः, किं विशिनष्टि ?–तौ च वक्तव्यौ, सामायिकनिर्युक्तिः सुभाषितार्था परिसमाप्तेति प्रकटार्थमिति गाथार्थः ॥ १०५३ ॥ साम्प्रतं स्वद्वार एव शेषनयान्तर्भावेनाधिकृतमहिमानौ अनन्तरोपन्यस्तगाथागततुशब्देन चावश्यवक्तव्यतया विहितौ ज्ञानचरणनयावुच्येते, तत्र ज्ञाननयदर्शनमिदं–ज्ञानमेव प्रधानमैहिकामुष्मिकफलप्राप्तिकारणं, युक्तियुक्तत्वात्, तथा चाऽऽह—

नायंमि गिण्हिअव्वे अगिण्हिअव्वंमि चेव अत्थंमि । जइअव्वमेव इअ जो उवएसो सो नओ नामं ॥ १०५४ ॥

व्याख्या—'नायंमि'त्ति ज्ञाते सम्यक्परिच्छिन्ने 'गिण्हियवे'त्ति ग्रहीतव्ये उपादेये 'अगिण्हियवंमि'त्ति अग्रहीतव्ये अनु

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१]

दीप अनुक्रम [२]

पादेये हेय इत्यर्थः, चशब्दः खलूभयोर्ग्रहीतव्याग्रहीतव्ययोर्ज्ञातत्वानुकर्षणार्थः, उपेक्षणीयसमुच्चयार्थो वा, एवकारस्त्ववधारणार्थः, तस्य चैवं व्यवहितः प्रयोगो द्रष्टव्यः–ज्ञात एव ग्रहीतव्ये तथाऽग्रहीतव्ये तथोपेक्षणीये च ज्ञात एव नाज्ञाते 'अत्थंमि'त्ति अर्थ ऐहिकामुष्मिके, तत्रैहिकः ग्रहीतव्यः स्रक्चन्दनाङ्गनादिः अग्रहीतव्यो विषशस्त्रकण्टकादिरुपेक्षणीयस्तृणादिः, आमुष्मिको ग्रहीतव्यः सम्यग्दर्शनादिः अग्रहीतव्यो मिथ्यात्वादिः उपेक्षणीयो विवक्षयाऽभ्युदयादिरिति, तस्मिन्नर्थे 'जइअव्वमेव'त्ति अनुस्वारलोपाद् यतितव्यम् 'एवम्' अनेन क्रमेणैहिकामुष्मिकफलप्राप्त्यर्थिना सत्त्वेन यतितव्यमेव, प्रवृत्त्यादिलक्षणः प्रयत्नः कार्य इत्यर्थः, इत्थं चैतदङ्गीकर्तव्यं, सम्यगज्ञाते प्रवर्तमानस्य फलविसंवाददर्शनात्, तथा चान्यैरप्युक्तम्–“विज्ञप्तिः फलदा पुंसां, न क्रिया फलदा मता । मिथ्याज्ञानात् प्रवृत्तस्य, फलासंवाददर्शनात् ॥१॥” तथाऽऽमुष्मिकफलप्राप्त्यर्थिनाऽपि ज्ञात एव यतितव्यं, तथा चागमोऽप्येवमेव व्यवस्थितः, यत उक्तम्—“पढमं णाणं तओ दया, एवं चिट्ठइ सव्वसंजए । अन्नाणी किं काहिति किं वा णाहिति छेय पावगं ? ॥ १ ॥” इतश्चैतदेवमङ्गीकर्तव्यं यस्मात्तीर्थकरगणधरैरगीतार्थानां केवलानां विहारक्रियाऽपि निषिद्धा, तथा चागमः—“गीयत्थो य विहारो बितिओ गीयत्थमीसओ भणिओ । एत्तो तइयविहारो णाणुण्णाओ जिणवरेहिं ॥ १ ॥” न यस्मादन्धेनान्धः समाकृष्यमाणः सम्यक्पन्थानं प्रतिपद्यत इत्यभिप्रायः । एवं तावत् क्षायोपशमिकं ज्ञानमधिकृत्योक्तं, क्षायिकमप्यङ्गीकृत्य विशिष्टफलसाधकत्वं तस्यैव विज्ञेयं, यस्मादर्हतोऽपि भवाम्भोधितटस्थस्य दीक्षां प्रतिपन्नस्योत्कृष्टतपश्चरणवतोऽपि न तावदपवर्गप्राप्तिः संजा-

१ प्रथमं ज्ञानं ततो दया एवं तिष्ठति सर्वसंयतः । अज्ञानी किं करिष्यति ? किं वा ज्ञास्यति छेकं पापकं (वा) ? ॥ १ ॥ २ गीतार्थश्च विहारो द्वितीयो गीतार्थमिश्रको भणितः । आभ्यां तृतीयो विहारो नानुज्ञातो जिनवरैः ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१] दीप अनुक्रम [२]

आवश्यक-हारिभ-द्रीया ॥४८९॥

यते यावज्जीवाजीवाद्यखिलवस्तुपरिच्छेदरूपं केवलज्ञानं नोत्पन्नमिति, तस्माज्ज्ञानमेव प्रधानमैहिकामुष्मिकफलप्राप्तिकारणमिति स्थितम् । 'इति जो उवएसो सो नयो नामं'ति 'इति' एवमुक्तेन न्यायेन यः उपदेशो ज्ञानप्राधान्यख्यापनपरः स नयो नाम ज्ञाननय इत्यर्थः । अयं च चतुर्विधे सम्यक्त्वादिसामायिके सम्यक्त्वसामायिकश्रुतसामायिकद्वयमेवेच्छति, ज्ञानात्मकत्वादस्य, देशविरतिसर्वविरतिसामायिके तु तत्कार्यत्वात् तदायत्तत्वान्नेच्छति, गुणभूते चेच्छतीति गाथार्थः ॥ १०५४ ॥ उक्तो ज्ञाननयः, अधुना क्रियानयावसरः, तद्दर्शनं चेदं—क्रियैव प्रधानमैहिकामुष्मिकफलप्राप्तिकारणं, युक्तियुक्तत्वात्, तथा चायमप्युक्तलक्षणामेव स्वपक्षसिद्धये गाथामाह—'णायंमि गिण्हियव्वे'त्यादि, अस्याः क्रियानयदर्शनानुसारेण व्याख्या—ज्ञाते ग्रहीतव्येऽग्रहीतव्ये चैव अर्थे ऐहिकामुष्मिकफलप्राप्त्यर्थिना यतितव्यमेव, न यस्मात् प्रवृत्त्यादिलक्षणप्रयत्नव्यतिरेकेण ज्ञानवतोऽप्यभिलषितार्थावाप्तिर्दृश्यते, तथा चान्यैरप्युक्तम्—"क्रियैव फलदा पुंसां, न ज्ञानं फलदं मतम् । यतः स्त्रीभक्ष्यभोगज्ञो, न ज्ञानात् सुखितो भवेत् ॥ १ ॥" तथाऽऽमुष्मिकफलप्राप्त्यर्थिना क्रियैव कर्तव्या, तथा च मुनीन्द्रवचनमप्येवमेव व्यवस्थितं, यत उक्तम्—"चेइय[1]कुलगणसंघे आयरिआणं च पवयण सुए य । सव्वेसुवि तेण कयं तवसंजममुज्जमंतेणं ॥ १ ॥" इतश्चैतदेवमङ्गीकर्तव्यं यस्मात् तीर्थकरगणधरैः क्रियाविकलानां ज्ञानमपि विफलमेवोक्तं, तथा चाऽऽगमः—"[2]सुबहुंपि सुयमहीयं किं काहि चरणविप्पमुक्कस्स ? । अंधस्स जह पलित्ता दीवसयसहस्सकोडीवि ॥ १ ॥"

नयविचार. वि० १

॥४८९॥

---

१ चैत्यकुलगणसंघेषु आचार्ये प्रवचने श्रुते च । सर्वेष्वपि तेन कृतं तपःसंयमे उद्यच्छता ॥ १ ॥ २ सुबह्वपि श्रुतमधीतं किं करिष्यति विप्रमुक्तचरणस्य ? । अन्धस्य यथा प्रदीप्ता दीपशतसहस्रकोट्यपि ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१]
दीप अनुक्रम [२]

दृशिक्रियाविकलत्वात् तस्येत्यभिप्रायः, एवं तावत् क्षायोपशमिकं चारित्रमङ्गीकृत्योक्तं, चारित्रं क्रियेत्यनर्थान्तरं, क्षायिकमप्यङ्गीकृत्य प्रकृष्टफलसाधकत्वं तस्या एव विज्ञेयं, यस्मादर्हतोऽपि भगवतः समुत्पन्नकेवलज्ञानस्यापि न तावन्मुक्त्यवाप्तिः संजायते यावदखिलकर्मेन्धनानलभूता ह्रस्वपञ्चाक्षरोद्गिरणमात्रकालावस्थायिनी सर्वसंवररूपा चारित्रक्रिया नावाप्तेति, तस्मात् क्रियैव प्रधाना ऐहिकामुष्मिकफलप्राप्तिकारणमिति स्थितम्, 'इति जो उवएसो सो नओ नामं'ति 'इति' एवमुक्तेन न्यायेन य उपदेशः क्रियाप्राधान्यख्यापनपरः स नयो नाम, क्रियानय इत्यर्थः, अयं च सम्यक्त्वादौ चतुर्विधे सामायिके देशविरतिसर्वविरतिसामायिकद्वयमेवेच्छति क्रियात्मकत्वादस्य, सम्यक्त्वसामायिकश्रुतसामायिके तु तदर्थमुपादीयमानत्वादप्रधानत्वान्नेच्छति, गुणभूते चेच्छतीति गाथार्थः ॥ १०५४ ॥ उक्तः क्रियानयः, इत्थं ज्ञानक्रियानयस्वरूपं ज्ञात्वाऽविदिततदभिप्रायो विनेयः संशयापन्नः सन्नाह—किमत्र तत्त्वं ?, पक्षद्वयेऽपि युक्तिसम्भवात्, आचार्यः पुनराह—सव्वेसिंपि गाहा, अथवा ज्ञानक्रियानयमतं प्रत्येकमभिधायाधुना स्थितपक्षमुपदर्शयन्नाह—

सव्वेसिंपि नयाणं बहुविहवत्तव्वयं निसामित्ता । तं सव्वनयविसुद्धं जं चरणगुणट्ठिओ साहू ॥१०५५॥

व्याख्या—सर्वेषामपि मूलनयानाम्, अपिशब्दात् तद्भेदानां च 'नयानां' द्रव्यास्तिकादीनां 'बहुविधवक्तव्यतां' सामान्यमेव विशेषा एव उभयमेव वाऽनपेक्षमित्यादिरूपाम् अथवा नामादीनां नयानां कः कं साधुमिच्छतीत्यादिरूपां

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१]

दीप अनुक्रम [२]

आवश्यक-हारिभद्रीया ॥४९०॥

'निशम्य' श्रुत्वा तत् 'सर्वनयविशुद्धं' सर्वनयसम्मतं वचनं यच्चरणगुणस्थितः साधुः, यस्मात् सर्वनया एव भावनिक्षेप-मिच्छन्तीति गाथार्थः ॥१०५५॥ इत्याचार्यहरिभद्रकृतौ शिष्यहितायामावश्यकटीकायां सामायिकाध्ययनं समाप्तम् ॥

नयविचार. वि० १

सामायिकस्य विवृतिं कृत्वा यदवाप्तमिह मया कुशलम् । तेन खलु सर्वलोको लभतां सामायिकं परमम् ॥ १ ॥
यस्माज्जगाद भगवान् सामायिकमेव निरुपमोपायम् । शारीरमानसानेकदुःखनाशस्य मोक्षस्य ॥ २ ॥

ग्रन्थाग्रम् १२३४३ ॥ आवस्सयपुव्वद्धं सम्मत्तं ॥

इति याकिनीमहत्तरासूनुभवविरहश्रीमद्हरिभद्राचार्यविरचितवृत्त्या कलितं सभाष्यनिर्युक्तिकमावश्यकपूर्वार्धं समाप्तम् ॥
॥ सामायिकाध्ययनमयः प्रथमो विभागः समाप्तः ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्तिः

अत्र अध्ययनं -१- 'सामायिकं' परिसमाप्तं

प्रत सूत्रांक [१..]

दीप अनुक्रम [२..]

अथ चतुर्विंशतिस्तवाख्यं द्वितीयमध्ययनम्.

साम्प्रतं सामायिकाध्ययनानन्तरं चतुर्विंशतिस्तवाध्ययनमारभ्यते, इह चाध्ययनोद्देशसूत्रारम्भेषु सर्वेष्वेव कारणाऽभिसम्बन्धौ वाच्याविति वृद्धवादः, यतश्चैवमतः कारणमुच्यते, तच्चेदम्—जात्यादिगुणसम्पत्समन्वितेभ्यो विनेयेभ्यो गुरुरावश्यकश्रुतस्कन्धं प्रयच्छति सूत्रतोऽर्थतश्च, स च अध्ययनसमुदायरूपो वर्तते, यत उक्तम्—'एत्तो[1] एक्केकं पुण, अज्झयणं कित्तइस्सामि' प्रथमाध्ययनं च सामायिकमुपदर्शितम्, इदानीं द्वितीयावयवत्वाद् द्वितीयावयवत्वस्य चाधिकारोपन्यासेन सिद्धिः आचार्यवचनप्रामाण्याद्, उक्तं च—'सावज्जजोगविरई[3] उक्कित्तणे' त्यादि, अतो द्वितीयमुपदर्श्यते[2], यथा हि किल युगपदशक्योपलम्भपुरुषस्य दिदृक्षोः क्रमेणाङ्गावयवानि दर्श्यन्ते एवमत्रापि श्रुतस्कन्धपुरुषस्येति कारणम्, इदमेव चोद्देशसूत्रेष्वपि[4] योजनीयम्, इदमेव सर्वाध्ययनेष्वपि कारणं द्रष्टव्यं, न पुनर्भेदेन वक्ष्याम इत्यलं विस्तरेण। सम्बन्ध उच्यते—अस्य चायमभिसम्बन्धः–इहानन्तराध्ययने सावद्ययोगविरतिलक्षणं सामायिकमुपदिष्टम्, इह तु तदुपदेष्टॄणामर्हतामुत्कीर्तनं कर्तव्यमिति प्रतिपाद्यते, यद्वा सामायिकाध्ययने तदासेवनात्कर्मक्षय[6] उक्तः, यत उक्तं निरुक्तिद्वारे—'सम्मद्दिट्ठि[5] अमोहो सोही सब्भाव दंसणं बोही। अविवज्जओ सुदिट्ठित्ति एवमाई निरुत्ताइं॥ १॥'ति, इहापि चतुर्विंशतिस्तवेऽर्हद्गुणोत्कीर्तनरूपाया भक्तेस्तत्त्वतोऽसावेव प्रतिपाद्यते, वक्ष्यति च—'भत्तीए[7] जिणवराणं खिज्जंती पुव्वसंचिया

१ अतोऽनन्तरमेकैकं पुनरध्ययनं कीर्तयिष्यामि। २ उपदर्श्यते इत्यनेन संबन्धः ३ सावद्ययोगविरतिरुत्कीर्त्तनं ४ अवान्तरावयवभूतेषु ५ सम्यग्दृष्टिरमोहः शोधिः सद्भावो दर्शनं बोधिः। अविपर्ययः सुदृष्टिरिति एवमादीनि निरुक्तानि॥ १॥ ६ कर्मक्षयः, ७ भक्तेर्जिनवराणां क्षीयन्ते पूर्वसंचितानि कर्माणि

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्तिः

- अत्र अध्ययनं -२- 'चतुर्विंशतिः' आरभ्यते

प्रत सूत्रांक [१..]

दीप अनुक्रम [२..]

आवश्यक हारिभद्रीया ॥४९१॥

कम्म'त्तीत्यादि, एवमनेन सम्बन्धेनाऽऽयातस्य सतोऽस्य चतुर्विंशतिस्तवाध्ययनस्य चत्वार्यनुयोगद्वाराणि सप्रपञ्चं वक्तव्यानि, तत्र नामनिष्पन्ने निक्षेपे चतुर्विंशतिस्तवाध्ययनमिति । इह चतुर्विंशतिस्तवाध्ययनशब्दाः प्ररूप्याः, तथा चाह—

चउवीसइत्थयस्स उ णिक्खेवो होइ णामणिप्फण्णो । चउवीसइस्स छक्को थयस्स उ चउव्विहो होइ ॥१०५६॥

व्याख्या—चतुर्विंशतिस्तवस्य तु निक्षेपो भवति नामनिष्पन्नः, क इत्यन्यस्याश्रुतत्वादयमेव यदुत—चतुर्विंशतिस्तव इति, तुशब्दस्य विशेषणार्थत्वादिदमित्थमवसेयं, तत्रापि चतुर्विंशतेः षट्कः स्तवस्य चतुर्विधो भवति, तुशब्दादध्ययनस्य चेति गाथासमासार्थः ॥१०५६॥ अवयवार्थं तु भाष्यकार एव वक्ष्यति, तत्राऽऽद्यावयवमधिकृत्य निक्षेपोपदर्शनायाह—

नामं ठवणा दविए खित्ते काले तहेव भावे अ । चउवीसइस्स एसो निक्खेवो छव्विहो होइ ॥१९०॥ (भा०)

व्याख्या—तत्र नामचतुर्विंशतिर्जीवादेश्चतुर्विंशतिरिति नाम चतुर्विंशतिशब्दो वा, स्थापनाचतुर्विंशति चतुर्विंशतीनां केशाञ्चित्स्थापनेति, द्रव्यचतुर्विंशति चतुर्विंशतिर्द्रव्याणि सचित्ताचित्तमिश्रभेदभिन्नानि, सचित्तानि द्विपदचतुष्प(दाप)दभेदभिन्नानि,अचित्तानि कार्षापणादीनि, मिश्राणि द्विपदादीन्येव कटकाद्यलङ्कृतानि, क्षेत्रचतुर्विंशतिर्विवक्षया चतुर्विंशतिः क्षेत्राणि भरतादीनि क्षेत्रप्रदेशा वा चतुर्विंशतिप्रदेशावगाढं वा द्रव्यमिति,कालचतुर्विंशतिः चतुर्विंशतिसमयादय इति एतावत्कालस्थिति वा द्रव्यमिति, भावचतुर्विंशतिः चतुर्विंशतिभावसंयोगाश्चतुर्विंशतिगुणकृष्णं वा द्रव्यमिति, चतुर्विंशतेरेष निक्षेपः 'षड्विधो भवति' षट्प्रकारो भवति, इह च सचित्तद्विपदमनुष्यचतुर्विंशत्याऽधिकार इति गाथार्थः ॥ १९० ॥ उक्ता चतुर्विंशतिरिति, साम्प्रतं स्तवः प्रतिपाद्यते, तत्र—

२ चतुर्विंशतिस्तवा-चतुर्विंशतिनि०

॥४९१॥

'चतुर्विंशति' शब्दस्य षड् निक्षेपाः

प्रत सूत्रांक [१..]

दीप अनुक्रम [२..]

नामं ठवणा दविए भावे अ थयस्स होइ निक्खेवो । दव्वथओ पुप्फाई संतगुणुक्कित्तणा भावे ॥१९१॥(भा०)

व्याख्या—तत्र 'नामे'ति नामस्तवः 'स्थापने'ति स्थापनास्तवः 'द्रव्य' इति द्रव्यविषयो द्रव्यस्तवः, 'भावे चे'ति भावविषयश्च भावस्तव इत्यर्थः, इत्थं स्तवस्य भवति 'निक्षेपो' न्यासः, तत्र क्षुण्णत्वान्नामस्थापने अनादृत्य द्रव्यस्तवभावस्तवस्वरूपमेवाह—'द्रव्यस्तवः पुष्पादि'रिति, आदिशब्दाद् गन्धधूपादिपरिग्रहः, कारणे कार्योपचाराच्चैवमाह, अन्यथा द्रव्यस्तवः पुष्पादिभिः समभ्यर्चनमिति, तथा 'सद्गुणोत्कीर्तना भाव' इति सन्तश्च ते गुणाश्च सद्गुणाः, अनेनासद्गुणोत्कीर्तनानिषेधमाह, करणे च मृषावाद इति, सद्गुणानामुत्कीर्तना उत्–प्राबल्येन परया भक्त्या कीर्तना–संशब्दना यथा–"प्रकाशितं यथैकेन, त्वया सम्यग् जगत्त्रयम् । समग्रैरपि नो नाथ !, परतीर्थाधिपैस्तथा ॥ १ ॥ विद्योतयति वा लोकं, यथैकोऽपि निशाकरः । समुद्गतः समग्रोऽपि, किं तथा तारकागणः ? ॥ २ ॥" इत्यादिलक्षणो, 'भाव' इति द्वारपरामर्शो भावस्तव इति गाथार्थः॥ १९१ ॥ इह चालितप्रतिष्ठापितोऽर्थः सम्यग्ज्ञानायालमिति, चालनां च कदाचिद्विनेयः करोति कदाचित्स्वयमेव गुरुरिति, उक्तं च–'कत्थइ पुच्छइ सीसो कहिंचऽपुट्ठा कहेंति आयरिया'इत्यादि, यतश्चात्र वित्तपरित्यागादिना द्रव्यस्तव एव ज्यायान् भविष्यतीत्यल्पबुद्धीनामाशङ्कासम्भव इत्यतस्तद्व्युदासार्थं तदनुवादपुरस्सरमाह—

दव्वथओ भावथओ दव्वथओ बहुगुणत्ति बुद्धि सिआ । अनिउणमइवयणमिणं छज्जीवहिअं जिणा बिंति ॥१९२॥

व्याख्या—द्रव्यस्तवो भावस्तव इत्यत्र द्रव्यस्तवो 'बहुगुणः' प्रभूततरगुण 'इति' एवं बुद्धिः स्याद्, एवं चेत् मन्यसे

१ कश्चित्पृच्छति शिष्यः कुत्रचिदपृष्टाः कथयन्त्याचार्याः

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्ति:

प्रत सूत्रांक [१..]

दीप अनुक्रम [२..]

आवश्यक-हारिभ-द्रीया ॥४९२॥

२ चतुर्विंशतिस्तवास्तवनिक्षेपः

इत्यर्थः, तथाहि–किलास्मिन् क्रियमाणे वित्तपरित्यागाच्छुभ एवाध्यवसायस्तीर्थस्य चोन्नतिकरणं दृष्ट्वा च तं क्रियमाणमन्येऽपि प्रतिबुद्ध्यन्त इति स्वपरानुग्रहः, सर्वमिदं सप्रतिपक्षमिति चेतसि निधाय 'द्रव्यस्तवो बहुगुण' इत्यस्यासारताख्यापनायाऽऽह–'अनिपुणमतिवचनमिद'मिति, अनिपुणमतेर्वचनं अनिपुणमतिवचनम्, 'इद'मिति यद् द्रव्यस्तवो बहुगुण इति, किमित्यत आह–'षड्जीवहितं जिना ब्रुवते' षण्णां–पृथिवीकायादीनां हितं जिनाः–तीर्थकरा ब्रुवते, प्रधानं मोक्षसाधनमिति गम्यते ॥ किं च षड्जीवहितमित्यत आह—

छज्जीवकायसंजमु दव्वथए सो विरुज्झई कसिणो। तो कसिणसंजमविऊ पुप्फाईअं न इच्छंति ॥१९३॥(भा०)

व्याख्या—'षड्जीवकायसंयम' इति षण्णां जीवनिकायानां पृथिव्यादिलक्षणानां संयमः–सङ्घट्टनादिपरित्यागः षड्जीवकायसंयमः, असौ हितं, यदि नामैवं ततः किमित्यत आह–'द्रव्यस्तवे' पुष्पादिसमभ्यर्चनलक्षणे 'स' षड्जीवकायसंयमः, किं ?–'विरुध्यते' न सम्यक् संपद्यते, 'कृत्स्नः' सम्पूर्ण इति, पुष्पादिसंलुञ्चनसङ्घट्टनादिना कृत्स्नसंयमानुपपत्तेः, यतश्चैवं 'ततः' तस्मात् 'कृत्स्नसंयमविद्वांस' इति कृत्स्नसंयमप्रधाना विद्वांसस्तत्त्वतः साधव उच्यन्ते, कृत्स्नसंयमग्रहणमकृत्स्नसंयमविदुषां श्रावकाणां व्यपोहार्थं, ते किम् ?, अत आह–'पुष्पादिकं' द्रव्यस्तवं 'नेच्छन्ति' न बहु मन्यन्ते, यच्चोक्तं–'द्रव्यस्तवे क्रियमाणे वित्तपरित्यागाच्छुभ एवाध्यवसाय' इत्यादि, तदपि यत्किञ्चिद्, व्यभिचारात्, कस्यचिदल्पसत्त्वस्याविवेकिनो वा शुभाध्यवसायानुपपत्तेः, दृश्यते च कीर्त्याद्यर्थमपि सत्त्वानां द्रव्यस्तवे प्रवृत्तिरिति, शुभाध्यवसायभावेऽपि तस्यैव भावस्तवत्वादितरस्य च तत्कारणत्वेनाप्रधानत्वमेव, 'फलप्रधानास्समारम्भा' इति न्यायात्, भावस्तव एव

॥४९२॥

प्रत सूत्रांक [१..]

दीप अनुक्रम [२..]

च सति तत्त्वतस्तीर्थस्योन्नतिकरणं, भावस्तव एव तस्य सम्यगमरादिभिरपि पूज्यत्वमेनं (त्वात्तमेव च) दृष्ट्वा क्रियमाणमन्येऽपि सुतरां प्रतिबुध्यन्ते शिष्टा इति स्वपरानुग्रहोऽपीहैवेति गाथार्थः ॥ १९३ ॥ आह—यद्येवं किमयं द्रव्यस्तव एकान्तत एव हेयो वर्तते ? आहोस्विदुपादेयोऽपि ?, उच्यते, साधूनां हेय एव, श्रावकाणामुपादेयोऽपि, तथा चाह भाष्यकारः—

अकसिणपवत्तगाणं विरयाविरयाण एस खलु जुत्तो । संसारपयणुकरणो दव्वथए कूवदिट्ठंतो ॥१९४॥ (भा०)

व्याख्या—अकृत्स्नं प्रवर्तयतीति संयममिति सामर्थ्याद्गम्यते अकृत्स्नप्रवर्तकास्तेषां, 'विरताविरतानाम्' इति श्रावकाणाम् 'एष खलु युक्तः' एष–द्रव्यस्तवः खलुशब्दस्यावधारणार्थत्वात् युक्त एव, किम्भूतोऽयमित्याह–'संसारप्रतनुकरणः' संसारक्षयकारक इत्यर्थः, द्रव्यस्तवः, आह—यः प्रकृत्यैवासुन्दरः स कथं श्रावकाणामपि युक्त इत्यत्र कूपदृष्टान्त इति, [१]जहा णवणयराइसन्निवेसे केइ पभूयजलाभावओ तण्हाइपरिगया तदपनोदार्थं कूपं खणंति, तेसिं च जइवि तण्हादिया वड्ढंति मट्टिकाकद्दमाईहि य मलिणिज्जन्ति तहावि तदुब्भवेणं चेव पाणिएणं तेसिं ते तण्हाइया सो य मलो पुव्वओ य फिट्टइ, सेसकालं च ते तदण्णे य लोगा सुहभागिणो हवंति । एवं दव्वथए जइवि असंजमो तहावि तओ चेव सा परिणामसुद्धी हवइ जाए असंजमोवज्जियं अण्णं च णिरवसेसं खवेइत्ति । तम्हा विरयाविरएहिं एस दव्वत्थओ कायव्वो,

१ यथा नवनगरादिसन्निवेशे केचित्प्रभूतजलाभावात् तृष्णादिपरिगतास्तदपनोदार्थं कूपं खनन्ति, तेषां च यद्यपि तृष्णादिका वर्धन्ते मृत्तिकाकर्दमादिभिश्च मलिनीयन्ते (वस्त्रादीनि) तथापि तदुद्भवेनैव पानीयेन तेषां ते तृष्णादिकाः स च मलः पूर्वकश्च स्फिटति, शेषकालं च ते तदन्ये च लोकाः सुखभागिनो भवन्ति । एवं द्रव्यस्तवे यद्यपि असंयमस्तथापि तत एव सा परिणामशुद्धिर्भवति ययाऽसंयमोपार्जितं अन्यच्च निरवशेषं क्षपयति । तस्माद्विरताविरतैरेष द्रव्यस्तवः कर्त्तव्यः, * भावस्तववत एव

प्रत सूत्रांक [१..]

दीप अनुक्रम [२..]

आवश्यक-हारिभद्रीया ॥४९३॥

२ चतुर्विंशतिस्तवाध्यस्तवाधिकारः

सुभाणुबंधी पभूयतरणिज्जराफलो यत्ति काऊणमिति गाथार्थः ॥ १९४ ॥ उक्तः स्तवः, अत्रान्तरे अध्ययनशब्दार्थो निरूपणीयः, स चानुयोगद्वारेषु न्यक्षेण निरूपित एवेति नेह प्रतन्यते । उक्तो नामनिष्पन्नो निक्षेपः, इदानीं सूत्रालापकनिष्पन्नस्य निक्षेपस्यावसरः, स च सूत्रे सति भवति, सूत्रं चानुगमे, स च द्विधा–सूत्रानुगमो निर्युक्त्यनुगमश्च, तत्र निर्युक्त्यनुगमस्त्रिविधः, तद्यथा–निक्षेपनिर्युक्त्यनुगम उपोद्घातनिर्युक्त्यनुगमः सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्त्यनुगमश्चेति, तत्र निक्षेपनिर्युक्त्यनुगमोऽनुगतो वक्ष्यति च, उपोद्घातनिर्युक्त्यनुगमस्त्वाभ्यां द्वारगाथाभ्यामवगन्तव्यः, तद्यथा–‘उद्देसे निद्देसे’इत्यादि, ‘किं कइविहं’ मित्यादि । सूत्रस्पार्शिकनिर्युक्त्यनुगमस्तु सूत्रे सति भवति, सूत्रं च सूत्रानुगम इति स चावसरप्राप्त एव, युगपच्च सूत्रादयो व्रजन्ति, तथा चोक्तम्–“सुत्तं सुत्ताणुगमो सुत्तालावयकओ य णिक्खेवो । सुत्तप्फासियणिज्जुत्ति णया य समगं तु वच्चंति ॥ १ ॥” विषयविभागः पुनरमीषामयं वेदितव्यः–“होइ कयत्थो वोत्तुं सपयच्छेयं सुयं सुयाणुगमो । सुत्तालावयणासो णामाइण्णासविणिओगं ॥ १ ॥ सुत्तप्फासियणिज्जुत्तिणिओगो सेसओ पयत्थाई । पायं सोच्चिय णेगमणयाइमयगोयरो भणिओ ॥ २ ॥” अत्राऽऽक्षेपपरिहारा न्यक्षेण सामायिकाध्ययने निरूपिता एव नेह वितन्यत इत्यलं विस्तरेण, तावद् यावत्सूत्रानुगमेऽस्खलितादिगुणोपेतं सूत्रमुच्चारणीयं, तच्चेदं सूत्रम्—

१ शुभपरिणामानुबन्धी प्रभूततरनिर्जराफलश्चेतिकृत्वा । २ सूत्रं सूत्रानुगमः सूत्रालापककृतश्च निक्षेपः । सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्तिः नयाश्च युगपदेव व्रजन्ति ॥ १ ॥ ३ भवति कृतार्थं उक्त्वा सपदच्छेदं सूत्रं सूत्रानुगमः । सूत्रालापकन्यासो नामादिन्यासविनियोगम् ॥ १ ॥ सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्तिनियोगः शेषः पदार्थादिः । प्रायः स एव नैगमनयादिमतगोचरो भणितः ॥ २ ॥

॥४९३॥

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक ||१||

दीप अनुक्रम [३]

लोगस्सुज्जोयगरे, धम्मतित्थयरे जिणे । अरिहन्ते कित्तइस्सं, चउवीसंपि केवली ॥ १ ॥ (सूत्रम्)

व्याख्या अस्य, तल्लक्षणं चेदं–'संहिता चे'त्यादि पूर्ववत्, तत्रास्खलितपदोच्चारणं संहिता, यद्वा परः संनिकर्ष इति, सा चेयं–'लोगस्सुज्जोयगरे'इत्यादि पाठः । अधुना पदानि, लोकस्य उद्योतकरान् धर्मतीर्थकरान् जिनान् अर्हतः कीर्तयिष्यामि चतुर्विंशतिमपि केवलिनः । अधुना पदार्थः–लोक्यत इति लोकः, लोक्यते–प्रमाणेन दृश्यत इति भावः, अयं चेह तावत्पञ्चास्तिकायात्मको गृह्यते, तस्य लोकस्य किं ?–उद्योतकरणशीला उद्योतकरास्तान्, केवलालोकेन तत्पूर्वकप्रवचनदीपेन वा सर्वलोकप्रकाशकरणशीलानित्यर्थः, तथा दुर्गतौ प्रपतन्तमात्मानं धारयतीति धर्मः, उक्तं च–"दुर्गतिप्रसृतान् जीवा" नित्यादि, तथा तीर्यतेऽनेनेति तीर्थं धर्म एव धर्मप्रधानं वा तीर्थं धर्मतीर्थं तत्करणशीलाः धर्मतीर्थकरास्तान्, तथा रागद्वेषकषायेन्द्रियपरीषहोपसर्गाष्टप्रकारकर्मजेतृत्वाज्जिनास्तान्, तथा अशोकाद्यष्टमहाप्रातिहार्यादिरूपां पूजामर्हन्तीत्यर्हन्तस्तानर्हतः, कीर्तयिष्यामीति स्वनामभिः स्तोष्य इत्यर्थः, चतुर्विंशतिरिति सङ्ख्या, अपिशब्दो भावतस्तदन्यसमुच्चयार्थः, केवलज्ञानमेषां विद्यत इति केवलिनस्तान् केवलिन इति । उक्तः पदार्थः, पदविग्रहोऽपि यथावसरं यानि समासभाञ्जि पदानि तेषु दर्शित एव । साम्प्रतं चालनावसरः, तत्र तिष्ठतु तावत्सा, सूत्रस्पर्शिका निर्युक्तिरेवोच्यते, स्वस्थानत्वाद्, उक्तं च–"[1]अक्खलियसंहियाई वक्खाणचउक्कए दरिसियंमि । सुत्तप्फासियणिज्जुत्तिवित्थरत्थो इमो होइ ॥ १ ॥" चालनामपि चात्रैव वक्ष्यामः, तत्र लोकस्योद्योतकरानिति यदुक्तं तत्र लोकनिरूपणायाऽऽह—

१ अस्खलितसंहितादौ व्याख्यानचतुष्के दर्शिते । सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्तिविस्तारार्थोऽयं भवति ॥ १ ॥

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्ति:

मूलसूत्र 'लोगस्स' स्य आरम्भः, तस्य प्रथम-गाथाया: पद-व्याख्या:

प्रत सूत्रांक ||१||

दीप अनुक्रम [३]

आवश्यक-हारिभ-द्रीया ॥४९४॥

२ चतुर्विंशतिस्तवाध्यलोक-निक्षेपः

णामं १ ठवणा २ दविए ३ खित्ते ४ काले ५ भवे अ ६ भावे अ ७ ।
पज्जवलोगे अ ८ तहा अट्ठविहो लोगणिक्खेवो ॥ १०५७ ॥

व्याख्या—नामलोकः स्थापनालोकः द्रव्यलोकः क्षेत्रलोकः काललोकः भवलोको भावलोकश्च पर्यायलोकश्च तथा, एवमष्टविधो लोकनिक्षेप इति गाथासमासार्थः॥ व्यासार्थं तु भाष्यकार एव वक्ष्यति, तत्र नामस्थापने अनादृत्य द्रव्यलोकमभिधित्सुराह—

जीवमजीवे रूवमरूवी सपएसमप्पएसे अ । जाणाहि दव्वलोगं णिच्चमणिच्चं च जं दव्वं ॥ १९५ ॥ (भा०)

व्याख्या—जीवाजीवावित्यत्रानुस्वारोऽलाक्षणिकः, तत्र सुखदुःखज्ञानोपयोगलक्षणो जीवः, विपरीतस्त्वजीवः, एतौ च द्विभेदौ—रूप्यरूपिभेदाद्, आह च—'रूप्यरूपिणावि'ति, तत्रानादिकर्मसन्तानपरिगता रूपिणः—संसारिणः, अरूपिणस्तु कर्मरहिताः सिद्धा इति, अजीवास्त्वरूपिणो धर्माधर्माकाशास्तिकायाः रूपिणस्तु परमाण्वादय इति, एतौ च जीवाजीवावोघतः सप्रदेशाप्रदेशाववगन्तव्यौ, तथा चाह—'सप्रदेशाप्रदेशावि'ति, तत्र सामान्यविशेषरूपत्वात्परमाणुव्यतिरेकेण सप्रदेशाप्रदेशत्वं सकलास्तिकायानामेव भावनीयं, परमाणवस्त्वप्रदेशा एव, अन्ये तु व्याचक्षते—जीवः किल कालादेशेन नियमात् सप्रदेशः, लब्ध्यादेशेन तु सप्रदेशो वाऽप्रदेशो वेति, एवं धर्मास्तिकायादिष्वपि त्रिष्वस्तिकायेषु परापरनिमित्तं पक्षद्वयं वाच्यं, पुद्गलास्तिकायस्तु द्रव्याद्यपेक्षया चिन्त्यः, यथा—द्रव्यतः परमाणुरप्रदेशो द्व्यणुकादयः सप्रदेशाः, क्षेत्रत एकप्रदेशावगाढोऽप्रदेशो द्व्यादिप्रदेशावगाढाः सप्रदेशाः, एवं कालतोऽप्येकानेकसमयस्थितिर्भावतोऽप्येकानेकगुणकृष्णादिरिति कृतं विस्तरेण, प्रकृतमुच्यते—इदमेवम्भूतं जीवाजीवव्रातं जानीहि द्रव्यलोकं, द्रव्यमेव लोको द्रव्यलोक इतिकृत्वा, ॥४९४॥

'लोक' शब्दस्य अष्टविध निक्षेपाः

प्रत सूत्रांक ||१||

दीप अनुक्रम [३]

अस्यैव शेषधर्मोपदर्शनायाऽऽह–नित्यानित्यं च यद् द्रव्यं, चशब्दादभिलाप्यानभिलाप्यादिसमुच्चय इति गाथार्थः ॥१९५॥
साम्प्रतं जीवाजीवयोर्नित्यानित्यतामेवोपदर्शयन्नाह—

गइ १ सिद्धा २ भविआया ३ अभविअ ४–१ पुग्गल १ अणागयद्धा य २।
तीअद्ध ३ तिन्नि काया ४–२ जीवा १ जीव २ ठिई चउद्दा ॥ १९६ ॥ (भाष्यम्)

व्याख्या—अस्याः सामायिकवद् व्याख्या कार्येति, भङ्गकास्तु सादिसपर्यवसानाः साद्यपर्यवसानाः अनादिसपर्यवसाना अनाद्यपर्यवसानाः, एवमजीवेषु जीवाजीवयोरष्टौ भङ्गाः। द्वारम् ॥ अधुना क्षेत्रलोकः प्रतिपाद्यते, तत्र—

आगासस्स पएसा उड्ढं च अहे अ तिरियलोए अ। जाणाहि खित्तलोगं अणंत जिणदेसिअं सम्मं ॥१९७॥(भा०)

व्याख्या—आकाशस्य प्रदेशाः–प्रकृष्टा देशाः प्रदेशास्तान् 'ऊर्ध्वं च' इत्यूर्ध्वलोके च 'अधश्च' इत्यधोलोके च तिर्यग्लोके च, किं?–जानीहि क्षेत्रलोकं, क्षेत्रमेव लोकः क्षेत्रलोक इतिकृत्वा, लोक्यत इति च लोक इति, ऊर्ध्वादिलोकविभागस्तु सुज्ञेयः, 'अनन्त' मित्यलोकाकाशप्रदेशापेक्षया चानन्तम्, अनुस्वारलोपोऽत्र द्रष्टव्यः, 'जिनदेशितम्' इति जिनकथितं 'सम्यक्' शोभनेन विधिनेति गाथार्थः ॥ १९७ ॥ साम्प्रतं काललोकप्रतिपादनायाह—

समयावलिअमुहुत्ता दिवसमहोरत्तपक्खमासा य। संवच्छरजुगपलिआ सागरओसप्पिपरिअट्टा ॥१९८॥(भा०)

व्याख्या—इह परमनिकृष्टः कालः समयोऽभिधीयते असङ्ख्येयसमयमाना त्वावलिका द्विघटिको मुहूर्तः षोडश मुहूर्ता दिवसः द्वात्रिंशदहोरात्रं पञ्चदशाहोरात्राणि पक्षः द्वौ पक्षौ मासः द्वादश मासाः संवत्सरमिति पञ्चसंवत्सरं युगं पल्यो-

प्रत
सूत्रांक
||१||

दीप
अनुक्रम
[३]

पममुद्धारादिभेदं यथाऽनुयोगद्वारेषु तथाऽवसेयं, सागरोपमं तद्वदेव, दशसागरोपमकोटाकोटिपरिमाणोत्सर्पिणी, एवमवसर्पिण्यपि द्रष्टव्या, 'परावर्तः' पुद्गलपरावर्तः, स चानन्तोत्सर्पिण्यवसर्पिणीप्रमाणो द्रव्यादिभेदः, तेऽनन्ता अतीतकालः अनन्त एवैष्यन्निति गाथार्थः ॥ १९८ ॥ उक्तः काललोकः, लोकयोजना पूर्ववद् । अधुना भावलोकमभिधित्सुराह—

णेरइअदेवमणुआ तिरिक्खजोणीगया य जे सत्ता । तंमि भवे वट्टंता भवलोगं तं विआणाहि॥१९९॥ (भा०)

व्याख्या—नारकदेवमनुष्यास्तथा तिर्यग्योनिगताश्च ये 'सत्त्वाः' प्राणिनः 'तंमि'त्ति तस्मिन् भवे वर्तमाना यदनुभावमनुभवन्ति भवलोकं तं विजानीहि, लोकयोजना पूर्ववदिति गाथार्थः ॥ १९९ ॥ साम्प्रतं भावलोकमुपदर्शयति—

ओदइए १ ओवसमिए २ खइए अ ३ तहा खओवसमिए अ ४ ।
परिणामि ५ सन्निवाए अ ६ छव्विहो भावलोगो उ ॥ २०० ॥ (भाष्यम्)

व्याख्या—उदयेन निर्वृत्त औदयिकः, कर्मण इति गम्यते, तथोपशमेन निर्वृत्त औपशमिकः, क्षयेण निर्वृत्तः क्षायिकः, एवं शेषेष्वपि वाच्यं, ततश्च क्षायिकश्च तथा क्षायोपशमिकश्च पारिणामिकश्च सान्निपातिकश्च, एवं षड्विधो भावलोकस्तु, तत्र सान्निपातिक ओघतोऽनेकभेदोऽवसेयः, अविरुद्धस्तु पञ्चदशभेद इति,उक्तं च–"ओदइअखओवसमे परिणामेक्केक्को (क्कु) गइचउक्केऽवि । खयजोगेणवि चउरो तदभावे उवसमेणंपि ॥ १ ॥ उवसमसेढी एक्को केवलिणोऽवि य तहेव सिद्धस्स । अविरुद्धसन्निवाइयभेया एमेव पण्णरस ॥ २ ॥"त्ति गाथार्थः ॥ २०० ॥

१ औदयिकः क्षायोपशमिकः पारिणामिक एकैको गतिचतुष्केऽपि । क्षययोगेनापि चत्वारः तदभावे उपशमेनापि ॥ १ ॥ उपशमश्रेणावेकः केवलिनोऽपि च तथैव सिद्धस्य । अविरुद्धसान्निपातिकभेदा एवमेव पञ्चदश ॥ २ ॥

प्रत सूत्रांक ||१||

दीप अनुक्रम [३]

तिव्वो रागो अ दोसो अ, उइन्ना जस्स जंतुणो। जाणाहि भावलोअं, अणंतजिणदेसिअं सम्मं ॥ २०१ ॥ (भा०)

व्याख्या—'तीव्र' उत्कटः रागश्च द्वेषश्च, तत्राभिष्वङ्गलक्षणो रागः अप्रीतिलक्षणो द्वेष इति, एतावुदीर्णौ 'यस्य जन्तोः' यस्य प्राणिन इत्यर्थः, तं प्राणिनं तेन भावेन लोक्यत्वाज्जानीहि भावलोकमनन्तजिनदेशितम्–एकवाक्यतयाऽनन्तजिनकथितं 'सम्यग्' इति क्रियाविशेषणम्, अयं गाथार्थः ॥ २०१ ॥ द्वारं, साम्प्रतं पर्यायलोक उच्यते, तत्रौघतः पर्याया धर्मा उच्यन्ते, इह तु किल नैगमनयदर्शनं मूढनयदर्शनं वाऽधिकृत्य चतुर्विधं पर्यायलोकमाह—

दव्वगुण १ खित्तपज्जव २ भवाणुभावे अ ३ भावपरिणामे ४। जाण चउव्विहमेअं, पज्जवलोगं समासेणं २०२ (भा०)

व्याख्या—द्रव्यस्य गुणाः–रूपादयः, तथा क्षेत्रस्य पर्यायाः–अगुरुलघवः भरतादिभेदा एव चान्ये, भवस्य च नारकादेरनुभावः–तीव्रतमदुःखादिः, यथोक्तम्–"अच्छिणिमिलीयमेत्तं णत्थि सुहं दुक्खमेव अणुबंधं। णरए णेरइआणं अहोणिसिं पच्चमाणाणं ॥ १ ॥ असुभा उव्वियणिज्जा सद्दरसा रूवगंधफासा य। णरए णेरइआणं दुक्कयकम्मोवलित्ताणं ॥ २ ॥" इत्यादि, एवं शेषानुभावोऽपि वाच्यः, तथा भावस्य जीवाजीवसम्बन्धिनः परिणामस्तेन तेन अज्ञानाद् ज्ञानं नीलाल्लोहितमित्यादिप्रकारेण भवनमित्यर्थः, 'जानीहि' अवबुध्यस्व चतुर्विधमेनमोघतः पर्यायलोकं 'समासेन' संक्षेपेणेति गाथार्थः ॥ २०२ ॥ तत्र यदुक्तं द्रव्यस्य गुणा इत्यादि तदुपदर्शनेन निगमयन्नाह—

१ अक्षिनिमीलनमात्रं नास्ति सुखं दुःखमेवानुबद्धम्। नरके नैरयिकाणामहर्निशं पच्यमानानाम् ॥ १ ॥ अशुभा उद्वेजनीयाः शब्दरसा रूपगन्धस्पर्शाश्च। नरके नैरयिकाणां दुष्कृतकर्मोपलिप्तानाम् ॥ २ ॥

प्रत सूत्रांक ||१||

दीप अनुक्रम [३]

आवश्यक-हारिभद्रीया ||४९६||

२ चतुर्विंशतिस्तवाध्यलोकनिक्षेपः

वन्नरसगंधसंठाणफासट्ठाणगइवन्नभेए अ। परिणामे अ बहुविहे पज्जवलोगं विआणाहि ॥ २०३ ॥ (भा०)

व्याख्या—वर्णरसगन्धसंस्थानस्पर्शस्थानगतिवर्णभेदाश्च, चशब्दाद् रसादिभेदपरिग्रहः, अयमत्र भावार्थः—वर्णादयः सभेदा गृह्यन्ते, तत्र वर्णः कृष्णादिभेदात् पञ्चधा, रसोऽपि तिक्तादिभेदात्पञ्चधा, गन्धः सुरभिरित्यादिभेदाद् द्विधा, संस्थानं परिमण्डलादिभेदात्पञ्चधैव, स्पर्शः कर्कशादिभेदादष्टधा, स्थानमवगाहनालक्षणं तदाश्रयभेदादनेकधा, गतिः स्पर्शवद्गतिरित्यादिभेदा द्विधा, चशब्द उक्तार्थ एव अथवा कृष्णादिवर्णादीनां स्वभेदापेक्षया एकगुणकृष्णाद्यनेकभेदोपसङ्ग्रहार्थ इति, अनेन किल द्रव्यगुणा इत्येतद्व्याख्यातं। परिणामांश्च बहुविधानित्यनेन तु चरमद्वारं, शेषं द्वारद्वयं स्वयमेव भावनीयं, तच्च भावितमेवेत्यक्षरगमनिका। भावार्थस्त्वयम्—परिणामांश्च बहुविधान् जीवाजीवभावगोचरान्, किं?—पर्यायलोकं विजानीहि इति गाथार्थः ॥ २०३ ॥ अक्षरयोजना पूर्ववदिति द्वारं, साम्प्रतं लोकपर्यायशब्दान्निरूपयन्नाह—

आलुक्कइ अ पलुक्कइ लुक्कइ संलुक्कई अ एगट्ठा। लोगो अट्ठविहो खलु तेणेसो वुच्चई लोगो ॥ १०५८ ॥

व्याख्या—आलोक्यत इत्यालोकः, प्रलोक्यत इति प्रलोकः, लोक्यत इति लोकः, संलोक्यत इति च संलोकः, एते एकार्थिकाः शब्दाः, लोकः अष्टविधः खल्वित्यत्र आलोक्यत इत्यादि योजनीयम्, अत एवाऽऽह—तेनैष उच्यते लोको येनाऽऽलोक्यत इत्यादि भावनीयं, गाथार्थः ॥ १०५८ ॥ व्याख्यातो लोकः, इदानीमुद्योत उच्यते, तत्राह—

दुविहो खलु उज्जोओ नायव्वो दव्वभावसंजुत्तो। अग्गी दव्वुज्जोओ चंदो सूरो मणी विज्जू ॥ १०५९ ॥ ||४९६||

व्याख्या—'द्विविधः' द्विप्रकारः खलूद्योतः, खलुशब्दो मूलभेदापेक्षया न तु व्यक्त्यपेक्षयेति विशेषणार्थः, उद्योत्यते-

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्तिः

'उद्योत' पदस्य व्याख्या

प्रत सूत्रांक ||१||
दीप अनुक्रम [३]

प्रकाश्यतेऽनेनेत्युद्योतः, 'ज्ञातव्यः' विज्ञेयो, द्रव्यभावसंयुक्त इति–द्रव्योद्योतो भावोद्योतश्चेत्यर्थः, तत्राग्निर्द्रव्योद्योतः घटाद्युद्योतनेऽपि तद्गतायाः सम्यक्प्रतिपत्तेरभावात्सकलवस्तुधर्मानुद्योतनाच्च, न हि धर्मास्तिकायादयः सदसन्नित्यानित्याद्यनन्तधर्मात्मकस्य च वस्तुनः सर्वे एव धर्मा अग्निना उद्योत्यन्त इत्यत्र बहु वक्तव्यं तत्तु नोच्यते ग्रन्थविस्तरभयादिति, ततश्च स्थितमिदम्–अग्निर्द्रव्योद्योतः, तथा चन्द्रः सूर्यो मणिर्विद्युदिति, तत्र मणिः–चन्द्रकान्तादिलक्षण परिगृह्यत इति गाथार्थः ॥ १०५९ ॥

नाणं भावुज्जोओ जह भणियं सव्वभावदंसीहिं । तस्स उवओगकरणे भावुज्जोअं विआणाहि ॥ १०६० ॥

व्याख्या—ज्ञायतेऽनेन यथावस्थितं वस्त्विति ज्ञानं तज्ज्ञानं भावोद्योतः, घटाद्युद्योतनेन तद्गतायाः सम्यक्प्रतिपत्तेर्विश्वप्रतिपत्तेश्च भावात्, तस्य तदात्मकत्वादेवेति भावना, एतावता चाविशेषेणैव ज्ञानं भावोद्योत इति प्राप्तम्, अत आह–यथा भणितं सर्वभावदर्शिभिस्तथा यज्ज्ञानं, सम्यग्ज्ञानमित्यर्थः, पाठान्तरं वा 'यद्भणितं सर्वभावदर्शिभि'रिति, तदपि नाविशेषेणोद्योतः, किन्तु तस्य–ज्ञानस्योपयोगकरणे सति, किं?, भावोद्योतं विजानीहि, नान्यदा, तदैव तस्य वस्तुतः ज्ञानत्वसिद्धेरिति गाथार्थः ॥ १०६० ॥ इत्थमुद्योतस्वरूपमभिधाय साम्प्रतं येनोद्योतेन लोकस्योद्योतकरा जिनास्तेनैव युक्तानुपदर्शयन्नाह—

लोगस्सुज्जोअगरा दव्वुज्जोएण न हु जिणा हुंति । भावुज्जोअगरा पुण हुंति जिणवरा चउव्वीसं ॥ १०६१ ॥

* न ह्यग्निः स्वं जानाति नवा नियमेन सम्यक्प्रतिपत्तिर्द्रष्टॄणां सर्वपर्यायाणमप्रकाशात् स्थूलद्रव्यपर्यायप्रकाशनाद्वा

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक ||१||

दीप अनुक्रम [३]

आवश्यक हारिभद्रीया ॥४९७॥

२ चतुर्विंशतिस्तवाध्यउद्योतनिक्षेपः

व्याख्या—लोकस्योद्योतकरा द्रव्योद्योतेन नैव जिना भवन्ति, तीर्थकरनामानुकर्मोदयतोऽतुलसत्त्वार्थकरणात् भावोद्योतकराः पुनर्भवन्ति जिनवराश्चतुर्विंशतिरिति, अत्र पुनःशब्दो विशेषणार्थः, आत्मानमेवाधिकृत्योद्योतकरास्तथा लोकप्रकाशकवचनप्रदीपापेक्षया च शेषभव्यविशेषानधिकृत्यैवेति, अत एवोक्तं 'भवन्ति' न तु भवन्त्येव, कांश्चन प्राणिनोऽधिकृत्योद्योतकरत्वस्यासम्भवादिति, चतुर्विंशतिग्रहणं चाधिकृतावसर्पिणीगततीर्थकरसङ्ख्याप्रतिपादनार्थमिति गाथार्थः॥१०६१॥ उद्योताधिकार एव द्रव्योद्योतभावोद्योतयोर्विशेषप्रतिपादनायाऽऽह—

दव्वुज्जोउज्जोओ पगासई परिमियंमि खित्तंमि । भावुज्जोउज्जोओ लोगालोगं पगासेइ ॥ १०६२ ॥

व्याख्या—द्रव्योद्योतोद्योतः-द्रव्योद्योतप्रकाश उक्तलक्षण एवेत्यर्थः, पुद्गलात्मकत्वात्तथाविधपरिणामयुक्तत्वाच्च प्रकाशयति प्रभासते वा परिमिते क्षेत्रे, अत्र यदा प्रकाशयति तदा प्रकाश्यं वस्त्वध्याह्रियते, यदा तु प्रभासते तदा स एव दीप्यत इति गृह्यते, 'भावोद्योतोद्योतो लोकालोकं प्रकाशयति' प्रकटार्थम्, अयं गाथार्थः ॥ १०६२ ॥ उक्त उद्योतः, साम्प्रतं करमवसरप्राप्तमपि धर्मतीर्थकरानित्यत्र वक्ष्यमाणत्वाद्विहायेह धर्मं प्रतिपादयन्नाह—

दुह दव्वभावधम्मो दव्वे दव्वस्स दव्वमेवऽहवा । तित्ताइसभावो वा गम्माइत्थी कुलिंगो वा ॥ १०६३ ॥

व्याख्या—धर्मो द्विविधः-द्रव्यधर्मो भावधर्मश्च, 'दव्वे दव्वस्स दव्वमेवऽहव'त्ति द्रव्य इति द्वारपरामर्शः, द्रव्यस्येति, द्रव्यस्य धर्मो द्रव्यधर्मः, अनुपयुक्तस्य मूलगुणोत्तरगुणानुष्ठानमित्यर्थः, इहानुपयुक्तो द्रव्यमुच्यते, द्रव्यमेव वा धर्मो द्रव्यधर्मः धर्मास्तिकायः, 'तित्ताइसहावो व'त्ति तिक्तादिर्वा द्रव्यस्वभावो द्रव्यधर्म इति, 'गम्माइत्थी कुलिंगो व'त्ति गम्या- ॥४९७॥

'धर्म' शब्दस्य प्रतिपादनम्

प्रत
सूत्रांक
||१||

दीप
अनुक्रम
[३]

दिधर्मः 'स्त्री'ति स्त्रीविषयः, केषाञ्चिन्मातुलदुहिता गम्या केषाञ्चिदगम्येत्यादि, तथा 'कुलिङ्गो वा' कुतीर्थिकधर्मो वा द्रव्यधर्म इति गाथार्थः ॥ १०६३ ॥

दुह होइ भावधम्मो सुअचरणे आ सुअंमि सज्झाओ । चरणंमि समणधम्मो खंतीमाई भवे दसहा ॥ १०६४ ॥

व्याख्या—द्वेधा भवति भावधर्मः, 'सुअचरणे य'त्ति श्रुतविषयश्चरणविषयश्च, एतदुक्तं भवति–श्रुतधर्मश्चारित्रधर्मश्च, 'सुअंमि सज्झाओ'त्ति श्रुत इति द्वारपरामर्शः, स्वाध्यायो–वाचनादिः श्रुतधर्म इत्यर्थः, 'चरणंमि समणधम्मो खंतीमाई भवे दसह'त्ति तत्र चरण इति परामर्शः, श्रमणधर्मो दशविधः क्षान्त्यादिश्चरणधर्म इति गाथार्थः ॥ १०६४ ॥ उक्तो धर्मः, साम्प्रतं तीर्थनिरूपणायाह—

नामं ठवणातित्थं दव्वत्तित्थं च भावतित्थं च । एक्केक्कंपि अ इत्तोऽणेगविहं होइ णायव्वं ॥ १०६५ ॥

व्याख्या—निगदसिद्धा ॥ नवरं द्रव्यतीर्थं व्याचिख्यासुरिदमाह—

दाहोवसमं तण्हाइछेअणं मलपवाहणं चेव । तिहि अत्थेहि निउत्तं तम्हा तं दव्वओ तित्थं ॥ १०६६ ॥

व्याख्या—इह द्रव्यतीर्थं मागधवरदामादि परिगृह्यते, बाह्यदाहादेरेव तत उपशमसद्भावात्, तथा चाह–'दाहोपशममिति तत्र दाहो–बाह्यसन्तापस्तस्योपशमो यस्मिन् तद्दाहोपशमनं, 'तण्हाइछेअणं'ति तृषः–पिपासायाश्छेदनं, जलसङ्घातेन तदपनयनात्, 'मलप्रवाहणं चैवे'त्यत्र मलः बाह्य एवाङ्गसमुत्थोऽभिगृह्यते तत्प्रवाहणं, जलेनैव तत्प्रवाहणात्, ततः प्रक्षालनादिति भावः, एवं त्रिभिरर्थैः करणभूतैस्त्रिषु वाऽर्थेषु 'नियुक्तं' निश्चयेन युक्तं नियुक्तं प्रथमव्युत्पत्तिपक्षे प्ररूपितं

'तीर्थ' पदस्य निरुपणा

प्रत
सूत्रांक
||१||

दीप
अनुक्रम
[३]

द्वितीये तु नियोजितं, यस्मादेवं बाह्यदाहादिविषयमेव तस्मात्तन्मागधादि द्रव्यतस्तीर्थं, मोक्षासाधकत्वादिति गाथार्थः ॥ १०६६ ॥ भावतीर्थमधिकृत्याह—

कोहंमि उ निग्गहिए दाहस्स पसमणं हवइ तत्थं। लोहंमि उ निग्गहिए तण्हाए छेअणं होइ ॥ १०६७ ॥

व्याख्या—इह भावतीर्थं क्रोधादिनिग्रहसमर्थं प्रवचनमेव गृह्यते, तथा चाह–क्रोध एव निगृहीते 'दाहस्य' द्वेषानलजातस्यान्तः प्रशमनं भवति, तथ्यं निरुपचरितं, नान्यथा, लोभ एव निगृहीते सति, किं ?–'तण्हाए छेअणं होइ'त्ति तृषःअभिष्वङ्गलक्षणायाः किं ?–'छेदनं भवति' व्यपगमो भवतीति गाथार्थः ॥ १०६७ ॥

अट्ठविहं कम्मरयं बहुएहि भवेहिं संचिअं जम्हा। तवसंजमेण धुव्वइ तम्हा तं भावओ तित्थं ॥ १०६८ ॥

व्याख्या—'अष्टविधम्' अष्टप्रकारं, किं ?–'कर्मरजः' कर्मैव जीवानुरञ्जनाद्रजः कर्मरज इति, बहुभिर्भवैः सञ्चितं यस्मात्तपःसंयमेन 'धाव्यते' शोध्यते, तस्मात्तत्–प्रवचनं भावतः तीर्थं, मोक्षसाधनत्वादिति गाथार्थः ॥ १०६८ ॥

दंसणनाणचरित्तेसु निउत्तं जिणवरेहि सव्वेहिं। तिसु अत्थेसु निउत्तं तम्हा तं भावओ तित्थं ॥ १०६९ ॥

व्याख्या—दर्शनज्ञानचारित्रेषु 'नियुक्तं' नियोजितं 'जिनवरैः' तीर्थकृद्भिः 'सर्वैः' ऋषभादिभिरिति, यस्माच्चेत्थम्भूतेषु त्रिष्वर्थेषु नियुक्तं तस्मात्तत्प्रवचनं भावतः तीर्थं, मोक्षसाधकत्वादिति गाथार्थः ॥ १०६९ ॥ उक्तं तीर्थम्, अधुना कर उच्यते, तत्रेयं गाथा—

प्रत सूत्रांक ||१||

दीप अनुक्रम [३]

णामकरो १ ठवणकरो २ दव्वकरो ३ खित्त ४ काल ५ भावकरो ६ ।
एसो खलु करगस्स उ णिक्खेवो छव्विहो होइ ॥ १०७० ॥

व्याख्या—निगदसिद्धा ॥ नवरं द्रव्यकरमभिधित्सुराह—

गोमहिसुट्टिपसूणं छगलीणंपि अ करा मुणेयव्वा । तत्तो अ तणपलाले भुसकट्ठंगारपलले य ॥ १०७१ ॥
सिउंबरेजंघाए बलिवद्दकए घए अ चम्मे अ । चुल्लगकरे अ भणिए अट्ठारसमाकरुप्पत्ती ॥ १०७२ ॥

व्याख्या—गोकरस्तथाभूतमेव तद्वारेण वा रूपकाणामित्येवं सर्वत्र भावना कार्येति, नवरं शीताकरो—भोगः क्षेत्रपरिमाणोद्भव इति चान्ये, उत्पत्तिकरस्तु स्वकल्पनाशिल्पनिर्मितः शतरूपकादिः, शेषं प्रकटार्थमिति गाथाद्वयार्थः ॥ १०७१–१०७२ ॥ उक्तो द्रव्यकर इति, क्षेत्रकराद्यभिधित्सुराह—

खित्तंमि जंमि खित्ते काले जो जंमि होइ कालंमि । दुविहो अ होइ भावे पसत्थु तह अप्पसत्थो अ ॥१०७३॥

व्याख्या—क्षेत्र इति द्वारपरामर्शः, एतदुक्तं भवति—क्षेत्रकरो यो यस्मिन् क्षेत्रे शुल्कादि । काल इति द्वारपरामर्श एव, कालकरो यो यस्मिन् भवति काले कुटिकादानादिः, द्विविधश्च भवति भावे, द्वैविध्यमेव दर्शयति—प्रशस्तस्तथाऽप्रशस्तश्चेति गाथार्थः ॥ १०७३ ॥ तत्राप्रशस्तपरित्यागेन प्रशस्तसद्भावादप्रशस्तमेवादावभिधित्सुराह—

कलहकरो डमरकरो असमाहिकरो अनिव्वुइकरो अ । एसो उ अप्पसत्थो एवमाई मुणेयव्वो ॥ १०७४ ॥

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्तिः

'कर शब्दस्य षड् निक्षेपाः'

प्रत सूत्रांक ||१||

दीप अनुक्रम [३]

आवश्यक-हारिभ-द्रीया ॥४९९॥

व्याख्या—आह–उक्तप्रयोजनसद्भावादुपन्यासोऽप्येवमेव किमिति न कृत इति, अत्रोच्यते, आसेवनयाऽयमेव प्रथमस्थाने कार्य इति ज्ञापनार्थं, तत्र कलहो–भण्डनं, ततश्चाप्रशस्तः कोपाद्यौदयिकभाववतः, तत्करणशीलः कलहकर इति, एवं डमरादिष्वपि भावनीयं, नवरं वाचिकः कलहः, कायवाङ्मनोभिस्ताडनादिगहनं डमरं, समाधानं–समाधिः स्वास्थ्यं न समाधिरसमाधिः–अस्वास्थ्यनिबन्धना सा सा कायादिचेष्टेत्यर्थः, अनेनैव प्रकारेणानिर्वृतिरिति, एषोऽप्रशस्तः, तुशब्दस्यावधारणार्थत्वादेष एव जात्यपेक्षया न तु व्यक्त्यपेक्षयेति, अत एवाह–एवमादिविज्ञातव्यः [३]व्यक्त्यपेक्षयाऽप्रशस्तभावकर इति गाथार्थः ॥ १०७४ ॥ साम्प्रतं प्रशस्तभावकरमभिधातुकाम आह—

२ चतुर्विंशतिस्तवाध्य. करनिक्षेपः

अत्थकरो अ हिअकरो कित्तिकरो गुणकरो जसकरो अ। अभयकर निव्वुइकरो कुलगर तित्थंकरंतकरो॥१०७५

व्याख्या—तत्रौघत एव विद्यादिरर्थः, उक्तं च–'विद्याऽपूर्वं धनार्जनं शुभमर्थ' इति, ततश्च प्रशस्तविचित्रकर्मक्षयोपशमादिभाववतः, तत्करणशीलोऽर्थकरः, एवं हितादिष्वपि भावनीयं, नवरं हितं–परिणामपथ्यं कुशलानुबन्धि यत्किञ्चित्, कीर्तिः–दानपुण्यफला, गुणाः–ज्ञानादयः, यशः–पराक्रमकृतं गृह्यते, तदुत्थसाधुवाद इत्यर्थः, अभयादय प्रकटार्थाः, नवरमन्तः कर्मणः परिगृह्यते, तत्फलभूतस्य वा संसारस्येति गाथार्थः ॥ १०७५ ॥ उक्तो भावकरः, अधुना जिनादिप्रतिपादनायाऽऽह—

॥४९९॥

१ अनादिभवाभ्यासादासेवनमप्रशस्तस्यैवादौ भवति, प्रशस्तस्य तु पश्चादेवेति २ यतोऽसाविति ३ व्यक्तिसमुदायरूपत्वात् जातेस्तस्याः प्रागुद्देशात् अत्र व्यक्त्यपेक्षयेति

प्रत सूत्रांक ||१||

दीप अनुक्रम [३]

जियकोहमाणमाया जियलोहा तेण ते जिणा हुंति । अरिणो हंता रयं हंता अरिहंता तेण वुच्चंति ॥ १०७६ ॥

व्याख्या—जितक्रोधमानमाया जितलोभा येन कारणेन तेन ते भगवन्तः, किं ?–जिना भवन्ति, 'अरिणो हंता रयं हंते'त्यादिगाथादलं यथा नमस्कारनिर्युक्तौ प्रतिपादितं तथैव द्रष्टव्यमिति गाथार्थः ॥ १०७६ ॥ कीर्तयिष्यामीत्यादिव्याचिख्यासया साम्प्रतमिदमाह—

कित्तेमि कित्तणिज्जे सदेवमणुआसुरस्स लोगस्स । दंसणनाणचरित्ते तवविणओ दंसिओ जेहिं ॥ १०७७ ॥

व्याख्या—कीर्तयिष्यामि नामभिर्गुणैश्च, किम्भूतान् ?–कीर्तनीयान्, स्तवार्हानित्यर्थः, कस्येत्यत्राह–सदेवमनुष्यासुरलोकस्य, त्रैलोक्यस्येति भावः, गुणानुपदर्शयति–'दर्शनज्ञानचारित्राणि' मोक्षहेतूनि (निति), तथा 'तपोविनयः' दर्शितो यैः, तत्र तप एव कर्मविनयाद् विनयः, इति गाथार्थः ॥ १०७७ ॥

चउवीसंति य संखा उसभाईआ उ भण्णमाणा उ । अविसद्दग्गहणा पुण एरवयमहाविदेहेसुं ॥ १०७८ ॥

व्याख्या—चतुर्विंशतिरिति सङ्ख्या, ऋषभादयस्ते वक्ष्यमाणा एव, अपिशब्दग्रहणात्पुनः ऐरवतमहाविदेहेषु ये तद्ग्रहोऽपि वेदितव्य इति गाथार्थः ॥ १०७८ ॥

कसिणं केवलकप्पं लोगं जाणंति तह य पासंति । केवलचरित्तनाणी तम्हा ते केवली हुंति ॥ १०७९ ॥

व्याख्या—'कृत्स्नं' सम्पूर्णं 'केवलकल्पं' केवलोपमम्, इह कल्पशब्द औपम्ये गृह्यते, उक्तं च–"सामर्थ्ये वर्णनायां च, छेदने करणे तथा । औपम्ये चाधिवासे च, कल्पशब्दं विदुर्बुधाः ॥ १ ॥" 'लोकं' पञ्चास्तिकायात्मकं जानन्ति विशे-

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्तिः

अरिहंत, कीर्तयिष्यामि, चतुर्विंशति, अपि केवलि आदि शब्दानाम् व्याख्या:

प्रत सूत्रांक ||१||

दीप अनुक्रम [३]

आवश्यक-हारिभद्रीया ||५००||

षरूपतया, तथैव सम्पूर्णमेव, चशब्दस्यावधारणार्थत्वात् पश्यन्ति सामान्यरूपतया, इह च ज्ञानदर्शनयोः सम्पूर्णलोकविषयत्वे च बहु वक्तव्यं तत्तु नोच्यते ग्रन्थविस्तरभयादिति, नवरं-"निर्विशेषं विशेषाणां, ग्रहो दर्शनमुच्यते। विशिष्टग्रहणं ज्ञानमेवं सर्वत्रगं द्वयम् ॥ १ ॥" इत्यनया दिशा स्वयमेवाभ्यूह्यमिति, यतश्चैवं केवलचारित्रिणः केवलज्ञानिनश्च तस्मात्ते केवलिनो भवन्ति, केवलमेषां विद्यत इति केवलिन इतिकृत्वा। आह-इहाकाण्ड एव केवलचारित्रिण इति किमर्थम् ?, उच्यते, केवलचारित्रप्राप्तिपूर्विकैव नियमतः केवलज्ञानावाप्तिरिति न्यायप्रदर्शनेन नेदमकाण्डमिति गाथार्थः ॥ १०७९ ॥ व्याख्याता तावल्लोकस्येत्यादिरूपा प्रथमसूत्रगाथेति, अत्रैव चालनाप्रत्यवस्थाने विशेषतो निर्दिश्य(श्ये)ते-तत्र लोकस्योद्योतकरानित्याद्युक्तम्, अत्राऽऽह-अशोभनमिदं लोकस्येति, कुतः ?, लोकस्य चतुर्दशरज्ज्वात्मकत्वेन परिमितत्वात्, केवलोद्योतस्य चापरिमितत्वेनैव लोकालोकव्यापकत्वाद्, वक्ष्यति च-'केवलियणाणलंभो लोगालोगं पगासेइ'त्ति, ततश्चौघत एवोद्योतकरान् लोकालोकयोर्वेति वाच्यमिति, न, अभिप्रायापरिज्ञानात्, इह लोकशब्देन पञ्चास्तिकाया एव गृह्यन्ते, ततश्चाकाशास्तिकायभेद एवालोक इति न पृथगुक्तः, न चैतदनार्षं, यत उक्तम्-'पंचत्थिकायमइओ लोगो' इत्यादि। अपरस्त्वाह-लोकस्योद्योतकरानित्येतावदेव साधु, धर्मतीर्थकरान् इति न वक्तव्यं, गतार्थत्वात्, तथाहि-ये लोकस्योद्योतकरास्ते धर्मतीर्थकरा एवेति, अत्रोच्यते, इह लोकैकदेशेऽपि ग्रामैकदेशे ग्रामवल्लोकशब्दप्रवृत्तेर्मा भूत्तदुद्योतकरेष्ववधिविभङ्गज्ञानिष्वर्कचन्द्रादिषु वा सम्प्रत्ययः, तद्व्यवच्छेदार्थं धर्मतीर्थकरानित्याह। आह-यद्येवं धर्मतीर्थकरानित्येतावदे-

२ चतुर्विंशतिस्तवा. केवलिव्याख्या.

||५००||

१ कैवल्यज्ञानलाभो लोकालोकं प्रकाशयति २ पञ्चास्तिकायमयो लोकः

वास्तु लोकस्योद्योतकरानिति न वाच्यमिति, अत्रोच्यते, इह लोकेऽपि नद्यादिविषमस्थानेषु मुधिकया(ये)धर्मार्थमवतरणतीर्थकरणशीलास्तेऽपि धर्मतीर्थकरा एवोच्यन्ते, तन्मा भूदतिमुग्धबुद्धीनां तेषु सम्प्रत्ययः, तदपनोदाय लोकस्योद्योतकरानप्याहेति । अपरस्त्वाह–जिनानित्यतिरिच्यते, तथाहि–यथोक्तप्रकारा जिना एव भवन्तीति, अत्रोच्यते, मा भूत्कुनयमतानुसारिपरिकल्पितेषु यथोक्तप्रकारेषु सम्प्रत्यय इत्यतस्तद्व्यवच्छेदार्थमाह–जिनानिति, श्रूयते च कुनयदर्शने—‘ज्ञानिनो धर्मतीर्थस्य, कर्तारः परमं पदम् । गत्वाऽऽगच्छन्ति भूयोऽपि, भवं तीर्थनिकारतः ॥ १ ॥’ इत्यादि, तन्नूनं न ते रागादिजेतार इति, अन्यथा कुतो निकारतः पुनरिह भवाङ्कुरप्रभवो ?, बीजाभावात्, तथा चान्यैरप्युक्तम्–“अज्ञानपांसुपिहितं पुरातनं कर्मबीजमविनाशि । तृष्णाजलाभिषिक्तं मुञ्चति जन्माङ्कुरं जन्तोः ॥ १ ॥” तथा–“दग्धे बीजे यथाऽत्यन्तं, प्रादुर्भवति नाङ्कुरः । कर्मबीजे तथा दग्धे, न रोहति भवाङ्कुरः ॥ १ ॥” इति । आह–यद्येवं जिनानित्येतावदेवास्तु लोकस्योद्योतकरानित्याद्यतिरिच्यते इति, अत्रोच्यते, इह प्रवचने सामान्यतो विशिष्टश्रुतधरादयोऽपि जिना एवोच्यन्ते, तद्यथा–श्रुतजिना अवधिजिना मनःपर्यायज्ञानजिनाः छद्मस्थवीतरागाश्च, तन्मा भूत्तेषु सम्प्रत्यय इति तदपनोदार्थं लोकस्योद्योतकरानित्याद्यप्यदुष्टमेव । अपरस्त्वाह–अर्हत इति न वाच्यं, न ह्यनन्तरोदितस्वरूपा अर्हद्व्यतिरेकेणापरे भवन्तीति, अत्रोच्यते, अर्हतामेव विशेष्यत्वान्न दोष इति । आह–यद्येवं हन्त ! तर्ह्यर्हत एवेत्येतावदेवास्तु लोकस्योद्योतकरानित्यादि पुनरपार्थकं, न, तस्य विशेषणसाफल्यस्य च प्रतिपादितत्वात् । अपरस्त्वाह–केवलिन इति न वाच्यं, यथोक्तस्वरूपाणामर्हतां केवलित्वाव्यभिचारात्, सति च व्यभिचारसम्भवे विशेषणोपादानसाफल्यात्, तथा च–सम्भवे

प्रत सूत्रांक ||२|| दीप अनुक्रम [४]

व्यभिचारे च विशेषणमर्थवद्भवति, यथा नीलोत्पलमिति, व्यभिचाराभावे तु तदुपादीयमानमपि यथा कृष्णो भ्रमरः शुक्ला बलाका इत्यादि(वत्) ऋते प्रयासात् कमर्थं पुष्णातीति ?, तस्मात्केवलिन इत्यतिरिच्यते, न, अभिप्रायापरिज्ञानाद्, इह केवलिन एव यथोक्तस्वरूपा अर्हन्तो नान्य इति नियमनार्थत्वेन स्वरूपज्ञानार्थमेवेदं विशेषणमित्यनवद्यं, न चैकान्ततो व्यभिचारसम्भव एव विशेषणोपादानसाफल्यम्, उभयपदव्यभिचारे एकपदव्यभिचारे स्वरूपज्ञापने च शिष्टोक्तिषु तत्प्रयोगदर्शनात्, तत्रोभयपदव्यभिचारे यथा नीलोत्पलमिति, तथैकपदव्यभिचारे यथा आपो द्रव्यं पृथिवी द्रव्यमिति, तथा स्वरूपज्ञापने यथा परमाणुरप्रदेश इत्यादि, यतश्चैवमतः केवलिन इति न दुष्टम् । आह—यद्येवं केवलिन इत्येतदेव सुन्दरं, शेषं तु लोकस्योद्योतकरानित्यादिकमनर्थकमिति, अत्रोच्यते, इह श्रुतकेवलिप्रभृतयोऽन्येऽपि विद्यन्त एव केवलिनः, तस्मान्मा भूत्तेषु सम्प्रत्यय इति तत्प्रतिक्षेपार्थं लोकस्योद्योतकरानित्याद्यपि वाच्यमिति । एवं द्व्यादिसंयोगापेक्षयाऽपि विचित्रनयमताभिज्ञेन स्वधिया विशेषणसाफल्यं वाच्यम्, इत्यलं विस्तरेण, गमनिकामात्रमेतदिति । तत्र यदुक्तं 'कीर्तयिष्यामीति' तत्कीर्तनं कुर्वन्नाह—

२ चतुर्विंशतिस्तवा. विशेषणसाफल्यं.

उसभमजिअं च वंदे संभवमभिणंदणं च सुमइं च । पउमप्पहं सुपासं जिणं च चंदप्पहं वंदे ॥ २ ॥ सुविहिं च पुप्फदंतं सीअल सिज्जंस वासुपुज्जं च । विमलमणंतं च जिणं धम्मं संतिं च वंदामि ॥ ३ ॥ कुंथुं अरं च मल्लिं वंदे मुणिसुव्वयं नमिजिणं च । वंदामि रिट्ठनेमिं पासं तह वद्धमाणं च ॥ ४ ॥ (सूत्राणि) ॥५०१॥

एतास्तिस्रोऽपि सूत्रगाथा इति, आसां व्याख्या—इहार्हतां नामानि अन्वर्थमधिकृत्य सामान्यलक्षणतो विशेषलक्षणतश्च

मूलसूत्रस्य गाथा २, ३ एवं व्याख्या

प्रत सूत्रांक ||४||

दीप अनुक्रम [६]

वाच्यानि, तत्र सामान्यलक्षणमिदं–'वृष उद्वहने' समग्रसंयमभारोद्वहनाद् वृषभः, सर्वे एव च भगवन्तो यथोक्तस्वरूपा इत्यतो विशेषहेतुप्रतिपादनायाऽऽह—

ऊरूसु उसभलंछण उसभं सुमिणंमि तेण उसभजिणो ।

पुंवर्द्धं । जेण भगवओ दोसुवि ऊरूसु उसभा उप्पराहुत्ता जेणं च मरुदेवाए भगवईए चोद्दसण्हं महासुमिणाणं पढमो उसभो सुमिणे दिठ्ठोत्ति, तेण तस्स उसभोत्ति णामं कयं, सेसतित्थगराणं मायरो पढमं गयं तओ वसहं एवं चोद्दस, उसभोत्ति वा वसहोत्ति वा एगट्ठं॥ इयाणिं अजिओ–तस्य सामान्येनाभिधाननिबन्धनं परीषहोपसर्गादिभिर्न जितोऽजितः, सर्वे एव भगवन्तो यथोक्तस्वरूपा इत्यतो विशेषनिबन्धनाभिधित्सयाऽऽह—

अक्खेसु जेण अजिआ जणणी अजिओ जिणो तम्हा ॥ १०८० ॥

व्याख्या—पंच्छर्द्धं । भगवओ अम्मापियरो जूयं रमंति, पढमो राया जिणियाइओ, जाहे भगवंतो आयाया ताहे ण राया, देवी जिणइ, तत्तो अक्खेसु कुमारप्राधान्यात् देवी अजिएति अजिओ से णामं कयंति गाथार्थः ॥ १०८० ॥

१ पूर्वार्धं । येन भगवतो द्वयोरप्यूरुणोर्वृषभावुपरीभूतौ येन च मरुदेवया भगवत्या चतुर्दशानां महास्वप्नानां प्रथमं वृषभो दृष्टः स्वप्न इति, तेन तस्य वृषभ इति नाम कृतं, शेषतीर्थकराणां मातरः प्रथमं गजं ततो वृषभं एवं चतुर्दश, ऋषभ इति वा वृषभ इति वैकार्थौ । इदानीमजितः–२ पश्चार्धं । भगवतो मातापितरौ द्यूतं रमेते, प्रथमं राजा जितवान्, यदा भगवन्त आयातास्तदा न राजा, देवी जयति, ततोऽक्षेषु कुमारप्राधान्यात् देवी अजितेति अजितस्तस्य नाम कृतमिति ।

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्तिः

ऋषभ आदि २४ तिर्थंकराणाम् नामानां व्युत्पत्तिः

प्रत सूत्रांक ||४||

दीप अनुक्रम [६]

आवश्यक-हारिभद्रीया

॥५०२॥

२ चतुर्विंशतिस्तवा. तीर्थकृन्नामार्थः

इदानीं सम्भवो–तस्यौघतोऽभिधाननिबन्धनं–संभवन्ति प्रकर्षेण भवन्ति चतुस्त्रिंशदतिशयगुणा अस्मिन्निति सम्भवः, सर्व एव भगवन्तो यथोक्तस्वरूपा इत्यतो विशेषबीजाभिधित्सयाऽऽह—

अभिसंभूआ सासत्ति संभवो तेण वुच्चई भयवं ।

[1]गब्भगए जेण अब्भहिया सस्सणिप्फत्ती जाया तेण संभवो॥ इयाणिं अभिणंदणो, तस्य सामान्येनाभिधानान्वर्थः– अभिनन्द्यते देवेन्द्रादिभिरित्यभिनन्दनः, सर्व एव यथोक्तस्वरूपा इत्यतो विशेषहेतुप्रतिपादनायाऽऽह—

अभिणंदई अभिक्खं सक्को अभिणंदणो तेण ॥ १०८१ ॥

व्याख्या—[2]पच्छद्धं ॥ गब्भप्पभिइ अभिक्खणं सक्को अभिणंदियाइओत्ति, तेण से अभिणंदणोत्ति णामं कयं, गाथार्थः ॥ १०८१ ॥ इदानीं सुमतिः, तस्य सामान्येनाभिधाननिबन्धनं शोभना मतिरस्येति सुमतिः, सर्व एव च सुमतयो भगवन्त इत्यतो विशेषनिबन्धनाभिधानायाह—

जणणी सव्वत्थ विणिच्छएसु सुमइत्ति तेण सुमइजिणो ।

[3]गाहद्धं । जणणी गब्भगए सव्वत्थ विणिच्छएसु अईव मइसंपण्णा जाया, दोण्हं सवत्तीणं मयपइयाणं ववहारो छिन्नो,

॥५०२॥

१ गर्भगते येनाभ्यधिका शस्यनिष्पत्तिर्जाता तेन संभवः । इदानीमभिनन्दनः, २ पश्चार्धं ॥ गर्भात्प्रभृतिरभीक्ष्णं शक्रोऽभिनन्दितवानिति, तेन तस्य अभिनन्दन इति नाम कृतं । ३ गाथार्धं । जननी गर्भगते सर्वत्र विनिश्चयेषु अतीव मतिसंपन्ना जाता, द्वयोरपि मृतपत्योः सपत्न्योर्व्यवहारश्छिन्नः,

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्ति:

प्रत सूत्रांक ||४||

दीप अनुक्रम [६]

ताओ भणिआओ–मम पुत्तो भविस्सइ सो जोव्वणत्थो एयस्सऽसोगवरपायवस्स अहे ववहारं तुब्भ छिंदिहि, ताव एगाइयाओ भवह, इयरी भणइ–एवं भवतु, पुत्तमाया णेच्छइ, ववहारो छिज्जउत्ति भणइ, णाऊण तीए दिण्णो, एवमाईगब्भगुणेणंति सुमई ॥ इयाणिं पउमप्पहो–तस्य सामान्यतोऽभिधानकारणम्—इह निष्पङ्कतामङ्गीकृत्य पद्मस्येव प्रभा यस्यासौ पद्मप्रभः, सर्व एव जिना यथोक्तस्वरूपा इत्यतो विशेषकारणमाह—

पउमसयणंमि जणणीइ डोहलो तेण पउमाभो ॥ १०८२ ॥

व्याख्या—पंच्छर्द्धं ॥ गब्भगए देवीए पउमसयणंमि डोहलो जाओ, तं च से देवयाए सज्जियं, पउमवण्णो य भगवं, तेण पउमप्पहोत्ति गाथार्थः ॥ १०८२ ॥ इदानीं सुपासो, तस्यौघतो नामान्वर्थः–शोभनानि पार्श्वान्यस्येति सुपार्श्वः, सर्व एव च अर्हन्त एवम्भूता इत्यतो विशेषेण नामान्वर्थमभिधित्सुराह—

गब्भगए जं जणणी जाय सुपासा तओ सुपासजिणो ।

व्याख्या—गब्भगए जणणीए तित्थगराणुभावेण सोभणा पासा जायत्ति, ता सुपासोत्ति। एवं सर्वत्र सामान्याभिधानं

---

१ ते भणिते–मम पुत्रो भविष्यति स यौवनस्थ एतस्याशोकवरपादपस्याधो व्यवहारं युवयोः छेत्स्यति तावदेकत्र भवतं, इतरा भणति–एवं भवतु, पुत्रमाता नेच्छति, व्यवहारश्छिद्यतामिति भणति, ज्ञात्वा तस्यै दत्तः, एवमादिगर्भगुणेनेति सुमतिः । इदानीं पद्मप्रभः २ पश्चार्धं ॥ गर्भगते देव्याः पद्मशयने दोहदो जातः, तच्च तस्यै देवतया सज्जितं, पद्मवर्णश्च भगवान् , तेन पद्मप्रभ इति । इदानीं सुपार्श्वः–गर्भगते जनन्यास्तीर्थकरानुभावेन शोभनौ पार्श्वौ जाताविति, ततः सुपार्श्व इति ।

प्रत सूत्रांक ||४||

दीप अनुक्रम [६]

आवश्यक-हारिभद्रीया ||५०३||

२ चतुर्विंशतिस्तवा. तीर्थकृन्नामार्थः

विशेषाभिधानं चाधिकृत्यार्थाभिधानविस्तरो द्रष्टव्यः,इह पुनः सुज्ञानत्वात् ग्रन्थविस्तरभयाच्च नाभिधीयत इति कृतं विस्तरेण, इयाणिं चंदप्पहो–चन्द्रस्येव प्रभा–ज्योत्स्ना सौम्याऽस्येति चन्द्रप्रभः, तत्थ सव्वेऽवि तित्थगरा चंद इव सोमलेसा, विसेसो

जणणीएँ चंदपियणंमि डोहलो तेण चंदाभो ॥ १०८३ ॥

व्याख्या—पच्छद्धं ॥ देवीए चंदपियणंमि डोहलो चंदसरिसवण्णो य भगवं तेण चंदप्पभोत्ति गाथार्थः ॥ १०८३ ॥ इदानीं सुविहित्ति, तत्र शोभनो विधिरस्येति सुविधिः, इह च सर्वत्र कौशल्यं विधिरुच्यते, तत्थ सव्वेऽवि एरिसा, विसेसो पुण

सव्वविहीसु अ कुसला गब्भगए तेण होइ सुविहिजिणो ।

व्याख्या—गाहद्धं ॥ भगवंते गब्भगए सव्वविहीसु चेव विसेसओ कुसला जणणित्ति जेण तेण सुविहित्ति णामं कयं ॥ इयाणिं सीयलो, तत्र सकलसत्त्वसन्तापकरणविरहादाह्लादजनकत्वाच्च शीतल इति, तत्थ सव्वेऽवि अरिस्स मित्तस्स वा उवरिं सीयलघरसमाणा, विसेसो उण

पिउणो दाहोवसमो गब्भगए सीयलो तेणं ॥ १०८४ ॥

---

१ इदानीं चन्द्रप्रभः, तत्र सर्वेऽपि तीर्थकराश्चन्द्र इव सौम्यलेश्याः, विशेषः–पश्चार्धं ॥ देव्याश्चन्द्रपाने दोहदः चन्द्रसदृशवर्णश्च भगवान् तेन चन्द्रप्रभः । इदानीं सुविधिरिति, तत्र सर्वेऽपि ईदृशाः, विशेषः पुनः–गाथार्धं । भगवति गर्भगते सर्वविधिष्वेव विशेषतः कुशला जननीति येन तेन सुविधिरिति नाम कृतं । इदानीं शीतलः–तत्र सर्वेऽपि अरीणां मित्राणां वोपरि शीतलगृहसमानाः, विशेषः पुनः– ||५०३||

प्रत सूत्रांक ||४||

दीप अनुक्रम [६]

व्याख्या—पच्छद्धं ॥ पिउणो पित्तदाहो पुव्वुप्पण्णो ओसहेहिं ण पउणति, गब्भगए भगवंते देवीए परामुट्ठस्स पउणो, तेण सीयलोत्ति गाथार्थः ॥१०८४॥ इयाणिं सेज्जंसो, तत्र श्रेयान्–समस्तभुवनस्यैव हितकरः, प्राकृतशैल्या छान्दसत्वाच्च श्रेयांस इत्युच्यते, तत्थ सव्वेऽवि तेलोगस्स सेया, विसेसो उण—

महरिहसिज्जारुहणंमि डोहलो तेण होइ सिज्जंसो ।

व्याख्या—गाहद्धं । तस्स रन्नो परंपरागया सेज्जा देवतापरिग्गहिता अच्चिज्जइ, जो तं अल्लियइ तस्स देवया उवसग्गं करेति, गब्भत्थे य देवीए डोहलो उववट्ठा अक्कंता य, आरसिउं देवया अवक्कंता, तित्थगरनिमित्तं देवया परिक्खिया, देवीए गब्भप्पहावेण एवं सेयं जायं, तेण से णामं कयं सेज्जंसोत्ति ॥ इयाणिं वसुपुज्जो, तत्र वसूनां पूज्यो वसुपूज्यः, वसवो– देवाः, तत्थ सव्वेऽवि तित्थगरा इंदाईणं पुज्जा, विसेसो उण—

पूएइ वासवो जं अभिक्खणं तेण वसुपुज्जो ॥ १०८५ ॥

व्याख्या—पच्छद्धं ॥ वासवो देवराया, तस्स गब्भगयस्स अभिक्खणं अभिक्खणं जणणीए पूयं करेइ, तेण वासुपुज्जोत्ति,

१ पश्चार्धं ॥ पितुः पित्तदाहः पूर्वोत्पन्न औषधैर्न प्रगुण्यते, गर्भगते भगवति देव्या परामृष्टः प्रगुणः, तेन शीतल इति । इदानीं श्रेयांसः, तत्र सर्वेऽपि त्रैलोक्यस्य श्रेयस्कराः, विशेषः पुनः गाथार्धं । तस्य राज्ञः परम्परागता शय्या देवतापरिगृहीताऽर्च्यते, यस्तामाक्रामति तस्य देवतोपसर्गं करोति, गर्भस्थे च (भगवति) देव्या दोहद उपविष्टाऽऽक्रान्ता च, देवताऽऽरस्यापक्रान्ता, तीर्थकरनिमित्तं देवता परीक्षिता, देव्या गर्भप्रभावेणैवं श्रेयो जातं, तेन तस्य नाम कृतं श्रेयांस इति । इदानीं वासुपूज्यः, तत्र सर्वेऽपि तीर्थकरा इन्द्रादीनां पूज्याः, विशेषः पुनः–पश्चार्धं ॥ वासवो देवराजः, तस्य गर्भगतस्याभीक्ष्णमभीक्ष्णं जनन्याः पूजां करोति तेन वासुपूज्य इति,

प्रत
सूत्रांक
||४||

दीप
अनुक्रम
[६]

आवश्यक-हारिभ-द्रीया ||५०४||

अहवा वसूणि–रयणाणि वासवो–वेसमणो सो गब्भगए अभिक्खणं अभिक्खणं तं रायकुलं रयणेहिं पूरेइत्ति वासुपुज्जो ॥ गाथार्थः ॥ १०८५ ॥ इयाणिं विमलो, तत्र विगतमलो विमलः, विमलानि वा ज्ञानादीनि यस्य, सामण्णलक्खणं सव्वेसिंपि विमलाणि णाणदंसणाणि सरीरं च, विसेसलक्खणं

विमलतणुबुद्धि जणणी गब्भगए तेण होइ विमलजिणो ।

व्याख्या—पुव्वद्धं । गब्भगए मातूए सरीरं बुद्धी य अतीव विमला जाया तेण विमलोत्ति ॥ इयाणिं अणंतो–तत्रानन्तकर्मांशजयादनन्तः, अनन्तानि वा ज्ञानादीन्यस्येति, तत्थ सव्वेहिंपि अणंता कम्मंसा जिया सव्वेसिं च अणंताणि णाणाईणि, विसेसो पुण

रयणविचित्तमणंतं दामं सुमिणे तओऽणंतो ॥ १०८६ ॥

व्याख्या—गाहापच्छद्धं ॥ 'रयणविचित्तं' रयणखचियं 'अणंतं' अइमहप्पमाणं दामं सुमिणे जणणीए दिट्ठं, तओ अणंतोत्ति गाथार्थः ॥ १०८६ ॥ इयाणिं धम्मो, तत्र दुर्गतौ प्रपतन्तं सत्त्वसङ्घातं धारयतीति धर्मः, तत्थ सव्वेवि एवंविहत्ति, विसेसो पुण—

रचतुर्विंशतिस्तवा. तीर्थकृन्नामार्थः ||५०४||

---

१ अथवा वसूनि–रत्नानि वासवो–वैश्रमणः स गर्भगतेऽभीक्ष्णमभीक्ष्णं तत् राजकुलं रत्नैः पूरयतीति वासुपूज्यः । इदानीं विमलः, सामान्यलक्षणं सर्वेषामपि विमले ज्ञानदर्शने शरीरं च, विशेषलक्षणं–पूर्वार्धं । गर्भगते मातुः शरीरं बुद्धिश्चातीव विमला जाता तेन विमल इति । इदानीमनन्तः, तत्र सर्वैरपि अनन्ताः कर्मांशा जिताः सर्वेषां चानन्तानि ज्ञानादीनि, विशेषः पुनः–गाथापश्चार्धं ॥ रत्नविचित्रं–रत्नखचितमनन्तम्–अतिमहत्प्रमाणं दाम स्वप्ने जनन्या दृष्टं ततोऽनन्त इति । इदानीं धर्मः, तत्र सर्वेऽपि एवंविधा इति, विशेषः पुनः–

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्ति:

प्रत सूत्रांक ||४||

दीप अनुक्रम [६]

गब्भगए जं जणणी जाय सुधम्मत्ति तेण धम्मजिणो ।

व्याख्या—गाहद्धं ॥ गब्भगए भगवंते विसेसओ से जणणी दाणदयाइएहिं अहिगारेहिं जाया सुधम्मत्ति तेण धम्मजिणो भगवं। इयाणिं संती, तत्र शान्तियोगात्तदात्मकत्वात्तत्कर्तृत्वाद्वा शान्तिरिति, इदं सामण्णं, विसेसो पुण—

जाओ असिवोवसमो गब्भगए तेण संतिजिणो ॥ १०८७ ॥

व्याख्या—पच्छद्धं ॥ महंतं असिवं आसि, भगवंते गब्भमागए उवसंतंति गाथार्थः ॥ १०८७ ॥ इदानीं कुंथू, तत्र कुः–पृथ्वी तस्यां स्थितवानिति कुस्थः, सामण्णं सव्वेवि एवंविहा, विसेसो पुण

थूहं रयणविचित्तं कुंथुं सुमिणंमि तेण कुंथुजिणो ।

व्याख्या—गाहद्धं । मणहरे अब्भुण्णए महप्पएसे थूहं रयणविचित्तं सुमिणे दट्ठुं पडिबुद्धा तेण से कुंथुत्ति णामं कयं । इदानीं अरो, तत्र–'सर्वोत्तमे महासत्त्वकुले य उपजायते। तस्याभिवृद्धये वृद्धैरसावर उदाहृतः ॥ १ ॥' तत्थ सव्वेऽवि सव्वुत्तमे कुले विद्धिकरा एव जायंति, विसेसो पुण

---

१ गाथार्धं । गर्भगते भगवति विशेषतस्तस्य जननी दानदयादिकेष्वधिकारेषु जाता सुधर्मेति तेन धर्मजिनो भगवान् । इदानीं शान्तिः–इदं सामान्यं विशेषः पुनः–पश्चार्धं ॥ महदशिवमासीत्, भगवति गर्भमागत उपशान्तमिति । इदानीं कुन्थुः, सामान्यं सर्वेऽप्येवंविधाः, विशेषः पुनः । गाथार्धं । मनोहरेऽभ्युन्नते महाप्रदेशे स्तूपं रत्नविचित्रं स्वप्ने दृष्ट्वा प्रतिबुद्धा तेन तस्य कुन्थुरिति नाम कृतं । इदानीमरः–तत्र सर्वेऽपि सर्वोत्तमे कुले वृद्धिकरा एव जायन्ते, विशेषः पुनः–

प्रत सूत्रांक ||४|| दीप अनुक्रम [६]

आवश्यक-हारिभ-द्रीया ||५०५||

सुमिणे अरं महरिहं पासइ जणणी अरो तम्हा ॥ १०८८ ॥

व्याख्या—पैच्छद्धं ॥ गब्भगए मायाए सुमिणे सव्वरयणमओ अइसुंदरो अइप्पमाणो य जम्हा अरओ दिट्ठो तम्हा अरोत्ति से णामं कयंति गाथार्थः ॥ १०८८ ॥ इदानीं मल्लित्ति, इह परीषहादिमल्लजयात्प्राकृतशैल्या छान्दसत्वाच्च मल्लिः, तत्थ सव्वेहिंपि परीसहमल्ल रागदोसा य णिहयत्ति सामण्णं, विसेसो

वरसुरहिमल्लसयणंमि डोहलो तेण होइ मल्लिजिणो

व्याख्या—(गाहद्धं)गब्भगए माऊए सव्वोउगवरसुरहिकुसुममल्लसयणिज्जे दोहलो जाओ, सो य देवयाए पडिसंमाणिओ दोहलो, तेण से मल्लित्ति णामं कयं । इदानीं मुणिसुव्वयोत्ति–तत्र मन्यते जगतस्त्रिकालावस्थामिति मुनिः तथा शोभनानि व्रतान्यस्येति सुव्रतः मुनिश्चासौ सुव्रतश्चेति मुनिसुव्रतः, सव्वे सुमुणियसव्वभावा सुव्वया यत्ति सामण्णं, विसेसो

जाया जणणी जं सुव्वयत्ति मुणिसुव्वओ तम्हा ॥ १०८९ ॥

व्याख्या–(पच्छद्धं)गब्भगए णं माया अईव सुव्वया जायत्ति तेण मुणिसुव्वओत्ति णामं, गाथार्थः ॥१०८९॥ इयाणीं णमित्ति-

२ चतुर्विंशतिस्तवाध्य. जिननामान्वर्थः

---

१ पश्चार्धं ॥ गर्भगते मात्रा स्वप्ने सर्वरत्नमयोऽतिसुन्दरोऽतिप्रमाणश्च यस्मादरको दृष्टस्तस्मादर इति तस्य नाम कृतमिति। मल्लिरिति, तत्र सर्वैरपि परीषहमल्ला रागदोषाश्च निहता इति सामान्यं विशेषः–(गाथार्धं) गर्भगते मातुः सर्वर्तुकवरसुरभिकुसुममाल्यशयनीये दोहदो जातः, स च देवतया प्रतिसन्मानीतो दोहदः, तेन तस्य मल्लिरिति नाम कृतं । इदानीं मुनिसुव्रत इति–सर्वे सुमुणितसर्वभावाः सुव्रताश्चेति सामान्यं, विशेषः–(पश्चार्धं) ॥ गर्भगते माताऽतीव सुव्रता जातेति तेन मुनिसुव्रत इति नाम । इदानीं नमिरिति–

||५०५||

प्रत सूत्रांक ||४|| दीप अनुक्रम [६]

तत्र प्राकृतशैल्या छान्दसत्वाल्लक्षणान्तरसम्भवाच्च परीषहोपसर्गादिनमनान्नमिरिति। तथा चाष्टौ व्याकरणान्यैन्द्रादीनि लोकेऽपि साम्प्रतमभिधानमात्रेण प्रतीतान्येव, अतः कतिपयशब्दविषयलक्षणाभिधानतुच्छे पाणिनिमत एव नाग्रहः कार्य इति, व्यासादिप्रयुक्तशब्दानामपि तेनासिद्धेः, न च ते ततोऽपि शब्दशास्त्रानभिज्ञा इति, कृतं प्रसङ्गेन, प्रकृतं प्रस्तुमः–तत्थ सव्वेहिंवि परीसहोवसग्गा णामिया कसाय(याय)त्ति सामण्णं, विसेसो—

पणया पच्चंतनिव्वा दंसियमित्ते जिणंमि तेण नमी।

व्याख्या—(गाहद्धं) उल्ललिएहिं पच्चंतपत्थिवेहिं णयरे रोहिज्जमाणे अण्णराईहिं,देवीए कुच्छिए णमी उववण्णो, ताहे देवीए गब्भस्स पुण्णसत्तीचोइयाए अट्टालमारोढुं सद्धा समुप्पण्णा, आरूढा य दिट्ठा परपत्थिवेहिं, गब्भप्पभावेण य पणया सामंतपत्थिवा, तेण से णमित्ति णामं कयं। इदाणीं णेमी, तत्र धर्मचक्रस्य नेमिवन्नेमिः, सव्वेवि धम्मचक्कस्स णेमीभूयत्ति सामण्णं, विसेसो

रिट्ठरयणं च नेमिं उप्पयमाणं तओ नेमी ॥ १०९० ॥

व्याख्या—(पच्छद्धं)गब्भगए तस्स मायाए रिट्ठरयणामओ महइमहालओ णेमी उप्पयमाणो सुमिणे दिट्ठोत्ति, तेण

---

१ तत्र सर्वैरपि परीषहोपसर्गा नामिताः कषायाच इति सामान्यं, विशेषः(गाथार्धं)—दुर्ललितैः प्रत्यन्तपार्थिवैर्नगरे रुध्यमानेऽन्यराजभिः देव्याः कुक्षौ नमिरुत्पन्नः, तदा देव्या गर्भस्य पुण्यशक्तिचोदितायाः अट्टालकमारोढुं श्रद्धा समुत्पन्ना, आरूढा च दृष्टा परपार्थिवैः, गर्भप्रभावेण च प्रणताः सामन्तपार्थिवाः, तेन तस्य नमिरिति नाम कृतं। इदानीं नेमिः–सर्वेऽपि धर्मचक्रस्य नेमीभूता इति सामान्यं, विशेषः–(पश्चार्धं) गर्भगते तस्य मात्राऽरिष्टरत्नमयो महातिमहालयो नेमिरुत्पतन् स्वप्ने दृष्ट इति, तेन

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक ||४|| दीप अनुक्रम [६]

आवश्यक-हारिभद्रीया ||५०६||

२ चतुर्विंशतिस्तवाध्य. जिनना मान्वर्थः

से रिट्ठणेमित्ति णामं कयं, गाथार्थः ॥ १०९० ॥ इदाणीं पासोत्ति, तत्र पूर्वोक्तयुक्तिकलापादेव पश्यति सर्वभावानिति पार्श्वः, पश्यक इति चान्ये, तत्थ सव्वेऽवि सव्वभावाणं जाणगा पासगा यत्ति सामण्णं, विसेसो पुण—

सप्पं सयणे जणणी तं पासइ तमसि तेण पासजिणो ।

व्याख्या—(गाहर्द्ध) गब्भगए भगवंते तेलोक्कबंधवे सत्तसिरं णागं सयणिज्जे णिविज्जणे माया से सुविणे दिट्ठत्ति, तहा अंधकारे सयणिज्जगयाए गब्भप्पभावेण य एंतं सप्पं पासिऊणं रण्णो सयणिज्जे णिग्गया बाहा चडाविया भणिओ य—एस सप्पो वच्चइ, रण्णा भणियं—कहं जाणसि ?, भणइ—पेच्छामि, दीवएण पलोइओ, दिट्ठो य सप्पो, रण्णा चिंता गब्भस्स एसो अइसयप्पहावो जेण एरिसे तिमिरंधयारे पासइ, तेण पासोत्ति णामं कयं । इदाणीं वद्धमाणो, तत्रोत्पत्तेरारभ्य ज्ञानादिभिर्वर्द्धत इति वर्द्धमानः, तत्थ सव्वेवि णाणाइगुणेहिं वड्ढइत्ति, विसेसो वुण

वड्ढइ नायकुलंति अ तेण जिणो वद्धमाणुत्ति ॥ १०९१ ॥

१ सप्तारिष्टनेमिरिति नाम कृतं । इदानीं पार्श्व इति—तत्र सर्वेऽपि सर्वभावानां ज्ञायकाःपश्यकाश्चेति सामान्यं, विशेषः पुनः—(गाथार्धं)गर्भगते भगवति त्रैलोक्यबान्धवे सप्तशिरसं नागं शयनीये निर्विजने माता दृष्टवती तस्य स्वप्न इति,तथाऽन्धकारे शयनीयगतया गर्भप्रभावेण आगच्छन्तं सर्पं दृष्ट्वा राज्ञः शयनीयान्निर्गतो बाहुश्चटापितो भणितश्च—एष सर्पो व्रजति, राज्ञा भणितं—कथं जानासि ?, भणति—पश्यामि, दीपेन प्रलोकितः दृष्टश्च सर्पः, राज्ञश्चिन्ता—गर्भस्य एषोऽतिशयप्रभावो येनेदृशे तिमिरान्धकारे पश्यति, तेन पार्श्व इति नाम कृतं । इदानीं वर्धमानः, तत्र सर्वेऽपि ज्ञानादिगुणैर्वर्धन्त इति विशेषः पुनः—

||५०६||

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक ||५||

दीप अनुक्रम [७]

व्याख्या—गब्भगएण भगवया णायकुलं विसेसेण धणेण वड्ढियाइयं तेण से णामं कयं वद्धमाणेत्ति, गाथार्थः॥१०९१॥ एवमेतावता ग्रन्थेन तिस्रोऽपि मूलसूत्रगाथा व्याख्याता इति ॥ अधुना सूत्रगाथैव—

एवं मए अभिथुआ विहुयरयमला पहीणजरमरणा । चउवीसंपि जिणवरा तित्थयरा मे पसीयंतु ॥ ५ ॥

अस्या व्याख्या—'एवम्'अनन्तरोक्तेन प्रकारेण 'मए' इत्यात्मनिर्देशमाह, 'अभिष्टुता'इति आभिमुख्येन स्तुता अभिष्टुता इति, स्वनामभिः कीर्तिता इत्यर्थः, किंविशिष्टास्ते ?–'विधूतरजोमलाः' तत्र रजश्च मलश्च रजोमलौ विधूतौ–प्रकम्पितौ अनेकार्थत्वाद्वा अपनीतौ रजोमलौ यैस्ते तथाविधाः, तत्र बध्यमानं कर्म रजो भण्यते पूर्वबद्धं तु मल इति, अथवा बद्धं रजः निकाचितं मलः, अथवेर्यापथं रजः साम्परायिकं मल इति, यत एवैवम्भूता अत एव प्रक्षीणजरामरणाः, कारणाभावादित्यर्थः, तत्र जरा–वयोहानिलक्षणा मरणं तु–प्राणत्यागलक्षणं, प्रक्षीणे जरामरणे येषां ते तथाविधाश्चतुर्विंशतिरपि, अपिशब्दात्तदन्येऽपि, 'जिनवराः' श्रुतादिजिनप्रधानाः, ते च सामान्यकेवलिनोऽपि भवन्ति अत आह–तीर्थकरा इति, एतत्समानं पूर्वेण, 'मे' मम, किं ?–'प्रसीदन्तु' प्रसादपरा भवन्तु, स्यात्–'क्षीणक्लेशत्वान्न पूजकानां प्रसाददास्ते हि । तच्च न यस्मात्तेन पूज्याः क्लेशक्षयादेव ॥ १ ॥ यो वस्तुतः प्रसीदति रोषमवश्यं स याति निन्दायाम् । सर्वत्रासमचित्तश्च सर्वहितदः कथं स भवेत् ? ॥ २ ॥ तीर्थकरास्त्विह यस्माद्रागद्वेषक्षयात्रिलोकविदः । स्वात्मपरतुल्यचित्ताश्चातः सद्भिः सदा पूज्याः ॥ ३ ॥ शीतार्दितेषु च यथा द्वेषं वह्निर्न याति रागं वा । नाऽऽह्वयति वा तथाऽपि च तमाश्रिताः स्वेष्टमश्नुवते ॥ ४ ॥

१ गर्भगतेन भगवता ज्ञातकुलं विशेषेण धनेन वर्धितं तेन तस्य नाम कृतं वर्धमान इति ।

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्ति:

मूलसूत्रस्य गाथा- ५ एवं तस्या व्याख्या

प्रत सूत्रांक ||६||

दीप अनुक्रम [८]

आवश्यक-हारिभद्रीया ॥५०७॥ | २ चतुर्विंशतिस्त-वाध्य.

तद्भत्तीर्थंकरान् ये त्रिभुवनभावप्रभावकान् भक्त्या । समुपाश्रिता जनास्ते भवशीतमपास्य यान्ति शिवम् ॥ ५ ॥” एतदुक्तं भवति–यद्यपि ते रागादिरहितत्वान्न प्रसीदन्ति तथापि तानुद्दिश्याचिन्त्यचिन्तामणिकल्पानन्तःकरणशुद्ध्या अभिष्टवकर्तृणां तत्पूर्विकैवाभिलषितफलावाप्तिर्भवतीति गाथार्थः ॥ तथा—

कित्तियवंदियमहिआ जेए लोगस्स उत्तमा सिद्धा । आरुग्गबोहिलाभं समाहिवरमुत्तमं दिंतु ॥ ६ ॥

इयमपि सूत्रगाथैव, अस्या व्याख्या–कीर्तिताः–स्वनामभिः प्रोक्ताः वन्दिताः–त्रिविधयोगेन सम्यक्स्तुताः मयेत्यात्मनिर्देशे, महिता इति वा पाठान्तरमिदं च, महिताः–पुष्पादिभिः पूजिताः, क एत इत्यत आह–य एते 'लोकस्य' प्राणिलोकस्य मिथ्यात्वादिकर्ममलकलङ्काभावेनोत्तमाः–प्रधानाः, ऊर्ध्वं वा तमस इत्युत्तमसः, 'उत्प्राबल्योर्ध्वगमनोच्छेदनेष्वि'ति वचनात्, प्राकृतशैल्या पुनरुत्तमा उच्यन्ते, 'सिद्धा' इति सितं ध्मातमेषामिति सिद्धाः–कृतकृत्या इत्यर्थः, अरोगस्य भाव आरोग्यं–सिद्धत्वं तदर्थं बोधिलाभः–प्रेत्य जिनधर्मप्राप्तिर्बोधिलाभोऽभिधीयते तं, स चानिदानो मोक्षायैव प्रशस्यत इति, तदर्थमेव च तावत्किं ?, तत आह–समाधानं–समाधिः, स च द्रव्यभावभेदाद् द्विविधः, तत्र द्रव्यसमाधिर्यदुपयोगस्वास्थ्यं भवति येषां वाऽविरोध इति, भावसमाधिस्तु ज्ञानादिसमाधानमेव, तदुपयोगादेव परमस्वास्थ्ययोगादिति, यतश्चायमित्थं द्विधाऽतो द्रव्यसमाधिव्यवच्छेदार्थमाह–वरं–प्रधानं भावसमाधिमित्यर्थः, असावपि तारतम्यभेदादनेकधैव अत आह–उत्तमं–सर्वोत्कृष्टं ददतु–प्रयच्छन्तु, आह–किं तेषां प्रदानसामर्थ्यमस्ति ?, न, किमर्थमेवमभिधीयत इति ?, उच्यते, भक्त्या, वक्ष्यति च–'भासा असच्चमोसा' इत्यादि, नवरं तद्भक्त्या स्वयमेव तत्प्राप्तिरुपजायत इति कृतं विस्त- ॥५०७॥

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्ति:

मूलसूत्रस्य गाथा- ६ एवं तस्या व्याख्या

प्रत
सूत्रांक
||६||

दीप
अनुक्रम
[८]

रेणेति गाथार्थः ॥ ६ ॥ व्याख्यातं लेशत इदं सूत्रगाथाद्वयम्, अधुना सूत्रस्पर्शिकया प्रतन्यते, तत्राभिष्टवकीर्तनैकार्थिकानि प्रतिपादयन्नाह—

थुइथुणणवंदणनमंसणाणि एगट्ठिआणि एयाणि । कित्तण पसंसणावि अ विणयपणामे अ एगट्ठा ॥ १०९२ ॥

व्याख्या—स्तुतिः स्तवनं वन्दनं नमस्करणम् एकार्थिकान्येतानि, तथा कीर्तनं प्रशंसैव विनयप्रणामौ च एकार्थिकानीति गाथार्थः ॥ १०९२ ॥ साम्प्रतं यदुक्तम् 'उत्तमा' इति तद्व्याचिख्यासुरिदमाह—

मिच्छत्तमोहणिज्जा नाणावरणा चरित्तमोहाओ । तिविहतमा उम्मुक्का तम्हा ते उत्तमा हुंति ॥ १०९३ ॥

व्याख्या—मिथ्यात्वमोहनीयात् तथा ज्ञानावरणात्तथा चारित्रमोहाद् इति, अत्र मिथ्यात्वमोहनीयग्रहणेन दर्शनसप्तकं गृह्यते, तत्रानन्तानुबन्धिनश्चत्वारः कषायास्तथा मिथ्यात्वादित्रयं च, ज्ञानावरणं मतिज्ञानाद्यावरणभेदात् पञ्चविधं, चारित्रमोहनीयं पुनरेकविंशतिभेदं, तच्चानन्तानुवन्धिरहिता द्वादश कषायास्तथा नव नोकषाया इति, अस्मादेव यतस्त्रिविधतमसः, किम् ?–उन्मुक्ताः–प्राबल्येन मुक्ताः, पृथग्भूता इत्यर्थः, तस्मात्ते भगवन्तः, किम् ?, उत्तमा भवन्ति, ऊर्ध्वं तमोवृत्तेरिति गाथार्थः ॥१०९३॥ साम्प्रतं यदुक्तं 'आरोग्यबोधिलाभ'मित्यादि, अत्र भावार्थमविपरीतमनवगच्छन्नाह—

आरुग्गबोहिलाभं समाहिवरमुत्तमं च मे दिंतु । किं नु हु निआणमेअं ति?, विभासा इत्थ कायव्वा ॥१०९४॥

व्याख्या—आरोग्याय बोधिलाभः आरोग्यबोधिलाभस्तं, भावार्थः प्रागुक्त एव, तथा समाधिवरमुत्तमं च 'मे' मम ददत्विति यदुक्तम्, अत्र काक्वा पृच्छति–'किं नु हु णियाणमेअं'ति तत्र किमिति परप्रश्ने, नु इति वितर्के, हु तत्समर्थने,

प्रत सूत्रांक ||६||

दीप अनुक्रम [८]

आवश्यक-हारिभ-द्रीया ||५०८||

२ चतुर्विंशतिस्त-वाध्य.

निदानमेतदिति?,–यदुक्तमारोग्यादि ददतु, यदि निदानमलमनेन, सूत्रे प्रतिषिद्धत्वात्, न चेद् व्यर्थमेवोच्चारणमिति, गुरुराह–'विभासा एत्थ कायव'त्ति विविधा भाषा विभाषा–विषयविभागव्यवस्थापनेन व्याख्येत्यर्थः, अत्र कर्तव्या, इयमिह भावना–नेदं निदानं, कर्मबन्धहेतुत्वाभावात्, तथाहि–मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः, न च मुक्तिप्रार्थनायाममीषामन्यतरस्यापि सम्भव इति, न च व्यर्थमेव तदुच्चारणमिति, ततोऽन्तःकरणशुद्धेरिति गाथार्थः ॥ १०९४ ॥ आह–न नामेदमित्थं निदानं, तथापि तु दुष्टमेव, कथम्?, इह स्तुत्या आरोग्यादिप्रदातारः स्युर्न वा?, यद्याद्यः पक्षस्तेषां रागादिमत्त्वप्रसङ्गः, अथ चरमः तत आरोग्यादिप्रदानविकला इति जानानस्यापि प्रार्थनायां मृषावाददोषप्रसङ्गः इति, न, इत्थं प्रार्थनायां मृषावादायोगात्, तथा चाह–

भासा असच्चमोसा नवरं भत्तीइ भासिआ एसा । न हु खीणपिज्जदोसा दिंति समाहिं च बोहिं च ॥१०९५॥

व्याख्या–भाषा असत्यामृषेयं वर्तते, सा चामन्त्रण्यादिभेदादनेकविधा, तथा चोक्तम्–"आमंतणि आणवणी जायणि तह पुच्छणी य पन्नवणी । पच्चक्खाणी भासा भासा इच्छाणुलोमा य ॥ १ ॥ अणभिग्गहिया भासा भासा य अभिग्गहंमि बोद्धवा । संसयकरणी भासा वोयड अव्वोयडा चेव ॥ २ ॥" इत्यादि, तत्रेह याचन्याऽधिकार इति, यतो याच्ञायां वर्तते, यदुत–'आरुग्गबोहिलाभं समाहिवरमुत्तमं दिंतु'त्ति। आह–रागादिरहितत्वादारोग्यादिप्रदानविकलास्ते, ततश्च किमनयेति?, ||५०८||

१ आमन्त्रणी आज्ञापनी याचनी तथा प्रच्छनी च प्रज्ञापनी । प्रत्याख्यानी भाषा भाषेच्छानुलोमा च ॥ १ ॥ अनभिगृहीता भाषा भाषा चाभिग्रहे बोद्धव्या। संशयकरणी भाषा व्याकृताऽव्याकृतैव ॥ २ ॥

प्रत सूत्रांक ||६||

दीप अनुक्रम [८]

उच्यते, सत्यमेतत्, नवरं भक्त्या भाषितैषा, अन्यथा नैव 'क्षीणप्रेमद्वेषाः' क्षीणरागद्वेषा इत्यर्थः, 'ददति' प्रयच्छन्ति, किं न प्रयच्छन्ति?, अत आह–समाधिं च बोधिं चेति गाथार्थः ॥ १०९५ ॥ किं च—

जं तेहिं दायव्वं तं दिन्नं जिणवरेहिं सव्वेहिं । दंसणनाणचरित्तस्स एस तिविहस्स उवएसो ॥ १०९६ ॥

व्याख्या—यत्तैर्दातव्यं तद्दत्तं जिनवरैः 'सर्वैः' ऋषभादिभिः पूर्वमेव, किं च दातव्यं?–दर्शनज्ञानचारित्रस्य सम्बन्धिभूतः आरोग्यादिप्रसाधक एष त्रिविधस्योपदेशः, इह च दर्शनज्ञानचारित्रस्येत्युक्तं, मा भूदिदमेकमेव कस्यचित्सम्प्रत्यय इत्यतस्तद्व्युदासार्थं त्रिविधस्येत्याहेति गाथार्थः ॥ १०९६ ॥ आह–यदि नाम दत्तं ततः किं साम्प्रतमभिलषितार्थप्रसाधनसामर्थ्यरहितास्ते?, ततश्च तद्भक्तिः क्वोपयुज्यते इति?, अत्रोच्यते—

भत्तीइ जिणवराणं खिज्जंती पुव्वसंचिआ कम्मा । आयरिअनमुक्कारेण विज्जा मंता य सिज्झंति ॥ १०९७ ॥

व्याख्या—'भक्त्या' अन्तःकरणप्रणिधानलक्षणया 'जिनवराणां' तीर्थकराणां सम्बन्धिन्या हेतुभूतया, किं?, 'क्षीयन्ते' क्षयं प्रतिपद्यन्ते 'पूर्वसञ्चितानि' अनेकभवोपात्तानि 'कर्माणि' ज्ञानावरणादीनि, इत्थंस्वभावत्वादेव तद्भक्तेरिति, अस्मिन्नेवार्थे दृष्टान्तमाह–तथाहि–आचार्यनमस्कारेण विद्या मन्त्राश्च सिद्ध्यन्ति, तद्भक्तिमतस्सत्त्वस्य शुभपरिणामत्वात्तत्सिद्धिप्रतिबन्धककर्मक्षयादिति भावनीयं, गाथार्थः ॥ १०९७ ॥ अतस्साध्वी तद्भक्तिः, वस्तुतोऽभिलषितार्थप्रसाधकत्वाद्, आरोग्यबोधिलाभादेरपि तन्निर्वर्त्यत्वात्, तथा चाऽऽह—

* मोक्षमार्गकारणमिति ज्ञानविषयः

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्ति:

प्रत सूत्रांक ||६||
दीप अनुक्रम [८]

आवश्यक-हारिभ-द्रीया

॥५०९॥

भत्तीइ जिणवराणं परमाए खीणपिज्जदोसाणं। आरुग्गबोहिलाभं समाहिमरणं च पावंति ॥ १०९८ ॥

व्याख्या—भक्त्या जिनवराणां, किंविशिष्टया?–'परमया' प्रधानया भावभक्त्येत्यर्थः, 'क्षीणप्रेमद्वेषाणां' जिनानां, किम्?, आरोग्यबोधिलाभं समाधिमरणं च प्राप्नुवन्ति प्राणिन इति, इयमत्र भावना–जिनभक्त्या कर्मक्षयस्ततः सकलकल्याणावाप्तिरिति, अत्र समाधिमरणं च प्राप्नुवन्तीत्येतदारोग्यबोधिलाभस्य हेतुत्वेन द्रष्टव्यं, समाधिमरणप्राप्तौ नियमत एव तत्प्राप्तिरिति गाथार्थः ॥ १०९८ ॥ साम्प्रतं बोधिलाभप्राप्तावपि जिनभक्तिमात्रादेव पुनर्बोधिलाभो भविष्यत्येव, किमनेन वर्तमानकालदुष्करेणानुष्ठानेनेत्येवंवादिनमनुष्ठानप्रमादिनं सत्त्वमधिकृत्यौपदेशिकमिदं गाथाद्वयमाह—

लद्धिल्लिअं च बोहिं अकरिंतोऽणागयं च पत्थंतो। दच्छिसि जह तं विब्भल! इमं च अन्नं च चुक्किहिसि ॥१०९९॥
लद्धिल्लिअं च बोहिं अकरिंतोऽणागयं च पत्थंतो। अन्नंदाइं बोहिं लब्भिसि कयरेण मुल्लेण? ॥ ११०० ॥

व्याख्या—'लद्धेल्लियं च'त्ति लब्धां च–प्राप्तां च वर्तमानकाले, कां?, 'बोधिं' जिनधर्मप्राप्तिम्, 'अकुर्वन्' इति कर्मपराधीनतया सदनुष्ठानेन सफलामकुर्वन् 'अनागतां च' आयत्यामन्यां च प्रार्थयन्, किम्?, द्रक्ष्यसि यथा त्वं हे विह्वल!–जडप्रकृते! इमां चान्यां बोधिमधिकृत्य, किं?, 'चुक्किहिसि' देशीवचनतः भ्रंश्यसि, न भविष्यतीत्यर्थः ॥ तथा लब्धां च बोधिमकुर्वन्ननागतां च प्रार्थयन्, अन्नंदाइंति निपातः असूयायाम्, अन्ये तु व्याचक्षते—अन्यामिदानीं बोधिं लप्स्यसि, किं?, कतरेण मूल्येन?, इयमत्र भावना–बोधिलाभे सति तपःसंयमानुष्ठानपरस्य प्रेत्य वासनावशात्तत्प्रवृत्तिरेव बोधिलाभोऽभिधीयते, तदनुष्ठानरहितस्य पुनर्वासनाऽभावात्तत्कथं तत्प्रवृत्तिरिति बोधिलाभानुपपत्तिः,

२ चतुर्विंशतिस्तवाध्य.

॥५०९॥

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक ||६||

दीप अनुक्रम [८]

स्यादेतद्, एवं सत्याद्यस्य बोधिलाभस्यासम्भव एवोपन्यस्तः, वासनाऽभावात् , न, अनादिसंसारे राधावेधोपमानेनानाभोगत एव कथञ्चित्कर्मक्षयतस्तदवाप्तेरित्येतदावेदितमेवोपोद्घात इत्यलं विस्तरेणेति गाथाद्वयार्थः ॥१०९९-११००॥ तस्मात्सति बोधिलाभे तपस्संयमानुष्ठानपरेण भवितव्यं, न यत्किञ्चिच्चैत्याद्यालम्बनं चेतस्याधाय प्रमादिना भवितव्यमिति, तपस्संयमोद्यमवतश्चैत्यादिषु कृत्याविराधकत्वात्, तथा चाऽऽह—

चेइयकुलगणसंघे आयरिआणं च पवयण सुए अ। सव्वेसुवि तेण कयं तवसंजममुज्जमंतेणं ॥ ११०१ ॥

व्याख्या—चैत्यकुलगणसङ्घेषु तथाऽऽचार्याणां च तथा प्रवचनश्रुतयोश्च, किं ?, सर्वेष्वपि तेन कृतं, कृत्यमिति गम्यते, केन ?, तपःसंयमोद्यमवता साधुनेति, तत्र चैत्यानि-अर्हत्प्रतिमालक्षणानि, कुलं-विद्याधरादि, गणः-कुलसमुदायः सङ्घः-समस्त एव साध्वादिसङ्घातः, आचार्याः-प्रतीताः, चशब्दादुपाध्यायादिपरिग्रहः, भेदाभिधानं च प्राधान्यख्यापनार्थम् , एवमन्यत्रापि द्रष्टव्यं, प्रवचनं-द्वादशाङ्गमपि सूत्रार्थतदुभयरूपं, श्रुतं सूत्रमेव, चशब्दः स्वगतानेकभेदप्रदर्शनार्थः, एतेषु सर्वेष्वपि स्थानेषु तेन कृतं कृत्यं यस्तपःसंयमोद्यमवान् वर्तते, इयमत्र भावना-अयं हि नियमात् ज्ञानदर्शनसम्पन्नो भवति अयमेव च गुरुलाघवमालोच्य चैत्यादिकृत्येषु सम्यक् प्रवर्तते यथैहिकामुष्मिकगुणवृद्धिर्भवति, विपरीतस्तु कृत्येऽपि प्रवर्तमानोऽप्यविवेकादकृत्यमेव संपादयति, अत्र बहु वक्तव्यमिति गाथार्थः ॥ ११०१ ॥ एवं तावद्गतं सूत्रमूल 'एवं मए अभिथुए'त्यादि गाथाद्वयं, साम्प्रतं—

चंदेसु निम्मलयरा आइच्चेसु अहिअं पयासयरा। सागरवरगंभीरा सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु ॥ ७ ॥

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्तिः

मूलसूत्रस्य गाथा- ७ एवं तस्या व्याख्या

प्रत सूत्रांक ||७||

दीप अनुक्रम [९]

अस्य व्याख्या–इह प्राकृतशैल्या आर्षत्वाच्च पञ्चम्यर्थे सप्तमी द्रष्टव्येति, चन्द्रेभ्यो निर्मलतराः, पाठान्तरं वा 'चंदेहिं निम्मलयर'त्ति, तत्र सकलकर्ममलापगमाच्चन्द्रेभ्यो निर्मलतरा इति, तथा आदित्येभ्योऽधिकप्रभासकराः प्रकाशकरा वा, केवलोद्योतेन विश्वप्रकाशनादिति, वक्ष्यति च निर्युक्तिकारः–'चंदाइच्चगहाण'मित्यादि, तथा सागरवरादपि गम्भीरतराः, तत्र सागरवरः–स्वयम्भूरमणोऽभिधीयते परीषहोपसर्गाद्यक्षोभ्यत्वात् तस्मादपि गम्भीरतरा इति भावना, सितं–ध्मातमेतेषामिति सिद्धाः, कर्मविगमात् कृतकृत्या इत्यर्थः, सिद्धिं–परमपदप्राप्तिं 'मम दिसंतु'मम प्रयच्छन्त्विति सूत्रगाथार्थः ॥ ७ ॥ साम्प्रतं सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्त्यैनामेव गाथां लेशतो व्याख्यानयन्नाह—

चंदाइच्चगहाणं पहा पयासेइ परिमिअं खित्तं। केवलिअनाणलंभो लोगालोगं पगासेइ ॥ ११०२ ॥

व्याख्या—'चन्द्रादित्यग्रहाणा'मिति, अत्र ग्रहा अङ्गारकादयो गृह्यन्ते, 'प्रभा' ज्योत्स्ना 'प्रकाशयति' उद्योतयति परिमितं क्षेत्रमित्यत्र तात्स्थ्यात्तद्व्यपदेशः, यथा मञ्चाः क्रोशन्तीति, क्षेत्रस्यामूर्तत्वेन मूर्तप्रभया प्रकाशनायोगादिति भावना, केवलज्ञानलाभस्तु लोकालोकं 'प्रकाशयति' सर्वधर्मैरुद्योतयतीति गाथार्थः ॥ ११०२ ॥ उक्तोऽनुगमः, नयाः सामायिकवद् द्रष्टव्याः ॥ इति चतुर्विंशतिस्तवटीका समाप्तेति ॥ ||५१०||

व्याख्यायाध्ययनमिदं प्राप्तं यत्कुशलमिह मया तेन। जन्मप्रवाहहतये कुर्वन्तु जिनस्तवं भव्याः ॥ १ ॥

इति श्रीचतुर्विंशतिस्तवाध्ययनं सभाष्यनिर्युक्तिवृत्तिकं समाप्तम् ॥

अत्र अध्ययनं -२- 'चतुर्विंशति:' परिसमाप्तं

प्रत
सूत्रांक
||७..||

दीप
अनुक्रम
[९..]

अथ तृतीयं वन्दनाध्ययनम्

साम्प्रतं चतुर्विंशतिस्तवानन्तरं वन्दनाध्ययनं, तस्य चायमभिसम्बन्धः, अनन्तराध्ययने सावद्ययोगविरतिलक्षणसामायिकोपदेष्टृणामर्हतामुत्कीर्तनं कृतम्, इह त्वर्हदुपदिष्टसामायिकगुणवत एव वन्दनलक्षणा प्रतिपत्तिः कार्येति प्रतिपाद्यते, यद्वा–चतुर्विंशतिस्तवेऽर्हद्गुणोत्कीर्तनरूपाया भक्तेः कर्मक्षय उक्तः, यथोक्तम्–'भत्तीऍ जिणवराणं खिज्जंत्ती पुव्वसंचिआ कम्म'त्ति, वन्दनाध्ययनेऽपि कृतिकर्मरूपायाः साधुभक्तेस्तद्वतोऽसावेव प्रतिपाद्यते, वक्ष्यति च–"विणओवयार माणस्स भंजणा पूयणा गुरुजणस्स। तित्थगराण य आणा सुयधम्माराहणाऽकिरिया ॥ १ ॥" अथवा सामायिके चारित्रमुपवर्णितं, चतुर्विंशतिस्तवे त्वर्हतां गुणस्तुतिः, सा च दर्शनज्ञानरूपा एवमिदं त्रितयमुक्तम्, अस्य च वितथासेवनायामैहिकामुष्मिकापायपरिजिहीर्षुणा गुरोर्निवेदनीयं, तच्च वन्दनपूर्वमित्यतस्तन्निरूप्यते, इत्थमनेनानेकप्रकारेण सम्बन्धेनाऽऽयातस्यास्याध्ययनस्य चत्वार्यनुयोगद्वाराणि सप्रपञ्चं वक्तव्यानि, तत्र नामनिष्पन्ने निक्षेपे वन्दनाध्ययनमिति (नाम) तत्र वन्दनं निरूप्यते–'वदि अभिवादनस्तुत्योः' इत्यस्य 'करणाधिकरणयोश्चे'(पा० ३-३-११७)ति ल्युट्, 'युवोरनाकावि'(पा०७-१-१)त्यनादेशः, 'इदितो नुम् धातो'रिति (पा०७-१-५८)नुमागमः, ततश्च वन्द्यते–स्तूयतेऽनेन प्रशस्तमनोवाक्कायव्यापारजालेनेति वन्दनम्, अस्याधुना पर्यायशब्दान् प्रतिपादयन्निदं गाथाशकलमाह निर्युक्तिकारः—

वंदणचिइकिइकम्मं पूयाकम्मं च विणयकम्मं च।

१ विनयोपचारः मानस्य भञ्जना पूजना गुरुजनस्य। तीर्थकराणां चाज्ञा श्रुतधर्माराधनाऽक्रिया ॥ १ ॥

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्तिः

- अत्र अध्ययनं -३- 'वन्दनं' आरभ्यते

प्रत सूत्रांक ||७..||

दीप अनुक्रम [९..]

आवश्यक-हारिभ-द्रीया ||५११||

३ वन्दनाध्ययने वन्दनपर्यायाः

वन्दनं–निरूपितमेव, ‘चिञ् चयने’ अस्य ‘स्त्रियां क्तिन्’ (पा० ३–३–९४) कुशलकर्मणश्च चयनं चितिः, कारणे कार्योपचाराद्रजोहरणाद्युपधिसंहतिरित्यर्थः, चीयते असाविति वा चितिः, भावार्थः पूर्ववत् , ‘डुकृञ् करणे’ अस्यापि क्तिन्प्रत्ययान्तस्य करणं कृतिः अवनामादिकरणमित्यर्थः, क्रियतेऽसाविति वा कृतिः–मोक्षायावनामादिचेष्टैव, वन्दनं च चितिश्च कृतिश्च वन्दनचितिकृतयः ता एव तासां वा कर्म वन्दनचितिकृतिकर्म, कर्मशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते अनेकार्थश्चायं, क्वचित्कारकवाचकः ‘कर्तुरीप्सिततमं कर्म’ (पा० १–४–४९) ति वचनात्, क्वचित् ज्ञानावरणीयादिवाचकः, ‘कृत्स्नकर्मक्षयान्मोक्ष’ (तत्त्वा० अ० १० सू० ३) इति वचनात्, क्वचित् क्रियावाचकः, ‘गन्धर्वा रञ्जिताः सर्वे, सङ्ग्रामे भीमकर्मणे’ति वचनात्, इह क्रियावचनः परिगृह्यते, ततश्च वन्दनकर्म चितिकर्म कृतिकर्म इति, इह च पुनः क्रियाऽभिधानं विशिष्टावनामादिक्रियाप्रतिपादनार्थमदुष्टमेवेति, ‘पूज पूजायाम्’ अस्य ‘गुरोश्च हल’(पा०३-३-१०३) इत्यप्रत्ययान्तस्य पूजनं पूजा–प्रशस्तमनोवाक्कायचेष्टेत्यर्थः, पूजायाः कर्म पूजाकर्म पूजाक्रियेत्यर्थः, पूजैव वा कर्म पूजाकर्म, चशब्दः पूजाक्रियाया वन्दनादिक्रियासाम्यप्रदर्शनार्थः,‘णीञ् प्रापणे’ इत्यस्य एरचि- (पा०३–३–५६) ति अच्प्रत्यये गुणे अयादेशे सति विपूर्वस्य विनयनं विनयः, कर्मापनयनमित्यर्थः, विनीयते वाऽनेनाष्टप्रकारं कर्मेति विनयस्तस्य कर्मविनयकर्म, चः पूर्ववदेव, अयं गाथार्द्धसंक्षेपार्थः ॥ आह–– ||५११||

कायव्वं कस्स व केण वावि काहे व कइखुत्तो ? ॥ ११०२ ॥ कइओणयं कइसिरं कइहिं च आवस्सएहि परिसुद्धं ।
कइदोसविप्पमुक्कं किइकम्मं कीस कीरइ वा ? ॥११०३ ॥

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्ति:

‘वन्दन’कृतिकर्मादि भेदानाम व्याख्या कथानकसहितं

प्रत सूत्रांक ||७..|| दीप अनुक्रम [९..]

इदं वन्दनं कर्तव्यं कस्य वा केन वाऽपि 'कदा वा' कस्मिन् वा काले 'कतिकृत्वो वा' कियत्यो वा वाराः ? ।
अवनतिः—अवनतं, कत्यवनतं तद्वन्दनं कर्तव्यं ?, कतिशिरः कति शिरांसि तत्र भवन्तीत्यर्थः, कतिभिरावश्यकैः—आवर्तादिभिः परिशुद्धं, कतिदोषविप्रमुक्तं, टोलगत्यादयो दोषाः, 'कृतिकर्म' वन्दनकर्म 'कीस कीरइ'त्ति किमिति वा क्रियत इति गाथाद्वयसंक्षेपार्थः ॥ अवयवार्थ उच्यते, तत्र वन्दनकर्म द्विधा–द्रव्यतो भावतश्च, द्रव्यतो मिथ्यादृष्टेरनुपयुक्तसम्यग्दृष्टेश्च, भावतः सम्यग्दृष्टेरुपयुक्तस्य, चितिकर्मापि द्विधैव–द्रव्यतो भावतश्च, द्रव्यतस्तापसादिलिङ्गग्रहणकर्मानुपयुक्तसम्यग्दृष्टे रजोहरणादिकर्म च, भावतः सम्यग्दृष्ट्युपयुक्ता रजोहरणाद्युपधिक्रियेति, कृतिकर्मापि द्विधा–द्रव्यतः कृतिकर्म निह्नवादीनामवनामादिकरणमनुपयुक्तसम्यग्दृष्टीनां च, भावतः सम्यग्दृष्ट्युपयुक्तानामिति, पूजाकर्मापि द्विधा–द्रव्यतो निह्नवादीनां मनोवाक्कायक्रिया अनुपयुक्तसम्यग्दृष्टीनां च, भावतः सम्यग्दृष्ट्युपयुक्तानामिति, विनयकर्मापि द्विधा–द्रव्यतो निह्नवादीनामनुपयुक्तसम्यग्दृष्टीनां च, भावत उपयुक्तसम्यग्दृष्टीनां विनयक्रियेति ॥ साम्प्रतं वन्दनादिषु द्रव्यभावभेदप्रचिकटयिषया दृष्टान्तान् प्रतिपादयन्नाह—

सीयले खुड्डुए कण्हे, सेवए पालए तहा । पंचेते दिट्ठंता किइकम्मे होंति णायव्वा ॥ ११०४ ॥

व्याख्या—सीतलः क्षुल्लकः कृष्णः सेवकः पालकस्तथा पञ्चैते दृष्टान्ताः कृतिकर्मणि भवन्ति ज्ञातव्या इति । कः पुनः शीतलः ?, तत्र कथानकम्—[1]एगस्स रण्णो पुत्तो सीयलो णाम, सो य णिव्विण्णकामभोगो पव्वतिओ, तस्स य भगिणी

१ एकस्य राज्ञः पुत्रः शीतलो नाम, स च निर्विण्णकामभोगः प्रव्रजितः, तस्य च भगिनी

प्रत सूत्रांक ||७..||
दीप अनुक्रम [९..]

आवश्यक-हारिभद्रीया ||५१२||

३ वन्दनाध्ययने वन्दनादिदृष्टान्ताः

[१]अण्णस्स रण्णो दिण्णा, तीसे चत्तारि पुत्ता, सा तेसिं कहंतरेसु कहं कहेइ, जहा तुज्झ मातुलओ पुव्वपव्वइओ, एवं कालो वच्चइ। तेऽवि अन्नया तहारूवाणं थेराणं अंतिए पव्वइया चत्तारि, बहुस्सुया जाया, आयरियं पुच्छिउं माउलगं वंदगा जंति। एगंमि णयरे सुओ, तत्थ गया, वियालो जाउत्तिकाउं बाहिरियाए ठिया, सावगो य णयरं पवेसिउकामो सो भणिओ—सीयलायरियाणं कहेहि—जे तुज्झं भाइणिज्जा ते आगया वियालोत्ति न पविट्ठा, तेणं कहियं, तुट्ठो, इमेसिंपि रत्तिं सुहेण अज्झवसाणेण चउण्हवि केवलणाणं समुप्पण्णं। पभाए आयरिया दिसाउ पलोएइ, एत्ताहे मुहुत्तेणं एहिंति, पोरिसिसुत्तं मण्णे करेंति अच्छंति, उग्घाडाए अत्थपोरिसित्ति, अइचिराविए य ते देवकुलियं गया, ते वीयरागा न आढायंति, डंडओऽणेण ठविओ, पडिक्कंतो, आलोइए भणइ—कओ वंदामि? भणंति—जओ भे पडिहायइ, सो चिंतेइ—अहो दुट्ठसेहा निल्लज्जत्ति, तहवि रोसेण वंदइ, चउसुवि वंदिएसु, केवली किर पुव्वपउत्तं उवयारं न भंजइ जाव न पडिभिज्जइ, एस जीयकप्पो,

१ अन्यस्मै राज्ञे दत्ता, तस्याश्चत्वारः पुत्राः, सा तेभ्यः कथान्तरेषु (कथावसरेषु) कथां कथयति–यथा युष्माकं मातुलः पूर्वं प्रव्रजितः, एवं कालो व्रजति। तेऽपि अन्यदा तथारूपाणां स्थविराणामन्तिके प्रव्रजिताश्चत्वारः, बहुश्रुता जाताः, आचार्यं पृष्ट्वा मातुलं वन्दितुं यान्ति। एकस्मिन्नगरे श्रुतः, तत्र गताः, विकालो जात इतिकृत्वा बाहिरिकायां स्थिताः, श्रावकश्च नगरं प्रवेष्टुकामः स भणितः–शीतलाचार्येभ्यः कथयेः–ये युष्माकं भागिनेयास्ते आगता विकाल इति न प्रविष्टाः, तेन कथितं, तुष्टः, एषामपि रात्रौ शुभेनाध्यवसायेन चतुर्णामपि केवलज्ञानं समुत्पन्नं। प्रभाते आचार्यो दिशः प्रलोकयति, अधुना मुहूर्त्तेनैष्यन्ति, सूत्रपौरुषीं कुर्वन्तः (इति) मन्ये तिष्ठन्ति, उद्घाटायामर्थपौरुषीमिति, अतिचिरायिते च ते देवकुलिकां गताः, ते वीतरागा नाद्रियन्ते, दण्डकोऽनेन स्थापितः, प्रतिक्रान्तः, आलोचिते भणति–कुतो वन्दे?, भणन्ति–यतो भवतां प्रतिभासते, स चिन्तयति–अहो दुष्टशैक्षा निर्लज्जा इति, तथापि रोषेण वन्दते, चतुर्ष्वपि वन्दितेषु, केवली किल पूर्वप्रयुक्तं उपचारं न भनक्ति यावन्न प्रतिभिद्यते (ज्ञायते), एष जीतकल्पः, ||५१२||

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्तिः

प्रत
सूत्रांक
||७..||

दीप
अनुक्रम
[९..]

तेसुं नत्थि पुवपवत्तो उवयारोत्ति, भणंति–दववंदणएणं वंदिया भाववंदणएणं वंदाहि, तं च किर वंदंतं कसायकंडएहिं छट्ठाणपडियं पेच्छंति, सो भणइ–एयंपि नज्जइ ?, भणंति–बाढं, किं अइसओ अत्थि ?, आमं, किं छाउमत्थिओ केवलिओ ?, केवलि भणंति–केवलीओ, सो किर तहेव उद्धसियरोमकूवो अहो मए मंदभग्गेण केवली आसातियत्ति संवेगमागओ, तेहिं चेव कंडगठाणेहिं नियत्तोत्ति जाव अपुवकरणं अणुपविट्ठो, केवलणाणं समुप्पण्णं, चउत्थं वंदंतस्स समत्ती । सा चेव काइया चिट्ठा एगंमि बंधाए एगंमि मोक्खाय । पुवं दववंदणं आसि पच्छा भाववंदणं जायं १ ॥ इदानीं क्षुल्लकः, तत्रापि कथानकम्–एगो खुड्डुगो आयरिएण कालं करमाणेण लक्खणजुत्तो आयरिओ ठविओ, ते सवे पवइया तस्स खुड्डुगस्स आणाणिद्देसे वट्टंति, तेसिं च कडादीणं थेराण मूले पढइ । अण्णया मोहणिज्जेण बाहिज्जंतो भिक्खाए गएसु साहुसु बितिज्जएण सण्णापाणयं आणावेत्ता मत्तयं गहाय उवहयपरिणामो वच्चइ एगदिसाए, परिस्संतो एक्कहिं वणसंडे वीसमइ,

---

१ तेषु नास्ति पूर्वप्रवृत्त उपचार इति, भणन्ति–द्रव्यवन्दनकेन वन्दिता भाववन्दनकेन वन्दस्व, तं च किल वन्दमानं कषायकण्डकैः षट्स्थानपतितं पश्यन्ति, स भणति–एतदपि ज्ञायते ?, भणन्ति–बाढं, किमतिशयोऽस्ति ?, ओम् , किं छाद्मस्थिकः कैवलिकः ?, केवलिनो भणन्ति–कैवलिकः, स किल तथैवोद्धूषितरोमकूपः अहो मया मन्दभाग्येन केवलिन आशातिता इति संवेगमागतः, तैरेव कण्डकस्थानैर्निवृत्त इति यावदपूर्वकरणमनुप्रविष्टः, केवलज्ञानं समुत्पन्नं, चतुर्थं वन्दमानस्य समाप्तिः । सैव कायिकी चेष्टा एकस्मिन् बन्धायैकस्मिन् मोक्षाय । पूर्वं द्रव्यवन्दनमासीत् पश्चाद्भाववन्दनं जातं ॥ एकः क्षुल्लक आचार्येण कालं कुर्वता लक्षणयुक्त आचार्यः स्थापितः, ते सर्वे प्रव्रजितास्तस्य क्षुल्लकस्याज्ञानिर्देशे वर्त्तन्ते, तेषां च कृतादीनां स्थविराणां मूले पठति । अन्यदा मोहनीयेन बाध्यमानो भिक्षार्थं गतेषु साधुषु द्वितीयेन संज्ञापानीयमानाय्य मात्रकं गृहीत्वोपहतपरिणामो व्रजति एकदिशा,परिश्रान्त एकस्मिन् वनखण्डे विश्राम्यति,

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक ||७..||

दीप अनुक्रम [९..]

आवश्यक-हारिभद्रीया ||५१३||

३ वन्दनाध्ययने वन्दनादिदृष्टान्ताः ||५१३||

तस्स य पुप्फियफलियस्स मज्झे समीज्झुक्खरस्स पेढं बद्धं, लोगो तत्थ पूयं करेइ, तिलगबउलाईणं न किंचिवि, सो चिंतेइ–(ण)एयस्स पेढस्स गुणेण एईं से पूजा किज्जइ, चिईनिमित्तं, सो भणइ–एए किं ण अच्चेह ?, ते भणंति–पुव्विल्लएहिं कएल्लयं एयं, तं च जणो वंदइ, तस्सवि चिंता जाया, पेच्छह, जारिसं समिज्झुक्खरं तारिसो मि अहं, अन्नेवि तत्थ बहुसुया रायपुत्ता इब्भपुत्ता पव्वइया अत्थि, ते ण ठविया, अहं ठविओ, ममं पूएइ, कओ मज्झ समणत्तणं ?, रयहरणणिमित्तं चितीगुणेण वंदंति, पडिनियत्तो । इयरेवि भिक्खाओ आगया मग्गंति, न लहंति सुतिं वा पवित्तिं वा, सो आगओ आलोएइ–जहाऽहं सण्णाभूमिं गओ ,मूला य उद्धाइओ, तत्थ पडिओ अच्छिओ, इयाणिं उवसंते आगओमि, ते तुट्ठा, पच्छा कडाईणं आलोएंति, पायच्छित्तं च पडिवज्जइ । तस्स पुव्विं दव्वचिई पच्छा भावचिई जाया २ ॥ इदानीं कृष्णसूत्रकथानकं–बारवईए वासुदेवो वीरिओ कोलिओ, सो वासुदेवभत्तो, सो य किर वासुदेवो वासारत्ते बहवे जीवा वहिज्जंतित्ति णो णीति, सो

---

१ तस्य च पुष्पितफलितस्य मध्ये शमीशाखायाः पीठं बद्धं, लोकस्तत्र पूजां करोति, तिलकबकुलादीनां न किञ्चिदपि, स चिन्तयति–(न)एतस्य पीठस्य गुणेनेयती अस्य पूजा क्रियते, चितिनिमित्तं, स भणति–एतान् किं नार्चयत ?, ते भणन्ति–पुरातनैः कृतमेतत्, तं च जनो वन्दते, तस्यापि चिन्ता जाता, पश्यत, यादृशी शमीशाखा तादृशोऽस्मि अहं, अन्येऽपि तत्र बहुश्रुता राजपुत्रा इभ्यपुत्राः प्रव्रजिताः सन्ति, ते न स्थापिताः, अहं स्थापितः, मां पूजयति, कुतो मम श्रामण्यं ?, रजोहरणमात्रचितिगुणेन वन्दन्ते, प्रतिनिवृत्तः। इतरेऽपि भिक्षात आगता मार्गयन्ति, न लभन्ते श्रुतिं वा प्रवृत्तिं वा, स आगत आलोचयति–यथाऽहं संज्ञाभूमिं गतः, मूलाश्चावधाविताः,तत्र पतितः स्थितः, इदानीमुपशान्ते आगतोऽस्मि, ते तुष्टाः, पश्चात् कृतादिभ्य आलोचयति प्रायश्चित्तं च प्रतिपद्यते । तस्य पूर्वं द्रव्यचितिः पश्चाद्भावचितिर्जाता ॥ द्वारिकायां वासुदेवो वीरकः कोलिकः, स वासुदेवभक्तः, स च किल वासुदेवो वर्षारात्रे बहवो जीवा वध्यन्त इति न निर्गच्छति, स

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्ति:

प्रत सूत्रांक ||७..||

दीप अनुक्रम [९..]

वीरओ वारं अलभंतो पुप्फछज्जियाए अच्चणं काऊण वच्चइ दिणे दिणे, न य जेमेइ, परूढमंसू जाओ, वत्ते वरिसारत्ते नीति राया, सव्वेवि रायाणो उवट्ठिया, वीरओ पाएसु पडिओ, राया पुच्छइ–वीरओ दुबलोत्ति, बारवालेहिं कहियं जहावत्तं, रण्णो अणुकंपा जाया, अवारियपवेसो कओ वीरगस्स। वासुदेवो य किर सव्वाउ धूयाउ जाहे विवाहकाले पायवंदियाओ एंति ताहे पुच्छइ–किं पुत्ती! दासी होहिसि उदाहु सामिणित्ति, ताओ भणंति–सामिणीओ होहामुत्ति, राया भणइ–तो खायं पव्वयह भट्टारगस्स पायमूले, पच्छा महया णिक्खमणसक्कारेण सक्कारियाओ पव्वयंति, एवं वच्चइ कालो। अण्णया एगाए देवीए धूया, सा चिंतेइ–सव्वाओ पव्वाविज्जंती, तीए धूया सिक्खाविया–भणाहि दासी होमित्ति, ताहे सव्वालंकियविभूसिया उवणीया पुच्छिया भणइ–दासी होमित्ति, वासुदेवो चिंतेइ–मम धूयाओ संसारं आहिंडंति तह य अण्णेहिं अवमाणिज्जंति तो न लट्ठयं, एत्थं को उवाओ?, जेण अण्णावि एवं न करेहित्ति चिंतेइ, लद्धो उवाओ, वीरगं

---

१ वीरको वेलामलभमानः पुष्पछज्जिकया (द्वारशाखायाः) अर्चनं कृत्वा व्रजति दिने दिने, न च जेमति, प्ररूढश्मश्रुर्जातः, वृत्ते वर्षारात्रे निर्गच्छति राजा, सर्वेऽपि राजान उपस्थिताः, वीरकः पादयोः पतितः, राजा पृच्छति–वीरक! दुर्बल इति, द्वारपालैः कथितं यथावृत्तं, राज्ञोऽनुकम्पा जाता, अवारितप्रवेशः कृतो वीरकस्य। वासुदेवश्च किल सर्वा दुहितॄर्यदा विवाहकाले पादवन्दका आयान्ति तदा पृच्छति–किं पुत्रि! दासी भविष्यसि उताहो स्वामिनीति, ता भणन्ति–स्वामिन्यो भविष्याम इति, राजा भणति–तदा ख्यातं (प्रसिद्धं) प्रव्रजत भट्टारकस्य पादमूले, पश्चान्महता निष्क्रमणसत्कारेण सत्कृताः प्रव्रजन्ति, एवं व्रजति कालः। अन्यदैकया देव्या दुहिता, सा चिन्तयति–सर्वाः प्रव्राज्यन्ते, तया दुहिता शिक्षिता–भणेर्दासी भवामीति, तदा सर्वालङ्कारविभूषितोपनीता पृष्टा भणति–दासी भवामीति, वासुदेवश्चिन्तयति–मम दुहितरः संसारं आहिण्डन्ते तथा चान्यैः अवमन्यन्ते तदा न लष्टं, अत्र क उपायो?, येनान्या अपि एवं न कुर्युरिति चिन्तयति, लब्ध उपायः, वीरकं

प्रत सूत्रांक ||७..||

दीप अनुक्रम [९..]

आवश्यक-हारिभ-द्रीया

||५१४||

३ वन्दना-ध्ययने वन्दनादि-दृष्टान्ताः

पुच्छइ–अत्थि ते किंचि कयपुव्वयं? भणइ–णत्थि, राया भणइ–चिंतेहि, तओ सुचिरं चिंतेत्ता भणइ–अत्थि, बयरीए उवरिं सरडो सो पाहाणेण आहणेत्ता पाडिओ मओ य, सगडवट्टाए पाणियं वहंतं वामपाएण धारियं उव्वेलाए गयं, पज्जणघडियाए मच्छियाओ पविठ्ठाओ हत्थेण ओहाडिया *वं सुमुंगुमंतीउ होउत्ति। बीए दिवसे अत्थाणीए सोलसण्हं रायसहस्साणं मज्झे भणइ–सुणह भो! एयस्स वीरगस्स कुलुप्पत्ती सुया कम्माणि य, काणि कम्माणि?, वासुदेवो भणइ–'जेण रत्तसिरो नागो, वसंतो बयरीवणे। पाडिओ पुढविसत्थेण वेमई नाम खत्तिओ ॥ १ ॥ जेण चक्कुक्खया गंगा, वहंती कलुसोदयं। धारिया वामपाएणं वेमई नाम खत्तिओ ॥ २ ॥ जेण घोसवई सेणा, वसंती कलसीपुरे। धारिया वामहत्थेण, वेमई नाम खत्तिओ ॥ ३ ॥ एयस्स धूयं देमित्ति, सो भणिओ–धूयं ते देमित्ति, नेच्छइ, भिउडीकया, दिण्णा नीया य घरं, सयणिज्जे अच्छइ, इमो से सव्वं करेइ, अण्णया राया पुच्छइ–किह ते वयणं करेइ?, वीरओ भणइ–अहं सामिणीए

१ पृच्छति–अस्ति तव किञ्चित्कृतपूर्वं?, भणति–नास्ति, राजा भणति–चिन्तय, ततः सुचिरं चिन्तयित्वा भणति–अस्ति, बदर्या उपरि सरटः स पाषाणे नाहत्य पातितो मृतश्च, शकटवर्त्म्यां पानीयं वहन् वामपादेन धृतं उद्वेलया गतं, पायनघटिकायां मक्षिकाः प्रविष्टा हस्तेनोड्डायिता गुमगुमायमाना भवन्त्विति। द्वितीये दिवसे आस्थान्यां षोडशानां राजसहस्राणां मध्ये भणति–शृणुत भो एतस्य वीरकस्य कुलोत्पत्तिः श्रुता कर्माणि च, कानि कर्माणि?, वासुदेवो भणति–येन रक्तशिरा नागो वसन् बदरीवने। पातितः पृथ्वीशस्त्रेण वै मतिर्नाम (स उत्कृष्टः) क्षत्रियः ॥ १ ॥ येन चक्रोत्क्षता गङ्गा वहन्ती कलुषोदकम्। वामपादेन धृता वै मतिर्नाम क्षत्रियः ॥ २ ॥ येन घोषवती सेना वसन्ती कलशीपुरे। धृता वामहस्तेन वै मतिर्नाम क्षत्रियः ॥ ३ ॥ एतस्मै दुहितरं ददामि इति, स भणितः–दुहितरं ते ददामीति, नेच्छति, भ्रुकुटी कृता, दत्ता नीता च गृहं, शयनीये तिष्ठति, अयं तस्याः सर्वं करोति, अन्यदा राजा पृच्छति–कथं ते वचनं करोति?, वीरको भणति–अहं स्वामिन्या *ओ गुमुगुमंतीओ

||५१४||

प्रत सूत्रांक ||७..||

दीप अनुक्रम [९..]

दासोत्ति, राया भणइ–सवं जइ ण करावेसि तो ते णत्थि णिप्फेडओ, तेण रण्णो आकूयं णाऊणं घरगएणं भणिया— जहा पज्जणं करेहित्ति, सा रुट्ठा, कोलिया! अप्पयं ण याणसि ?, तेण उट्ठेऊण रज्जुएण आहया, कूवंती रन्नो मूलं गया, पायवडिया भणइ–जहा तेणाहं कोलिएण आहया, राया भणइ–तेणं चेवसि मए भणिया–सामिणी होहित्ति, तो दासीत्तणं मग्गसि, अहं एत्ताहे न वँसामि, सा भणइ–सामिणी होमि, राया भणइ–वीरओ जइ स मण्णिहिति, मोइया य पवइया। अरिट्ठणेमिसामी समोसरिओ, राया णिग्गओ, सबे साहू बारसावत्तेण वंदइ, रायाणो परिस्संता ठिया, वीरओ वासुदेवाणुवत्तीए वंदइ, कण्हो आबद्धसेओ जाओ, भट्टारओ पुच्छिओ–तिहिं सट्ठेहिं सएहिं संगामाणं न एवं परिस्संतोमि भगवं!, भगवया भणियं–कण्हा! खाइगं ते सम्मत्तमुप्पाडियं तित्थगरनामगोत्तं च। जया किर पाए विद्धो तदा णिंदणगरहणाए सत्तमाए पुढवीए बद्धेल्लयं आउयं उवेढंतेण तच्चपुढविमाणियं, जइ आउयं धरंतो पढमपुढविमाणेंतो,

---

१ दास इति, राजा भणति–सर्वं यदि न कारयसि तदा तव नास्ति निस्फेटः, तेन राज्ञ आकूतं ज्ञात्वा गृहगतेन भणिता–यथा पायनं कुर्विति, सा रुष्टा, कोलिक! आत्मानं न जानीषे?, तेनोत्थाय रज्ज्वाऽऽहता, कूजन्ती राज्ञो मूलं गता, पादपतिता भणति–यथा तेनाहं कोलिकेनाहता, राजा भणति–तेनैवासि मया भणिता–स्वामिनी भवेति, तदा त्वं दासत्वं मार्गयसि, अहमधुना न वसामि (त्वां शास्मि), सा भणति–स्वामिनी भवामि, राजा भणति–वीरको यदि स मंस्यति, मोचिता प्रव्रजिता च। अरिष्टनेमिस्वामी समवसृतः, राजा निर्गतः, सर्वान् साधून् द्वादशावर्त्तेन वन्दते, राजानः परिश्रान्ताः स्थिताः, वीरको वासुदेवानुवृत्त्या वन्दते, कृष्ण आबद्धस्वेदो जातः, भट्टारकः पृष्टः–त्रिभिः षष्ट्यधिकैः शतैः संग्रामैः नैवं परिश्रान्तोऽस्मि भगवन्!, भगवता भणितं–कृष्ण! क्षायिकं त्वया सम्यक्त्वमुत्पादितं तीर्थंकरनामगोत्रं च। यदा किल पादे विद्धस्तदा निन्दनगर्हाभ्यां सप्तम्यां पृथ्व्यां बद्धमायुरुद्वेष्टयता तृतीयपृथ्वीमानीतं, यद्यायुरधारयिष्यः प्रथमपृथ्वीमानेष्यः, *सासामि

प्रत सूत्रांक ||७..||
दीप अनुक्रम [९..]

आवश्यक-हारिभद्रीया ||५१५||

३ वन्दनाध्ययने वन्दनादिदृष्टान्ताः

अण्णे भणंति–इहेव वंदंतेणंति । भावकिइकम्मं वासुदेवस्स, दवकिइकम्मं वीरयस्स ३ ।। इदानीं सेवकः, तत्र कथानकम्— एगस्स रण्णो दो सेवया, तेसिं अल्लीणा गामा, तेसिं सीमानिमित्तेण भंडणं जायं, रायकुलं पहाविया, साहू दिट्ठो, एगो भणइ–भावेण 'साधुं दृष्ट्वा ध्रुवा सिद्धिः' पयाहिणीकाउं वंदित्ता गओ, बितिओ तस्स किर उग्घडयं करेइ, सोऽवि वंदइ, तहेव भणइ, ववहारो आबद्धो, जिओ, तस्स दवपूया, इयरस्स भावपूया ४ ।। इदानीं पालकः, तत्र कथानकम्–बारवईए वासुदेवो राया, पालयसंबादओ से पुत्ता, णेमी समोसढो, वासुदेवो भणइ–जो कल्लं सामिं पढमं वंदइ तस्स अहं जं मग्गइ तं देमि, संबेण सयणिज्जाओ उट्ठेत्ता वंदिओ, पालएण रज्जलोभेण सिग्घेण आसरयणेण गंतूण वंदिओ, सो किर अभवसिद्धिओ वंदइ हियएण अक्कोसइ, वासुदेवो निग्गओ पुच्छइ–केण तुज्झे अज्ज पढमं वंदिया ?, सामी भणइ–दवओ पालएणं भावओ संबेणं, संबस्स तं दिण्णं ५ ।। एवं तावद्वन्दनं पर्यायशब्दद्वारेण निरूपितम्, अधुना यदुक्तं 'कर्तव्यं कस्य वे'ति स निरूप्यते, तत्र येषां न कर्तव्यं तानभिधित्सुराह—

१ अन्ये भणन्ति–इहैव वन्दमानेनेति । भावकृतिकर्म वासुदेवस्य, द्रव्यकृतिकर्म वीरकस्य ॥ एकस्य राज्ञो द्वौ सेवकौ, तयोरासन्नौ ग्रामौ, तयोः सीमानिमित्तं भण्डनं जातं, राजकुलं प्रधावितौ, साधुर्दृष्टः, एको भणति–भावेन प्रदक्षिणीकृत्य वन्दित्वा गतः, द्वितीयस्तस्य किलानुवर्त्तनं करोति, सोऽपि वन्दते, तथैव भणति, व्यवहार आबद्धः, जितः, तस्य द्रव्यपूजा इतरस्य भावपूजा । द्वारिकायां वासुदेवो राजा, पालकशाम्बादयस्तस्य पुत्राः, नेमिः समवसृतः, वासुदेवो भणति–यः कल्ये स्वामिनं प्रथमं वन्दते तस्मायहं यन्मार्गयति तद्ददामि, शाम्बेन शयनीयादुत्थाय वन्दितः, पालकेन राज्यलोभेन शीघ्रेणाश्वरत्नेन गत्वा वन्दितः, स किलाभव्यसिद्धिको वन्दते हृदयेनाक्रोशति, वासुदेवो निर्गतः पृच्छति–केन यूयमद्य प्रथमं वन्दिताः ?, स्वामी भणति–द्रव्यतः पालकेन भावतः शाम्बेन, शाम्बाय तद्दत्तं ।

||५१५||

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक ||७..||

दीप अनुक्रम [९..]

असंजयं न वंदिज्जा, मायरं पियरं गुरुं । सेणावइं पसत्थारं, रायाणं देवयाणि य ॥ ११०५ ॥

व्याख्या—न संयता असंयताः, अविरता इत्यर्थः, तान्न वन्देत, कं?–'मातरं' जननीं तथा 'पितरं' जनकम्, असंयतमिति वर्तते, प्राकृतशैल्या चाऽसंयतशब्दो लिङ्गत्रयेऽपि यथायोगमभिसंबध्यते, तथा 'गुरुं' पितामहादिलक्षणम्, असंयतत्वं सर्वत्र योजनीयं, तथा हस्त्यश्वरथपदातिलक्षणा सेना तस्याः पतिः सेनापतिः–गणराजेत्यर्थः, तं सेनापतिं, 'प्रशस्तारं' प्रकर्षेण शास्ता प्रशास्ता तं–धर्मपाठकादिलक्षणं, तथा बद्धमुकुटो राजाऽभिधीयते तं राजानं, दैवतानि च न वन्देत, देवदेवीसङ्ग्रहार्थं दैवतग्रहणं, चशब्दाल्लेखाचार्यादिग्रहो वेदितव्य इति गाथार्थः ॥ ११०५ ॥ इदानीं यस्य वन्दनं कर्तव्यं स उच्यते—

समणं वंदिज्ज मेहावी, संजयं सुसमाहियं । पंचसमिय तिगुत्तं, अस्संजमदुगुंछगं ॥ ११०६ ॥

व्याख्या—श्रमणः–प्राग्निरूपितशब्दार्थः तं श्रमणं 'वन्देत' नमस्कुर्यात्, कः?–'मेधावी' न्यायावस्थितः, स खलु श्रमणः नामस्थापनादिभेदभिन्नोऽपि भवति, अत आह–'संयतं' सम्–एकीभावेन यतः संयतः, क्रियां प्रति यत्नवानित्यर्थः, असावपि च व्यवहारनयाभिप्रायतो लब्ध्यादिनिमित्तमसम्पूर्णदर्शनादिरपि संभाव्यते, अत आह–'सुसमाहितं' दर्शनादिषु सुष्ठु–सम्यगाहितः सुसमाहितस्तं, सुसमाहितत्वमेव दर्श्यते–पञ्चभिरीर्यासमित्यादिभिः समितिभिः समितः पञ्चसमितस्तं, तिसृभिर्मनोगुप्त्यादिभिर्गुप्तिभिर्गुप्तस्तं त्रिगुप्तं, प्राणातिपातादिलक्षणोऽसंयमः असंयमं गर्हति–जुगुप्सतीत्यसंयमजुगुप्सकस्तम्, अनेन दृढधर्मता तस्यावेदिता भवतीति गाथार्थः ॥ ११०६ ॥ आह–किमिति यस्य कर्तव्यं वन्दनं स एवादौ

प्रत सूत्रांक ||७..||

दीप अनुक्रम [९..]

आवश्यक-हारिभद्रीया ||५१६||

३ वन्दनाध्ययने वन्द्यावन्द्यविचारः

नोक्तः?, येन येषां न कर्तव्यं मात्रादीनां तेऽप्युक्ता इति, उच्यते, सर्वपार्षदं हीदं शास्त्रं, त्रिविधाश्च विनेया भवन्ति–केचिदुद्घटितज्ञाः केचिन्मध्यमबुद्धयः केचित्प्रपञ्चितज्ञा इति, तत्र मा भूत्प्रपञ्चितज्ञानां मतिः–उक्तलक्षणस्य श्रमणस्य कर्तव्यं मात्रादीनां तु न विधिर्न प्रतिषेध इत्यतस्तेऽप्युक्ता इति, यद्येवं किमिति येषां न कर्तव्यं त एवादा उक्ता इति?, अत्रोच्यते, हिताप्रवृत्तेरहितप्रवृत्तिर्गुरु संसारकारणमिति दर्शनार्थमित्यलं प्रसङ्गेन, प्रकृतं प्रस्तुमः–श्रमणं वन्देत मेधावी संयतमित्युक्तं, तत्रेत्थम्भूतमेव वन्देत, न तु पार्श्वस्थादीन्, तथा चाह—

पंचण्हं किइकम्मं मालामरुएण होइ दिट्ठंतो। वेरुलियनाणदंसणणीयावासे य जे दोसा ॥ ११०७॥

व्याख्या—'पञ्चानां' पार्श्वस्थावसन्नकुशीलसंसक्तयथाच्छन्दानां 'कृतिकर्म' वन्दनकर्म, न कर्तव्यमिति वाक्यशेषः, अयं च वाक्यशेषः 'श्रमणं वन्देत मेधावी संयत' मित्यादि ग्रन्थादवगम्यते, पार्श्वस्थादीनां यथोक्तश्रमणगुणविकलत्वात्, यथा संयतानामपि ये पार्श्वस्थादिभिः सार्द्धं संसर्गं कुर्वन्ति तेषामपि कृतिकर्म न कर्तव्यं, आह–कुतोऽयमर्थोऽवगम्यते?, उच्यते, मालामरुकाभ्यां भवति दृष्टान्त इति वचनात्, वक्ष्यते च–'अ[1]सुइट्ठाणे पडिया' इत्यादि, तथा 'पं[2]क्कणकुले' इत्यादि 'वेरुलिय'त्ति संसर्गजदोषनिराकरणाय वैडूर्यदृष्टान्तो भविष्यति, वक्ष्यति च–'सु[3]चिरंपि अच्छमाणो वेरुलिओ' इत्यादि, तत्प्रत्यवस्थानं च 'अं[4]बस्स य निंबस्स ये'त्यादिना सप्रपञ्चं वक्ष्यते, 'णाण'त्ति दर्शनचारित्रासेवनसामर्थ्यविकला ज्ञानन- ||५१६||

१ अशुचिस्थाने पतिता २ श्वपाककुले ३ सुचिरमपि तिष्ठत् वैडूर्यं ४ आम्रस्य च निम्बस्य च

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्तिः

प्रत
सूत्रांक
||७..||

दीप
अनुक्रम
[९..]

यप्रधाना एवमाहुः—ज्ञानिन एव कृतिकर्म कर्तव्यं, वक्ष्यते च–'कामं चरणं भावो तं पुण णाणसहिओ समाणेइ । ण य नाणं तु न भावो तेण र णाणी पणिवयामो ॥ १ ॥' इत्यादि, 'दंसण'त्ति ज्ञानचरणधर्मविकलाः स्वल्पसत्त्वा एवमाहुः—दर्शनिन एव कृतिकर्म कर्तव्यं, वक्ष्यते च–जेह णाणेणं ण विणा चरणं णादंसणिस्स इय नाणं । न य दंसणं न भावो तेण र दिट्ठिं पणिवयामो ॥ १ ॥' इत्यादि, तथाऽन्ये सम्पूर्णचरणधर्मानुपालनासमर्था नित्यवासादि प्रशंसन्ति सङ्गमस्थविरोदाहरणेन, अपरे चैत्याद्यालम्बनं कुर्वन्ति, वक्ष्यते च–'जाहेऽविय परितंता गामागरनगरपट्टणमडंता । तो केइ नीयवासी संगमथेरं ववइसंति ॥ १ ॥' इत्यादि, तदत्र नित्यवासे च ये दोषाः चशब्दात् केवलज्ञानदर्शनपक्षे च चैत्यभक्त्याऽऽर्यिकालाभविकृतिपरिभोगपक्षे च ते वक्तव्या इति वाक्यशेषः, एष तावद्गाथासंक्षेपार्थः ॥ साम्प्रतं यदुक्तं 'पञ्चानां कृतिकर्म न कर्तव्यम्' अथ क एते पञ्च ?, तान् स्वरूपतो निदर्शयन्नाह—

पासत्थो ओसन्नो होइ कुसीलो तहेव संसत्तो । अहछंदोऽविय एए अवंदणिज्जा जिणमयंमि ॥ १ ॥ (प्र०)

व्याख्या—किलेयमन्यकर्तृकी गाथा तथाऽपि सोपयोगा चेति व्याख्यायते । तत्र पार्श्वस्थः दर्शनादीनां पार्श्वे तिष्ठतीति पार्श्वस्थः, अथवा मिथ्यात्वादयो बन्धहेतवः पाशाः पाशेषु तिष्ठतीति पाशस्थः,–'सो पासत्थो दुविहो सव्वे देसे य

१ कामं चरणं भावस्तत् पुनर्ज्ञानसहितः संपूरयति । न च ज्ञानं नैव भावस्तस्मात् ज्ञानिनः प्रणिपतामि ॥ १ ॥ २ यथा ज्ञानेन न विना चरणं नादर्शनिन इति ज्ञानम् । न च दर्शनं न भावस्तस्मात्! दृष्टिमतः प्रणिपतामि ॥ १ ॥ ३ यदापि च परितान्ता ग्रामाकरनगरपत्तनमटन्तः । ततः केचित् नित्यवासिनः संगमस्थविरं व्यपदिशन्ति ॥ १ ॥ ( ) ४ स पार्श्वस्थो द्विविधः–सर्वस्मिन् देशे च

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्तिः

पासत्था आदि पञ्चानां वक्तव्यता

प्रत सूत्रांक ||७..||

दीप अनुक्रम [९..]

आवश्यक-हारिभ-द्रीया ||५१७||

३ वन्दना-ध्ययने अवन्द्य-स्वरूपं

होई णायव्वो । सव्वंमि णाणदंसणचरणाणं जो उ पासंमि ॥ १ ॥ देसंमि य पासत्थो सिज्जायरऽभिहड रायपिंडं वा । णिययं च अग्गपिंडं भुंजति णिक्कारणेणं च† ॥ २ ॥ कुलणिस्साए विहरइ ठवणकुलाणि य अकारणे विसइ । संखडिपलोयणाए गच्छइ तह संथवं कुणई ॥ ३ ॥' अवसन्नः—सामाचार्यासेवने अवसन्नवदवसन्नः, 'ओसन्नोऽवि य दुविहो सव्वे देसे य तत्थ सव्वंमि । उउबद्धपीढफलगो ठवियगभोई य णायव्वो ॥ १ ॥' देशावसन्नस्तु—'आवस्सगसज्झाए पडिलेहणझाणभिक्खऽभत्तट्ठे । आगमणे णिग्गमणे ठाणे य णिसीयणतुयट्टे ॥१॥ आवस्सयाइयाइं ण करे करेइ अहवावि हीणमधियाइं । गुरुवयणबलाइ तधा भणिओ एसो य ओसन्नो ॥ २ ॥ गोणो जहा वलंतो भंजइ समिलं तु सोऽवि एमेव । गुरुवयणं अकरेंतो बलाइ कुणई व उस्सूण्णो* ॥ ३ ॥' 'भवति कुशीलः' कुत्सितं शीलमस्येति कुशीलः,—तिविहो होइ कुसीलो णाणे तह दंसणे चरित्ते य । एसो अवंदणिज्जो पन्नत्तो वीयरागेहिं ॥ १ ॥ णाणे णाणायारं जो उ विराहेइ कालमाईयं । दंसणे

---

१ भवति ज्ञातव्यः । सर्वस्मिन् ज्ञानदर्शनचरणानां यस्तु पार्श्वे ॥ १ ॥ देशे च पार्श्वस्थः शय्यातराभ्याहृते राजपिण्डं वा । नित्यं चाग्रपिण्डं भुनक्ति निष्कारणेन च ॥ २ ॥ कुलनिश्रया विहरति स्थापनाकुलानि चाकारणे विशति । संखडीप्रलोकनया गच्छति तथा संस्तवं करोति ॥ ३ ॥ २ अवसन्नोऽपि च द्विविधः सर्वस्मिन् देशे च तत्र सर्वस्मिन् । ऋतुबद्धपीठफलकः स्थापितभोजी च ज्ञातव्यः ॥१॥ आवश्यकस्वाध्याययोः प्रतिलेखनायां ध्याने भिक्षायामभक्तार्थे । आगमने निर्गमने स्थाने च निषीदने त्वग्वर्त्तने ॥ १ ॥ आवश्यकादीनि न करोति अथवाऽपि करोति हीनाधिकानि (वा)। गुरुवचनबलात्तथा भणित एष चावसन्नः ॥ २ ॥ गौर्यथा वल्गन् भनक्ति समिलां तु सोऽप्येवमेव । गुरुवचनमकुर्वन् बलात् करोति वावसन्नः ॥ ३ ॥ त्रिविधो भवति कुशीलो ज्ञाने तथा दर्शने चारित्रे च । एषोऽवन्दनीयः प्रज्ञप्तो वीतरागैः ॥ १ ॥ ज्ञाने ज्ञानाचारं यस्तु विराधयति कालादिकम् । दर्शने †णे चेव प्र. *उस्सोढं

||५१७||

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्तिः

प्रत
सूत्रांक
||७..||

दीप
अनुक्रम
[९..]

दंसणायारं चरणकुसीलो इमो होइ ॥ २ ॥ कोउय भूईकम्मे पसिणापसिणे णिमित्तमाजीवे । कक्ककुरुए य लक्खण उवजीवइ विज्जमंताई ॥ ३ ॥ सोभग्गाइणिमित्तं परेसि ण्हवणाइ कोउयं भणियं । जरियाइ भूइदाणं भूईकम्मं विणिदिट्ठं ॥ ४ ॥ सुविणयविज्जाकहियं आइंखणिघंटियाइकहियं वा । जं सासइ अन्नेसिं पसिणापसिणं हवइ एयं ॥ ५ ॥ तीयाइभावकहणं होइ णिमित्तं इमं तु आजीवं । जाइकुलसिप्पकम्मे तवगणसुत्ताइ सत्तविहं ॥ ६ ॥ कक्ककुरुगा य माया णियडीए जं भणंति तं भणियं । थीलक्खणाइ लक्खण विज्जामंताइया पयडा ॥ ७ ॥' 'तथैव संसक्त' इति यथा पार्श्वस्थादयोऽवन्यास्तथाऽयमपि संसक्तवत् संसक्तः, तं पार्श्वस्थादिकं तपस्विनं वाऽऽसाद्य सन्निहितदोषगुण इत्यर्थः, आह च–'संसत्तो य इदाणीं सो पुण गोभत्तलंदए चेव । उच्चिट्ठमणुच्चिट्ठं जं किंची छुब्भई सव्वं ॥ १ ॥ एमेव य मूलुत्तरदोसा य गुणा य जत्तिया केइ । ते तम्मिवि सन्निहिया संसत्तो भण्णई तम्हा ॥ २ ॥ रायविदूसगमाई अहवावि णडो जहा उ बहुरूवो ।

---

१ दर्शनाचारं चरणकुशीलोऽयं भवति ॥ २ ॥ कौतुकं भूतिकर्म प्रश्नाप्रश्नं निमित्तमाजीवम् । कल्ककुहुकञ्च लक्षणं उपजीवति विद्यामन्त्रादीन् ॥ ३ ॥ सौभाग्यादिनिमित्तं परेषां स्नपनादि कौतुकं भणितम् । ज्वरितादये भूतिदानं भूतिकर्म विनिर्दिष्टम् ॥ ४ ॥ स्वप्नविद्याकथितमाङ्खिनीघण्टिकादिकथितं वा । यत् शास्ति अन्येभ्यः प्रश्नाप्रश्नं भवत्येतत् ॥ ५ ॥ अतीतादिभावकथनं भवति निमित्तमिदं त्वाजीवनम् । जातिकुलशिल्पकर्माणि तपोगणसूत्राणि सप्तविधम् ॥ ६ ॥ कल्ककुहुका च माया निकृत्या यद्भणन्ति तद्भणितम् । स्त्रीलक्षणादि लक्षणं विद्यामन्त्रादिकाः प्रकटाः ॥ ७ ॥ संसक्तश्चेदानीं स पुनर्गोभक्तलन्दके चैव । उच्छिष्टमनुच्छिष्टं यत्किञ्चित् क्षिप्यते सर्वम् ॥ १ ॥ एवमेव च मूलोत्तरदोषाश्च गुणाश्च यावन्तः केचित् । ते तस्मिन् सन्निहिताः संसक्तो भण्यते तस्मात् ॥ २ ॥ राजविदूषकादयोऽथवापि नटो यथा तु बहुरूपः ।

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक ||७..||

दीप अनुक्रम [९..]

अहवा वि मेलगो जो हलिद्दरागाइ बहुवण्णो ॥ ३ ॥ एमेव जारिसेणं सुद्धमसुद्धेण वाऽवि संमिलइ । तारिसओ च्चिय होति संसत्तो भण्णई तम्हा ॥ ४ ॥ सो दुविकप्पो भणिओ जिणेहि जियरागदोसमोहेहिं । एगो उ संकिलिट्ठो असंकिलिट्ठो तहा अण्णो ॥ ५ ॥ पंचासवप्पवत्तो जो खलु तिहि गारवेहि पडिबद्धो । इत्थिगिहिसंकिलिट्ठो संसत्तो संकिलिट्ठो उ ॥ ६ ॥ पासत्थाईएसुं संविग्गेसुं च जत्थ मिलती उ । तहि तारिसओ भवई पियधम्मो अहव इयरो उ ॥ ७ ॥ एषोऽसंक्लिष्टः, 'यथाछन्दोऽपि च' यथाछन्दः—यथेच्छयैवागमनिरपेक्षं प्रवर्तते यः स यथाच्छन्दोऽभिधीयते, उक्तं च—“उस्सुत्तमायरंतो उस्सुत्तं चेव पन्नवेमाणो । एसो उ अहाछंदो इच्छाछंदोत्ति एगट्ठा ॥ १ ॥ उस्सुत्तमणुवदिट्ठं सच्छंदविगप्पियं अणणुवाइ । परतत्ति पवत्तिंति णेओ इणमो अहाछंदो ॥२॥ सच्छंदमइविगप्पिय किंची सुहसायविगइपडिबद्धो । तिहिगारवेहिं मज्जइ तं जाणाही अहाछंदं ॥ ३ ॥” एते पार्श्वस्थादयोऽवन्दनीयाः, क्व ?—जिनमते, न तु लोक इति गाथार्थः ॥ अथ पार्श्वस्थादीन् वन्दमानस्य को दोष इति ?, उच्यते—

१ अथवाऽपि मेलको यो हरिद्रारागादिः बहुवर्णः ॥ ३ ॥ एवमेव यादृशेन शुद्धेनाशुद्धेन वाऽपि संवसति । तादृश एव भवति संसक्तो भण्यते तस्मात् ॥ ४ ॥ स द्विविकल्पो भणितो जिनैर्जितरागद्वेषमोहैः । एकस्तु संक्लिष्टोऽसंक्लिष्टस्तथाऽन्यः ॥ ५ ॥ पञ्चाश्रवप्रवृत्तो यः खलु त्रिभिर्गौरवैः प्रतिबद्धः । स्त्रीगृहिभिः संक्लिष्टः संसक्तः संक्लिष्टः स तु ॥ ६ ॥ पार्श्वस्थादिकेषु संविग्नेषु च यत्र मिलति तु । तत्र तादृशो भवति प्रियधर्मा अथवा इतरस्तु ॥ ७ ॥ २ उत्सूत्रमाचरन् उत्सूत्रमेव प्रज्ञापयन् । एष तु यथाच्छन्द इच्छाछन्द इति एकार्थौ ॥ १ ॥ उत्सूत्रमनुपदिष्टं स्वच्छन्दविकल्पितमननुपाति । परतप्तिं प्रवर्त्तयति ज्ञेयोऽयं यथाच्छन्दः ॥ २ ॥ स्वच्छन्दमतिविकल्पितं किञ्चित्सुखसातविकृतिप्रतिबद्धः । त्रिभिर्गौरवैर्माद्यति तं जानाहि यथाच्छन्दम् ॥ ३ ॥

प्रत सूत्रांक ||७..||

दीप अनुक्रम [९..]

पासत्थाई वंदमाणस्स नेव कित्ती न निज्जरा होइ । कायकिलेसं एमेव कुणई तह कम्मबंधं च ॥ ११०८ ॥

व्याख्या—'पार्श्वस्थादीन्' उक्तलक्षणान् 'वन्दमानस्य' नमस्कुर्वतो नैव कीर्तिर्न निर्जरा भवति, तत्र कीर्तिः—अहो अयं पुण्यभागित्येवंलक्षणा सा भवति, अपि त्वकीर्तिर्भवति, नूनमयमप्येवंस्वरूपो येनैषां वन्दनं करोति, तथा निर्जरणं निर्जरा—कर्मक्षयलक्षणा सा न भवति, तीर्थकराज्ञाविराधनाद्वारेण निर्गुणत्वात्तेषामिति, चीयत इति कायः—देहस्तस्य क्लेशः—अवनामादिलक्षणः कायक्लेशस्तं कायक्लेशम् 'एवमेव' मुधैव 'करोति' निर्वर्तयति, तथा क्रियत इति कर्म—ज्ञानावरणीयादिलक्षणं तस्य बन्धो—विशिष्टरचनयाऽऽत्मनि स्थापनं तेन वा आत्मनो बन्धः—स्वस्वरूपतिरस्करणलक्षणः कर्मबन्धस्तं कर्मबन्धं च करोतीति वर्तते, चशब्दादाज्ञाभङ्गादींश्च दोषानवाप्नुते, कथं ?—भगवत्प्रतिकुष्टवन्दने आज्ञाभङ्गः, तं दृष्ट्वाऽन्येऽपि वन्दन्तीत्यनवस्था, तान् वन्दमानान् दृष्ट्वाऽन्येषां मिथ्यात्वं, कायक्लेशतो देवताभ्यो वाऽऽत्मविराधना, तद्वन्दनेन तत्कृतासंयमानुमोदनात्संयमविराधनेति गाथार्थः ॥ ११०८ ॥ एवं तावत्पार्श्वस्थादीन् वन्दमानस्य दोषा उक्ताः, साम्प्रतं पार्श्वस्थानामेव गुणाधिकवन्दनप्रतिषेधमकुर्वतामपायान् प्रदर्शयन्नाह—

जे बंभचेरभट्ठा पाए उड्डुंति बंभयारीणं । ते होंति कुंटमंटा बोही य सुदुल्लहा तेसिं ॥ ११०९ ॥

व्याख्या—ये—पार्श्वस्थादयो भ्रष्टब्रह्मचर्या अपगतब्रह्मचर्या इत्यर्थः, ब्रह्मचर्यशब्दो मैथुनविरतिवाचकः, तथौघतः संयमवाचकश्च, 'पाए उड्डिंति बंभयारीणं' पादावभिमानतो व्यवस्थापयन्ति ब्रह्मचारिणां वन्दमानानामिति, न तद्वन्दननिषेधं कुर्वन्तीत्यर्थः, ते तदुपात्तकर्मजं नारकत्वादिलक्षणं विपाकमासाद्य यदा कथञ्चित्कृच्छ्रेण मानुषत्वमासादयन्ति-

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्तिः

तदाऽपि भवन्ति कोंटमण्टाः 'बोधिश्च' जिनशासनावबोधलक्षणा सकलदुःखविरेकभूता सुदुर्लभा तेषां, सकृत्प्राप्तौ सत्यामप्यनन्तसंसारित्वादिति गाथार्थः ॥ ११०९ ॥ तथा—

सुट्ठुतरं नासंती अप्पाणं जे चरित्तपब्भट्ठा । गुरुजण वंदाविंती सुसमण जहुत्तकारिं च ॥ १११० ॥ दारं ॥

व्याख्या—'सुट्ठुतरं'ति सुतरां नाशयन्त्यात्मानं सन्मार्गात्, के ?—ये चारित्रात्–प्राग्निरूपितशब्दार्थात् प्रकर्षेण भ्रष्टाः–अपेताः सन्तः 'गुरुजनं' गुणस्थसुसाधुवर्गं 'वन्दयन्ति' कृतिकर्म कारयन्ति, किम्भूतं गुरुजनं ?—शोभनाः श्रमणा यस्मिन् स सुश्रमणस्तं, अनुस्वारलोपोऽत्र द्रष्टव्यः, तथा यथोक्तं क्रियाकलापं कर्तुं शीलमस्येति यथोक्तकारी तं यथोक्तकारिणं चेति गाथार्थः ॥ १११० ॥ एवं वन्दकवन्द्यदोषसम्भवात्पार्श्वस्थादयो न वन्दनीयाः, तथा गुणवन्तोऽपि ये तैः सार्द्धं संसर्गं कुर्वन्ति तेऽपि न वन्दनीयाः, किमित्यत आह—

असुइट्ठाणे पडिया चंपगमाला न कीरई सीसे । पासत्थाईठाणेसु वट्टमाणा तह अपुज्जा ॥ ११११ ॥

व्याख्या—यथा 'अशुचिस्थाने' विट्प्रधाने स्थाने पतिता चम्पकमाला स्वरूपतः शोभनाऽपि सत्यशुचिस्थानसंसर्गान्न क्रियते शिरसि, पार्श्वस्थादिस्थानेषु वर्तमानाः साधवस्तथा 'अपूज्याः' अवन्दनीयाः, पार्श्वस्थादीनां स्थानानि—वसतिनिर्गमभूम्यादीनि परिगृह्यन्ते, अन्ये तु शय्यातरपिण्डाद्युपभोगलक्षणानि व्याचक्षते यत्संसर्गात्पार्श्वस्थादयो भवन्ति, न ॥५१९॥ चैतानि सुष्ठु घटन्ते, तेषामपि तद्भावापत्तेः, चम्पकमालोदाहरणोपनयस्य च सम्यगघटमानत्वादिति । अत्र कथानकं—

प्रत सूत्रांक ||७..||

दीप अनुक्रम [९..]

एगो चंपकप्पिओ कुमारो चंपगमालाए सिरे कयाए आसगओ वच्चइ, आसेण उद्धूयस्स सा चंपगमाला अमेज्झे पडिया, गिण्हामित्ति अमिज्झं दट्ठूण मुक्का, सो य चंपएहिं विणाधितिं न लभइ, तहावि ठाणदोसेण मुक्का। एवं चंपगमालत्थाणीया साहू अमिज्झत्थाणिया पासत्थादयो, जो विसुद्धो तेहिं समं मिलइ संवसइ वा सोऽवि परिहरणिज्जो ॥ अधिकृतार्थप्रसाधनायैव दृष्टान्तान्तरमाह—

पक्कणकुले वसंतो सउणीपारोऽवि गरहिओ होइ। इय गरहिया सुविहिया मज्झि वसंता कुसीलाणं॥१११२॥

व्याख्या—पक्कणकुलं–गर्हितं कुलं तस्मिन् पक्कणकुले वसन् सन्, पारङ्गतवानिति पारगः, शकुन्याः पारगः, असावपि 'गर्हितो भवति' निन्द्यो भवति, शकुनीशब्देन चतुर्दश विद्यास्थानानि परिगृह्यन्ते, "अङ्गानि चतुरो वेदा, मीमांसा न्यायविस्तरः। पुराणं धर्मशास्त्रं च, स्थानान्याहुश्चतुर्दश ॥ १ ॥" तत्राङ्गानि षट्, तद्यथा–'शिक्षा कल्पो व्याकरणं, छन्दो ज्योतिर्निरुक्तयः' इति, 'इय' एवं गर्हिताः 'सुविहिताः' साधवो मध्ये वसन्तः 'कुशीलानां' पार्श्वस्थादीनाम् ॥ अत्र कथानकम्—एगस्स धिज्जाइयस्स पंच पुत्ता सउणीपारगा, तत्थेगो मरुगो एगाए दासीए संपलग्गो, सा मज्जं पिबइ, इमो न

---

१ एकश्चम्पकप्रियः कुमारः चम्पकमालायां शिरसि कृतायामश्वगतो व्रजति, अश्वेनोद्धूते सा चम्पकमालाऽमेध्ये पतिता, गृह्णामीति अमेध्यं दृष्ट्वा मुक्ता, स च चम्पकैर्विना धृतिं न लभते, तथापि स्थानदोषेण मुक्ता। एवं चम्पकमालास्थानीयाः साधवः अमेध्यस्थानीयाः पार्श्वस्थादयः, यो विशुद्धस्तैः समं मिलति संवसति वा सोऽपि परिहरणीयः। २ एकस्य धिग्जातीयस्य पञ्च पुत्राः शकुनीपारगाः, तत्रैको ब्राह्मण एकस्यां दास्यां संप्रलग्नः, सा मद्यं पिबति, अयं न

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्ति:

प्रत सूत्रांक ||७..||

दीप अनुक्रम [९..]

आवश्यक-हारिभद्रीया ||५२०||

३ वन्दनाध्ययने संसर्गजा दोषगुणाः

पिबइ, तीए भण्णइ–जइ तुमं ण पिबसि तो ण णेहो, सो (सा) भणइ–रत्ती होज्जा, इयरहा विसरिसो संजोगुत्ति, एवं सो बहुसो भणंतीए पाइत्तो, सो पढमं पच्छण्णं पिबइ, पच्छा पायडंपि पिबिउमाढत्तो, पच्छा अइपसंगेण मज्जमंसासी जाओ, पक्कणेहिं सह लोट्टेउमाढत्तो, तेहिं चेव सह पिबइ खाइ संवसइ य, पच्छा सो पितुणा सयणेण य सव्वबज्झो अप्पवेसो कओ, अण्णया सो पडिभग्गो, बितिओ से भाया सिणेहेण तं कुडिं पविसिऊण पुच्छइ देइ य से किंचि, सो पितुणा उवलंभिऊण णिच्छूढो, तइओ बाहिरपाडए ठिओ पुच्छइ विसज्जेइ से किंचि, सोवि णिच्छूढो, चउत्थो परंपरएण दवावेइ, सोवि णिच्छूढो, पंचमो गंधंपि ण इच्छइ, तेण मरुगेण करणं चडिऊण सव्वस्स घरस्स सो सामीकओ, इयरे चत्तारिवि बाहिरा कया लोगगरहिया जाया। एस दिट्ठंतो, उवणओ से इमो–जारिसा पक्कणा तारिसा पासत्थाई जारिसो धिज्जाइओ तारिसो आयरिओ जारिसा पुत्ता तारिसा साहू जहा ते णिच्छूढा एवं णिच्छुब्भंति कुसीलसंसग्गिं करिंता गरहिया य

||५२०||

---

१ पिबति, तया भण्यते–यदि त्वं न पिबसि न स्नेहः, स(सा) भणति–रात्रौ (रतिः) भवेत्, इतरथा विसदृशः संयोग इति, एवं स बहुशो भणन्त्या तया पायितः, स प्रथमं प्रच्छन्नं पिबति, पश्चात्प्रकटमपि पातुमारब्धः, पश्चात् अतिप्रसङ्गेन मद्यमांसाशी जातः, श्वपाकैः सह भ्रमितुमारब्धः, तैः सहैव खादति पिबति संवसति च, पश्चात् स पित्रा स्वजनेन च सर्वबाह्यः अप्रवेशः कृतः, अन्यदा स प्रतिभग्नः, द्वितीयस्तस्य भ्राता स्नेहेन तां कुटीं प्रविश्य पृच्छति ददाति च तस्मै किञ्चित्, स उपालभ्य पित्रा निष्काशितः, तृतीयो बाह्यपाटके स्थितः पृच्छति विसृजति च तस्मै किञ्चित्, सोऽपि निष्काशितः, चतुर्थः परम्परकेण दापयति, सोऽपि निष्काशितः, पञ्चमो गन्धमपि नेच्छति, तेन मरुकेण न्यायालये गत्वा सर्वस्य गृहस्य स स्वामीकृतः, इतरे चत्वारोऽपि बाह्याः कृता लोकगर्हिता जाताः एष दृष्टान्तः, उपनयोऽस्यायं–यादृशाश्चाण्डालास्तादृशाः पार्श्वस्थादयो यादृग् धिग्जातीयस्तादृगाचार्यः यादृशः पुत्रास्तादृशः साधवः यथा ते निष्काशिता एवं निष्काश्यन्ते कुशीलसंसर्गं कुर्वन्तः गर्हिताश्च

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्ति:

प्रत सूत्रांक ||७..||

दीप अनुक्रम [९..]

पॅवयणे भवंति, जो पुण परिहरइ सो पुज्जो साइयं अपज्जवसियं च णेव्वाणं पावइ, एवं संसग्गी विणासिया कुसीलेहिं। उक्तं च–'जो जारिसेण मित्तिं करेइ अचिरेण(सो)तारिसो होइ। कुसुमेहिं सह वसंता तिलावि तग्गंधया होंति ॥१॥' मरुएत्ति दिट्ठंतो गओ, व्याख्यातं द्वारगाथाशकलम्, अधुना वैडूर्यपदव्याख्या, अस्य चायमभिसम्बन्धः–पार्श्वस्थादिसंसर्गदोषादवन्दनीयाः साधवोऽप्युक्ताः, अत्राह चोदकः–कः पार्श्वस्थादिसंसर्गमात्राद्गुणवतो दोषः,? तथा चाह—

सुचिरंपि अच्छमाणो वेरुलिओ कायमणीयउम्मीसो। नोवेइ कायभावं पाहण्णगुणेण नियएणं ॥ १११३ ॥

व्याख्या—'सुचिरमपि' प्रभूतमपि कालं तिष्ठन् वैडूर्यः–मणिविशेषः, काचाश्च ते मणयश्च काचमणयः कुत्सिताः काचमणयः काचमणिकास्तैरुत्–प्राबल्येन मिश्रः काचमणिकोन्मिश्रः 'नोपैति' न याति 'काचभावं' काचधर्मं 'प्राधान्यगुणेन' वैमल्यगुणेन 'निजेन' आत्मीयेन, एवं सुसाधुरपि पार्श्वस्थादिभिः सार्द्धं संवसन्नपि शीलगुणेनात्मीयेन न पार्श्वस्थादिभावमुपैति, अयं भावार्थ इति गाथार्थः ॥ १११३ ॥ अत्राहाऽऽचार्यः—यत्किञ्चिदेतत्, न हि दृष्टान्तमात्रादेवाभिलषितार्थसिद्धिः संजायते, यतः—

भावुगअभावुगाणि य लोए दुविहाणि होंति दव्वाणि। वेरुलिओ तत्थ मणी अभावुगो अन्नदव्वेहिं ॥१११४॥

व्याख्या—भाव्यन्ते–प्रतियोगिना स्वगुणैरात्मभावमापाद्यन्त इति भाव्यानि–कवेल्लुकादीनि,प्राकृतशैल्या भावुकान्युच्यन्ते, अथवा प्रतियोगिनि सति तद्गुणापेक्षया तथाभवनशीलानि भावुकानि, लषपतपदस्थाभूवृषे*त्यादावुकञ् (पा. ३-२-१५४) तस्य

१ प्रवचने भवन्ति, यः पुनः परिहरति स पूज्यः साद्यपर्यवसानं च निर्वाणं प्राप्नोति, एवं संसर्गी विनाशिका कुशीलैः। यादृशेन मैत्रीं करोति अचिरेण (सः) तादृशो भवति। कुसुमैः सह वसन्तः तिला अपि तद्गन्धिका भवन्ति। १। मरुक इति दृष्टांतो गतः *त्यादावु द्विः 'यो प्र०

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक ||७..||

दीप अनुक्रम [९..]

आवश्यक-हारिभद्रीया ||५२१||

३ वन्दनाध्ययने संसर्गजा दोषगुणाः

ताच्छीलिकत्वादिति, तद्विपरीतानि अभाव्यानि च–नलादीनि लोके 'द्विविधानि' द्विप्रकाराणि भवन्ति 'द्रव्याणि' वस्तूनि, वैडूर्यस्तत्र मणिरभाव्यः 'अन्यद्रव्यैः' काचादिभिरिति गाथार्थः ॥ १११४ ॥ स्यान्मतिः–जीवोऽप्येवम्भूत एव भविष्यति न पार्श्वस्थादिसंसर्गेण तद्भावं यास्यति, एतच्चासत्, यतः—

जीवो अणाइनिहणो तब्भावणभाविओ य संसारे। खिप्पं सो भाविज्जइ मेलणदोसाणुभावेणं ॥ १११५ ॥

व्याख्या—'जीवः' प्राग्निरूपितशब्दार्थः, स हि अनादिनिधनः अनाद्यपर्यन्त इत्यर्थः, 'तद्भावनाभावितश्च' पार्श्वस्थाद्याचरितप्रमादादिभावनाभावितश्च 'संसारे' तिर्यग्नरनारकामरभवानुभूतिलक्षणे, ततश्च तद्भावनाभावितत्वात् 'क्षिप्रं' शीघ्रं स 'भाव्यते' प्रमादादिभावनयाऽऽत्मीक्रियते 'मीलनदोषानुभावेन' संसर्गदोषानुभावेनेति गाथार्थः ॥ १११५ ॥ अथ भवतो दृष्टान्तमात्रेण परितोषः ततो मद्विवक्षितार्थप्रतिपादकोऽपि दृष्टान्तोऽस्त्येव, शृणु—

अंबस्स य निंबस्स य दुण्हंपि समागयाइं मूलाइं। संसग्गीइ विणट्ठो अंबो निंबत्तणं पत्तो ॥ १११६ ॥

व्याख्या—चिरपतिततिक्तनिम्बोदकवासितायां भूमौ आम्रवृक्षः समुत्पन्नः, पुनस्तत्राऽऽम्रस्य च निम्बस्य च द्वयोरपि 'समागते' एकीभूते मूले, ततश्च 'संसर्ग्या' सङ्गत्या विनष्ट आम्रो निम्बत्वं प्राप्तः–तिक्तफलः संवृत्त इति गाथार्थः ॥ १११६ ॥ तदेवं संसर्गिदोषदर्शनात्त्याज्या पार्श्वस्थादिसंसर्गिरिति। पुनरप्याह चोदकः–नन्वेतदपि सप्रतिपक्षं, तथाहि—

सुचिरंपि अच्छमाणो नलथंभो उच्छुवाडमज्झंमि। कीस न जायइ महुरो? जइ संसग्गी पमाणं ते ॥ १११७॥ ||५२१||

व्याख्या—'सुचिरमपि' प्रभूतकालमपि तिष्ठन् 'नलस्तम्बः' वृक्षविशेषः 'इक्षुवाटमध्ये' इक्षुसंसर्ग्या किमिति न जायते

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक ||७..||

दीप अनुक्रम [९..]

मधुरः ?, यदि संसर्गी प्रमाणं तवेति गाथार्थः ॥ १११७ ॥ आहाचार्यः–ननु विहितोत्तरमेतत् 'भावुग अभावुगाणि य' इत्यादिग्रन्थेन, अत्रापि च केवली अभाव्यः पार्श्वस्थादिभिः, सरागास्तु भाव्या इति । आह–तैः सहाऽऽलापमात्रतायां संसर्ग्यां क इव दोष इति ?, उच्यते—

ऊणगसयभागेणं बिंबाइं परिणमंति तब्भावं । लवणागराइसु जहा वज्जेह कुसीलसंसग्गिं ॥ १११८ ॥

व्याख्या—ऊनश्चासौ शतभागश्चोनशतभागोऽपि न पूर्यत इत्यर्थः, तेन तावताऽंशेन प्रतियोगिना सह सम्बद्धानीति प्रक्रमाद्गम्यते 'बिम्बानि' रूपाणि 'परिणमन्ति' तद्भावमासादयन्ति लवणीभवन्तीत्यर्थः, लवणागरादिषु यथा, आदिशब्दाद्भाण्डखादिकारसादिग्रहः, तत्र किल लोहमपि तद्भावमासादयति, तथा पार्श्वस्थाद्यालापमात्रसंसर्ग्याऽपि सुविहितास्तमेव भावं यान्ति, अतः 'वज्जेह कुसीलसंसग्गिं' त्यजत कुशीलसंसर्गिमिति गाथार्थः ॥ १११८ ॥ पुनरपि संसर्गिदोषप्रतिपादनायैवाऽऽह—

जह नाम महुरसलिलं सायरसलिलं कमेण संपत्तं । पावेइ लोणभावं मेलणदोसाणुभावेणं ॥ १११९ ॥

व्याख्या—'यथे'त्युदाहरणोपन्यासार्थः 'नामे'ति निपातः 'मधुरसलिलं' नदीपयः तल्लवणसमुद्रं 'क्रमेण' परिपाट्या सम्प्राप्तं सत् 'पावेइ लोणभावं' प्राप्नोति–आसादयति लवणभावं–क्षारभावं मधुरमपि सन्, मीलनदोषानुभावेनेति गाथार्थः ॥ १११९ ॥

एवं खु सीलवंतो असीलवंतेहिं मीलिओ संतो । पावइ गुणपरिहाणिं मेलणदोसाणुभावेणं ॥ ११२० ॥

प्रत सूत्रांक ||७..|| दीप अनुक्रम [९..]

व्याख्या—खुशब्दोऽवधारणे, एवमेव शीलमस्यास्तीति शीलवान् स खलु 'अशीलवद्भिः' पार्श्वस्थादिभिः सार्द्धं मीलितः सन् 'प्राप्नोति' आसादयति गुणा–मूलोत्तरगुणलक्षणास्तेषां परिहाणिः–अपचयः गुणपरिहाणिः तां, तथैहिकांश्चापायांस्तत्कृतदोषसमुत्थानिति, मीलनदोषानुभावेनेति गाथार्थः ॥ ११२० ॥ यतश्चैवमतः—

||५२२|| **खणमवि न खमं काउं अणाययणसेवणं सुविहियाणं। हंदि समुद्दमइगयं उदयं लवणत्तणमुवेइ ॥ ११२१ ॥**

व्याख्या—लोचननिमेषमात्रः कालः क्षणोऽभिधीयते, तं क्षणमपि, आस्तां तावन्मुहूर्तोऽन्यो वा कालविशेषः, 'न क्षमं' न योग्यं, किं?–'काउं अणाययणसेवणं'ति कर्तुं–निष्पादयितुम् अनायतनं–पार्श्वस्थाद्यायतनं तस्य सेवनं–भजनम् अनायतनसेवनं, केषां?–'सुविहितानां साधूनां, किमित्यत आह–'हन्दि' इत्युपदर्शने, समुद्रमतिगतं–लवणजलधिं प्राप्तम् 'उदकं' मधुरमपि सत् 'लवणत्वमुपैति' क्षारभावं याति, एवं सुविहितोऽपि पार्श्वस्थादिदोषसमुद्रं प्राप्तस्तद्भावमाप्नोति, अतः परलोकार्थिना तत्संसर्गिस्त्याज्येति, ततश्च व्यवस्थितमिदं–येऽपि पार्श्वस्थादिभिः सार्द्धं संसर्गं कुर्वन्ति तेऽपि न वन्दनीयाः, सुविहिता एव वन्दनीया इति ॥ अत्राऽऽह—

सुविहिय दुव्विहियं वा नाहं जाणामि हं खु छउमत्थो। लिंगं तु पूययामी तिगरणसुद्धेण भावेणं ॥ ११२२ ॥ ||५२२||

व्याख्या—शोभनं विहितम्–अनुष्ठानं यस्यासौ सुविहितस्तम्, अनुस्वारलोपोऽत्र द्रष्टव्यः, दुर्विहितस्तु पार्श्वस्थादिस्तं दुर्विहितं वा 'नाहं जानामि' नाहं वेद्मि, यतः अन्तःकरणशुद्ध्यशुद्धिकृतं सुविहितदुर्विहितत्वं, परभावस्तु तत्त्वतः सर्व-

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्ति:

प्रत सूत्रांक ||७..|| दीप अनुक्रम [९..]

ज्ञविषयः, 'अहं खु छउमत्थो'त्ति अहं पुनश्छद्मस्थः, अतो 'लिङ्गमेव' रजोहरणगोच्छप्रतिग्रहधरणलक्षणं 'पूजयामि' वन्दे इत्यर्थः, 'त्रिकरणशुद्धेन भावेन' वाक्कायशुद्धेन मनसेति गाथार्थः ॥ ११२२ ॥ अत्राचार्य आह—

जइ ते लिंग पमाणं वंदाही निण्हवे तुमे सव्वे । एए अवंदमाणस्स लिंगमवि अप्पमाणं ते ॥ ११२३ ॥

व्याख्या—'यदी'त्ययमभ्युपगमप्रदर्शनार्थः 'ते' तव लिङ्गं–द्रव्यलिङ्गम्, अनुस्वारोऽत्र च लुप्तो वेदितव्यः, प्रमाणं—कारणं वन्दनकरणे, इत्थं तर्हि 'वन्दस्व' नमस्य 'निह्नवान्' जमालिप्रभृतीन् त्वं 'सर्वान्' निरवशेषान्, द्रव्यलिङ्गयुक्तत्वात् तेषामिति, अथैतान् मिथ्यादृष्टित्वान्न वन्दसे तत् ननु 'एतान्' द्रव्यलिङ्गयुक्तानपि 'अवन्दमानस्य' अप्रणमतः लिङ्गमप्यप्रमाणं तव वन्दनप्रवृत्ताविति गाथार्थः ॥ ११२३ ॥ इत्थं लिङ्गमात्रस्य वन्दनप्रवृत्तावप्रमाणतायां प्रतिपादितायां सत्यामनभिनिविष्टमेव सामाचारिजिज्ञासयाऽऽह चोदकः—

जइ लिंगमप्पमाणं न नज्जई निच्छएण को भावो ?। दट्ठूण समणलिंगं किं कायव्वं तु समणेणं ? ॥ ११२४ ॥

व्याख्या—यदि 'लिङ्गं' द्रव्यलिङ्गम् 'अप्रमाणम्' अकारणं वन्दनप्रवृत्तौ, इत्थं तर्हि 'न ज्ञायते' नावगम्यते 'निश्चयेन' परमार्थेन छद्मस्थेन जन्तुना कस्य को भावः ?, यतोऽसंयता अपि लब्ध्यादिनिमित्तं संयतवच्चेष्टन्ते, संयता अपि च कारणतोऽसंयतवदिति, तदेवं व्यवस्थिते 'दृष्ट्वा' अवलोक्य 'श्रमणलिङ्गं' साधुलिङ्गं किं पुनः कर्तव्यं 'श्रमणेन' साधुना ?, पुनःशब्दार्थस्तुशब्दो व्यवहितश्चोक्तो गाथानुलोम्यादिति गाथार्थः ॥ ११२४ ॥ एवं चोदकेन पृष्टः सन्नाहाचार्यः—

अप्पुव्वं दट्ठूणं अब्भुट्ठाणं तु होइ कायव्वं । साहुम्मि दिट्ठपुव्वे जहारिहं जस्स जं जोग्गं ॥ ११२५ ॥

प्रत सूत्रांक ||७..|| दीप अनुक्रम [९..]

व्याख्या—'अपूर्वम्' अदृष्टपूर्वं, साधुमिति गम्यते, 'दृष्ट्वा' अवलोक्य, आभिमुख्येनोत्थानमभ्युत्थानम्–आसनत्यागलक्षणं, तुशब्दाद्दण्डकादिग्रहणं च भवति कर्त्तव्यं, किमिति ?, कदाचिदसौ कश्चिदाचार्यादिर्विद्याद्यतिशयसम्पन्नः तत्प्रदानायैवाऽऽगतो भवेत्, प्रशिष्यसकाशमाचार्यकालकवत्, स खल्वविनीतं सम्भाव्य न तत्प्रयच्छतीति, तथा दृष्टपूर्वास्तु द्विप्रकारा–उद्यतविहारिणः शीतलविहारिणश्च, तत्रोद्यतविहारिणि साधौ 'दृष्टपूर्वे' उपलब्धपूर्वे 'यथार्हं' यथायोग्यमभ्युत्थानवन्दनादि 'यस्य' बहुश्रुतादेर्यद् योग्यं तत्कर्तव्यं भवति, यः पुनः शीतलविहारी न तस्याभ्युत्थानवन्दनाद्युत्सर्गतः किञ्चित्कर्तव्यमिति गाथार्थः ॥ ११२५॥ साम्प्रतं कारणतः शीतलविहारिगतविधिप्रतिपादनाय सम्बन्धगाथामाह—

मुक्कधुरासंपागडसेवीचरणकरणपब्भट्ठे । लिंगावसेसमित्ते जं कीरइ तं पुणो वोच्छं ॥ ११२६ ॥

व्याख्या—धूः–संयमधूः परिगृह्यते, मुक्ता–परित्यक्ता धूर्येनेति समासः, सम्प्रकटं–प्रवचनोपघातनिरपेक्षमेव मूलोत्तरगुणजालं सेवितुं शीलमस्येति सम्प्रकटसेवी, मुक्तधूश्चासौ सम्प्रकटसेवी चेति विग्रहः, तथा चर्यत इति चरणं–व्रतादिलक्षणं क्रियत इति करणं–पिण्डविशुद्ध्यादिलक्षणं चरणकरणाभ्यां प्रकर्षेण भ्रष्टः–अपेतश्चरणकरणप्रभ्रष्टः, मुक्तधूः सम्प्रकटसेवी चासौ चरणकरणप्रभ्रष्टश्चेति समासस्तस्मिन्, प्राकृतशैल्या अकारेकारयोर्दीर्घत्वम्, इत्थम्भूते 'लिङ्गावशेषमात्रे' केवलद्रव्यलिङ्गयुक्ते यत्क्रियते किमपि तत्पुनर्वक्ष्ये, पुनःशब्दो विशेषणार्थः, किं विशेषयति ?–कारणापेक्षं–कारणमाश्रित्य यत्क्रियते तद्वक्ष्ये–अभिधास्ये, कारणाभावपक्षे तु प्रतिषेधः कृत एव, विशेषणसाफल्यं तु मुक्तधूरपि कदाचि-

प्रत
सूत्रांक
||७..||

दीप
अनुक्रम
[९..]

त्सम्प्रकटसेवी न भवत्यपि अतस्तद्ग्रहणं, संप्रकटसेवी चरणकरणप्रभ्रष्ट एवेति स्वरूपकथनमिति गाथार्थः ॥ ११२६ ॥ किं तत्क्रियत इत्यत आह—

वायाइ नमोकारो हत्थुस्सेहो य सीसनमणं च। संपुच्छणऽच्छणं छोभवंदणं वंदणं वावि ॥ ११२७ ॥

व्याख्या—'वायाए'त्ति निर्गमभूम्यादौ दृष्टस्य वाचाऽभिलापः क्रियते–हे देवदत्त! कीदृशस्त्वमित्यादिलक्षणः, गुरुतरपुरुषकार्यापेक्षं वा तस्यैव 'नमोकारो'त्ति नमस्कारः क्रियते–हे देवदत्त ! नमस्ते, एवं सर्वत्रोत्तरविशेषकरणे पुरुषकार्यभेदः प्राक्तनोपचारानुवृत्तिश्च द्रष्टव्या, 'हत्थुस्सेहो य'त्ति अभिलापनमस्कारगर्भः हस्तोच्छ्रयश्च क्रियते, 'सीसनमणं च' शिरसा–उत्तमाङ्गेन नमनं शिरोनमनं च क्रियते, तथा 'सम्प्रच्छनं' कुशलं भवत इत्यादि, अनुस्वारलोपोऽत्र द्रष्टव्यः, 'अच्छणं'तित [द्गहुमानस्त]त्सन्निधावासनं कञ्चित्कालमिति, एष तावद्बहिर्दृष्टस्य विधिः, कारणविशेषतः पुनस्तत्प्रतिश्रयमपि गम्यते, तत्राप्येष एव विधिः, नवरं 'छोभवंदणं'ति आरभट्या छोभवन्दनं क्रियते, 'वन्दणं वाऽवि' परिशुद्धं वा वन्दनमिति गाथार्थः ॥ ११२७ ॥ एतच्च वाङ्नमस्कारादि नाविशेषेण क्रियते, किं तर्हि ?—

परियायपरिसपुरिसे खित्तं कालं च आगमं नच्चा । कारणजाए जाए जहारिहं जस्स जं जुग्गं ॥ ११२८ ॥

व्याख्या—पर्यायश्च परिषच्च पुरुषश्च पर्यायपरिषत्पुरुषास्तान्, तथा क्षेत्रं कालं च आगमं 'णच्च'त्ति ज्ञात्वा–विज्ञाय 'कारणजाते' प्रयोजनप्रकारे 'जाते' उत्पन्ने सति 'यथार्हं' यथानुकूलं 'यस्य' पर्यायादिसमन्वितस्य यद् 'योग्यं' समनुरूपं वाङ्नमस्कारादि तत्तस्य, क्रियत इति वाक्यशेषः, अयं गाथासमासार्थः ॥११२८॥ साम्प्रतमवयवार्थं प्रतिपादयन्नाह भाष्यकारः—

'छोभवंदन'स्य स्वरुपम् वर्ण्यते

प्रत
सूत्रांक
||७..||

दीप
अनुक्रम
[९..]

परियाय बंभचेरं परिस विणीया सि पुरिस णच्चा वा। कुलकज्जादायत्ता आघवउ गुणागमसुयं वा ॥ २०४॥ (भा०)

व्याख्या—'पर्यायः' ब्रह्मचर्यमुच्यते, तत्प्रभूतं कालमनुपालितं येन, परिषद्विनीता वा–तत्प्रतिबद्धा साधुसंहतिः शोभना 'से' अस्य 'पुरिस णच्चा व'त्ति पुरुषं ज्ञात्वा वा, अनुस्वारलोपोऽत्र द्रष्टव्यः, कथं ज्ञात्वा ?--कुलकार्यादीन्यनेनायत्तानि, आदिशब्दाद्गणसङ्घकार्यपरिग्रहः,' आघवउ'त्ति आख्यातः तस्मिन् क्षेत्रे प्रसिद्धस्तद्बलेन तत्रास्यत इति क्षेत्रद्वारार्थः, 'गुणाऽऽगमसुयं व'त्ति गुणाः–अवमप्रतिजागरणादय इति कालद्वारावयवार्थः, आगमः–सूत्रार्थोभयरूपः, श्रुतं–सूत्रमेव, गुणाश्चाऽऽगमश्च श्रुतं चेत्येकवद्भावस्तद्वाऽस्य विद्यत इत्येवं ज्ञात्वेति गाथार्थः ॥ २०४ ॥

एताइं अकुव्वंतो जहारिहं अरिहदेसिए मग्गे। न भवइ पवयणभत्ती अभत्तिमंतादओ दोसा ॥ ११२९ ॥

व्याख्या—'एतानि' वाङ्नमस्कारादीनि कषायोत्कटतयाऽकुर्वतः, अनुस्वारोऽत्रालाक्षणिकः, 'यथार्हं' यथायोगमर्हद्दर्शिते मार्गे न भवति प्रवचनभक्तिः, ततः किमित्यत आह–'अभत्तिमंतादओ दोसा' प्राकृतशैल्याऽभक्त्यादयो दोषाः, आदिशब्दात् स्वार्थभ्रंशबन्धनादय इति गाथार्थः ॥ ११२९ ॥ एवमुद्यतेतरविहारिगते विधौ प्रतिपादिते सत्याह चोदकः–किं नोऽनेन पर्यायाद्यन्वेषणेन ?, सर्वथा भावशुद्ध्या कर्मापनयनाय जिनप्रणीतलिङ्गनमनमेव युक्तं, तद्गतगुणविचारस्य निष्फलत्वात्, न हि तद्गुणप्रभवा नमस्कर्तुर्निर्जरा, अपि त्वात्मीयाध्यात्मशुद्धिप्रभवा, तथाहि—

तित्थयरगुणा पडिमासु नत्थि निस्संसयं वियाणंतो। तित्थयरेत्ति नमंतो सो पावइ निज्जरं विउलं ॥ ११३० ॥

व्याख्या—तीर्थकरस्य गुणा–ज्ञानादयस्तीर्थकरगुणाः ते 'प्रतिमासु' बिम्बलक्षणासु 'णत्थि' न सन्ति 'निःसंशयं' संश-

प्रत
सूत्रांक
||७..||

दीप
अनुक्रम
[९..]

यरहितं 'विजानन्' अवबुध्यमानः तथाऽपि तीर्थकरोऽयमित्येवं भावशुद्ध्या 'नमन्' प्रणमन् 'स' प्रणामकर्ता 'प्राप्नोति' आसादयति 'निर्जरां' कर्मक्षयलक्षणां 'विपुलां' विस्तीर्णामिति गाथार्थः ॥ ११३० ॥ एष दृष्टान्तः, अयमर्थोपनयः—

लिंगं जिणपण्णत्तं एव नमंतस्स निज्जरा विउला । जइवि गुणविप्पहीणं वंदइ अज्झप्पसोहीए ॥ ११३१ ॥

व्याख्या—लिङ्ग्यते साधुरनेनेति लिङ्गं–रजोहरणादिधरणलक्षणं जिनैः–अर्हद्भिः प्रज्ञप्तं–प्रणीतम् 'एवं' यथा प्रतिमा इति 'नमस्कुर्वतः' प्रणमतो निर्जरा विपुला, यद्यपि गुणैः–मूलोत्तरगुणैर्विविधम्–अनेकधा प्रकर्षेण हीनं–रहितं गुणविप्रहीणं, 'वन्दते' नमस्करोति 'अध्यात्मशुद्ध्या' चेतःशुद्ध्येति गाथार्थः ॥ ११३१ ॥ इत्थं चोदकेनोक्ते दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्वैषम्यमुपदर्शयन्नाचार्य आह—

संता तित्थयरगुणा तित्थयरे तेसिमं तु अज्झप्पं । न य सावज्जा किरिया इयरेसु धुवा समणुमन्ना ॥ ११३२ ॥

व्याख्या—'सन्तः' विद्यमानाः शोभना वा तीर्थकरस्य गुणास्तीर्थकरगुणा–ज्ञानादयः, क्व?–'तीर्थकरे' अर्हति भगवति इयं च प्रतिमा तस्य भगवतः 'तेसिमं तु अज्झप्पं' तेषां–नमस्कुर्वतामिदमध्यात्मम्–इदं चेतः, तथा न च तासु 'सावद्या' सपापा 'क्रिया' चेष्टा प्रतिमासु, 'इतरेषु' पार्श्वस्थादिषु 'ध्रुवा' अवश्यंभाविनी सावद्या क्रिया प्रणमतः, तत्र किमित्यत आह–'समणुमण्णा' समनुज्ञा सावद्यक्रियायुक्तपार्श्वस्थादिप्रणमनात् सावद्यक्रियानुमतिरिति हृदयम्, अथवा सन्तस्तीर्थकरगुणाः तीर्थकरे तान् वयं प्रणमामः तेषामिदमध्यात्मम्–इदं चेतः, ततोऽर्हद्गुणाध्यारोपेण चेष्टप्रतिमाप्रणामान्नमस्कर्तुः न च

प्रत सूत्रांक ||७..||

दीप अनुक्रम [९..]

आवश्यक-हारिभद्रीया ||५२५||

३ वन्दनाध्ययने लिङ्गमात्रस्यानम्यता

सावद्या क्रिया-परिस्पन्दनलक्षणा, इतरेषु-पार्श्वस्थादिषु पूज्यमानेष्वशुभक्रियोपेतत्वात्तेषां नमस्कर्तुर्ध्रुवा समनुज्ञेति गाथार्थः ॥ ११३२ ॥ पुनरप्याह चोदकः—

जइ सावज्जा किरिया नत्थि य पडिमासु एवमियराऽवि। तयभावे नत्थि फलं अह होइ अहेउगं होइ ॥११३३॥

व्याख्या—यथा सावद्या क्रिया-सपापा क्रिया 'नास्त्येव' न विद्यत एव प्रतिमासु, एवमितराऽपि-निरवद्याऽपि नास्त्येव, ततश्च 'तदभावे' निरवद्यक्रियाऽभावे नास्ति 'फलं' पुण्यलक्षणम्, अथ भवति 'अहेतुकं भवति' निष्कारणं च भवति, प्रणम्यवस्तुगतक्रियाहेतुकत्वा(भावा)त्फलस्येत्यभिप्रायः, अहेतुकत्वे चाकस्मिककर्मसम्भवान्मोक्षाद्यभाव इति गाथार्थः ॥११३३॥ इत्थं चोदकेनोक्ते सत्याहाचार्यः—

कामं उभयाभावो तहवि फलं अत्थि मणविसुद्धीए। तीइ पुण मणविसुद्धीइ कारणं होंति पडिमाउ ॥११३४॥

व्याख्या—'कामम्' अनुमतमिदं, यदुत 'उभयाभावः' सावद्येतरक्रियाऽभावः प्रतिमासु, तथाऽपि 'फलं' पुण्यलक्षणम् 'अस्ति' विद्यते, मनसो विशुद्धिर्मनोविशुद्धिस्तस्या मनोविशुद्धेः सकाशात्, तथाहि-स्वगता मनोविशुद्धिरेव नमस्कर्तुः पुण्यकारणं, न नमस्करणीयवस्तुगता क्रिया, आत्मान्तरे फलाभावात्, यद्येवं किं प्रतिमाभिरिति?, उच्यते, तस्याः पुनर्मनोविशुद्धेः 'कारणं' निमित्तं भवन्ति प्रतिमाः, तद्द्वारेण तस्याः सम्भूतिदर्शनादिति गाथार्थः ॥ ११३४ ॥ आह-एवं लिङ्गमपि प्रतिमावन्मनोविशुद्धिकारणं भवत्येवेति, उच्यते— ||५२५||

जइवि य पडिमाउ जहा मुणिगुणसंकप्पकारणं लिंगं। उभयमवि अत्थि लिंगे न य पडिमासूभयं अत्थि॥ ११३५॥

प्रत
सूत्रांक
||७..||

दीप
अनुक्रम
[९..]

व्याख्या—यद्यपि च प्रतिमा यथा मुनीनां गुणा मुनिगुणा–व्रतादयस्तेषु सङ्कल्पः–अध्यवसायः मुनिगुणसङ्कल्पस्तस्य कारणं–निमित्तं मुनिगुणसङ्कल्पकारणं 'लिङ्गं' द्रव्यलिङ्गं, तथाऽपि प्रतिमाभिः सह वैधर्म्यमेव, यत उभयमप्यस्ति लिङ्गे–सावद्यकर्म निरवद्यकर्म च, तत्र निरवद्यकर्मयुक्त एव यो मुनिगुणसङ्कल्पः स सम्यक्सङ्कल्पः, स एव च पुण्यफलः, यः पुनः सावद्यकर्मयुक्तेऽपि मुनिगुणसङ्कल्पः स विपर्याससङ्कल्पः, क्लेशफलश्चासौ, विपर्यासरूपत्वादेव, न च प्रतिमासूभयमस्ति, चेष्टारहितत्वात्, ततश्च तासु जिनगुणविषयस्य क्लेशफलस्य विपर्याससङ्कल्पस्याभावः, सावद्यकर्मरहितत्वात् प्रतिमानाम्, आह–इत्थं तर्हि निरवद्यकर्मरहितत्वात् सम्यक्सङ्कल्पस्यापि पुण्यफलस्याभाव एव प्राप्त इति, उच्यते, तस्य तीर्थकरगुणाध्यारोपेण प्रवृत्तेर्नाभाव इति गाथार्थः ॥ ११३५ ॥ तथा चाऽऽह—

नियमा जिणेसु उ गुणा पडिमाओ दिस्स जे मणे कुणइ। अगुणे उ वियाणंतो कं नमउ मणे गुणं काउं? ॥ ११३६ ॥

व्याख्या—'नियमादि'ति नियमेनावश्यंतया 'जिनेष्वेव' तीर्थकरेष्वेव, तुशब्दस्यावधारणार्थत्वात्, 'गुणाः' ज्ञानादयः, न प्रतिमासु, प्रतिमा दृष्ट्वा तास्वध्यारोपद्वारेण यान् 'मनसि करोति' चेतसि स्थापयति पुनर्नमस्करोति, अत एवासौ तासु शुभः पुण्यफलो जिनगुणसङ्कल्पः, सावद्यकर्मरहितत्वात्, न चायं तासु निरवद्यकर्माभावमात्राद्विपर्याससङ्कल्पः, सावद्यकर्मोपेतवस्तुविषयत्वात्तस्य, ततश्चोभयविकल एवाऽऽकारमात्रतुल्ये कतिपयगुणान्विते चाध्यारोपोऽपि युक्तियुक्तः, 'अगुणे उ' इत्यादि अगुणानेव, तुशब्दस्यावधारणार्थत्वात् अविद्यमानगुणानेव 'विजानन्' अवबुध्यमानः पार्श्वस्थादीन् 'कं नमउ मणे गुणं काउं' कं मनसि गुणं कृत्वा नमस्करोतु तानिति?, स्यादेतत्–अन्यसाधुसम्बन्धिनं तेष्वध्यारो-

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्ति:

प्रत सूत्रांक ||७..||

दीप अनुक्रम [९..]

आवश्यक-हारिभद्रीया ॥५२६॥

३ वन्दनाध्ययने लिङ्गमात्रनतौ दोषाः

पद्वारेण मनसि कृत्वा नमस्करोतु, न, तेषां सावद्यकर्मयुक्ततयाऽध्यारोपविषयलक्षणविकलत्वात्, अविषये चाध्यारोपं कृत्वा नमस्कुर्वतो दोषदर्शनाद् ॥ ११३६ ॥ आह च—

जह वेलंबगलिंगं जाणंतस्स नमओ हवइ दोसो। निद्धंधसमिय नाऊण वंदमाणे धुवो दोसो ॥ ११३७ ॥

व्याख्या—यथा 'विडम्बकलिङ्गं' भाण्डादिकृतं 'जानतः' अवबुध्यमानस्य 'नमतः' नमस्कुर्वतः सतोऽस्य भवति 'दोषः' प्रवचनहीलनादिलक्षणः, 'निद्धन्धसं' प्रवचनोपघातनिरपेक्षं पार्श्वस्थादिकम् 'इय' एवं 'ज्ञात्वा' अवगम्य 'वन्दमाणे धुवो दोसो' वन्दति–नमस्कुर्वति सति नमस्कर्तरि ध्रुवः–अवश्यंभावी दोषः–आज्ञाविराधनादिलक्षणः, पाठान्तरं वा–'निद्धंधसंपि णाऊणं वंदमाणस्स दोसा उ' इदं प्रकटार्थमेवेति गाथार्थः ॥ ११३७ ॥ एवं न लिङ्गमात्रमकारणतोऽवगतसावद्यक्रियं नमस्क्रियत इति स्थापितं, भावलिङ्गमपि द्रव्यलिङ्गरहितमित्थमेवावगन्तव्यं, भावलिङ्गगर्भं तु द्रव्यलिङ्गं नमस्क्रियते, तस्यैवाभिलषितार्थक्रियाप्रसाधकत्वात्, रूपकदृष्टान्तश्चात्र, आह च—

रुप्पं टंकं विसमाहयक्खरं नवि रूवओ छेओ। दुण्हंपि समाओगे रूवो छेयत्तणमुवेइ ॥ ११३८ ॥

व्याख्या—अत्र तावच्चतुर्भङ्गी–रूपम् अशुद्धं टङ्कं विषमाहताक्षरमित्येकः, रूपमशुद्धं टङ्कं समाहताक्षरमिति द्वितीयः, रूपं शुद्धं टङ्कं विषमाहताक्षरमिति तृतीयः, रूपं शुद्धं टङ्कं समाहताक्षरमिति चतुर्थः, अत्र च रूपकल्पं भावलिङ्गं टङ्ककल्पं द्रव्यलिङ्गम्, इह च प्रथमभङ्गतुल्याश्चरकादयः, अशुद्धोभयलिङ्गत्वात्, द्वितीयभङ्गतुल्याः पार्श्वस्थादयः, अशुद्धभावलिङ्गत्वात्, तृतीयभङ्गतुल्याः प्रत्येकबुद्धा अन्तर्मुहूर्तमात्रं कालमगृहीतद्रव्यलिङ्गाः, चतुर्थभङ्गतुल्याः साधवः शीलयुक्ताः

॥५२६॥

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक ||७..||

दीप अनुक्रम [९..]

गच्छगता निर्गताश्च जिनकल्पिकादयः, यथा रूपको भङ्गत्रयान्तर्गतः 'अच्छेक' इत्यविकल इति तदर्थक्रियार्थिना नोपादीयते, चतुर्थभङ्गनिरूपित एवोपादीयते, एवं भङ्गत्रयनिदर्शिताः पुरुषा अपि परलोकार्थिनो यतो न नमस्करणीयाः, चरमभङ्गकनिदर्शिता एव नमस्करणीया इति भावना, अक्षराणि त्वेवं नीयन्ते–रूपं शुद्धाशुद्धभेदं, टङ्कं विषमाहताक्षरं–विपर्यस्तनिविष्टाक्षरं, नैव रूपकः छेकः, असांव्यवहारिक इत्यर्थः, द्वयोरपि शुद्धरूपसमाहताक्षरटङ्कयोः समायोगे सति रूपकश्छेकत्वमुपैतीति गाथार्थः ॥ ११३८ ॥ रूपकदृष्टान्ते दार्ष्टान्तिकयोजनां निदर्शयन्नाह—

रूप्पं पत्तेयबुहा टंकं जे लिंगधारिणो समणा। दव्वस्स य भावस्स य छेओ समणो समाओगो ॥११३९॥ दारं ॥

व्याख्या—रूपं प्रत्येकबुद्धा इत्यनेन तृतीयभङ्गाक्षेपः, टङ्कं ये लिङ्गधारिणः श्रमणा इत्यनेन तु द्वितीयस्य, अनेनैवाशुद्धशुद्धोभयात्मकस्यापि प्रथमचरमभङ्गद्वयस्येति, तत्र द्रव्यस्य च भावस्य च छेकः श्रमणः समायोगे–समाहताक्षरटङ्कशुद्धरूपकल्पद्रव्यभावलिङ्गसंयोगे शोभनः साधुरिति गाथार्थः ॥ ११३९ ॥ व्याख्यातं सप्रपञ्चं वैडूर्यद्वारं, ज्ञानद्वारमधुना, इह कश्चिज्ज्ञानमेव प्रधानमपवर्गबीजमिच्छति, यतः किल एवमागमः–'जं[1] अण्णाणी कम्मं खवेइ बहुयाहिं वासकोडीहिं। तं णाणी तिहि गुत्तो खवेइ उसासमित्तेणं ॥ १ ॥' तथा–'सुई जहा ससुत्ता ण णासई कयवरंमि पडियावि । जीवो तहा ससुत्तो ण णस्सइ गओऽवि संसारे ॥ २ ॥' तथा–'णाणं गिण्हइ णाणं गुणेइ णाणेण कुणइ किच्चाइं । भवसंसारसमुद्दं

१ यदज्ञानी कर्म क्षपयति बहुकाभिर्वर्षकोटीभिः । तज्ज्ञानी त्रिभिर्गुप्तः क्षपयत्युच्छ्वासमात्रेण ॥ १ ॥ सूचिर्यथा ससूत्रा न नश्यति कचवरे पतिताऽपि। जीवस्तथा ससूत्रो न नश्यति गतोऽपि संसारे ॥ २ ॥ ज्ञानं गृह्णाति ज्ञानं गुणयति ज्ञानेन करोति कृत्यानि । भवसंसारसमुद्रं ज्ञानी ज्ञाने स्थितस्तरति ॥ ३ ॥

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक ||७..|| दीप अनुक्रम [९..]

आवश्यक-हारिभद्रीया ||५२७||

३ वन्दनाध्ययने ज्ञानिद्वारं सोत्तरं ||५२७||

णाणी णाणे ठिओ तरइ ॥ २ ॥’ तस्माज्ज्ञानमेव प्रधानमपवर्गप्राप्तिकारणम्, अतो ज्ञानिन एव कृतिकर्म कार्यम्, आह–अनन्तरगाथायामेव द्रव्यभावसमायोगे श्रमण उक्तः तस्य च कृतिकर्म कार्यमित्युक्तं, चरणं च भावो वर्तत इत्युक्ते सत्याह—

कामं चरणं भावो तं पुण नाणसहिओ समाणेई। न य नाणं तु न भावो तेण र णाणिं पणिवयामो ॥ ११४० ॥

व्याख्या—‘कामम्’ अनुमतमिदं, यदुत ‘चरणं’ चारित्रं ‘भावः’ भावशब्दो भावलिङ्गोपलक्षणार्थः, तत्पुनः ‘ज्ञानसहितः’ ज्ञानयुक्तः ‘समापयति’ निष्ठां नयति, यत इदमित्थमासेवनीयमिति ज्ञानादेवावगम्यते, तस्मात्तदेव प्रधानं, न च ज्ञानं तु न भावः, भाव एव, भावलिङ्गान्तर्गतमिति भावना, तेन कारणेन र इति निपातः पूरणार्थः, ज्ञानमस्यास्तीति ज्ञानी तं ज्ञानिनं ‘प्रणमामः’ पूजयाम इति गाथार्थः ॥ ११४० ॥ यतश्च बाह्यकरणसहितस्याप्यज्ञानिनश्चरणाभाव एवोक्तः—

तम्हा ण बज्झकरणं मज्झपमाणं न यावि चारित्तं। णाणं मज्झ पमाणं नाणे अ ठिअं जओ तित्थं ॥ ११४१ ॥

व्याख्या—तस्मान्न ‘बाह्यकरणं’ पिण्डविशुद्ध्यादिकं मम प्रमाणं, न चापि ‘चारित्रं’ व्रतलक्षणं, तज्ज्ञानाभावे तस्याप्यभावात्, अतो ज्ञानं मम प्रमाणं, सति तस्मिन् चरणस्यापि भावात्, ज्ञाने च स्थितं यतस्तीर्थं, तस्यागमरूपत्वादिति गाथार्थः ॥ ११४१ ॥ किं चान्यद्–दर्शनं भाव इष्यते, ‘सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग’ इति (तत्त्वार्थे अ० १ सू० १) वचनात्, तच्च दर्शनं द्विधा–अधिगमजं नैसर्गिकं च, इदमपि च ज्ञानायत्तोदयमेव वर्तते, तथा चाह—

नाऊण य सब्भावं अहिगमसंमंपि होइ जीवस्स। जाईसरणनिसग्गुग्गयावि न निरागमा दिट्ठी ॥ ११४२ ॥

व्याख्या—‘ज्ञात्वा च’ अवगम्य ‘सद्भावं’ सतां भावः सद्भावस्तं, सन्तो जीवादयः, किम् ?–अधिगमात्–जीवादि-

प्रत
सूत्रांक
||७..||

दीप
अनुक्रम
[९..]

पदार्थपरिच्छेदलक्षणात् सम्यक्त्वं–श्रद्धानलक्षणमधिगमसम्यक्त्वम्, इदमधिगमसम्यक्त्वमपि, अपिशब्दाच्चारित्रमपि, 'भवति जीवस्य' जायते आत्मन इत्यर्थः, नैसर्गिकमाश्रित्याह–जातिस्मरणात् सकाशात् निसर्गेण–स्वभावेनोद्गता–सम्भूता जातिस्मरणनिसर्गोद्गता, असावपि न 'निरागमा' आगमरहिता 'दृष्टिः' दर्शनं दृष्टिरिति, यतः स्वयम्भूरमणमत्स्यादीनामपि जिनप्रतिमाद्याकारमत्स्यदर्शनाज्जातिमनुस्मृत्य भूतार्थालोचनपरिणाममेव नैसर्गिकसम्यक्त्वमुपजायते, भूतार्थालोचनं च ज्ञानं तस्मादिदमपि ज्ञानायत्तोदयमितिकृत्वा ज्ञानस्य प्राधान्यात् ज्ञानिन एव कृतिकर्म कार्यमिति स्थितम्, अयं गाथार्थः ॥ ११४२ ॥ इत्थं ज्ञानवादिनोक्ते सत्याहाचार्यः—

नाणं सविसयनिययं न नाणमित्तेण कज्जनिप्फत्ती । मग्गण्णू दिट्ठंतो होइ सचिट्ठो अचिट्ठो य ॥ ११४३ ॥

व्याख्या—'ज्ञानं' प्रक्रान्तं, स्वविषये नियतं स्वविषयनियतं, स्वविषयः पुनरस्य प्रकाशनमेव, यतश्चैवमतः न ज्ञानमात्रेण कार्यनिष्पत्तिः, मात्रशब्दः क्रियाप्रतिषेधवाचकः, अत्रार्थे मार्गज्ञो दृष्टान्तो भवति, 'सचेष्टः' सव्यापारः 'अचेष्टश्च' अप्रतिपद्यमानचेष्टश्च, एतदुक्तं भवति–यथा कश्चित्पाटलिपुत्रादिमार्गज्ञो जिगमिषुश्चेष्टदेशप्राप्तिलक्षणं कार्यं गमनचेष्टोद्यत एव साधयति, न चेष्टाविकलो भूयसाऽपि कालेन, तत्प्रभावादेव, एवं ज्ञानी शिवमार्गमविपरीतमवगच्छन्नपि संयमक्रियोद्यत एव तत्प्राप्तिलक्षणं कार्यं साधयति, नानुद्यतो, ज्ञानप्रभावादेव, तस्मादलं संयमरहितेन ज्ञानेनेति गाथाहृदयार्थः ॥ ११४३ ॥ प्रस्तुतार्थप्रतिपादकमेव दृष्टान्तान्तरमभिधित्सुराह— .

आउज्जनट्टकुसलावि नट्टिया तं जणं न तोसेइ । जोगं अजुंजमाणी निंदं खिंसं च सा लहइ ॥ ११४४ ॥

प्रत सूत्रांक ||७..||

दीप अनुक्रम [९..]

आवश्यक-हारिभ-द्रीया ||५२८||

३ वन्दनाध्ययने ज्ञानिद्वारं सोत्तरं

व्याख्या—आतोद्यानि-मृदङ्गादीनि नृत्तं-करचरणनयनादिपरिस्पन्दविशेषलक्षणम् आतोद्यैः करणभूतैर्नृत्तम् आतोद्यनृत्तं तस्मिन् कुशला-निपुणा आतोद्यनृत्तकुशला, असावपि नर्तकी, अपिशब्दात् रङ्गजनपरिवृताऽपि 'तं जनं' रङ्गजनं 'न तोषयति' न हर्षं नयतीत्यर्थः, किम्भूता सती ?–'योगमयुञ्जन्ती' कायादिव्यापारमकुर्वती, ततश्चापरितुष्टाद् रङ्गजनान्न किञ्चिद् द्रव्यजातं लभत इति गम्यते, अपि तु निन्दां खिंसां च सा लभते रङ्गजनादिति, तत्समक्षमेव या हीलना सा निन्दा, परोक्षे तु सा खिंसेति गाथार्थः ॥ ११४४ ॥ इत्थं दृष्टान्तमभिधाय दार्ष्टान्तिकयोजनां प्रदर्शयन्नाह—

इय लिंगनाणसहिओ काइयजोगं न जुंजई जो उ। न लहइ स मुक्खसुक्खं लहइ य निंदं सपक्खाओ ॥११४५॥

व्याख्या—'इय' एवं लिङ्गज्ञानाभ्यां सहितो-युक्तो लिङ्गज्ञानसहितः 'काययोगं' कायव्यापारं 'न युङ्क्ते' न प्रवर्तयति, यस्तु 'न लभते' न प्राप्नोति 'स' इत्थम्भूतः किं ?–'मोक्षसौख्यं' सिद्धिसुखमित्यर्थः, लभते तु निन्दां स्वपक्षात्, चशब्दात्खिंसां च, इह च नर्तकीतुल्यः साधुः, आतोद्यतुल्यं द्रव्यलिङ्गं, नृत्तज्ञानतुल्यं ज्ञानं, योगव्यापारतुल्यं चरणं, रङ्गपरितोषतुल्यः सङ्घपरितोषः, दानलाभतुल्यः सिद्धिसुखलाभः, शेषं सुगमं, यत एवमतो ज्ञानचरणसहितस्यैव कृतिकर्म कार्यमिति गाथाभावार्थः ॥ ११४५ ॥ चरणरहितं ज्ञानमकिञ्चित्करमित्यस्यार्थस्य साधका बहवो दृष्टान्ताः सन्तीति प्रदर्शनाय पुनरपि दृष्टान्तमाह— ||५२८||

जाणंतोऽवि य तरिउं काइयजोगं न जुंजइ नईए। सो वुज्झइ सोएणं एवं नाणी चरणहीणो ॥ ११४६ ॥

व्याख्या—जानन्नपि च तरीतुं यः 'काययोगं' कायव्यापारं न युङ्क्ते नद्यां स पुमान् 'उह्यते' ह्रियते 'श्रोतसा' पयः-

प्रत सूत्रांक ||७..||

दीप अनुक्रम [९..]

प्रवाहेण, एवं ज्ञानी चरणहीनः संसारनद्यां प्रमादश्रोतसोह्यत इत्युपनयः, तस्माच्चरणविकलस्य ज्ञानस्याकिञ्चित्करत्वादुभययुक्तस्यैव कृतिकर्म कार्यमिति गाथाभिप्रायार्थः ॥ ११४६ ॥ एवमसहायज्ञानपक्षे निराकृते ज्ञानचरणोभयपक्षे च समर्थिते सत्यपरस्त्वाह—

गुणाहिए वंदणयं छउमत्थो गुणागुणे अयाणंतो । वंदिज्जा गुणहीणं गुणाहियं वावि वंदावे ॥ ११४७ ॥

व्याख्या—इहोत्सर्गतः गुणाधिके साधौ वन्दनं कर्तव्यमिति वाक्यशेषः, अयं चार्थः श्रमणं वन्देतेत्यादिग्रन्थात्सिद्धः, गुणहीने तु प्रतिषेधः पञ्चानां कृतिकर्मेत्यादिग्रन्थाद्, इदं च गुणाधिकत्वं गुणहीनत्वं च तत्त्वतो दुर्विज्ञेयम्, अतश्छद्मस्थस्तत्त्वतो गुणागुणान् आत्मान्तरवर्तिनः ‘अजानन्’ अनवगच्छन् किं कुर्यात् ?, वन्देत वा गुणहीनं कञ्चित्, गुणाधिकं चापि वन्दापयेत्, उभयथाऽपि च दोषः, एकत्रागुणानुज्ञाप्रत्ययः अन्यत्र तु विनयत्यागप्रत्ययः, तस्मात्तूष्णीभाव एव श्रेयान्, अलं वन्दनेनेति गाथाभिप्रायः ॥ ११४७ ॥ इत्थं चोदकेनोक्ते सति व्यवहारनयमतमधिकृत्य गुणाधिकत्वपरिज्ञानकारणानि प्रतिपादयन्नाचार्य आह—

आलएणं विहारेणं ठाणाचंकमणेण य । सक्को सुविहिओ नाउं भासावेणइएण य ॥ ११४८ ॥

व्याख्या—आलयः-वसतिः सुप्रमार्जितादिलक्षणाऽथवा स्त्रीपशुपण्डकविवर्जितेति, तेनाऽऽलयेन, नागुणवत एवंविधः खल्वालयो भवति, विहारः-मासकल्पादिस्तेन विहारेण, स्थानम्-ऊर्ध्वस्थानं, चङ्क्रमणं-गमनं, स्थानं च चङ्क्रमणं चेत्येकवद्भावस्तेन च, अविरुद्धदेशकायोत्सर्गकरणेन च युगमात्रावनिप्रलोकनपुरस्सराद्धुतगमनेन चेत्यर्थः, शक्यः सुवि-

प्रत सूत्रांक ||७..||

दीप अनुक्रम [९..]

आवश्यक-हारिभ-द्रीया ॥५२९॥

हितो ज्ञातुं, ‘भाषावैनयिकेन च’ विनय एव वैनयिकं समालोच्य भाषणेन आचार्यादिविनयकरणेन चेति भावना, नैतान्येवम्भूतानि प्रायशोऽसुविहितानां भवन्तीति गाथार्थः ॥ ११४८ ॥ इत्थमभिहिते सत्याह चोदकः—

आलएणं विहारेणं ठाणेचंकमणेण य । न सक्को सुविहिओ नाउं भासावेणइएण य ॥ ११४९ ॥

व्याख्या—आलयेन विहारेण स्थानचङ्क्रमणेन (स्थानेन चङ्क्रमणेन) चेत्यर्थः, न शक्यः सुविहितो ज्ञातुं भाषावैनयिकेन च, उदायिनृपमारकमाथुरकोट्टइल्लादिभिर्व्यभिचारात्, तथा च प्रतीतमिदम्–असंयता अपि हीनसत्त्वा लब्ध्यादिनिमित्तं संयतवच्चेष्टन्ते, संयता अपि च कारणतोऽसंयतवदिति गाथार्थः ॥ ११४९ ॥ किं च—

भरहो पसन्नचंदो सब्भिंतरबाहिरं उदाहरणं । दोसुप्पत्तिगुणकरं न तेसि बज्झं भवे करणं ॥ ११५० ॥

व्याख्या—भरतः प्रसन्नचन्द्रः साभ्यन्तरबाह्यमुदाहरणम्, आभ्यन्तरं भरतः, यतस्तस्य बाह्यकरणरहितस्यापि विभूषितस्यैवाऽऽदर्शकगृहप्रविष्टस्य विशिष्टभावनापरस्य केवलज्ञानमुत्पन्नं, बाह्यं प्रसन्नचन्द्रः, यतस्तस्योत्कृष्टबाह्यकरणवतोऽप्यन्तःकरणविकलस्याधः सप्तमनरकप्रायोग्यकर्मबन्धो बभूव, तदेवं दोषोत्पत्तिगुणकरं न तयोर्भरतप्रसन्नचन्द्रयोः ‘बज्झं भवे करणं’ति छान्दसत्वादभूत्करणं दोषोत्पत्तिकारकं भरतस्य नाभूदशोभनं बाह्यं करणं गुणकारकं प्रसन्नचन्द्रस्य नाभूच्छोभनमपीति, तस्मादान्तरमेव करणं प्रधानं, न च तदालयादिनाऽवगन्तुं शक्यते, गुणाधिके च वन्दनमुक्तमिति तूष्णीभाव एव ज्यायान् इति स्थितम्, इत्ययं गाथाभिप्रायः ॥ ११५० ॥ इत्थं तीर्थाङ्गभूतव्यवहारनयनिरपेक्षं चोदकमवगम्यान्येषां पारलौकिकापायदर्शनायाहाचार्यः—

३ वन्दनाध्ययने सुविहितत्वज्ञानं

॥५२९॥

प्रत
सूत्रांक
||७..||

दीप
अनुक्रम
[९..]

पत्तेयबुद्धकरणे चरणं नासंति जिणवरिंदाणं । आहच्चभावकहणे पंचहि ठाणेहि पासत्था ॥ ११५१ ॥

व्याख्या—प्रत्येकबुद्धाः-पूर्वभवाभ्यस्तोभयकरणा भरतादयस्तेषां करणं तस्मिन्नान्तर एव फलसाधके सति मन्दमतयश्चरणं नाशयन्ति जिनवरेन्द्राणां सम्बन्धिभूतमात्मनोऽन्येषां च, पाठान्तरं वा 'बोधिं नासिंति जिणवरिंदाणं' कथं ?– 'आहच्चभावकहणे'त्ति कादाचित्कभावकथने–बाह्यकरणरहितैरेव भरतादिभिः केवलमुत्पादितमित्यादिलक्षणे, कथं नाशयन्ति ?–पञ्चभिः 'स्थानैः' प्राणातिपातादिभिः पारम्पर्येण करणभूतैः 'पार्श्वस्था' उक्तलक्षणा इति गाथार्थः ॥११५१॥ यतश्च—

उम्मग्गदेसणाए चरणं नासिंति जिणवरिंदाणं । वावन्नदंसणा खलु न हु लब्भा तारिसा दट्ठुं ॥११५२॥ दारं।

व्याख्या—उन्मार्गदेशनया अनयाऽनन्तराभिहितं चरणं नाशयन्ति जिनवरेन्द्राणां सम्बन्धिभूतमात्मनोऽन्येषां च, अतः 'व्यापन्नदर्शनाः खलु' विनष्टसम्यग्दर्शना निश्चयतः, खल्वित्यपिशब्दार्थो निपातः, तस्य च व्यवहितः सम्बन्धस्तमुपरिष्टात् प्रदर्शयिष्यामः, 'न हु लब्भा तारिसा दट्ठुं'ति नैव कल्पन्ते तादृशा द्रष्टुमपीति, किं पुनर्ज्ञानादिना प्रतिलाभयितुमिति गाथार्थः ॥ ११५२ ॥ सप्रसङ्गं गतं ज्ञानद्वारम्, दर्शनद्वारमधुना, तत्र दर्शननयमतावलम्बी कृतिकर्माधिकार एवावगतज्ञाननयमत इदमाह—

जह नाणेणं न विणा चरणं नादंसणिस्स इय नाणं। न य दंसणं न भावो तेन र दिट्ठिं पणिवयामो ॥ ११५३ ॥

व्याख्या—यथा ज्ञानेन विना न चरणं, किन्तु सहैव, नादर्शनिन एवं ज्ञानं, किन्तु दर्शनिन एव, 'सम्यग्दृष्टेर्ज्ञानं मिथ्यादृष्टेर्विपर्यास' इति वचनात्, तथा न च दर्शनं न भावः, किन्तु भाव एव, भावलिङ्गान्तर्गतमित्यर्थः, तेन कारणेन ज्ञानस्य

प्रत सूत्रांक ||७..||
दीप अनुक्रम [९..]

तद्भावभावित्वाद्दर्शनस्य ज्ञानोपकारकत्वाद् रेति प्राग्वत् 'दिट्ठि'न्ति प्राकृतशैल्या दर्शनमस्यास्तीति दर्शनी तं दर्शनिनं, 'प्रणमामः' पूजयाम इति गाथार्थः ॥ ११५३ ॥ स्यादेतत्–सम्यक्त्वज्ञानयोर्युगपद्भावादुपकार्योपकारकभावानुपपत्तिरिति, एतच्चासद्, यतः—

जुगवंपि समुप्पन्नं सम्मत्तं अहिगमं विसोहेइ । जह कायगमंजणाई जलदिट्ठीओ विसोहंति ॥ ११५४ ॥

व्याख्या—'युगपदपि' तुल्यकालमपि 'समुत्पन्नं' सञ्जातं सम्यक्त्वं ज्ञानेन सह 'अधिगमं विशोधयति' अधिगम्यन्ते–परिच्छिद्यन्ते पदार्था येन सोऽधिगमः–ज्ञानमेवोच्यते, तमधिगमं विशोधयति–ज्ञानं विमलीकरोतीत्यर्थः, अत्रार्थे दृष्टान्तमाह–यथा काचकाञ्जने जलदृष्टी विशोधयत इति, कचको वृक्षस्तस्येदं काचकं फलम्, अञ्जनं–सौवीरादि, काचकं चाञ्जनं च काचकाञ्जने, अनुस्वारोऽत्रालाक्षणिकः, जलम्–उदकं, दृष्टिः–स्वविषये लोचनप्रसारणलक्षणा, जलं च दृष्टिश्च जलदृष्टी ते विशोधयत इति गाथार्थः ॥ ११५४ ॥ साम्प्रतमुपन्यस्तदृष्टान्तस्य दार्ष्टान्तिकेनांशतः भावनिकां प्रतिपादयन्नाह—

जह २ सुज्झइ सलिलं तह २ रूवाइं पासई दिट्ठी । इय जह जह तत्तरुई तह तह तत्तागमो होइ ॥ ११५५ ॥ ||५३०||

व्याख्या— यथा २ शुद्ध्यति सलिलं काचकफलसंयोगात् तथा तथा 'रूपाणि' तद्गतानि पश्यति द्रष्टा,'इय' एवं यथा यथा 'तत्त्वरुचिः' सम्यक्त्वलक्षणा, संजायत इति क्रिया, तथा तथा 'तत्त्वागमः' तत्त्वपरिच्छेदो भवतीति, एवमुपकारकं

प्रत
सूत्रांक
||७..||

दीप
अनुक्रम
[९..]

सम्यक्त्वं ज्ञानस्येति गाथार्थः ॥ ११५५ ॥ स्यादेतत्–निश्चयतः कार्यकारणभाव एवोपकार्योपकारकभावः, स चासम्भवी युगपद्भाविनोरिति, अत्रोच्यते—

कारणकज्जविभागो दीवपगासाण जुगवजम्मेवि । जुगवुप्पन्नंपि तहा हेऊ नाणस्स सम्मत्तं ॥ ११५६ ॥

व्याख्या—यथेह कारणकार्यविभागो दीपप्रकाशयोः 'युगपज्जन्मन्यपि' युगपदुत्पादेऽपीत्यर्थः, युगपदुत्पन्नमपि तथा 'हेतुः' कारणं ज्ञानस्य सम्यक्त्वं, यस्मादेवं तस्मात्सकलगुणमूलत्वाद्दर्शनस्य दर्शनिन एव कृतिकर्म कार्यम्, आत्मनाऽपि तत्रैव यत्नः कार्यः, सकलगुणमूलत्वादेवेति, उक्तं च–"द्वारं मूलं प्रतिष्ठानमाधारो भाजनं निधिः । धर्महेतोर्द्विषट्कस्य, सम्यग्दर्शनमिष्यते ॥ १ ॥" अयं गाथाभिप्रायार्थः ॥ ११५६ ॥ इत्थं नोदकेनोक्ते सत्याहाचार्यः—

नाणस्स जइवि हेऊ सविसयनियय़ं तहावि सम्मत्तं । तम्हा फलसंपत्ती न जुज्जए नाणपक्खे व ॥ १ ॥(प्र०)
जह तिक्खरुईवि नरो गंतुं देसंतरं नयविहूणो । पावेइ न तं देसं नयजुत्तो चेव पाउणइ ॥ २ ॥ (प्र०)
इय नाणचरणहीणो सम्मद्दिट्ठीवि मुक्खदेसं तु । पाउणइ नेय नाणाइसंजुओ चेव पाउणइ ॥ ३ ॥ (प्र०)

व्याख्या—इदमन्यकर्तृकं गाथात्रयं सोपयोगमितिकृत्वा व्याख्यायते, ज्ञानस्य यद्यपि 'हेतुः' कारणं सम्यक्त्वमिति योगः, अपिशब्दोऽभ्युपगमवादसंसूचकः, अभ्युपगम्यापि भ्रमः, तत्त्वतस्तु कारणमेव न भवति, उभयोरपि विशिष्टक्षयोपशमकार्यत्वात्, स्वविषयनियतमितिकृत्वा, स्वविषयश्चास्य तत्त्वेषु रुचिरेव, तथाऽपि 'तस्मात्' सम्यक्त्वात् 'फलसंपत्ती ण जुज्जए' फलसम्प्राप्तिर्न युज्यते, मोक्षसुखप्राप्तिर्न घटत इत्यर्थः, स्वविषयनियतत्वादेव, असहायत्वादित्यर्थः, ज्ञानपक्ष

प्रत
सूत्रांक
||७..||

दीप
अनुक्रम
[९..]

आवश्यक-हारिभद्रीया ॥५३१॥

३ वन्दनाध्ययने सम्यक्त्वं मोक्षः

इव, अनेन तत्प्रतिपादितसकलदृष्टान्तसङ्ग्रहमाह–यथा ज्ञानपक्षे मार्गज्ञादिभिर्दृष्टान्तैरसहायस्य ज्ञानस्यैहिकामुष्मिकफलासाधकत्वमुक्तम्, एवमत्रापि दर्शनाभिलापेन द्रष्टव्यं, दिङ्मात्रं तु प्रदर्श्यते–यथा 'तीक्ष्णरुचिरपि नरः' तीव्रश्रद्धोऽपि पुरुषः, क ?–गन्तुं देशान्तरं देशान्तरगमन इत्यर्थः,'नयविहीनो' ज्ञानगमनक्रियालक्षणनयशून्य इत्यर्थः, प्राप्नोति न तं देशं–गन्तुमिष्टं तद्विषयश्रद्धायुक्तोऽपि, नययुक्त एव प्राप्नोति, 'इय' एवं ज्ञानचरणरहितः सम्यग्दृष्टिरपि तत्त्वश्रद्धानयुक्तोऽपि मोक्षदेशं तु न प्राप्नोति, नैव सम्यक्त्वप्रभावादेव, किन्तु ज्ञानादिसंयुक्त एव प्राप्नोति, तस्मात्रितयं प्रधानम्, अतस्त्रितययुक्तस्यैव कृतिकर्म कार्यं, त्रितयं चाऽऽत्मनाऽऽसेवनीयं,'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग' (तत्त्वा.अ.१सू.१) इति वचनादयं गाथात्रितयार्थः॥१–२–३॥एवमपि तत्त्वे समाख्याते ये खल्वधर्मभूयिष्ठा यानि चासदालम्बनानि प्रतिपादयन्ति तदभिधित्सुराह—

धम्मनियत्तमईया परलोगपरम्मुहा विसयगिद्धा । चरणकरणे असत्ता सेणियरायं ववइसंति ॥ ११५७ ॥

व्याख्या—धर्मः–चारित्रधर्मः परिगृह्यते तस्मान्निवृत्ता मतिर्येषां ते धर्मनिवृत्तमतयः, परः–प्रधानो लोकः परलोको–मोक्षस्तत्पराङ्मुखाः 'विषयगृद्धाः' शब्दादिविषयानुरक्ताः, ते एवम्भूताश्चरणकरणे 'अशक्ताः' असमर्थाः सन्तः श्रेणिकराजं व्यपदिशन्त्यालम्बनमिति गाथार्थः ॥ ११५७ ॥ कथं ?—

ण सेणिओ आसि तया बहुस्सुओ, न यावि पन्नत्तिधरो न वायगो ।
सो आगमिस्साइ जिणो भविस्सइ, समिक्ख पन्नाइ वरं खु दंसणं ॥ ११५८ ॥ ॥५३१॥

व्याख्या—न 'श्रेणिकः' नरपतिरासीत् 'तदा' तस्मिन् काले 'बहुश्रुतः' बह्वागमः महाकल्पादिश्रुतधर इत्यर्थः, 'न

प्रत सूत्रांक ||७..||

दीप अनुक्रम [९..]

चापि प्रज्ञप्तिधरः' न चापि भगवतीवेत्ता 'न वाचकः' न पूर्वधरः, तथाऽप्यसावसहायदर्शनप्रभावादेव 'आगमिस्साए'त्ति आयत्यामागामिनि काले 'जिनो भविष्यति' तीर्थकरो भविष्यति, यतश्चैवमतः 'समीक्ष्य' दृष्ट्वा 'प्रज्ञया' बुद्ध्या दर्शनविपाकं तीर्थकराख्यफलप्रसाधकं 'वरं खु दंसण'न्ति खुशब्दस्यावधारणार्थत्वात् वरं दर्शनमेवाङ्गीकृतमिति वाक्यशेषः, अयं वृत्तार्थः ॥११५८॥ किंच–शक्य एवोपाये प्रेक्षावतः प्रवृत्तिर्युज्यते, न पुनरशक्ये शिरःशूलशमनाय तक्षकफणालङ्कारग्रहणकल्पे चारित्रे, चारित्रं च तत्त्वतः मोक्षोपायत्वे सत्यप्यशक्यासेवनं, सूक्ष्मापराधेऽपि अनुपयुक्तगमनागमनादिभिर्विराध्यमानत्वादायासरूपत्वाच्च, नियमेन च छद्मस्थस्य तद्भ्रंश उपजायते सर्वस्यैवातः—

भट्ठेण चरित्ताओ सुट्ठुयरं दंसणं गहेयव्वं । सिज्झंति चरणरहिया दंसणरहिया न सिज्झंति ॥ ११५९ ॥

व्याख्या—'भ्रष्टेन' च्युतेन, कुतः ?–चारित्रात्, सुतरां दर्शनं ग्रहीतव्यं, पुनर्बोधिलाभानुबन्धिशक्यमोक्षोपायत्वात्, तथा च—सिद्ध्यन्ति चरणरहिताः प्राणिनः–दीक्षाप्रवृत्त्यनन्तरमृतान्तकृत्केवलिनः, दर्शनरहितास्तु न सिद्ध्यन्ति, अतो दर्शनमेव प्रधानं सिद्धिकारणं, तद्भावभावित्वादित्ययं गाथार्थः ॥ ११५९ ॥ इत्थं चोदकाभिप्राय उक्तः, साम्प्रतमसहायदर्शनपक्षे दोषा उच्यन्ते, यदुक्तं–'न श्रेणिक आसीत्तदा बहुश्रुत' इत्यादि, तन्न, तत एवासौ नरकमगमत्, असहायदर्शनयुक्तत्वात्, अन्येऽप्येवंविधा दशारसिंहादयो नरकमेव गता इति, आह च—

दसारसीहस्स य सेणियस्सा, पेढालपुत्तस्स य सच्चइस्स ।
अणुत्तरा दंसणसंपया तया, विणा चरित्तेणऽहरं गइं गया ॥ ११६० ॥

प्रत सूत्रांक ||७..|| दीप अनुक्रम [९..]

व्याख्या—'दशारसिंहस्य' अरिष्टनेमिपितृव्यपुत्रस्य 'श्रेणिकस्य च' प्रसेनजित्पुत्रस्य पेढालपुत्रस्य च सत्यकिनः 'अनुत्तरा' प्रधाना क्षायिकेति यदुक्तं भवति, का ?–दर्शनसम्पत् 'तदा' तस्मिन् काले, तथाऽपि विना चारित्रेण 'अधरां गतिं गता' नरकगतिं प्राप्ता इति वृत्तार्थः ॥ ११६० ॥ किं च—

सव्वाओवि गईओ अविरहिया नाणदंसणधरेहिं । ता मा कासि पमायं नाणेण चरित्तरहिएणं ॥ ११६१ ॥

व्याख्या—'सर्वा अपि' नारकतिर्यङ्नरामरगतयः 'अविरहिताः' अविमुक्ताः, कैः ?–ज्ञानदर्शनधरैस्सत्त्वैः, यतः–सर्वास्वेव सम्यक्त्वश्रुतसामायिकद्वयमस्त्येव, न च नरकगतिव्यतिरेकेणान्यासु मुक्तिः, चारित्राभावात्, तस्माच्चारित्रमेव प्रधानं मुक्तिकारणं, तद्भावभावित्वादिति, यस्मादेवं 'तं मा कासि पमायं'ति तत्–तस्मान्मा कार्षीः प्रमादं, ज्ञानेन चारित्ररहितेन, तस्येष्टफलासाधकत्वात्, ज्ञानग्रहणं च दर्शनोपलक्षणार्थमिति गाथार्थः ॥ ११६१ ॥ इतश्च चारित्रमेव प्रधानं, नियमेन चारित्रयुक्त एव सम्यक्त्वसद्भावात्, आह च—

सम्मत्तं अचरित्तस्स हुज्ज भयणाइ नियमसो नत्थि। जो पुण चरित्तजुत्तो तस्स उ नियमेण सम्मत्तं ॥ ११६२ ॥

व्याख्या—'सम्यक्त्वं' प्राग्वर्णितस्वरूपम् 'अचारित्रस्य' चारित्ररहितस्य प्राणिनो भवेत् 'भजनया' विकल्पनया–कदाचिद्भवति कदाचिन्न भवति, 'नियमशो नास्ति' नियमेन न विद्यते, प्रभूतानां चारित्ररहितानां मिथ्यादृष्टित्वात्, यः पुनश्चारित्रयुक्तः सत्त्वस्तस्यैव, तुशब्दस्यावधारणार्थत्वात्, 'नियमेन' अवश्यंतया सम्यक्त्वम्, अतः सम्यक्त्वस्यापि नियमतश्चारित्रयुक्त एव भावात्प्राधान्यमिति गाथार्थः ॥ ११६२ ॥ किं च—

प्रत सूत्रांक ||७..||

दीप अनुक्रम [९..]

जिणवयणबाहिरा भावणाहिं उव्वट्टणं अयाणंता । नेरइयतिरियएगिंदिएहि जह सिज्झई जीवो ॥ ११६३ ॥

व्याख्या—'जिनवचनबाह्या' यथावस्थितागमपरिज्ञानरहिताः प्रत्येकं ज्ञानदर्शननयावलम्बिनः 'भावणाहिं'ति उक्तेन न्यायेन ज्ञानदर्शनभावनाभ्यां सकाशात्, मोक्षमिच्छन्तीति वाक्यशेषः, 'उद्वर्तनामजानानाः' नारकतिर्यगेकेन्द्रियेभ्यो यथा सिद्ध्यति जीवस्तथोद्वर्तनामजानाना इति योगः, इयमत्र भावना–ज्ञानदर्शनभावेऽपि न नारकादिभ्योऽनन्तरं मनुष्यभावमप्राप्य सिद्ध्यति कश्चित्, चरणाभावात् , तेनानयोः केवलयोरहेतुत्वं मोक्षं प्रति, तेभ्य एवैकेन्द्रियेभ्यश्च ज्ञानादिरहितेभ्योऽप्युद्वृत्ता मनुष्यत्वमपि प्राप्य चारित्रपरिणामयुक्त एव सिद्ध्यति, नायुक्तोऽकर्मभूमिकादिः, अत इयमुद्वर्तना कारणवैकल्यं सूचयतीति गाथार्थः ॥ ११६३ ॥ पुनरपि चारित्रपक्षमेव समर्थयन्नाह—

सुट्ठुवि सम्मद्दिट्ठी न सिज्झई चरणकरणपरिहीणो । जं चेव सिद्धिमूलं मूढो तं चेव नासेइ ॥ ११६४ ॥

व्याख्या—'सुष्ठुपि' अतिशयेनापि सम्यग्दृष्टिर्न सिद्ध्यति, किम्भूतः ?–चरणकरणपरिहीणः, तद्वादमेव च समर्थयन्, किमिति ?–'यदेव सिद्धिमूलं' यदेव मोक्षकारणं सम्यक्त्वं मूढस्तदेव नाशयति, केवलतद्वादसमर्थनेन, 'एक्कंपि असद्दहंतो मिच्छं'ति वचनात्, अथवा सुष्ठुपि सम्यग्दृष्टिः क्षायिकसम्यग्दृष्टिरपीत्यर्थः, न सिद्ध्यति चरणकरणपरिहीणः, श्रेणिकादिवत्, किमिति ?–यदेव सिद्धिमूलं–चरणकरणं मूढस्तदेव नाशयत्यनासेवनयेति गाथार्थः ॥ ११६४ ॥ किं च–अयं केवलदर्शनपक्षो न भवत्येवागमविदः सुसाधोः, कस्य तर्हि भवति ?, अत आह—

दंसणपक्खो सावय चरित्तभट्ठे य मंदधम्मे य । दंसणचरित्तपक्खो समणे परलोगकंखिम्मि ॥ ११६५ ॥

प्रत सूत्रांक ||७..|| दीप अनुक्रम [९..]

आवश्यक-हारिभद्रीया ||५२३||

३ वन्दनाध्ययने सत्रयीयोगः

व्याख्या—दर्शनपक्षः 'श्रावके' अप्रत्याख्यानकषायोदयवति भवति 'चारित्रभ्रष्टे च' कस्मिंश्चिदव्यवस्थितपुराणे 'मन्दधर्मे च' पार्श्वस्थादौ, दर्शनचारित्रपक्षः श्रमणे भवति, किम्भूते ?—परलोकाकाङ्क्षिणि, सुसाधावित्यर्थः, प्राकृतशैल्या चेह सप्तमी षष्ठ्यर्थ एव द्रष्टव्या, दर्शनग्रहणाच्च ज्ञानमपि गृहीतमेव द्रष्टव्यम्, अतो दर्शनादिपक्षस्त्रिरूपो वेदितव्य इति गाथार्थः ॥ ११६५ ॥ अपरस्त्वाह—यद्येवं बह्वीभिरुपपत्तिभिश्चारित्रं प्रधानमुपवर्ण्यते भवता ततस्तदेवास्तु, अलं ज्ञानदर्शनाभ्यामिति, न, तस्यैव तद्व्यतिरेकेणासम्भवाद्, आह—

पारंपरप्पसिद्धी दंसणनाणेहिं होइ चरणस्स । पारंपरप्पसिद्धी जह होइ तहऽन्नपाणाणं ॥ ११६६ ॥

व्याख्या—पारम्पर्येण प्रसिद्धिः पारम्पर्यप्रसिद्धिः—स्वरूपसत्ता, एतदुक्तं भवति—दर्शनाज्ज्ञानं, ज्ञानाच्चारित्रम्, एवं पारम्पर्येण चरणस्वरूपसत्ता, सा दर्शनज्ञानाभ्यां सकाशाद्भवति चरणस्य, अतस्तद्भावभावित्वाच्चरणस्य त्रितयमप्यस्तु, लौकिकं न्यायमाह—पारम्पर्यप्रसिद्धिर्यथा भवति तथाऽन्नपानयोर्लोकेऽपि प्रतीतैवेति क्रिया, तथा चान्नार्थी स्थालीन्धनाद्यपि गृह्णाति पानार्थी च द्राक्षाद्यपि, अतस्त्रितयमपि प्रधानमिति गाथार्थः ॥ ११६६ ॥ आह—यद्येवमतस्तुल्यबलत्वे सति ज्ञानादीनां किमित्यस्थानपक्षपातमाश्रित्य चारित्रं प्रशस्यते भवतेति ?, अत्रोच्यते—

जम्हा दंसणनाणा संपुण्णफलं न दिंति पत्तेयं । चारित्तजुया दिंति उ विसिस्सए तेण चारित्तं ॥ ११६७ ॥

व्याख्या—यस्माद्दर्शनज्ञाने 'सम्पूर्णफलं' मोक्षलक्षणं 'न ददतः' न प्रयच्छतः प्रत्येकं, चारित्रयुक्ते दत्ते एव, विशेष्यते तेन चारित्रं, तस्मिन्सति फलभावादिति गाथार्थः ॥ ११६७ ॥ आह—विशिष्यतां चारित्रं, किन्तु— ||५२३||

प्रत
सूत्रांक
||७..||

दीप
अनुक्रम
[९..]

उज्जममाणस्स गुणा जह हुंति ससत्तिओ तवसुएसुं । एमेव जहासत्ती संजममाणे कहं न गुणा ? ॥ ११६८ ॥

व्याख्या—'उज्जममाणस्स'त्ति उद्यच्छतः–उद्यमं कुर्वतः साधोः, क ?–तपःश्रुतयोरिति योगः, 'गुणाः' तपोज्ञानावाप्तिनिर्जरादयो यथा भवन्ति 'स्वशक्तितः' स्वशक्त्योद्यच्छतः, एवमेव 'यथाशक्ति' शक्त्यनुरूपमित्यर्थः, 'संजममाणे कहं न गुण'त्ति संयच्छमाने–संयमं पृथिव्यादिसंरक्षणादिलक्षणं कुर्वति सति साधौ कथं न गुणाः ?, गुणा एवेत्यर्थः, अथवा कथं न गुणा येनाविकलसंयमानुष्ठानरहितो विराधकः प्रतिपद्यत इति ?, अत्रोच्यते—

अणिगूहंतो विरियं न विराहेइ चरणं तवसुएसुं । जइ संजमेऽवि विरियं न निगूहिज्जा न हाविज्जा ॥ ११६९ ॥

व्याख्या—'अनिगूहन् वीर्यं' प्रकटयन् सामर्थ्यं यथाशक्त्या, क ?–तपःश्रुतयोरिति योगः, किं ?'न विराधयति चरणं' न खण्डयति चारित्रं ?, यदि 'संयमेऽपि' पृथिव्यादिसंरक्षणादिलक्षणे 'वीर्यं' सामर्थ्यमुपयोगादिरूपतया 'न निगूहयेत्' न प्रच्छादयेन्मातृस्थानेन 'न हाविज्ज'त्ति ततो न हापयेत् संयमं न खण्डेत्, स्यादेव संयमगुणा इति गाथार्थः ॥११६९॥

संजमजोएसु सया जे पुण संतविरियावि सीयंति । कह ते विसुद्धचरणा बाहिरकरणालसा हुंति ? ॥ ११७० ॥

व्याख्या—'संयमयोगेषु' पृथिव्यादिसंरक्षणादिव्यापारेषु 'सदा' सर्वकालं ये पुनः प्राणिनः 'संतविरियावि सीयंति'त्ति विद्यमानसामर्थ्या अपि नोत्सहन्ते, कथं ते विशुद्धचरणा भवन्तीति योगः?, नैवेत्यर्थः, बाह्यकरणालसाः सन्तः–प्रत्युपेक्षणादिबाह्यचेष्टारहिता इति गाथार्थः॥११७०॥आह–ये पुनरालम्बनमाश्रित्य बाह्यकरणालसा भवन्ति तेषु का वार्तेति ?, उच्यते—

आलंबणेण केणइ जे मन्ने संयमं पमायंति । न हु तं होइ पमाणं भूयत्थगवेसणं कुज्जा ॥ ११७१ ॥

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्ति:

व्याख्या—आलम्ब्यत इत्यालम्बनं–प्रपततां साधारणस्थानं तेनालम्बनेन 'केनचित्' अव्यवच्छित्त्यादिना ये प्राणिनः 'मन्य' इति एवमहं मन्ये 'संयमम्' उक्तलक्षणं 'प्रमादयन्ति' परित्यजन्ति, 'न हु तं होइ पमाणं' नैव तदालम्बनमात्रं भवति प्रमाणम्–आदेयं, किन्तु? 'भूतार्थगवेषणं कुर्यात्' तत्त्वार्थान्वेषणं कुर्यात्–किमिदं पुष्टमालम्बनम् ? आहोस्विन्नेति, यद्यपुष्टमविशुद्धचरणा एव ते, अथ पुष्टं विशुद्धचरणा इति गाथार्थः ॥ ११७१ ॥ अपरस्त्वाह–आलम्बनात्को विशेष उपजायते ? येन विशुद्धचरणा भवन्तीति, अत्र दृष्टान्तमाह—

सालंबणो पडंतो अप्पाणं दुग्गमेऽवि धारेइ । इय सालंबणसेवा धारेइ जइं असढभावं ॥ ११७२ ॥

व्याख्या—इहालम्बनं द्विविधं भवति–द्रव्यालम्बनं भावालम्बनं च, द्रव्यालम्बनं गर्तादौ प्रपतता यदालम्ब्यते द्रव्यं, तदपि द्विविधम्–पुष्टमपुष्टं च, तत्रापुष्टं दुर्बलं कुशवच्चकादि, पुष्टं तु बलवत्कठिनवल्ह्यादि, भावालम्बनमपि पुष्टापुष्टभेदेन द्विधैव, तत्रापुष्टं ज्ञानाद्यपकारकं, तद्विपरीतं तु पुष्टमिति, तच्चेदं–'काहं अछित्तिं अदुवा अहीहं, तवोवहाणेसु य उज्जमिस्सं । गणं व णीईइ व हु सारविस्सं, सालंबसेवी समुवेइ मुक्खं ॥१॥" तदेवं व्यवस्थिते सति सहालम्बनेन वर्तत इति सालम्बनः, असौ पतन्नपि आत्मानं 'दुर्गमेऽपि' गर्तादौ धारयति, पुष्टालम्बनप्रभावादिति, 'इय' एवं सेवनं सेवा प्रतिसेवनेत्यर्थः, सालम्बना चासौ सेवा च सालम्बनसेवा सा संसारगर्ते प्रपतन्तं धारयति यतिमशठभावं–मातृस्थानरहितमित्येष गुण इति गाथार्थः ॥ ११७२ ॥ साम्प्रतं सिसाधयिषितार्थव्यतिरेकं दर्शयन्नाह— ||५३४||

१ करिष्याम्यव्युच्छित्तिमथवाऽध्येष्ये तपउपधानयोरुद्यंस्यामि । गणं वा नीत्यैव सारयिष्यामि सालम्बसेवी समुपैति मोक्षम् ॥ १ ॥

प्रत
सूत्रांक
||७..||

दीप
अनुक्रम
[९..]

आलंबणहीणो पुण निवडइ खलिओ अहे दुरुत्तारे । इय निक्कारणसेवी पडइ भवोहे अगाहंमि ॥ ११७३ ॥

व्याख्या—आलम्बनहीनः पुनर्निपतति स्खलितः, क ?–'अहे दुरुत्तारे'त्ति गर्तायां दुरुत्तारायाम्, 'इय' एवं 'निष्कारणसेवी' साधुः पुष्टालम्बनरहित इत्यर्थः, 'पतति भवौघे अगाधे' पतति भवगर्तायामगाधायाम्, अगाधत्वं पुनरस्या दुःखेनोत्तारणसम्भवादिति गाथार्थः ॥११७३॥ गतं सप्रसङ्गं दर्शनद्वारम्, इदानीं 'नियावासे'त्ति अस्यावसरः, अस्य च सम्बन्धो व्याख्यात एव गाथाक्षरगमनिकायां, स एव लेशतः स्मार्यते–इह यथा चरणविकला असहायज्ञानदर्शनपक्षमालम्बन्ति एवं नित्यवासाद्यपि, आह च—

जे जत्थ जया भग्गा ओगासं ते परं अविंदंता । गंतुं तत्थऽचयंता इमं पहाणंति घोसंति ॥ ११७४ ॥

व्याख्या—'ये' साधवः शीतलविहारिणः 'यत्र' अनित्यवासादौ 'यदा' यस्मिन् काले 'भग्ना' निर्विण्णाः 'अवकाशं' स्थानं ते 'परम्' अन्यत् 'अविंदंत'त्ति अलभमाना गन्तुं 'तत्र' शोभने स्थाने अशक्नुवन्तः किं कुर्वन्ति ?–'इमं पहाणंति घोसन्ति'त्ति यदस्माभिरङ्गीकृतं साम्प्रतं कालमाश्रित्येदमेव प्रधानमित्येवं घोषयन्ति, दिट्ठंतो इत्थ सत्थेणं—

जहा कोइ सत्थो पविरलोदगरुक्खच्छायमद्धाणं पवण्णो, तत्थ केइ पुरिसा परिस्संता पविरलासु छायासु जेहिं तेहिं वा पाणिएहिं पडिबद्धा अच्छंति, अण्णे य सद्दाविंति–एह इमं चेव पहाणंति, तंमि सत्थे केइ तेसिं पडिसुणंति, केइ ण

१ दृष्टान्तोऽत्र सार्थेन यथा कोऽपि सार्थः प्रविरलोदकवृक्षच्छायमध्वानं प्रपन्नः, तत्र केचित्पुरुषाः परिश्रान्ताः प्रविरलासु छायासु यैस्तैर्वा पानीयैः प्रतिबद्धास्तिष्ठन्ति, अन्यांश्च शब्दयन्ति–आयातेदमेव प्रधानमिति, तस्मिन् सार्थे केचित्तेषां प्रतिशृण्वन्ति, केचिन्न

प्रत सूत्रांक ||७..||

दीप अनुक्रम [९..]

आवश्यक-हारिभ-द्रीया ||५३५|| | ३ वन्दनाध्ययने नित्यवासाद्यालम्ब०

सुंणंति, जे सुणिंति ते छुहातण्हाइयाणं दुक्खाणं आभागी जाया, जे न सुणंति ते खिप्पमेव अपडिबद्धा अद्धाण सीसं गंतुं उदयस्स सीयलस्स छायाणं च आभागी जाया। जहा ते पुरिसा विसीयंति तहा पासत्थाई, जहा ते णिच्छिण्णा तहा सुसाहू। अयं गाथार्थः ॥ ११७४ ॥ साम्प्रतं यदुक्तमिदं प्रधानमिति घोषयन्ति तद्दर्शयति—

नीयावासविहारं चेइयभत्तिं च अज्जियालाभं। विगईसु य पडिबंधं निद्दोसं चोइया बिंति॥ ११७५ ॥

व्याख्या—नित्यवासेन विहारं, नित्यवासकल्पमित्यर्थः, चैत्येषु भक्तिश्चैत्यभक्तिस्तां च, चशब्दात्कुलकार्यादिपरिग्रहः, आर्यिकाभ्यो लाभस्तं, क्षीराद्या विगतयोऽभिधीयन्ते तासु विगतिषु च 'प्रतिबन्धम्' आसङ्गं निर्दोषं चोदिताः अन्येनोद्यतविहारिणा 'ब्रुवते' भणन्तीति गाथार्थः ॥ ११७५ ॥ तत्र नित्यावासविहारे सदोषं चोदिताः सन्तस्तदा कथं वा निर्दोषं ब्रुवत इत्याह—

जाहेवि य परितंता गामागरनगरपट्टणमडंता। तो केइ नीयवासी संगमथेरं ववइसंति ॥ ११७६ ॥

व्याख्या—यदाऽपि च 'परितान्ताः' सर्वथा श्रान्ता इत्यर्थः, किं कुर्वन्तः सन्तः ?–ग्रामाकरनगरपत्तनान्यटन्तस्सन्तः, ग्रामादीनां स्वरूपं प्रसिद्धमेव, अतः 'केचन' नष्टनाशका नित्यवासिनः, न तु सर्व एव, किं ?–सङ्गमस्थविरमाचार्यं व्यपदिशन्त्यालम्बनत्वेन इति गाथार्थः ॥ ११७६ ॥ कथं ?— ||५३५||

१ श्रृण्वन्ति, ये श्रृण्वन्ति ते क्षुधातृष्णादिकानां दुःखानामाभागिनो जाताः, ये न श्रृण्वन्ति ते क्षिप्रमेवाप्रतिबद्धा अध्वनः शीर्षं गत्वोदकस्य शीतलस्य छायानां चाभागिनो जाताः। यथा ते पुरुषा विषीदन्ति तथा पार्श्वस्थादयः, यथा ते निस्तीर्णास्तथा सुसाधवः।

प्रत
सूत्रांक
||७..||

दीप
अनुक्रम
[९..]

संगमथेरायरिओ सुट्ठु तवस्सी तहेव गीयत्थो । पेहित्ता गुणदोसं नीयावासे पवत्तो उ ॥ ११७७ ॥

व्याख्या—निगदसिद्धा, कः पुनः सङ्गमस्थविर इत्यत्र कथानकं—कोइँल्लणयरे संगमथेरा, दुब्भिक्खे तेण साहुणो विसज्जिया, ते तं णयरं णव भागे काऊण जंघाबलपरिहीणा विहरंति, णयरदेवया किर तेसिं उवसंता, तेसिं सीसो दत्तो णाम अहिंडओ चिरेण कालेणोदंतवाहगो आगओ, सो तेसिं पडिस्सए ण पविसइ णिययावासित्ति काउं, भिक्खवेलाए उग्गाहियं हिंडंताणं संकिलिस्सइ—को†डोऽयं सड्ढकुलाणि ण दाएइत्ति, एगत्थ सेट्ठियाकुले रोवणियाए गहियओ दारओ, छम्मासा रोवंतगस्स, आयरिएहिं चप्पुडिया कया—मा रोव, वाणमंतरीए मुक्को, तेहिं तुट्ठेहिं पडिलाहिया जधिच्छिएण, सो विसज्जिओ, एताणि ताणि कुलाणित्ति, आयरिया सुइरं हिंडिऊण अंतं पंतं गहाय आगया, समुद्दिट्ठा, आवस्सयआलोयणाए आयरिया भणंति—आलोएहि, सो भणइ—तुब्भेहिं समं हिंडिओत्ति, ते भणंति—धाइपिंडो ते भुत्तोत्ति, भणइ—अइसुहुमाणित्ति बइट्ठो, देवयाए अड्ढरत्ते वासं अंधयारं च विउव्वियं एस हीलेइत्ति, आयरिएहिं भणिओ—अतीहि,

१ कोल्लेरनगरे संगमस्थविराः, दुर्भिक्षे तः साधवो विसृष्टाः, ते तन्नगरं नव भागान् कृत्वा परिक्षीणजङ्घाबला विहरन्ति, नगरदेवता किल तेषामुपशान्ता, तेषां शिष्यो दत्तो नामाहिण्डकश्चिरेण कालेनोदन्तवाहक आगतः, स तेषां प्रतिश्रये न प्राविक्षत् नित्यवासीतिकृत्वा, भिक्षावेलायामौपग्रहिकं हिण्डमानयोः संक्लिश्यति, †वृद्धोऽयं श्राद्धकुलानि न दर्शयतीति, एकत्र श्रेष्ठिकुले रोदिन्या गृहीतो दारकः, षण्मासीं रुदति, आचार्यैश्चप्पुटिका कृता मा रोदीः, व्यन्तर्या मुक्तः, तैस्तुष्टैः प्रतिलाभिता यादृच्छिकेन, स विसृष्टः, एतानि तानि कुलानीति, आचार्याः सुचिरं हिण्डयित्वा अन्तप्रान्तं गृहीत्वाऽऽगताः, समुद्दिष्टाः, आवश्यकालोचनायामाचार्या भणन्ति—आलोचय, स भणति—युष्माभिः समं हिण्डित इति, ते भणन्ति—धात्रीपिण्डस्त्वया भुक्त इति, भणति—अतिसूक्ष्मतराण्येतानीति उपविष्टः, देवतयाऽर्धरात्रे वर्षा अन्धकारश्च विकुर्वितौ एष हीलतीति, आचार्यैर्भणितः—आगच्छ. * कोल्लइरे. + नव हा. † कुद्धो य. कुण्टोऽयं.

संगमस्थावीरस्य दृष्टांत

प्रत सूत्रांक ||७..||

दीप अनुक्रम [९..]

आवश्यक-हारिभ-द्रीया ||५३६||

सो भणइ–अंधयारोत्ति, आयरिएहिं अंगुली पदाइया, सा पज्जलिया, आउट्टो आलोएइ, आयरियावि णव भागे परिकहंति, एवमयं पुट्ठालंबणो ण होइ सव्वेसिं मंदधम्माणमालंबणन्ति ॥ ११७७ ॥ आह च—

ओमे सीसपवासं अप्पडिबंधं अजंगमत्तं च। न गणंति एगखित्ते गणंति वासं नियय्वासी ॥ ११७८ ॥

व्याख्या—'ओमे' दुर्भिक्षे 'शिष्यप्रवासं' शिष्यगमनं, तथा तस्यैव 'अप्रतिबन्धम्' अनभिष्वङ्गम् 'अजङ्गमत्वं' वृद्धत्वं च, चशब्दात्तत्रैव क्षेत्रे विभागभजनं च, इदमालम्बनजालं 'न गणयन्ति' न प्रेक्षन्ते, नालोचयन्तीत्यर्थः, किन्तु एकक्षेत्रे गणयन्ति वासं 'नित्यवासिनः' मन्दधिय इति गाथार्थः ॥ ११७८ ॥ नित्यावासविहारद्वारं गतं, चैत्यभक्तिद्वारमधुना—

चेइयकुलगणसंघे अन्नं वा किंचि काउ निस्साणं। अहवावि अज्जवयरं तो सेवंती अकरणिज्जं ॥ ११७९ ॥

व्याख्या—चैत्यकुलगणसङ्घान्, अन्यद्वा 'किञ्चिद्' अपुष्टमव्यवच्छित्त्यादि 'कृत्वा निश्रां' कृत्वाऽऽलम्बनमित्यर्थः, कथं?–नास्ति कश्चिदिह चैत्यादिप्रतिजागरकः अतोऽस्माभिरसंयमोऽङ्गीकृतः, मा भूच्चैत्यादिव्यवच्छेद इति, अथवाऽप्यार्यवैरं कृत्वा निश्रां ततः सेवन्ते 'अकृत्यम्' असंयमं मन्दधर्माण इति गाथार्थः ॥ ११७९ ॥

चेइयपूया किं वयरसामिणा मुणियपुव्वसारेणं। न कया पुरियाइ? तओ मुक्खंगं सावि साहूणं ॥ ११८० ॥

३ वन्दनाध्ययने चैत्यभक्त्यालम्ब० ||५३६||

---

१ स भणति–अन्धकार इति, आचार्यैरङ्गुली प्रदर्शिता, सा प्रज्वलिता, आवृत्त आलोचयति, आचार्या अपि नव भागान् परिकथयन्ति, एवमयं पुष्टालम्बनो न भवति सर्वेषां मन्दधर्मणामालम्बनमिति।

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्ति:

प्रत सूत्रांक ||७..||

दीप अनुक्रम [९..]

व्याख्या—अक्षरार्थः सुगमः, भावार्थः कथानकादवसेयः, तच्चाधः कथितमेव, तत्र वैरस्वामिनमालम्बनं कुर्वाणा इदं नेक्षन्ते मन्दधियः, किमित्याह—

ओहावणं परेसिं सतित्थउब्भावणं च वच्छल्लं । न गणंति गणेमाणा पुव्वुचियपुप्फमहिमं च ॥ ११८१ ॥

व्याख्या—'अपभ्राजनां' लाञ्छनां 'परेषां' शाक्यादीनां स्वतीर्थोद्भावनां च दिव्यपूजाकरणेन तथा 'वात्सल्यं' श्रावकाणां, एतन्न गणयन्त्यालम्बनानि गणयन्तः सन्तः, तथा पूर्वावचितपुष्पमहिमानं च न गणयन्तीति–पूर्वावचितैः–प्राग्गृहीतैः पुष्पैः–कुसुमैर्महिमा–यात्रा तामिति गाथार्थः ॥ ११८१ ॥ चैत्यभक्तिद्वारं गतम्, अधुनाऽऽर्यिकालाभद्वारं, तत्रेयं गाथा—

अज्जियलाभे गिद्धा सएण लाभेण जे असंतुट्ठा । भिक्खायरियाभग्गा अन्नियपुत्तं ववइसंति ॥ ११८२ ॥

व्याख्या—आर्यिकाभ्यो लाभ आर्यिकालाभस्तस्मिन् 'गृद्धाः' आसक्ताः 'स्वकीयेन' आत्मीयेन लाभेन येऽसन्तुष्टा मन्दधर्माणः भिक्षाचर्यया भग्ना भिक्षाचर्याभग्नाः, भिक्षाटनेन निर्विण्णा इत्यर्थः, ते हि सुसाधुना चोदिताः सन्तोऽभक्ष्योऽयं तपस्विनामिति 'अन्निकापुत्रम्' आचार्यं व्यपदिशन्त्यालम्बनत्वेनेति गाथार्थः ॥ ११८२ ॥ कथम् ?—

अन्नियपुत्तायरिओ भत्तं पाणं च पुप्फचूलाए । उवणीयं भुंजंतो तेणेव भवेण अंतगडो ॥ ११८३ ॥

व्याख्या—अक्षरार्थो निगदसिद्धः, भावार्थः कथानकादवसेयः, तच्च योगसङ्ग्रहेषु वक्ष्यते। ते च मन्दमतय इदमालम्बनं कुर्वन्तः सन्तः इदमपरं नेक्षन्ते, किम् ?, अत आह—

गयसीसगणं ओमे भिक्खायरियाअपच्चलं थेरं । न गणंति सहावि सढा अज्जियलाहं गवेसंता ॥ ११८४ ॥

प्रत
सूत्रांक
||७..||

दीप
अनुक्रम
[९..]

आवश्यक-हारिभद्रीया ॥५३७॥

३ वन्दनाध्ययने आर्यिकालाभादिद्वाराणि

व्याख्या—गतः शिष्यगणोऽस्येति समासस्तम् 'ओमे' दुर्भिक्षे भिक्षाचर्यायाम् अपच्चलः-असमर्थः भिक्षाचर्याऽपच्चलस्तं 'स्थविरं' वृद्धम् एवंगुणयुक्तं 'न गणयन्ति' नालोचयन्ति 'सहावि' समर्थाः, अपिशब्दात्सहायादिगुणयुक्ता अपि, शठा-मायाविनः आर्यिकालाभं 'गवेसंति'त्ति अन्विषन्त इति गाथार्थः ॥ ११८४ ॥ गतमार्यिकालाभद्वारं, विगतिद्वारमधुना, तत्रेयं गाथा—

भत्तं वा पाणं वा भुत्तूणं लावलवियमविसुद्धं। तो अवज्जपडिच्छन्ना उदायणरिसिं ववइसंति ॥ ११८५ ॥

व्याख्या—'भक्तं वा' ओदनादि 'पानं वा' द्राक्षापानादि 'भुक्त्वा' उपभुज्य 'लावलविय'न्ति लौल्योपेतम् 'अविशुद्धं' विगतिसम्पर्कदोषात्, तथा च-निष्कारणे प्रतिषिद्ध एव विगतिपरिभोगः, उक्तं च—"विगईविगईभीओ विगइगयं जो उ भुंजए साहू। विगई विगइसहावा विगई विगइं बला णेइ॥ १ ॥" त्ति, ततः केनचित्साधुना चोदिताः सन्तः 'अवद्यप्रतिच्छन्नाः' पापप्रच्छादिताः 'उदायणरिसिं' उदायनऋषिं व्यपदिशन्त्यालम्बनत्वेनेति गाथार्थः ॥ ११८५ ॥ अत्र कथानकं—वीतभए णयरे उदायणो राया जाव पव्वइओ, तस्स भिक्खाहारस्स वाही जाओ, सो विज्जेहिं भणिओ-दधिणा भुंजह, सो किर भट्टारओ वइयाएसु अच्छिओ, अण्णया वीयभयं गओ, तत्थ तस्स भगिणिज्जो केसी राया, तेणं चेव रज्जे ठाविओ, ॥५३७॥

१ विगतिविकृतिभीतो विकृतिगतं यस्तु भुङ्क्ते साधुः। विकृतिर्विकृतिस्वभावा विकृतिर्विगतिं बलान्नयति॥ १ ॥ वीतभये नगरे उदायनो राजा यावत्प्रव्रजितः, तस्य भिक्षाहारस्य व्याधिर्जातः, स वैद्यैर्भणितः-दध्ना भुङ्क्ष्व, स किल भट्टारको व्रजिकासु स्थितः, अन्यदा वीतभयं गतः, तत्र तस्य भागिनेयः केशी राजा, तेनैव राज्ये स्थापितः.

प्रत सूत्रांक ||७..||

दीप अनुक्रम [९..]

केसीकुमारोऽमच्चेहिं भणिओ–एस परीसहपराजिओ रज्जं मग्गइ, सो भणइ–देमि, ते भणंति–ण एस रायधम्मोत्ति वुग्गाहेइ, चिरेण पडिस्सुयं, किं कज्जउ ?, विसं तस्स दिज्जउ, एगाए पसुपालीए घरे पयुत्तं–दधिणा सह देहित्ति, *सा पदिण्णा, देवयाए अवहियं, भणिओ य–महरिसि ! तुज्झ विसं दिण्णं, परिहराहि दहिं, सो परिहरिओ, रोगो वाधिउमारद्धो, पुणो पगहिओ, पुणो पउत्तं विसं, पुणो देवयाए अवहरियं, तइयं वारं देवयाए वुच्चइ–पुणोवि दिण्णं, तंपि अवहियं, सा तस्स पच्छओ पहिंडिया, अण्णया पमत्ताए देवयाए दिन्नं, कालगओ, तस्स य सेज्जातरो कुंभगारो, तंमि कालगए देवयाए पंसुवरिसं पाडियं, सो अवहिओ अणवराहित्तिकाउं सिणवल्लीए कुंभकारुक्खेवो णाम पट्टणं तस्स णामेण जायं जत्थ सो अवहरिउं ठविओ, वीतभयं च सव्वं पंसुणा पेल्लियं, अज्जवि पुंसुओ अच्छंति, एस कारणिगोत्तिकट्टु न होइ सव्वेसिमालंबणंति ॥ आह च—

सीयललुक्खाऽणुचियं वएसु विगईगएण जाविंतं। हट्ठावि भणंति सढा किमासि उदायणो न मुणी? ॥ ११८६ ॥

---

१ केशिकुमारोऽमात्यैर्भणितः–एष परीषहपराजितः राज्यं मार्गयति, स भणति–ददामि, ते भणन्ति–नैष राजधर्म इति व्युद्ग्राहयति, चिरेण प्रतिश्रुतं, किं क्रियतां ?, विषं तस्मै ददातु, एकस्याः पशुपाल्या गृहे प्रयुक्तं दध्ना सह देहीति, सा प्रदत्तवती, देवतयाऽपहृतं, भणितश्च–महर्षे ! तुभ्यं विषं दत्तं, परिहर दधि, स परिहृतवान्, रोगो वर्धितुमारब्धः, पुनः प्रगृहीतं, पुनः प्रयुक्तं विषं, पुनर्देवतयाऽपहृतं, तृतीयवारं देवतयोच्यते, पुनरपि दत्तं, तदपि अपहृतं, सा तस्य पृष्ठतः प्रहिण्डिता, अन्यदा प्रमत्तायां देवतायां दत्तं, कालगतः, तस्य च शय्यातरः कुम्भकारः, तस्मिन् कालगते देवतया पांशुवर्षा पतिता, सोऽपहृतोऽनपराधीतिकृत्वा सेनापल्यां कुम्भकारोत्क्षेपो नाम पत्तनं तस्य नाम्ना जातं यत्र सोऽपहृत्य स्थापितः, वीतभयं च सर्वं पांसुना प्रेरितं, अद्यापि पांशवस्तिष्ठन्ति, एष कारणिक इतिकृत्वा न भवति सर्वेषामालम्बनमिति. * सो पडिदिण्णा. + वड्डिउ.

प्रत सूत्रांक ||७..|| दीप अनुक्रम [९..]

आवश्यक-हारिभद्रीया ||५३८||

३ वन्दनाध्ययने विकृतिद्वारं

व्याख्या—शीतलं च तत् रूक्षं च शीतलरूक्षम्, अन्नमिति गम्यते, तस्यानुचितः—अननुरूपः, नरेन्द्रप्रव्रजितत्वाद्रोगाभिभूतत्वाच्च शीतलरूक्षानुचितस्तं, 'व्रजेषु' गोकुलेषु 'विगतिगतेन' विगतिजातेन यापयन्तं सन्तं 'हट्ठावि'त्ति समर्था अपि भणन्ति शठाः—किमासीदुदायनो न मुनिः ?, मुनिरेव विगतिपरिभोगे सत्यपि, तस्मान्निर्दोष एवायमिति ॥ ११८६ ॥ एवं नित्यवासादिषु मन्दधर्माः सङ्गमस्थविरादीन्यालम्बनान्याश्रित्य सीदन्ति, अन्ये पुनः सूत्रादीन्येवाधिकृत्य, तथा चाह—

सुत्तत्थबालवुड्ढे य असहुदव्वाइआवईओ या। निस्साणपयं काउं संथरमाणावि सीयंति ॥ ११८७ ॥

व्याख्या—सूत्रं च अर्थश्च बालश्च वृद्धश्च सूत्रार्थबालवृद्धास्तान्, तथाऽसहश्च द्रव्याद्यापदश्च असहद्रव्याद्यापदस्ताँश्च, निश्राणाम्—आलम्बनानां पदं कृत्वा 'संस्तरन्तोऽपि' संयमानुपरोधेन वर्तमाना अपि सन्तः सीदन्ति, एतदुक्तं भवति—सूत्रं निश्रापदं कृत्वा यथाऽहं पठामि तावत्किं ममान्येन ?, एवमर्थं निश्रापदं कृत्वा शृणोमि तावत्, एवं बालत्वं वृद्धत्वं असहम्—असमर्थत्वमित्यर्थः, एवं द्रव्यापदं—दुर्लभमिदं द्रव्यं, तथा क्षेत्रापदं—क्षुल्लकमिदं क्षेत्रं, तथा कालापदं—दुर्भिक्षं वर्तते, तथा भावापदं—ग्लानोऽहमित्यादि निश्रापदं कृत्वा संस्तरन्तोऽपि सीदन्त्यल्पसत्त्वा इति गाथार्थः ॥११८७॥ एवम्— ||५३८||

आलंबणाण लोगो भरिओ जीवस्स अजउकामस्स। जं जं पिच्छइ लोए तं तं आलंबणं कुणइ ॥ ११८८ ॥

व्याख्या—'आलम्बनानां' प्राग्निरूपितशब्दार्थानां 'लोकः' मनुष्यलोकः 'भृतः' पूर्णो जीवस्य 'अजउकामस्स'त्ति अय-

प्रत सूत्रांक ||७..||

दीप अनुक्रम [९..]

तितुकामस्य, तथा च–अयतितुकामो यद् यत्पश्यति लोके नित्यवासादि तत् तदालम्बनं करोतीति गाथार्थः ॥११८८॥ किं च–द्विधा भवन्ति प्राणिनः–मन्दश्रद्धास्तीव्रश्रद्धाश्च, तत्रान्यन्मन्दश्रद्धानामालम्बनम् अन्यच्च तीव्रश्रद्धानामिति, आह च–

जे जत्थ जया जइया बहुस्सुया चरणकरणपब्भट्ठा । जं ते समायरंती आलंबण मंदसड्ढाणं ॥ ११८९ ॥

व्याख्या—'ये' केचन साधवः 'यत्र' ग्रामनगरादौ 'यदा' यस्मिन् काले सुषमदुष्षमादौ 'जइय'त्ति यदा च दुर्भिक्षादौ बहुश्रुताश्चरणकरणप्रभ्रष्टाः सन्तो यत्ते समाचरन्ति पार्श्वस्थादिरूपं तदालम्बनं मन्दश्रद्धानां, भवतीति वाक्यशेषः, तथाहि–आचार्यो मथुरायां मङ्गुः सुभिक्षेऽप्याहारादिप्रतिबन्धापरित्यागात् पार्श्वस्थतामभजत्, तदेवमपि नूनं जिनैर्धर्मो दृष्ट एवेति गाथाभिप्रायः ॥ ११८९ ॥

जे जत्थ जया जइया बहुस्सुया चरणकरणसंपन्ना । जं ते समायरंती आलंबण तिव्वसड्ढाणं ॥ ११९० ॥

व्याख्या—'ये' केचन 'यत्र' ग्रामनगरादौ 'यदा' सुषमदुष्षमादौ 'जइय'त्ति यदा च दुर्भिक्षादौ बहुश्रुताश्चरणकरणसम्पन्नाः, यत्ते समाचरन्ति भिक्षुप्रतिमादि तदालम्बनं तीव्रश्रद्धानां भवतीति गाथार्थः ॥ ११९० ॥ अवसितमानुषङ्गिकं, तस्मात् स्थितमिदं–पञ्चानां कृतिकर्म न कर्तव्यं, तथा च निगमयन्नाह—

दंसणनाणचरित्ते तवविणए निच्चकालपासत्था । एए अवंदणिज्जा जे जसघाई पवयणस्स ॥ ११९१ ॥

व्याख्या—'दंसणनाणचरित्ते'त्ति प्राकृतशैल्या छान्दसत्वाच्च दर्शनज्ञानचारित्राणां तथा तपोविनययोः 'निच्चकालपासत्थ'त्ति सर्वकालं पार्श्वे तिष्ठन्तीति सर्वकालपार्श्वस्थाः, नित्यकालग्रहणमित्वरप्रमादव्यवच्छेदार्थं, तथा च–इत्वरप्रमादान्निश्च-

प्रत सूत्रांक ||७..||

दीप अनुक्रम [९..]

आवश्यक-हारिभद्रीया

॥५३९॥

३ वन्दनाध्ययने योग्यायोग्यवन्दने गुणदोषाः

यतो ज्ञानाद्यपगमेऽपि व्यवहारतस्तु साधव एवेति, 'एते' प्रस्तुता अवन्दनीयाः, ये किंभूताः ?–'यशोघातिनः' यशोऽभिनाशकाः, कस्य ?–प्रवचनस्य, कथं यशोघातिनः ?, श्रमणगुणोपात्तं यद् यशस्तत्तद्गुणवितथासेवनतो घातयन्तीति गाथार्थः ॥ ११९१ ॥ पार्श्वस्थादिवन्दने चापायाञ्चिगमयन्नाह—

किइकम्मं च पसंसा सुहसीलजणम्मि कम्मबंधाय । जे जे पमायठाणा ते ते उववूहिया हुंति ॥ ११९२॥

व्याख्या—'कृतिकर्म' वन्दनं 'प्रशंसा च' बहुश्रुतो विनीतो वाऽयमित्यादिलक्षणा 'सुखशीलजने' पार्श्वस्थजने कर्मबन्धाय, कथं ?–यतस्ते पूज्या एव वयमिति निरपेक्षतरा भवन्ति, एवं यानि यानि प्रमादस्थानानि येषु विषीदन्ति पार्श्वस्थादयस्तानि तानि 'उपबृंहितानि भवन्ति' समर्थितानि भवन्ति–अनुमतानि भवन्ति, तत्प्रत्ययश्च बन्ध इति गाथार्थः ॥ ११९२ ॥ यस्मादेतेऽपायास्तस्मात् पार्श्वस्थादयो न वन्दनीयाः, साधव एव वन्दनीया इति निगमयन्नाह—

दंसणनाणचरित्ते तवविणए निच्चकालमुज्जुत्ता । एए उ वंदणिज्जा जे जसकारी पवयणस्स ॥ ११९३ ॥

व्याख्या—दर्शनज्ञानचारित्रेषु तथा तपोविनययोः 'नित्यकालं' सर्वकालम् 'उद्युक्ता' उद्यता एत एव वन्दनीयाः, ये विशुद्धमार्गप्रभावनया यशःकारिणः प्रवचनस्येति गाथार्थः ॥ ११९३ ॥ अधुना सुसाधुवन्दने गुणमुपदर्शयन्नाह—

किइकम्मं च पसंसा संविग्गजणंमि निज्जरट्ठाए । जे जे विरईठाणा ते ते उववूहिया हुंति ॥ ११९४ ॥

व्याख्या—'कृतिकर्म' वन्दनं 'प्रशंसा च' बहुश्रुतो विनीतः पुण्यभागित्यादिलक्षणा संविग्नजने 'निर्जरार्थाय' कर्मक्षयाय कथं ?–यानि (यानि) विरतिस्थानानि येषु वर्तन्ते संविग्नास्तानि तानि 'उपबृंहितानि भवन्ति' अनुमतानि भवन्ति, तद-

॥५३९॥

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्तिः

पार्श्वस्थादि वन्दने दोषाः वर्ण्यते

प्रत
सूत्रांक
||७..||

दीप
अनुक्रम
[९..]

नुमत्या च निर्जरा, संविग्नाः पुनर्द्विधा–द्रव्यतो भावतश्च, द्रव्यसंविग्ना मृगाः पँत्रेऽपि चलति सदोत्रस्तचेतसः, भावसंविग्नास्तु साधवस्तैरिहाधिकार इति गाथार्थः ॥ ११९४ ॥ गतं सप्रसङ्गं नित्यवासद्वारमिति व्याख्याता सप्रपञ्चं पञ्चानां कृतिकर्म इत्यादिद्वारगाथा, निगमयतोक्तमोघतो दर्शनाद्युपयुक्ता एव वन्दनीया इति, अधुना तानेवाऽऽचार्यादिभेदतोऽभिधित्सुराह—

आयरिय उवज्झाए पव्वत्ति थेरे तहेव रायणिए । एएसिं किइकम्मं कायव्वं निज्जरट्ठाए ॥ ११९५ ॥

व्याख्या—आचार्य उपाध्यायः प्रवर्तकः स्थविरस्तथैव रत्नाधिकः, एतेषां कृतिकर्म कर्तव्यं निर्जरार्थं, तत्र चाऽऽचार्यः सूत्रार्थोभयवेत्ता लक्षणादियुक्तश्च, उक्तं च—'सुत्तत्थविऊ लक्खणजुत्तो गच्छस्स मेढिभूओ य । गणतत्तिविप्पमुक्को अत्थं भासेइ आयरिओ ॥ १ ॥' न तु सूत्रं, यत उक्तम्—'एक्कग्गया य झाणे वुड्ढी तित्थयरअणुकिती गरुआ । आणाहिज्जमिइ गुरू कयरिणमुक्खा न वाएइ ॥ १ ॥' अस्य हि सर्वैरेवोपाध्यायादिभिः कृतिकर्म कार्यं पर्यायहीनस्यापि, उपाध्यायः प्राग्निरूपितशब्दार्थः, स चेत्थम्भूतः–'सम्मत्तणाणसंजमजुत्तो सुत्तत्थतदुभयविहिन्नू । आयरियठाणजुग्गो सुत्तं वाएउवज्झाओ ॥ १ ॥' किं निमित्तं ?–'सुत्तत्थेसु थिरत्तं रिणमुक्खो आयतीयऽपडिबंधो । पाडिच्छामोहजओ

१ सूत्रार्थविद् लक्षणयुक्तो गच्छस्य मेढीभूतश्च । गणतप्तिविप्रमुक्तोऽर्थं वाचयत्याचार्यः ॥ १ ॥ एकाग्रता च ध्याने वृद्धिस्तीर्थकरानुकृतिर्गुर्वी । आज्ञास्थैर्यमिति गुरवः कृतऋणमोक्षा न वाचयन्ति ॥ १ ॥ सम्यक्त्वज्ञानसंयमयुक्तः सूत्रार्थतदुभयविधिज्ञः । आचार्यस्थानयोग्यः सूत्रं वाचयति उपाध्यायः ॥ १ ॥ सूत्रार्थयोः स्थिरत्वं ऋणमोक्ष आयत्यां चाप्रतिबन्धः । प्रातीच्छकमोहजयः. (प्रतीच्छनात्मोहजयः) * ० पत्रे विचलति.

आचार्य-आदीनाम वन्दने लाभः वर्ण्यते

प्रत
सूत्रांक
||७..||

दीप
अनुक्रम
[९..]

आवश्यक-हारिभद्रीया ||५४०||

३ वन्दनाध्ययने वन्द्याः

सुत्तं वाएउवज्झाओ ॥ १ ॥' तस्यापि तैर्विनेयैः पर्यायहीनस्यापि कृतिकर्म कार्यं, यथोचितं प्रशस्तयोगेषु साधून् प्रवर्तयतीति प्रवर्तकः, उक्तं च—'तवसंजमजोगेसुं जो जोगो तत्थ तं पवत्तेइ । असहुं च नियत्तेई गणतत्तिल्लो पवत्ती उ ॥ १ ॥' अस्यापि कृतिकर्म कार्यं हीनपर्यायस्यापि, सीदं*तः साधूनैहिकामुष्मिकापायदर्शनतो मोक्षमार्ग एव स्थिरीकरोतीति स्थविरः, उक्तं च—'थिरकरणा पुण थेरो पवत्तिवावारिएसु अत्थेसुं । जो जत्थ सीयइ जई संतबलो तं थिरं कुणइ ॥ १ ॥' अस्याप्यूनपर्यायस्यापि कृतिकर्म कार्यं, गणावच्छेदकोऽप्यत्रानुपात्तोऽपि मूलग्रन्थे†नावगन्तव्यः, साहचर्यादिति, स चेत्थम्भूतः–'उद्धावणापहावणखित्तोवधिमग्गणासु अविसाई। सुत्तत्थतदुभयविऊ गणवच्छो एरिसो होइ ॥ १ ॥' अस्याप्यूनपर्यायस्यापि कृतिकर्म कर्तव्यं, रत्नाधिकः–पर्यायज्येष्ठः, एतेषामुक्तक्रमेणैव कृतिकर्म कर्तव्यं निर्जरार्थम्, अन्ये तु भणन्ति–प्रथममालोचयद्भिः सर्वैराचार्यस्य कृतिकर्म कार्यं, पश्चाद् यथारत्नाधिकतया, आचार्येणापि मध्यमे क्षामणानन्तरे कृतिकर्मणि ज्येष्ठस्य कृतिकर्म कार्यमिति गाथार्थः ॥११९५॥ प्रथमद्वारगाथायां गतं 'कस्ये'ति द्वारम्, अधुना 'केने'ति द्वारं, केन कृतिकर्म कर्तव्यं ? केन वा न कर्तव्यं ?, कः पुनरस्य कारणोचितः अनुचितो वेत्यर्थः, तत्र मातापित्रादिरनुचितो गणः, तथा चाह ग्रन्थकारः—

मायरं पियरं वावि जिट्ठगं वावि भायरं । किइकम्मं न कारिज्जा सव्वे राइणिए तहा ॥ ११९६ ॥ ||५४०||

१ सूत्रं वाचयति उपाध्यायः ॥ १ ॥ तपःसंयमयोगेषु यो योग्यस्तत्र तं प्रवर्त्तयति । असहिष्णुं च निवर्त्तयति गणचिन्तकः प्रवर्त्ति (र्त्तक) स्तु ॥ २ ॥ स्थिरकरणात्पुनः स्थविरः प्रवर्त्तकव्यापारितेष्वर्थेषु । यो यत्र सीदति यतिस्सद्बलस्तं स्थिरं करोति ॥ ४ ॥ * सीदमानान्. + मूलग्रन्थेऽवगन्तव्यः † अभिदधति. २ उद्धावनप्रधावनाक्षेत्रोपधिमार्गणास्वविषादी । सूत्रार्थतदुभयविद् गणावच्छेदक ईदृशो भवति ॥ १ ॥

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्तिः

प्रत
सूत्रांक
||७..||

दीप
अनुक्रम
[९..]

व्याख्या—मातरं पितरं वाऽपि ज्येष्ठकं वाऽपि भ्रातरम्, अपिशब्दान्मातामहपितामहादिपरिग्रहः,'कृतिकर्म' अभ्युत्थितवन्दनमित्यर्थः, न कारयेत् सर्वान् रत्नाधिकाँस्तथा, पर्यायज्येष्ठानित्यर्थः, किमिति ?, मात्रादीन् वन्दनं कारयतः लोकगर्होपजायते, तेषां च कदाचिद्विपरिणामो भवति, आलोचनप्रत्याख्यानसूत्रार्थेषु तु कारयेत्, सागारिकाध्यक्षे तु यतनया कारयेद्, एष प्रव्रज्याप्रतिपन्नानां विधिः, गृहस्थाँस्तु कारयेदिति गाथार्थः ॥ ११९६ ॥ साम्प्रतं कृतिकर्मकरणोचितं प्रतिपादयन्नाह—

पंचमहव्वयजुत्तो अणलस माणपरिवज्जियमईओ । संविग्गनिज्जरट्ठी किइकम्मकरो हवइ साहू ॥ ११९७ ॥

व्याख्या—पञ्च महाव्रतानि–प्राणातिपातादिनिवृत्तिलक्षणानि तैर्युक्तः 'अणलस'त्ति आलस्यरहितः 'मानपरिवर्जितमतिः' जात्यादिमानपराङ्मुखमतिः 'संविग्नः' प्राग्व्याख्यात एव 'निर्जरार्थी' कर्मक्षयार्थी, एवम्भूतः कृतिकर्मकारको भवति साधुः, एवम्भूतेन साधुना कृतिकर्म कर्त्तव्यमिति गाथार्थः ॥ ११९७ ॥ गतं केनेति द्वारं, साम्प्रतं 'कदे' त्यायातं, कदा कृतिकर्म कर्तव्यं कदा वा न कर्तव्यं ?, तत्र—

वक्खित्तपराहुत्ते अ पमत्ते मा कया हु वंदिज्जा । आहारं च करिंतो नीहारं वा जइ करेइ ॥ ११९८ ॥

व्याख्या—व्याक्षिप्तं धर्मकथादिना 'पराहुत्ते य' पराङ्मुखं, चशब्दादुद्धू(त्थि)तादिपरिग्रहः, प्रमत्तं क्रोधादिप्रमादेन मा कदाचिद्वन्देत, आहारं वा कुर्वन्तं नीहारं वा यदि करोति, इह च–धर्मान्तरायानवधारणप्रकोपाहारान्तरायपुरीषानिर्गमनादयो दोषाः प्रपञ्चेन वक्तव्या इति गाथार्थः ॥ ११९८ ॥ कदा तर्हि वन्देतेत्यत आह—

९१

प्रत सूत्रांक ||७..||

दीप अनुक्रम [९..]

आवश्यक-हारिभद्रीया ||५४१||

३ वन्दनाध्ययने वन्दने योग्याव०कारणानि च

पसंते आसणत्थे य, उवसंते उवट्ठिए। अणुन्नविन्तु मेहावी, किइकम्मं पउंजए ॥ ११९९ ॥

व्याख्या—'प्रशान्तं' व्याख्यानादिव्याक्षेपरहितम् 'आसनस्थं' निषद्यागतम् 'उपशान्तं' क्रोधादिप्रमादरहितम् 'उपस्थितं' छन्देनेत्याद्यभिधानेन प्रत्युद्यतम्, एवम्भूतं सन्तमनुज्ञाप्य मेधावी ततः कृतिकर्म प्रयुञ्जीत, वन्दनकं कुर्यादित्यर्थः, अनुज्ञापनायां च आदेशद्वयं, यानि ध्रुववन्दनानि तेषु प्रतिक्रमणादौ नानुज्ञापयति, यानि पुनरौत्पत्तिकानि तेष्वनुज्ञापयतीति गाथार्थः ॥ ११९९ ॥ गतं कदेति द्वारं, कतिकृत्वोद्वारमधुना, कतिकृत्वः कृतिकर्म कार्यं ?, कियत्यो वारा इत्यर्थः, तत्र प्रत्यहं नियतान्यनियतानि च वन्दनानि भवन्त्यत उभयस्थाननिदर्शनायाऽऽह निर्युक्तिकारः—

पडिक्कमणे[1] सज्झाए[2] काउस्सग्गा[3]वरा[4]हपाहुणए[5]। आलोयण[6]संवरणे[7] उत्तमट्ठे[8] य वंदणयं ॥ १२०० ॥

व्याख्या—प्रतीपं क्रमणं प्रतिक्रमणम्, अपराधस्थानेभ्यो गुणस्थानेषु वर्तनमित्यर्थः, तस्मिन् सामान्यतो वन्दनं भवति, तथा 'स्वाध्याये' वाचनादिलक्षणे, 'कायोत्सर्गे' यो हि विगतिपरिभोगायाऽऽचाम्लविसर्जनार्थं क्रियते, 'अपराधे' गुरुविनयलङ्घनरूपे, यतस्तं वन्दित्वा क्षामयति, पाक्षिकवन्दनान्यपराधे पतन्ति, 'प्राघूर्णके' ज्येष्ठे समागते सति वन्दनं भवति, इतरस्मिन्नपि प्रतीच्छितव्यम्, अत्र चायं विधिः—'संभोइय अण्णसंभोइया य दुविहा हवंति पाहुणया। संभोइय आयरियं आपुच्छित्ता उ वंदेइ ॥ १ ॥ इयरे पुण आयरियं वंदित्ता संदिसाविउं तह य। पच्छा वंदेइ जई गयमोहा ||५४१||

१ सांभोगिका अन्यसांभोगिकाश्च द्विविधा भवन्ति प्राघूर्णकाः। सांभोगिकान् आचार्यं आपृच्छ्य तु वन्दते ॥ १ ॥ इतरान् पुनराचार्यं वन्दित्वा संदिश्य तथा च। पश्चात् वन्दन्ते यतयो गतमोहा

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्ति:

प्रतिक्रमण-आदि कारणे वन्दनं अवश्य करणीयं

प्रत
सूत्रांक
||७..||

दीप
अनुक्रम
[९..]

अंहव वंदावे ॥ २ ॥” तथाऽऽलोचनायां विहारापराधभेदभिन्नायां ‘संवरणं’ भुक्तेः प्रत्याख्यानम्, अथवा कृतनमस्कार-सहितादिप्रत्याख्यानस्यापि पुनरजीर्णादिकारणतोऽभक्तार्थं गृह्णतः संवरणं तस्मिन् वन्दनं भवति, ‘उत्तमार्थे वा’ अन-शनसंलेखनायां वन्दनमित्येतेषु प्रतिक्रमणादिषु स्थानेषु वन्दनं भवतीति गाथार्थः ॥ १२०० ॥ इत्थं सामान्येन नियता-नियतस्थानानि वन्दनानि प्रदर्शितानि, साम्प्रतं नियतवन्दनस्थानसङ्ख्याप्रदर्शनायाऽऽह—

चत्तारि पडिक्कमणे किइकम्मा तिन्नि हुंति सज्झाए। पुव्वण्हे अवरण्हे किइकम्मा चउदस हवंति ॥ १२०१ ॥

व्याख्या—चत्वारि प्रतिक्रमणे कृतिकर्माणि त्रीणि भवन्ति, स्वाध्याये पूर्वाह्णे-प्रत्युषसि, कथं?, गुरुं पुवसंझाए वंदित्ता आलोएइत्ति एयं एक्कं, अब्भुट्ठियावसाणे जं पुणो वंदंति गुरुं एयं बिइयं, एत्थ य विही-पच्छा जहण्णेण तिण्णि मज्झिमं पंच वा सत्त वा उक्कोसं सव्वेवि वंदियव्वा, जइ वाउला वक्खेवो वा तो इक्केण ऊणगा जाव तिण्णि अवस्सं वंदियव्वा, एवं देवसिए, पक्खिए पंच अवस्सं, चाउम्मासिए संवच्छरिएवि सत्त अवस्संति, ते वंदिऊणं जं पुणो आयरियस्स अल्लिविज्जइ तं तइयं, पच्चक्खाणे चउत्थं, सज्झाए पुण वंदित्ता पट्ठवेइ पढमं, पट्ठविए पवेदयंतस्स बितियं, पच्छा उद्दिट्ठं समुद्दिट्ठं पढइ, उद्देससमुद्देसवंदणाणमिहेवऽंतब्भावो, तओ जाहे चउभागावसेसा पोरिसी ताहे पाए पडिलेहेइ, जइ ण पढिउकामो तो वंदइ,

१ अथवा वन्दयेयुः ॥ २ गुरुं पूर्वसन्ध्यायां वन्दित्वाऽऽलोचयतीति एतदेकं, अभ्युत्थितावसाने यत्पुनर्वन्दन्ते गुरुमेतद्द्वितीयं, अत्र च विधिः—पश्चाज्जघन्येन त्रयो मध्यमेन पञ्च वा सप्त वा उत्कृष्टेन सर्वेऽपि वन्दितव्याः, यदि व्याकुला व्याक्षेपो वा तदैकेनोना यावत् त्रयोऽवश्यं वन्दितव्याः, एवं दैवसिके, पाक्षिके पञ्चावश्यं, चातुर्मासिके सांवत्सरिकेऽपि सप्तावश्यमिति, तान् वन्दित्वा यत्पुनराचार्यायाश्रयणाय दीयते तत्तृतीयं, प्रत्याख्याने चतुर्थं, स्वाध्याये पुनर्वन्दित्वा प्रस्थापयति प्रथमं, प्रस्थापिते प्रवेदयतो द्वितीयं, पश्चादुद्दिष्टसमुद्दिष्टं पठति, उद्देशसमुद्देशवन्दनानामिहैवान्तर्भावः, ततो यदा चतुर्भागावशेषा पौरुषी तदा पात्राणि प्रतिलेखयति, यदि न पठितुकामस्तदा वन्दते.

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्तिः

१४ स्थाने ‘नियत वन्दन’स्य वक्तव्यता

प्रत सूत्रांक ||७..|| दीप अनुक्रम [९..]

अह पढिउकामो तो अवंदित्ता पाए पडिलेहेइ, पडिलेहित्ता पच्छा पढइ, कालवेलाए वंदिउं पडिक्कमइ, एयं तइयं। एवं पूर्वाह्णे सप्त, अपराह्णेऽपि सप्तैव भवन्ति, अनुज्ञावन्दनानां स्वाध्यायवन्दनेष्वेवान्तर्भावात्, प्रातिक्रमणिकानि तु चत्वारि प्रसिद्धानि, एवमेतानि ध्रुवाणि प्रत्यहं कृतिकर्माणि चतुर्दश भवन्त्यभक्तार्थिकस्य, इतरस्य तु प्रत्याख्यानवन्दनेनाधिकानि भवन्तीति गाथार्थः ॥ १२०१ ॥ गतं कतिकृत्वोद्वारं, व्याख्याता वन्दनमित्यादिप्रथमा द्वारगाथा, साम्प्रतं द्वितीया व्याख्यायते, तत्र कत्यवनतमित्याद्यं द्वारं, तदर्थप्रतिपादनायाऽऽह—

दोओणयं अहाजायं, किइकम्मं बारसावयं।

*अस्य व्याख्या—अवनतिः–अवनतम्, उत्तमाङ्गप्रधानं प्रणमनमित्यर्थः, द्वे अवनते यस्मिंस्तद् द्व्यवनतम्, एकं यदा प्रथममेव 'इच्छामि खमासमणो! वंदिउं जावणिज्जाए निस्सीहियाए'त्ति अभिधाय छन्दोऽनुज्ञापनायावनमति, द्वितीयं पुनर्यदा कृतावर्तो निष्क्रान्तः 'इच्छामी'त्यादिसूत्रमभिधाय छन्दोऽनुज्ञापनायैवावनमति, यथाजातं श्रमणत्वमाश्रित्य योनिनिष्क्रमणं च, तत्र रजोहरणमुखवस्त्रिकाचोलपट्टमात्रया श्रमणो जातः, रचितकरपुटस्तु योन्या निर्गतः, एवम्भूत एव वन्दते, तदव्यतिरेकाच्च यथाजातं भण्यते कृतिकर्मवन्दनं, 'बारसावयं'ति द्वादशावर्ताः–सूत्राभिधानगर्भाः कायव्यापारविशेषा यस्मिन्निति समासस्तद् द्वादशावर्तम्, इह च प्रथमप्रविष्टस्य षडावर्ता भवन्ति, 'अहोकायं कायसंफासं खमणिज्जो भे किलामो, अप्पकिलंताणं बहुसुभेण भे दिवसो वइक्कंतो?, जत्ता भे जवणिज्जं च भे' एतत्सूत्रगर्भा गुरुचरण-

१ अथ पठितुकामस्तदाऽवन्दित्वा पात्राणि प्रतिलिखति, प्रतिलिख्य पश्चात्पठति, कालवेलायां वन्दित्वा प्रतिक्रामति, एतत्तृतीयं. * गाथाशकलमाह.

वन्दनस्य २५ द्वाराणि वर्णयते

प्रत सूत्रांक ||७..||

दीप अनुक्रम [९..]

न्यस्तहस्तशिरःस्थापनारूपाः, निष्क्रम्य पुनः प्रविष्टस्याप्येत एव षडिति, एतच्चापान्तरालद्वारद्वयमाद्यद्वारोपलक्षितमवगन्तव्यं, गतं कत्यवनतद्वारं, साम्प्रतं 'कतिशिर' इत्येतद्वारं व्याचिख्यासुरिदमपरं गाथाशकलमाह—

चउसिरं तिगुत्तं च दुपवेसं एगनिक्खमणं ॥ १२०२ ॥

व्याख्या—चत्वारि शिरांसि यस्मिँस्तच्चतुःशिरः, प्रथमप्रविष्टस्य क्षामणाकाले शिष्याचार्यशिरोद्वयं, पुनरपि निष्क्रम्य प्रविष्टस्य द्वयमेवेति भावना, द्वारं। तिस्रो गुप्तयो यस्मिंस्तत्रिगुप्तं, मनसा सम्यक्प्रणिहितः वाचाऽस्खलिताक्षराण्युच्चारयन् कायेनावर्तानविराधयन् वन्दनं करोति यतः, चशब्दोऽवधारणार्थः, द्वौ प्रवेशौ यस्मिँस्तद्विप्रवेशं, प्रथमोऽनुज्ञाप्य प्रविशतः, द्वितीयः पुनर्निर्गतस्य* प्रविशत इति, एकनिष्क्रमणमावश्यक्या निर्गच्छतः, एतच्चापान्तरालद्वारत्रयं कतिशिरोद्वारेणैवोपलक्षितमवगन्तव्यमिति गाथार्थः ॥ १२०२ ॥ साम्प्रतं कतिभिर्वाऽऽवश्यकैः परिशुद्धमिति; द्वारार्थोऽभिधीयते, तथा चाऽऽह—

अवणामा दुन्नऽहाजायं, आवत्ता बारसेव उ। सीसा चत्तारि गुत्तीओ, तिन्नि दो य पवेसणा ॥ १२०३ ॥

एगनिक्खमणं चेव, पणवीसं वियाहिया। आवस्सगेहिं परिसुद्धं, किइकम्मं जेहि कीरई ॥ १२०४ ॥

व्याख्या—गाथाद्वयं निगदसिद्धमेव, एभिर्गाथाद्वयोक्तैः पञ्चविंशतिभिरावश्यकैः परिशुद्धं कृतिकर्म कर्तव्यम् , अन्यथा द्रव्यकृतिकर्म भवति ॥ १२०३–१२०४ ॥ आह च—

* निर्गत्य.

प्रत सूत्रांक ||७..||
दीप अनुक्रम [९..]

आवश्यक-हारिभद्रीया ||५४३||

३ वन्दनाध्ययने शुद्धवन्दनफलं दोषाश्च ३२

किइकम्मंपि करिंतो न होइ किइकम्मनिज्जराभागी । पणवीसामन्नयरं साहू ठाणं विराहिंतो ॥ १२०५ ॥

व्याख्या—'कृतिकर्मापि कुर्वन्' वन्दनमपि कुर्वन् न भवति कृतिकर्मनिर्जराभागी 'पञ्चविंशतीनाम्' आवश्यकानामन्यतरत् साधुः स्थानं विराधयन्, विद्यादृष्टान्तोऽत्र, यथा हि विद्या विकलानुष्ठाना फलदा न भवति, एवं कृतिकर्मापि निर्जराफलं न भवति, विकलत्वादेवेति गाथार्थः ॥ १२०५ ॥ अधुनाऽविराधकगुणोपदर्शनायाऽऽह—

पणवीसा[आवस्सग]परिसुद्धं किइकम्मं जो पउंजइ गुरूणं । सो पावइ निव्वाणं अचिरेण विमाणवासं वा ॥१२०६॥

व्याख्या—पञ्चविंशतिः आवश्यकानि–अवनतादीनि प्रतिपादितान्येव तच्छुद्धं–तदविकलं कृतिकर्म यः कश्चित् 'प्रयुङ्क्ते' करोतीत्यर्थः, कस्मै ?–'गुरवे' आचार्याय, अन्यस्मै वा गुणयुक्ताय, स प्राप्नोति 'निर्वाणं' मोक्षम् 'अचिरेण' स्वल्पकालेन 'विमानवासं वा' सुरलोकं वेति गाथार्थः ॥ १२०६ ॥ द्वारं । 'कतिदोषविप्रमुक्त'मिति यदुक्तं तत्र द्वात्रिंशद्दोषविप्रमुक्तं कर्तव्यं, तद्दोषदर्शनायाह—

अणाढियं च थद्धं च, पविद्धं परिपिंडियं । टोलगइ अंकुसं चेव, तहा कच्छभरिंगियं ॥ १२०७ ॥

व्याख्या—'अनादृतम्' अनादरं सम्भ्रमरहितं वन्दते १ 'स्तब्धं' जात्यादिमदस्तब्धो वन्दते २ 'प्रविद्धं' वन्दनकं ददंदेव नश्यति ३ 'परिपिण्डितं' प्रभूतानेकवन्दनेन वन्दते आवर्तान् व्यञ्जनाभिलापान् वा व्यवच्छिन्नान् कुर्वन् ४ 'टोलगति' तिड्डुवदुत्प्लुत्य २ विसंस्थुलं वन्दते ५ 'अङ्कुशं' रजोहरणमङ्कुशवत्करद्वयेन गृहीत्वा वन्दते ६ 'कच्छभरिंगियं' कच्छपवत् रिङ्गितं कच्छपवत् रिङ्गन् वन्दत इति गाथार्थः ७ ॥ १२०७ ॥

||५४३||

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक ||७..||

दीप अनुक्रम [९..]

मच्छुव्वत्तं मणसा पउट्ठं तह य वेइयाबद्धं । भयसा चेव भयंतं, मित्ती गारवकारणा ॥ १२०८ ॥

व्याख्या—'मत्स्योद्वृत्तम्' एकं वन्दित्वा मत्स्यवद् द्रुतं द्वितीयं साधुं द्वितीयपार्श्वेन रेचकावर्तेन परावर्तते ८ मनसा प्रदुष्टं, वन्द्यो हीनः केनचिद्गुणेन, तमेव च मनसि कृत्वा सासूयो वन्दते ९ तथा च वेदिकाबद्धं जानुनोरुपरि हस्तौ निवेश्याधो वा पार्श्वयोर्वा उत्सङ्गे वा एकं वा जानुं करद्वयान्तः कृत्वा वन्दते १० 'भयसा चेव'त्ति भयेन वन्दते, मा भूद्गच्छादिभ्यो निर्द्धाटनमिति ११, 'भयंतं'ति भजमानं वन्दते 'भजत्ययं मामतो भक्तं भजस्वेति तदार्यवृत्तं' इति १२, 'मेत्ति'त्ति मैत्रीनिमित्तं प्रीतिमिच्छन् वन्दते १३ 'गारवि'त्ति गौरवनिमित्तं वन्दते, विदन्तु मां यथा सामाचारीकुशलोऽयं १४, 'कारण'त्ति ज्ञानादिव्यतिरिक्तं कारणमाश्रित्य वन्दते, वस्त्रादि मे दास्यतीति १५, अयं गाथार्थः ॥ १२०८ ॥

तेणियं पडिणियं चेव, रुट्ठं तज्जियमेव य । सढं च हीलियं चेव, तहा विपलिउंचियं ॥ १२०९ ॥

व्याख्या—'स्तैन्य'मिति परेभ्यः खल्वात्मानं गूहयन् स्तेनक इव वन्दते, मा मे लाघवं भविष्यति १६, 'प्रत्यनीकम्' आहारादिकाले वन्दते १७, 'रुष्टं' क्रोधाध्मातं वन्दते क्रोधाध्मातो वा १८, 'तर्जितं' न कुप्यसि नापि प्रसीदसि काष्ठशिव इवेत्यादि तर्जयन्–निर्भर्त्सयन् वन्दते, अङ्गुल्यादिभिर्वा तर्जयन् १९, 'शठं' शाठ्येन विश्रम्भार्थं वन्दते, ग्लानादिव्यपदेशं वा कृत्वा न सम्यग् वन्दते २०, हीलितं हे गणिन् ! वाचक ! किं भवता वन्दितेनेत्यादि हीलयित्वा वन्दते २१, तथा 'विपलिकुञ्चितम्' अर्द्धवन्दित एव देशादिकथाः करोति २२, इति गाथार्थः ॥ १२०९ ॥

दिट्ठमदिट्ठं च तहा, सिंगं च करमोअणं । आलिट्ठमणालिट्ठं, ऊणं उत्तरचूलियं ॥ १२१० ॥

प्रत
सूत्रांक
||७..||

दीप
अनुक्रम
[९..]

व्याख्या—दृष्टादृष्टं तमसि व्यवहितो वा न वन्दते २३ 'शृङ्गम्' उत्तमाङ्गैकदेशेन वन्दते २४ 'करमोचनं' करं मन्यमानो वन्दते न निर्जरां, 'तहा मोयणं नाम न अन्नहा मुक्खो, एएण पुण दिन्नेण मुच्चेमित्ति वंदणगं देइ २५–२६ 'आश्लिष्टानाश्लिष्ट'मित्यत्र चतुर्भङ्गकः–रजोहरणं कराभ्यामाश्लिष्यति शिरश्च १ रजोहरणं न शिरः २ शिरो न रजोहरणं ३ न रजोहरणं नापि शिरः ४, अत्र प्रथमभङ्गः शोभनः शेषेषु प्रकृतवन्दनावतारः २७, 'ऊनं' व्यञ्जनाभिलापावश्यकैरसम्पूर्णं वन्दते २८, 'उत्तरचूडं' वन्दनं कृत्वा पश्चान्महता शब्देन मस्तकेन वन्द इति भणतीति गाथार्थः २९ ॥ १२१० ॥

मूयं च ढड्डरं चेव, चुडुलिं च अपच्छिमं । बत्तीसदोसपरिसुद्धं, किइकम्मं पउंजई ॥ १२११ ॥

व्याख्या—'मूकम्' आलापकाननुच्चारयन् वन्दते २० 'ढड्डरं' महता शब्देनोच्चारयन् वन्दते ३१ 'चुडुली'ति उल्कामिव पर्यन्ते गृहीत्वा रजोहरणं भ्रमयन् वन्दते ३२ 'अपश्चिमम्' इदं चरममित्यर्थः, एते द्वात्रिंशद्दोषाः, एभिः परिशुद्धं कृतिकर्म कार्यं, तथा चाह–द्वात्रिंशद्दोषपरिशुद्धं 'कृतिकर्म' वन्दनं 'प्रयुञ्जीत' कुर्यादिति गाथार्थः ॥ १२११ ॥ यदि पुनरन्यतमदोषदुष्टमपि करोति ततो न तत्फलमासादयतीति, आह च—

किइकम्मंपि करिंतो न होइ किइकम्मनिज्जराभागी । बत्तीसामन्नयरं साहू ठाणं विराहिंतो ॥ १२१२ ॥

व्याख्या—कृतिकर्मापि कुर्वन्न भवति कृतिकर्मनिर्जराभागी, द्वात्रिंशद्दोषाणामन्यतरत्साधुः स्थानं विराधयन्निति गाथार्थः ॥ १२१२ ॥ दोषविप्रमुक्तकृतिकर्मकरणे गुणमुपदर्शयन्नाह—

बत्तीसदोसपरिसुद्धं किइकम्मं जो पउंजइ गुरूणं । सो पावइ निव्वाणं अचिरेण विमाणवासं वा ॥ १२१३ ॥

व्याख्या—द्वात्रिंशद्दोषपरिशुद्धं कृतिकर्म यः 'प्रयुङ्क्ते' करोति गुरवे स प्राप्नोति निर्वाणम् अचिरेण विमानवासं वेति गाथार्थः ॥ १२१३ ॥ आह—दोषपरिशुद्धाद्वन्दनात्को गुणः ? येन तत एव निर्वाणप्राप्तिः प्रतिपाद्यत इति, उच्यते—

आवस्सएसु जह जह कुणइ पयत्तं अहीणमइरित्तं । तिविहकरणोवउत्तो तह तह से निज्जरा होइ ॥ १२१४ ॥

व्याख्या—'आवश्यकेषु' अवनतादिषु दोषत्यागलक्षणेषु च यथा २ करोति प्रयत्नम् 'अहीनातिरिक्तं' न हीनं नाप्यधिकं, किम्भूतः सन् ?–त्रिविधकरणोपयुक्तः, मनोवाक्कायैरुपयुक्त इत्यर्थः, तथा २ 'से' तस्य वन्दनकर्तुर्निर्जरा भवति–कर्मक्षयो भवति, तस्माच्च निर्वाणप्राप्तिरिति, अतो दोषपरिशुद्धादेव फलावाप्तिरिति गाथार्थः ॥ १२१४ ॥ गतं सप्रसङ्गं दोषविप्रमुक्तद्वारम्, अधुना किमिति क्रियत इति द्वारं, तत्र वन्दनकरणकारणानि प्रतिपादयन्नाह—

विणओवयार माणस्स भंजणा पूयणा गुरुजणस्स । तित्थयराण य आणा सुअधम्माराहणाऽकिरिया ॥ १२१५ ॥

व्याख्या—विनय एवोपचारो विनयोपचारः कृतो भवति, स एव किमर्थं इत्याह–'मानस्य' अहङ्कारस्य 'भञ्जना' विनाशः, तदर्थः, मानेन च भग्नेन पूजना गुरुजनस्य कृता भवति, तीर्थकराणां चाऽऽज्ञाऽनुपालिता भवति, यतो भगवद्भिर्विनयमूल एवोपदिष्टो धर्मः, स च वन्दनादिलक्षण एव विनय इति, तथा श्रुतधर्माराधना कृता भवति, यतो वन्दनपूर्वं श्रुतग्रहणं, 'अकिरिय'त्ति पारम्पर्येणाक्रिया भवति, यतोऽक्रियः सिद्धः, असावपि पारम्पर्येण वन्दनलक्षणाद् विनयादेव भवतीति, उक्तं च परमर्षिभिः–तहारूवं णं भंते ! समणं वा माहणं वा वंदमाणस्स पज्जुवासमाणस्स किंफला

१ तथारूपं श्रमणं वा माहनं वा वन्दमानस्य पर्युपासीनस्य किंफला

प्रत सूत्रांक ||७..||

दीप अनुक्रम [९..]

आवश्यक-हारिभद्रीया ||५४५||

वंदणपज्जुवासणया ?, गोयमा ! सवणफला, सवणे णाणफले, णाणे विण्णाणफले, विण्णाणे पच्चक्खाणफले, पच्चक्खाणे संजमफले, संजमे अणण्हयफले, अणण्हए तवफले, तवे वोदाणफले, वोदाणे अकिरियाफले, अकिरिया सिद्धिगइगमणफला" । तथा वाचकमुखेनाप्युक्तम्—'विनयफलं शुश्रूषा गुरुशुश्रूषाफलं श्रुतज्ञानम् । ज्ञानस्य फलं विरतिर्विरतिफलं चाश्रवनिरोधः ॥ १ ॥ संवरफलं तपोबलमथ तपसो निर्जरा फलं दृष्टम् । तस्मात्क्रियानिवृत्तिः क्रियानिवृत्तेरयोगित्वम् ॥ २ ॥ योगनिरोधाद्भवसन्ततिक्षयः सन्ततिक्षयान्मोक्षः । तस्मात्कल्याणानां सर्वेषां भाजनं विनयः ॥ ३ ॥' इति गाथार्थः ॥ १२१५ ॥ किं च

३ वन्दनाध्ययने वन्दनकरणकारणं

विणओ सासणे मूलं, विणीओ संजओ भवे । विणयाउ विप्पमुक्कस्स, कओ धम्मो कओ तवो ? ॥ १२१६ ॥

व्याख्या—शास्यन्तेऽनेन जीवा इति शासनं–द्वादशाङ्गं तस्मिन् विनयो मूलं, यत उक्तम्–'मूलाउ खंधप्पभवो दुमस्स, खंधाउ पच्छा विरुहंति साला (हा) । साहप्पसाहा विरुवं(हं)ति पत्ता, ततो सि पुप्फं च फलं रसो य ॥ १ ॥ एवं धम्मस्स विणओ मूलं परमो से मोक्खो । जेण कित्ती सुयं सिग्घं निस्सेसमधिगच्छइ ॥ २ ॥" अतो विनीतः संयतो भवेत्,

१ वन्दनपर्युपासना ?, गौतम ! श्रवणफला, श्रवणं ज्ञानफलं, ज्ञानं विज्ञानफलं, विज्ञानं प्रत्याख्यानफलं, प्रत्याख्यानं संयमफलं, संयमोऽनाश्रवफलः। अनाश्रवस्तपःफलः, तपो व्यवदानफलं, व्यवदानं अक्रियाफलं, अक्रिया सिद्धिगतिगमनफला । २ मूलात् स्कन्धप्रभवो द्रुमस्य स्कन्धात् पश्चात् प्रभवति शाखा। शाखायाः प्रशाखा विरोहन्ति (ततः) पत्राणि, ततस्तस्य पुष्पं च फलं रसश्च ॥ १ ॥ एवं धर्मस्य विनयो मूलं परमस्तस्य मोक्षः । येन कीर्त्तिं श्रुतं शीघ्रं निःश्रेयसं चाधिगच्छति ॥ २ ॥

||५४५||

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्तिः

'विनय'स्य महत्व-प्रतिपादनं

प्रत सूत्रांक [१]

दीप अनुक्रम [१०]

विनयाद्विप्रमुक्तस्य कुतो धर्मः कुतस्तप इति गाथार्थः ॥ १२१६ ॥ अतो विनयोपचारार्थं कृतिकर्म क्रियत इति स्थितम्। आह–विनय इति कः शब्दार्थ इति, उच्यते—

जम्हा विणयइ कम्मं अट्ठविहं चाउरंतमुक्खाए। तम्हा उ वयंति विऊ विणउत्ति विलीनसंसारा ॥ १२१७ ॥

व्याख्या—यस्माद्विनयति कर्म–नाशयति कर्माष्टविधं, किमर्थं?–चतुरन्तमोक्षाय, संसारविनाशायेत्यर्थः, तस्मादेव वदन्ति विद्वांसः 'विनय इति' विनयनाद्विनयः 'विलीनसंसाराः' क्षीणसंसारा अथवा विनीतसंसाराः, नष्टसंसारा इत्यर्थः, यथा विनीता गौर्नष्टक्षीराऽभिधीयते इति गाथार्थः ॥ १२१७ ॥ किमिति क्रियत इति द्वारं गतं, व्याख्याता द्वितीया कत्यवनतमित्यादिद्वारगाथा। अत्रान्तरेऽध्ययनशब्दार्थो निरूपणीयः, स चान्यत्र न्यक्षेण निरूपितत्वान्नेहाधिकृतः, गतो नामनिष्पन्नो निक्षेपः, साम्प्रतं सूत्रालापकनिष्पन्नस्य निक्षेपस्यावसरः, स च सूत्रे सति भवति, सूत्रं च सूत्रानुगम इत्यादि प्रपञ्चतो वक्तव्यं यावत्तच्चेदं सूत्रं—

'इच्छामि खमासमणो! वंदिउं जावणिज्जाए निसीहियाए अणुजाणह मे मिउग्गहं निसीहि, अहोकायं कायसंफासं, खमणिज्जो भे किलामो, अप्पकिलंताणं बहुसुभेण भे दिवसो वइक्कंतो?, जत्ता भे? जवणिज्जं च भे? खामेमि खमासमणो! देवसियं वइक्कमं, आवस्सियाए पडिक्कमामि खमासमणाणं देवसिआए आसायणाए तित्तीसण्णयराए जंकिंचिमिच्छाए मणदुक्कडाए वयदुक्कडाए कायदुक्कडाए कोहाए माणाए मायाए

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्तिः

वन्दन अध्ययने मूल्सूत्रस्य कथनं

प्रत सूत्रांक [१]

दीप अनुक्रम [१०]

आवश्यक-हारिभ-द्रीया

॥५४६॥

लोभाए सव्वकालियाए सव्वमिच्छोवयाराए सव्वधम्माइक्कमणाए आसायणाए जो मेअइयारो कओ तस्स खमासमणो ! पडिक्कमामि निन्दामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि ॥ (सूत्रम्)

अस्य व्याख्या—तल्लक्षणं चेदं–'संहिता च पदं चैव, पदार्थः पदविग्रहः । चालना प्रत्यवस्थानं, व्याख्या तन्त्रस्य षड्विधा ॥ १ ॥' तत्रास्खलितपदोच्चारणं संहिता, सा च–इच्छामि खमासमणो वंदिउं जावणिज्जाए निसीहिआए' इत्येवं-सूत्रोच्चारणरूपा, तानि चामूनि सर्वसूत्राणि–इच्छामि खमासमणो ! वंदिउं जावणिज्जाए निसीहियाए अणुजाणह मे मिउग्गहं निसीहि, अहोकायं कायसंफासं, खमणिज्जो भे किलामो अप्पकिलंताणं बहु सुभेण भे दिवसो वइक्कंतो ?, जत्ता भे ? जवणिज्जं च भे ?, खामेमि खमासमणो ! देवसियं वइक्कमं आवस्सियाए पडिक्कमामि खमासमणाणं देवसियाए आसायणाए तित्तीसण्णयराए जंकिंचिमिच्छाए मणदुक्कडाए वयदुक्कडाए कायदुक्कडाए कोहाए माणाए मायाए लोभाए सव्वकालियाए सव्वमिच्छोवयाराए सव्वधम्माइक्कमणाए आसायणाए जो मे अइयारो कओ तस्स खमासमणो ! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि। अधुना पदविभागः–इच्छामि क्षमाश्रमण ! वन्दितुं यापनीयया नैषेधिक्या अनुजानीत मम मितावग्रहं नैषेधिकी अधःकायं कायसंस्पर्शं क्षमणीयो भवता क्लमः अल्पक्लान्तानां बहुशुभेन भवतां दिवसो व्यतिक्रान्तः ?, यात्रा भवतां ? यापनीयं च भवतां ?, क्षमयामि क्षमाश्रमण ! दैवसिकं व्यतिक्रमं आवश्यिक्या प्रतिक्रमामि क्षमाश्रमणानां दैवसिक्या आशातनया त्रयस्त्रिंशदन्यतरया यत्किञ्चिन्मिथ्यया मनोदुष्कृतया वचनदुष्कृतया कायदुष्कृतया क्रोधया मानया मायया लोभया सर्वकालिक्या सर्वमिथ्योपचारया सर्वधर्मातिक्रमणया आशातनया यो मयाऽतिचारः कृतस्तस्य

३ वन्दनाध्ययने सूत्रव्याख्या

॥५४६॥

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्ति:

प्रत सूत्रांक [१]

दीप अनुक्रम [१०]

क्षमाश्रमण ! प्रतिक्रमामि निन्दामि गर्हामि आत्मानं व्युत्सृजामि, एतावन्ति सर्वसूत्रपदानि । साम्प्रतं पदार्थः पदविग्रहश्च यथासम्भवं प्रतिपाद्यते–तत्र 'इषु इच्छायाम्' इत्यस्योत्तमपुरुषैकवचनान्तस्य इच्छामीति भवति, 'क्षमूष् सहने' इत्यस्याङन्तस्य क्षमा, 'श्रमु तपसि खेदे च' अस्य कर्तरि ल्युट् श्राम्यत्यसाविति श्रमणः क्षमाप्रधानः श्रमणः क्षमाश्रमणः तस्याऽऽमन्त्रणं, वन्देस्तुमन्प्रत्ययान्तस्य वन्दितुं, 'या प्रापणे' अस्य ण्यन्तस्य कर्तर्यनीयच्, यापयतीति यापनीया तया, 'षिधु गत्याम्' अस्य निपूर्वस्य घञि निषेधनं निषेधः निषेधेन निर्वृत्ता नैषेधिकी, प्राकृतशैल्या छान्दसत्वाद्वा नैषेधिकेत्युच्यते, एवं शेषपदार्थोऽपि प्रकृतिप्रत्ययव्युत्पत्त्या वक्तव्यः, विनेयासम्मोहार्थं तु न ब्रूमः, अयं च प्रकृतसूत्रार्थः–अवग्रहाद्बहिःस्थितो विनेयोऽर्द्धावनतकायः करद्वयगृहीतरजोहरणो वन्दनायोद्यत एवमाह–'इच्छामि' अभिलषामि हे क्षमाश्रमण ! 'वन्दितुं' नमस्कारं कर्तुं, भवन्तमिति गम्यते, यापनीयया–यथाशक्तियुक्तया नैषेधिक्या–प्राणातिपातादिनिवृत्तया तन्वा–शरीरेणेत्यर्थः, अत्रान्तरे गुरुर्व्याक्षेपादियुक्तः 'त्रिविधेने'ति भणति, ततः शिष्यः संक्षेपवन्दनं करोति, व्याक्षेपादिविकलस्तु 'छन्दसे'ति भणति, ततो विनेयस्तत्रस्थ एवमाह–'अनुजानीत' अनुजानीध्वं अनुज्ञां प्रयच्छथ, 'मम'इत्यात्मनिर्देशे, कं ?–मितश्चासाववग्रहश्चेति मितावग्रहस्तं, चतुर्दिशमिहाचार्यस्यात्मप्रमाणं क्षेत्रमवग्रहस्तमनुज्ञां विहाय प्रवेष्टुं न कल्पते, ततो गुरुर्भणति–अनुजानामि, ततः शिष्यो नैषेधिक्या प्रविश्य गुरुपादान्तिकं निधाय तत्र रजोहरणं तल्ललाटं च कराभ्यां संस्पृशन्निदं भणति–अधस्तात्कायः अधःकायः–पादलक्षणस्तमधःकायं प्रति कायेन–निजदेहेन संस्पर्शः कायसंस्पर्शस्तं करोमि, एतच्चानुजानीत, तथा क्षमणीयः–सह्यो भवताम् अधुना 'क्लमो' देहग्लानिरूपः, तथा अल्पं–स्तोकं क्लान्तं–क्लमो

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्ति:

प्रत सूत्रांक [१]

दीप अनुक्रम [१०]

आवश्यक-हारिभ-द्रीया

॥५४७॥

३ वन्दना-ध्ययने सूत्रव्याख्या

येषां तेऽल्पक्लान्तास्तेषामल्पक्लान्तानां, बहु च तच्छुभं च बहुशुभं तेन बहुशुभेन, प्रभूतसुखेनेत्यर्थः, भवतां दिवसो व्यतिक्रान्तो?, युष्माकमहर्गतमित्यर्थः, अत्रान्तरे गुरुर्भणति–तथेति,यथा भवान् ब्रवीति,पुनराह विनेयः–'यात्रा' तपोनियमादिलक्षणा क्षायिकमिश्रौपशमिकभावलक्षणा वा उत्सर्पति भवताम्?, अत्रान्तरे गुरुर्भणति–युष्माकमपि वर्तते ?, मम तावदुत्सर्पति भवतोऽप्युत्सर्पतीत्यर्थः, पुनरप्याह विनेयो–यापनीयं चेन्द्रियनोइन्द्रियोपशमादिना प्रकारेण भवतां?, शरीरमिति गम्यते, अत्रान्तरे गुरुराह–एवमामं, यापनीयमित्यर्थः, पुनराह विनेयः–'क्षमयामि' मर्षयामि क्षमाश्रमणेति पूर्ववत् दिवसेन निर्वृत्तो दैवसिकस्तं व्यतिक्रमम्–अपराधं, दैवसिकग्रहणं रात्रिकाद्युपलक्षणार्थम्, अत्रान्तरे गुरुर्भणति–अहमपि क्षमयामि दैवसिकं व्यतिक्रमं प्रमादोद्भवमित्यर्थः, ततो विनेयः प्रणम्यैवं क्षामयित्वाऽऽलोचनार्हेण प्रतिक्रमणार्हेण च प्रायश्चित्तेनात्मानं शोधयन्नत्रान्तरेऽकरणतयोत्थायावग्रहान्निर्गच्छन् यथा अर्थो व्यवस्थितस्तथा क्रियया प्रदर्शयन्नावश्यिक्येत्यादि दण्डकसूत्रं भणति, अवश्यकर्तव्यैश्चरणकरणयोगैर्निर्वृत्ता आवश्यिकी तयाऽऽसेवनाद्वारेण हेतुभूतया यदसाध्वनुष्ठितं तस्य प्रतिक्रामामि, विनिवर्तयामीत्यर्थः, इत्थं सामान्येनाभिधाय विशेषेण भणति–क्षमाश्रमणानां व्यावर्णितस्वरूपाणां सम्बन्धिन्या 'दैवसिक्या' दिवसेन निर्वृत्तया ज्ञानाद्यायस्य शातना आशातना तया, किंविशिष्टया ?–त्रयस्त्रिंशदन्यतरया, आशातनाश्च यथा दशासु, अत्रैव वाऽनन्तराध्ययने तथा द्रष्टव्याः, '[1]ताओ पुण तित्तीसंपि आसायणाओ इमासु चउसु मूलासायणासु समोयरंति दव्वासायणाए ४, दव्वासायणा राइणिएण समं भुंजंतो मणुण्णं अप्पणा भुंजइ ॥५४७॥

१ ताः पुनस्त्रयस्त्रिंशदपि आशातनाः आसु चतसृषु मूलाशातनासु समवतरन्ति द्रव्याशातनायां ४, द्रव्याशातना रात्निकेन समं भुञ्जानो मनोज्ञमात्मना भुङ्क्ते.

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [१]

दीप अनुक्रम [१०]

एवं उवहिसंथारगाइसु विभासा, खित्तासायणा आसन्नं गंता भवइ राइणियस्स, कालासायणा राओ वा वियाले वा वाहरमाणस्स तुसिणीए चिट्ठइ, भावासायणा आयरियं तुमं तुमंति वत्ता भवइ, एवं तित्तीसंपि चउसु दव्वाइसु समोयरंति' 'यत्किञ्चिन्मिथ्यया' यत्किञ्चिदाश्रित्य मिथ्यया, मनसा दुष्कृता मनोदुष्कृता तया प्रद्वेषनिमित्तयेत्यर्थः, 'वाग्दुष्कृतया' असाधुवचननिमित्तया, 'कायदुष्कृतया' आसन्नगमनादिनिमित्तया, 'क्रोधये'ति क्रोधवत्येति प्राप्ते अर्शादेराकृतिगणत्वात् अच्प्रत्ययान्तत्वात् 'क्रोधया' क्रोधानुगतया, 'मानया' मानानुगतया, 'मायया' मायानुगतया, 'लोभया' लोभानुगतया, अयं भावार्थः—क्रोधाद्यनुगतेन या काचिद्विनयभ्रंशादिलक्षणा आशातना कृता तयेति, एवं दैवसिकी भणिता, अधुनेह-भवान्यभवगताऽतीतानागतकालसङ्ग्रहार्थमाह—सर्वकालेन—अतीतादिना निर्वृत्ता सार्वकालिकी तया, सर्व एव मिथ्योपचाराः—मातृस्थानगर्भाः क्रियाविशेषा यस्यामिति समासस्तया, सर्वधर्माः—अष्टौ प्रवचनमातरः तेषामतिक्रमणं—लङ्घनं यस्यां सा सर्वधर्मातिक्रमणा तया, एवम्भूतयाऽऽशातनयेति, निगमयति—यो मयाऽतिचारः—अपराधः 'कृतो' निर्वर्तितः 'तस्य' अतिचारस्य हे क्षमाश्रमण ! युष्मत्साक्षिकं प्रतिक्रामामि—अपुनःकरणतया निवर्तयामीत्यर्थः, तथा दुष्टकर्मकारिणं निन्दाम्यात्मानं प्रशान्तेन भवोद्विग्नेन चेतसा, तथा गर्हाम्यात्मानं युष्मत्साक्षिकं व्युत्सृजाम्यात्मानं दुष्टकर्मकारिणं तदनुमतित्यागेन, सामायिकानुसारेण च निन्दादिपदार्थो न्यक्षेण वक्तव्यः, एवं क्षामयित्वा पुनस्तत्रस्थ एवार्द्धावनतकाय एव

१ एवमुपधिसंस्तारकादिषु विभाषा, क्षेत्राशातनाऽऽसन्नं गन्ता भवति रात्निकस्य, कालाशातना रात्रौ वा विकाले वा व्याहरतस्तूष्णीकस्तिष्ठति, भावाशातना आचार्यं त्वं त्वमिति वक्ता भवति, एवं त्रयस्त्रिंशदपि चतसृष्वपि द्रव्यादिषु समवसरन्ति.

प्रत सूत्रांक [१]

दीप अनुक्रम [१०]

आवश्यक-हारिभद्रीया ॥५४८॥

३ वन्दनाध्ययने वन्दनस्थानानि

भणति–'इच्छामि खमासमणो' इत्यादि सर्वं द्रष्टव्यमित्येवं, नवरमयं विशेषः–'खामेमि खमासमणो' इत्यादि सर्वं सूत्रमात्रशियक्या विरहितं तत् पादपतित एव भणति, शिष्यासम्मोहार्थं सूत्रस्पार्शिकगाथाः स्वस्थाने खल्वनादृत्य लेशतस्तदर्थकथनयैव पदार्थो निदर्शितः, साम्प्रतं सूत्रस्पार्शिकगाथया निदर्शयन्नाह—

इच्छा य अणुन्नवणा अव्वाबाहं च जत्त जवणा य। अवराहखामणावि य छट्ठाणा हुंति वंदणए ॥ १२१८ ॥

व्याख्या—इच्छा च अनुज्ञापना अव्याबाधं च यात्रा यापना च अपराधक्षामणाऽपि च षट् स्थानानि भवन्ति वन्दनके ॥ तत्रेच्छा षड्विधा, यथोक्तम्—

णामं ठवणादविए खित्ते काले तहेव भावे य। एसो खलु इच्छाए णिक्खेवो छव्विहो होइ ॥ १२१९ ॥

व्याख्या—नामस्थापने गतार्थे, द्रव्येच्छा सचित्तादिद्रव्याभिलाषः, अनुपयुक्तस्य वेच्छामीत्यादि भणतः, क्षेत्रेच्छा मगधादिक्षेत्राभिलाषः, कालेच्छा रजन्यादिकालाभिलाषः–'रयणिमहिसारिया उ चोरा परदारिया य इच्छंति । तालायरा सुभिक्खं बहुधण्णा केइ दुब्भिक्खं ॥ १ ॥' भावेच्छा प्रशस्तेतरभेदा, प्रशस्ता ज्ञानाद्यभिलाषः, अप्रशस्ता स्त्र्याद्यभिलाष इति, अत्र तु विनेयभावेच्छयाऽधिकारः, क्षमादीनां तु पदानां गाथायामनुपन्यस्तानां यथासम्भवं निक्षेपादि वक्तव्यं, क्षुण्णत्वाद्ग्रन्थविस्तरभयाच्च नेहोक्तमिति। उक्ता इच्छा, इदानीमनुज्ञा, सा च षड्विधा—

नामं ठवणा दविए खित्ते काले तहेव भावे य। एसो उ अणुण्णाए णिक्खेवो छव्विहो होइ ॥ १२२० ॥

॥५४८॥

१ रजनीमभिसारिकास्तु चौराः पारदारिकाश्चेच्छन्ति। तालाचराः सुभिक्षं बहुधान्याः केचिद्दुर्भिक्षम् ॥ १ ॥

प्रत
सूत्रांक
[१]

दीप
अनुक्रम
[१०]

व्याख्या—नामस्थापने गतार्थे, द्रव्यानुज्ञा लौकिकी लोकोत्तरा कुप्रावचनिकी च, लौकिकी सचित्तादिद्रव्यभेदात्त्रिविधा, अश्वभूषितयुवतिवैडूर्याद्यनुज्ञेत्यर्थः, लोकोत्तराऽपि त्रिविधा—केवलशिष्यसोपकरणशिष्यवस्त्राद्यनुज्ञा, एवं कुप्रावचनिकी वक्तव्या, क्षेत्रानुज्ञा या यस्य यावतः क्षेत्रस्य यत्र वा क्षेत्रे व्याख्यायते क्रियते वा, एवं कालानुज्ञाऽपि वक्तव्या, भावानुज्ञा आचाराद्यनुज्ञा, भावानुज्ञयाऽधिकारः, अत्रान्तरे गाथायामनुपात्तस्याप्यक्षुण्णत्वादवग्रहस्य निक्षेपः—

णामं ठवणा दविए खित्ते काले तहेव भावे य। एसो उ उग्गहस्सा णिक्खेवो छव्विहो होइ ॥ १२२१ ॥

व्याख्या—सचित्तादिद्रव्यावग्रहणं द्रव्यावग्रहः, क्षेत्रावग्रहो यो यत्क्षेत्रमवगृह्णाति, तत्र च समन्ततः सक्रोशं योजनं, कालावग्रहो यो यं कालमवगृह्णाति, वर्षासु चतुरो मासान् ऋतुबद्धे मासं, भावावग्रहः प्रशस्तेतरभेदः, प्रशस्तो ज्ञानाद्यवग्रहः, इतरस्तु क्रोधाद्यवग्रह इति, अथवाऽवग्रहः पञ्चधा—'[1]देविंदरायगिहवइ सागरिसाधम्मिउग्गहो तह य। पंचविहो पण्णत्तो अवग्गहो वीयरागेहिं ॥ १ ॥' अत्र भावावग्रहेण साधर्मिकावग्रहेण चाधिकारः—'आ[2]यप्पमाणमित्तो चउद्दिसिं होइ उग्गहो गुरुणो। अणणुण्णातस्स सया ण कप्पए तत्थ पइसरिउं ॥ १ ॥' ततश्च तमनुज्ञाप्य प्रविशति, आह च निर्युक्तिकारः—

बाहिरखित्तंमि ठिओ अणुन्नवित्ता मिउग्गहं फासे। उग्गहखेत्तं पविसे जाव सिरेणं फुसइ पाए ॥ १२२२ ॥

---

१ देवेन्द्रराजगृहपतिसागारिकसाधर्मिकावग्रहस्तथैव। पञ्चविधः प्रज्ञप्तोऽवग्रहो वीतरागैः ॥ २ आत्मप्रमाणमात्रश्चतुर्दिशं भवत्यवग्रहो गुरोः। अननुज्ञातस्य सदा न कल्पते तत्र प्रवेष्टुम् ॥ २ ॥

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्ति:

प्रत सूत्रांक [१]
दीप अनुक्रम [१०]

व्याख्या—बहिःक्षेत्रे स्थितः अनुज्ञाप्य मितावग्रहं स्पृशेत् रजोहरणेन, पुनश्चावग्रहक्षेत्रं प्रविशेत्, कियद्दूरं यावदित्याह–यावच्छिरसा स्पृशेत् पादाविति गाथार्थः ॥ १२२२ ॥ अव्याबाधं द्रव्यतो भावतश्च, द्रव्यतः खड्गाद्याघातव्याबाधाकारणविकलस्य भावतः सम्यग्दृष्टेश्चारित्रवतः, अत्रापि कायादिनिक्षेपादि यथासम्भवं स्वबुद्ध्या वक्तव्यं, यात्रा द्रव्यतो भावतश्च, द्रव्यतस्तापसादीनां स्वक्रियोत्सर्पणं भावतः साधूनामिति, यापना द्विविधा–द्रव्यतो भावतश्च, द्रव्यत औषधादिना कायस्य, भावतस्त्विन्द्रियनोइन्द्रियोपशमेन शरीरस्य, क्षामणा द्रव्यतो भावतश्च, द्रव्यतः कलुषाशयस्यैहिकापायभीरोः भावतः संवेगापन्नस्य सम्यग्दृष्टेरिति, आह च—

अव्वाबाहं दुविहं दव्वे भावे य जत्त जवणा य। अवराहखामणाविय सवित्थरत्थं विभासिज्जा ॥ १२२३ ॥

एवं शेषपदेष्वपि निक्षेपादि वक्तव्यम्, इत्थं सूत्रे प्रायशो वन्दमानस्य विधिरुक्तः निर्युक्तिकृताऽपि स एव व्याख्यातः, अधुना वन्द्यगतविधिप्रतिपादनायाह निर्युक्तिकारः—

छंदेणऽणुजाणामि तहत्ति तुज्झंपि वट्टई एवं। अहमवि खामेमि तुमे वयणाइं वंदणरिहस्स ॥ १२२४ ॥

व्याख्या—छन्दसा अनुजानामि तथेति युष्माकमपि वर्तते एवमहमपि क्षमयामि त्वां, वचनानि 'वन्दनार्हस्य' वन्दनयोग्यस्य, विषयविभागस्तु पदार्थनिरूपणायां निदर्शित एवेति गाथार्थः ॥ १२२४ ॥

तेणवि पडिच्छियव्वं गारवरहिएण सुद्धहियएण। किइकम्मकारगस्सा संवेगं संजणंतेणं ॥ १२२५ ॥

व्याख्या—'तेन' वन्दनार्हेण एवं प्रत्येष्टव्यम्, अपिशब्दस्यैवकारार्थत्वादृद्ध्यादिगौरवरहितेन, 'शुद्धहृदयेन' कषायवि-

प्रत सूत्रांक [१] दीप अनुक्रम [१०]

प्रमुक्तेन, 'कृतिकर्मकारकस्य' वन्दनकर्तुः संवेगं जनयता, संवेगः-शरीरादिपृथग्भावो मोक्षौत्सुक्यं वेति गाथार्थः ॥१२२५॥
इत्थं सूत्रस्पर्शनिर्युक्त्या व्याख्यातं सूत्रम्, उक्तः पदार्थः पदविग्रहश्चेति, साम्प्रतं चालना, तथा चाह—

आवत्ताइसु जुगवं इह भणिओ कायवायवावारो। दुण्हेगया य किरिया जओ निसिद्धा अउ अजुत्तो ॥१२२६॥

व्याख्या—इहाऽऽवर्तादिषु, आदिशब्दादावश्यिक्यादिपरिग्रहः, 'युगपद्' एकदा 'भणितः' उक्तः कायवाग्व्यापारः, तथा च सत्येकदा क्रियाद्वयप्रसङ्गः, द्वयोरेकदा च क्रिया यतो निषिद्धाऽन्यत्र, उपयोगद्वयाभावाद्, अतोऽयुक्तः स व्यापार इति, ततश्च सूत्रं पठित्वा कायव्यापारः कार्य इति, उच्यते—

भिन्नविसयं निसिद्धं किरियादुगमेगया ण एगंमि। जोगतिगस्स वि भंगिय सुत्ते किरिया जओ भणिया ॥१२२७॥

व्याख्या—इह विलक्षणवस्तुविषयं क्रियाद्वयं निषिद्धम् एकदा यथोत्प्रेक्षते सूत्रार्थं नयादिगोचरमटति च, तत्रोत्प्रेक्षायां यदोपयुक्तो न तदाऽटने यदा चाटने न तदोत्प्रेक्षायामिति, कालस्य सूक्ष्मत्वाद्, विलक्षणविषया तु योगत्रयक्रियाऽप्यविरुद्धा, यथोक्तम्—"[1]भंगियसुयं गुणंतो वट्टइ तिविहेऽवि जोगंमी'त्यादि, गतं प्रत्यवस्थानं,—

सीसो पढमपवेसे वंदिउमावस्सिआएँ पडिक्कमिउं। बितियपवेसंमि पुणो वंदइ किं? चालणा अहवा ॥१२२८॥
जह दूओ रायाणं णमिउं कज्जं निवेइउं पच्छा। वीसज्जिओवि वंदिय गच्छइ साहूवि एमेव ॥१२२९॥

१ भङ्गिक श्रुतं गुणयन् वर्त्तते त्रिविधेऽपि योगे। २ शिष्यः प्रथमप्रवेशे वन्दितुमावश्यिक्या प्रतिक्रम्य। द्वितीयप्रवेशे पुनर्वन्दते किं चालनाऽथवा ॥ १ ॥ यथादूतो राजानं नत्वा कार्यं निवेद्य। पश्चात्। विसृष्टोऽपि वन्दित्वा गच्छति एवमेव साधवोऽपि ॥ २ ॥

प्रत सूत्रांक [१] दीप अनुक्रम [१०]

आवश्यक-हारिभ-द्रीया ॥५५०॥

व्याख्या—इदं प्रत्यवस्थानं, उत्कमानुषङ्गिकं, साम्प्रतं कृतिकर्मविधिसंसेवनाफलं समासात्तुपदर्शयन्नाह—

एयं किइकम्मविहिं जुंजंता चरणकरणमुवउत्ता। साहू खवंति कम्मं अणेगभवसंचियमणंतं ॥ १२३० ॥

व्याख्या—'एवम्' अनन्तरदर्शितं 'कृतिकर्मविधिं' वन्दनविधिं युञ्जानाश्चरणकरणोपयुक्ताः साधवः क्षपयन्ति कर्म 'अनेकभवसञ्चितं' प्रभूतभवोपात्तमित्यर्थः, कियद् ?–अनन्तमिति गाथार्थः ॥ १२३० ॥ उक्तोऽनुगमः, नयाः सामायिकनिर्युक्ताविव द्रष्टव्याः ॥ इत्याचार्यश्रीहरिभद्रकृतौ शिष्यहितायामावश्यकटीकायां वन्दनाध्ययनं समाप्तमिति। कृत्वा वन्दनविवृतिं प्राप्तं यत्कुशलमिह मया तेन। साधुजनवन्दनमलं सत्त्वा मोक्षाय सेवन्तु ॥ १ ॥

३ वन्दनाध्ययने चालनाप्रत्यवस्थाने

व्याख्यातं वन्दनाध्ययनम्, अधुना प्रतिक्रमणाध्ययनमारभ्यते–अस्य चायमभिसम्बन्धः, अनन्तराध्ययनेऽर्हदुपदिष्टसामायिकगुणवत एव वन्दनलक्षणा प्रतिपत्तिः कार्येति प्रतिपादितम्, इह पुनस्तदकरणता दिनैव स्खलितस्यैव निन्दा प्रतिपाद्यते, यद्वा वन्दनाध्ययने कृतिकर्मरूपायाः साधुभक्तेस्तत्त्वतः कर्मक्षय उक्तः, यथोक्तम्–'विणओवयार माणस्स भंजणा पूयणा गुरुजणस्स। तित्थयराण य आणा सुअधम्माऽऽराहणाऽकिरिया ॥१॥' प्रतिक्रमणाध्ययने तु मिथ्यात्वादिप्रतिक्रमणद्वारेण कर्मनिदाननिषेधः प्रतिपाद्यते, वक्ष्यति च–"मिच्छत्तपडिक्कमणं तहेव अस्संजमेवि पडिक्कमणं। कस्सायाण पडिक्कमणं जोगाण य अप्पसत्थाणं ॥१॥" अथवा सामायिके चारित्रमुपवर्णितं, चतुर्विंशतिस्तवे त्वर्हतां गुणस्तुतिः, सा च दर्शनज्ञानरूपा, एवमिदं ॥५५०॥

१ पृष्ठ ५४५ गाथा १२१५ २ मिथ्यात्वप्रतिक्रमणं तथैवासंयमेऽपि प्रतिक्रमणम्। कषायाणां प्रतिक्रमणं योगानां चाप्रशस्तानाम् ॥ १ ॥

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्ति:

अत्र अध्ययनं -३- 'वन्दनं' परिसमाप्तं

- अत्र अध्ययनं -४- 'प्रतिक्रमणं' आरभ्यते

प्रत सूत्रांक [१..]

दीप अनुक्रम [१०..]

त्रितयमुक्तम्, अस्य च वितथासेवनमैहिकामुष्मिकापायपरिजिहीर्षुणा गुरोर्निवेदनीयं, तच्च वन्दनापूर्वमित्यतोऽनन्तराध्ययने तन्निरूपितम्, इह तु निवेद्य भूयः शुभेष्वेव स्थानेषु प्रतीपं क्रमणमासेवनीयमित्येतत् प्रतिपाद्यते, इत्थमनेनानेकरूपेण सम्बन्धेनाऽऽयातस्यास्य प्रतिक्रमणाध्ययनस्य चत्वार्यनुयोगद्वाराणि सप्रपञ्चं वक्तव्यानि, तत्र च नामनिष्पन्ने निक्षेपे प्रतिक्रमणाध्ययनमिति, तत्र प्रतिक्रमणं निरूप्यते–'प्रति' इत्ययमुपसर्गः प्रतीपाद्यर्थे वर्तते, 'क्रमु पादविक्षेपे' अस्य ल्युडन्तस्य प्रतीपं प्रतिकूलं वा क्रमणं प्रतिक्रमणमिति भवति, एतदुक्तं भवति–शुभयोगेभ्योऽशुभयोगान्तरं क्रान्तस्य शुभेष्वेव प्रतीपं प्रतिकूलं वा क्रमणं प्रतिक्रमणमिति, उक्तं च–"स्वस्थानाद् यत्परस्थानं, प्रमादस्य वशाद्गतः। तत्रैव क्रमणं भूयः, प्रतिक्रमणमुच्यते ॥ १ ॥ क्षायोपशमिकाद्भावादौदयिकस्य वशं गतः। तत्रापि च स एवार्थः, प्रतिकूलगमात्स्मृतः ॥ २ ॥' प्रति प्रति क्रमणं वा प्रतिक्रमणं, शुभयोगेषु प्रति प्रति वर्तनमित्यर्थः, उक्तं च–"प्रति प्रति वर्तनं वा शुभेषु योगेषु मोक्षफलदेषु। निःशल्यस्य यतेर्यत्तद्वा ज्ञेयं प्रतिक्रमणम्॥ १ ॥" इह च यथा करणात् कर्मकर्त्रोः सिद्धिः, तद्व्यतिरेकेण करणत्वानुपपत्तेः, एवं प्रतिक्रमणादपि प्रतिक्रामकप्रतिक्रान्तव्यसिद्धिरित्यतस्त्रितयमप्यभिधित्सुराह निर्युक्तिकारः—

पडिकमणं पडिकमओ पडिकमियव्वं च आणुपुव्वीए। तीए पच्चुप्पन्ने अणागए चेव कालंमि ॥ १२३१ ॥

व्याख्या—'प्रतिक्रमणं' निरूपितशब्दार्थं, तत्र प्रतिक्रामतीति प्रतिक्रमकः कर्ता, प्रतिक्रान्तव्यं च कर्म–अशुभयोगलक्षणम्, 'आनुपूर्व्या' परिपाट्या, 'अतीते' अतिक्रान्ते 'प्रत्युत्पन्ने' वर्तमाने 'अनागते चैव' एष्ये चैव काले, प्रतिक्रमणादि

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्ति:

'प्रतिक्रमण' शब्दस्य अर्थ-व्याख्या

प्रत सूत्रांक [१..] दीप अनुक्रम [१०..]

आवश्यक-हारिभ-द्रीया ॥५५१॥

४ प्रतिक्र-मणाध्य-यने प्रति-क्रमणादि-स्वरूपं

योज्यमिति वाक्यशेषः। आह-प्रतिक्रमणमतीतविषयं, यत उक्तम्-'अतीतं पडिक्कमामि पडुप्पन्नं संवरेमि अणागयं पच्चक्खामि'त्ति तत्कथमिह कालत्रये योज्यते इति ?, उच्यते, प्रतिक्रमणशब्दो ह्यत्राशुभयोगनिवृत्तिमात्रार्थः सामान्यः परिगृह्यते, तथा च सत्यतीतविषयं प्रतिक्रमणं निन्दाद्वारेणाशुभयोगनिवृत्तिरेवेति, प्रत्युत्पन्नविषयमपि संवरणद्वारेणाशुभयोगनिवृत्तिरेव, अनागतविषयमपि प्रत्याख्यानद्वारेणाशुभयोगनिवृत्तिरेवेति न दोष इति गाथाक्षरार्थः ॥ १२३१ ॥

साम्प्रतं प्रतिक्रामकस्वरूपं प्रतिपादयन्नाह—

जीवो उ पडिक्कमओ असुहाणं पावकम्मजोगाणं। झाणपसत्था जोगा जे ते ण पडिक्कमे साहू ॥ १२३२ ॥

व्याख्या—'जीवः' प्राग्निरूपितशब्दार्थः, तत्र प्रतिक्रामतीति प्रतिक्रामकः, तुशब्दो विशेषणार्थः, न सर्व एव जीवः प्रतिक्रामकः, किं तर्हि ?-सम्यग्दृष्टिरुपयुक्तः, केषां प्रतिक्रमकः ?-'अशुभानां पापकर्मयोगानाम्' अशोभनानां पापकर्मव्यापाराणामित्यर्थः, आह-पापकर्मयोगा अशुभा एव भवन्तीति विशेषणानर्थक्यं, न, स्वरूपान्वाख्यानपरत्वादस्य, प्रशस्तौ च तौ योगौ च प्रशस्तयोगौ, ध्यानं च प्रशस्तयोगौ च ध्यानप्रशस्तयोगा ये तानधिकृत्य 'न प्रतिक्रमेत' न प्रतीपं वर्तेत साधुः, अपि तु तान् सेवेत, मनोयोगप्राधान्यख्यापनार्थं पृथग् ध्यानग्रहणं, प्रशस्तयोगोपादानाच्च ध्यानमपि धर्मशुक्लभेदं प्रशस्तमवगन्तव्यम्, आह-'यथोद्देशं निर्देश' इति न्यायमुल्लङ्घ्य किमिति प्रतिक्रमणमनभिधाय प्रतिक्रामक उक्तः?, तथाऽऽद्यगाथागतमानुपूर्वीग्रहणं चातिरिच्यत इति, उच्यते, प्रतिक्रमकस्याल्पवक्तव्यत्वात् कर्त्रधीनत्वाच्च क्रियाया इत्य- ॥५५१॥

१ अतीतं प्रतिक्रमामि प्रत्युत्पन्नं संवृणोमि अनागतं प्रत्याख्यामि.

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्ति:

प्रत सूत्रांक [१..]

दीप अनुक्रम [१०..]

दोषः, इत्थमेवोपन्यासः कस्मान्न कृत इति चेत् प्रतिक्रमणाध्ययननामनिष्पन्ननिक्षेपप्रधानत्वात्तस्येत्यलं विस्तरेणेति गाथार्थः ॥ १२३२ ॥ उक्तः प्रतिक्रमकः, साम्प्रतं प्रतिक्रमणस्यावसरः, तच्छब्दार्थपर्यायैर्व्याचिख्यासुरिदमाह—

पडिकमणं पडियरणा परिहरणा वारणा नियत्ती य। निंदा गरिहा सोही पडिकमणं अट्ठहा होइ ॥ १२३३ ॥

व्याख्या—'प्रतिक्रमणं' तत्त्वतो निरूपितमेव, अधुना भेदतो निरूप्यते, तत्पुनर्नामादिभेदतः षोढा भवति, तथा चाऽऽह—

णामं ठवणा दविए खित्ते काले तहेव भावे य। एसो पडिकमणस्सा णिक्खेवो छव्विहो होइ ॥ १२३४ ॥

व्याख्या—तत्र नामस्थापने गतार्थे, द्रव्यप्रतिक्रमणमनुपयुक्तसम्यग्दृष्टेर्लब्ध्यादिनिमित्तं वा उपयुक्तस्य वा निह्नवस्य पुस्तकादिन्यस्तं वा, क्षेत्रप्रतिक्रमणं यस्मिन् क्षेत्रे व्यावर्ण्यते क्रियते वा यतो वा प्रतिक्रम्यते खिलादेरिति, कालप्रतिक्रमणं द्वेधा–ध्रुवं अध्रुवं च, तत्र ध्रुवं भरतैरावतेषु प्रथमचरमतीर्थकरतीर्थेष्वपराधो भवतु मा वा ध्रुवमुभयकालं प्रतिक्रम्यते, विमध्यमतीर्थकरतीर्थेषु त्वध्रुवं–कारणजाते प्रतिक्रमणमिति, भावप्रतिक्रमणं द्विधा–प्रशस्तमप्रशस्तं च, प्रशस्तं मिथ्यात्वादेः, अप्रशस्तं सम्यक्त्वादेरिति, अथवौघत एवोपयुक्तस्य सम्यग्दृष्टेरिति, प्रशस्तेनात्राधिकारः॥ प्रतिचरणा व्याख्यायते–'चर गतिभक्षणयोः' इत्यस्य प्रतिपूर्वस्य ल्युडन्तस्य प्रतिचरणेति भवति, प्रति प्रति तेषु तेष्वर्थेषु चरणं–गमनं तेन तेनाऽऽसेवनाप्रकारेणेति प्रतिचरणा, सा च षड्विधा, तथा चाह—

णामं ठवणा दविए खित्ते काले तहेव भावे य। एसो पडियरणाए णिक्खेवो छव्विहो होइ ॥ १२३५ ॥

व्याख्या—तत्र नामस्थापने गतार्थे, द्रव्यप्रतिचरणा अनुपयुक्तस्य सम्यग्दृष्टेस्तेषु तेष्वर्थेष्वाचरणीयेषु चरणं–गमनं

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्तिः

'प्रतिक्रमण' शब्दस्य अष्ट पर्यायाः, तेषाम् व्याख्या एवं कथाः

प्रत सूत्रांक [१..] दीप अनुक्रम [१०..]

तेन तेन प्रकारेण लब्ध्यादिनिमित्तं वा उपयुक्तस्य वा निह्नवस्य सचित्तादिद्रव्यस्य वेति, क्षेत्रप्रतिचरणा यत्र प्रतिचरणा व्याख्यायते क्रियते वा क्षेत्रस्य वा प्रतिचरणा, यथा शालिगोपिकाद्याः शालिक्षेत्रादीनि प्रतिचरन्ति, कालप्रतिचरणा यस्मिन् काले प्रतिचरणा व्याख्यायते क्रियते वा कालस्य वा प्रतिचरणम्, यथा साधवः प्रादोषिकं वा प्राभातिकं वा कालं प्रतिचरन्ति, भावप्रतिचरणा द्वेधा–प्रशस्ताऽप्रशस्ता च, अप्रशस्ता मिथ्यात्वाज्ञानाविरतिप्रतिचरणा, प्रशस्ता सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रप्रतिचरणा, अथवौघत एवोपयुक्तस्य सम्यग्दृष्टेः, तयेहाधिकारः, प्रतिक्रमणपर्यायता चास्या यतः शुभयोगेषु प्रतीपं क्रमणं–प्रवर्तनं प्रतिक्रमणमुक्तं, प्रतिचरणाऽप्येवम्भूतैव वस्तुत इति गाथार्थः ॥ १२३५ ॥ इदानीं परिहरणा, 'हृञ् हरणे' अस्य परिपूर्वस्यैव ल्युडन्तस्यैव परिहरणा, सर्वप्रकारैर्वर्जनेत्यर्थः, सा च अष्टविधा, तथा चाह—

णामं ठवणा दविए परिरय परिहार वज्जणाए य। अणुगह भावे य तहा अट्ठविहा होइ परिहरणा ॥१२३६॥

व्याख्या—नामस्थापने गतार्थे, द्रव्यपरिहरणा हेयं विषयमधिकृत्य अनुपयुक्तस्य सम्यग्दृष्टेर्लब्ध्यादिनिमित्तं वा उपयुक्तस्य वा निह्नवस्य कण्टकादिपरिहरणा वेति, परिरयपरिहरणा गिरिसरित्परिरयपरिहरणा, परिहारपरिहरणा लौकिकलोकोत्तरभेदभिन्ना, लौकिकी मात्रादिपरिहरणा, लोकोत्तरा पार्श्वस्थादिपरिहरणा, वर्जनापरिहरणाऽपि लौकिकलोकोत्तरभेदैव, लौकिका इत्वरा यावत्कथिका च, इत्वरा प्रसूतसूतकादिपरिहरणा, यावत्कथिका डोम्बादिपरिहरणा, लोकोत्तरा पुनरित्वरा शय्यातरपिण्डादिपरिहरणा, यावत्कथिका तु राजपिण्डादिपरिहरणा, अनुग्रहपरिहरणा *अक्खोडभंगपरिहरणा,

* आस्फोटकानां यो भङ्गस्तस्य परिहरणा प्रतिलेखनादिविधिविराधनापरिहरणेत्यर्थः.

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्तिः

प्रत
सूत्रांक
[१..]

दीप
अनुक्रम
[१०..]

भावपरिहरणा प्रशस्ता अप्रशस्ता च,अप्रशस्ता ज्ञानादिपरिहरणा,प्रशस्ता क्रोधादिपरिहरणा,अथवौघत एवोपयुक्तस्य सम्यग्दृष्टेः, तयेहाधिकारः, प्रतिक्रमणपर्यायता चास्याः प्रतिक्रमणमप्यशुभयोगपरिहारेणैवेति, वारणेदानीं,'वृञ् वरणे' इत्यस्य ण्यन्तस्य ल्युडि वारणा भवति, वारणं वारणा निषेध इत्यर्थः, सा च नामादिभेदतः षोढा भवति, तथा चाह—

णामं ठवणा दविए खित्ते काले तहेव भावे य। एसो उ वारणाए णिक्खेवो छव्विहो होइ ॥ १२३७॥

व्याख्या—तत्र नामस्थापने गतार्थे, द्रव्यवारणा तापसादीनां हलकृष्टादिपरिभोगवारणा, अनुपयुक्तस्य सम्यग्दृष्टेर्वा देशनायां उपयुक्तस्य वा निह्नवस्यापथ्यस्य वा रोगिण इतीयं चोदनारूपा, क्षेत्रवारणा तु यत्र क्षेत्रे व्यावर्ण्यते क्रियते वा क्षेत्रस्य वाऽनार्यस्येति, कालवारणा यस्मिन् व्यावर्ण्यते क्रियते वा कालस्य वा विकालादेर्वर्षासु वा विहारस्येति, भाववारणेदानीं, सा च द्विविधा–प्रशस्ताऽप्रशस्ता च, प्रशस्ता प्रमादवारणा, अप्रशस्ता संयमादिवारणा, अथवौघत एवोपयुक्तस्य सम्यग्दृष्टेरिति, तयेहाधिकारः, प्रतिक्रमणपर्यायता चास्याः स्फुटा, निवृत्तिरधुना, 'वृत वर्तने' इत्यस्य निपूर्वस्य क्तिनि निवर्तनं निवृत्तिः, सा च षोढा, यत आह—

नामं ठवणा दविए खित्ते काले तहेव भावे य। एसो य नियत्तीए णिक्खेवो छव्विहो होइ ॥ १२३८॥

व्याख्या—नामस्थापने गतार्थे, द्रव्यनिवृत्तिस्तापसादीनां हलकृष्टादिनिवृत्तिरित्याद्यखिलो भावार्थः स्वबुद्ध्या वक्तव्यः, यावत् प्रशस्तभावनिवृत्त्येहाधिकारः। निन्देदानीं, तत्र 'णिदि कुत्सायाम्' अस्य 'गुरोश्च हलः' (पा०३-३-१०३) इत्यकारः टाप्, निन्दनं निन्दा, आत्माऽध्यक्षमात्मकुत्सेत्यर्थः, सा च नामादिभेदतः षोढा भवति, तथा चाह—

प्रत सूत्रांक [१..]

दीप अनुक्रम [१०..]

आवश्यक-हारिभ-द्रीया ||५५३||

४प्रतिक्रम-णाध्य०प्र-तिक्रमणा-दिस्व०

णामं ठवणा दविए खित्ते काले तहेव भावे य। एसो खलु निंदाए णिक्खेवो छव्विहो होइ ॥ १२३९ ॥

व्याख्या—तत्र नामस्थापने गतार्थे, द्रव्यनिन्दा तापसादीनाम् अनुपयुक्तस्य सम्यग्दृष्टेर्वोपयुक्तस्य वा निह्नवस्याशोभनद्रव्यस्य वेति, क्षेत्रनिन्दा यत्र व्याख्यायते क्रियते वा संसक्तस्य वेति, कालनिन्दा यस्मिन्निन्दा व्याख्यायते क्रियते वा दुर्भिक्षादेर्वा कालस्य, भावनिन्दा प्रशस्तेतरभेदा, अप्रशस्ता संयमाद्याचरणविषया, प्रशस्ता पुनरसंयमाद्याचरणविषयेति, ‘हा ! दुट्ठु कयं हा ! दुट्ठु कारियं दुट्ठु अणुमयं हत्ति। अंतो २ डज्झइ झुसिरुव दुमो वणदवेणं ॥ १ ॥’ अथवौघत एवोपयुक्तसम्यग्दृष्टेरिति, तयेहाधिकारः, प्रतिक्रमणपर्यायता स्फुटेति गाथार्थः ॥ १२३९ ॥ गर्हेदानीं, तत्र ‘गर्ह कुत्सायां’ मस्य ‘गुरोश्च हल’ इत्यकारः टाप्, गर्हणं गर्हा–परसाक्षिकी कुत्सैवेति भावार्थः, सा च नामादिभेदतः षोढैवेति, तथा चाह—

नामं ठवणा दविए खित्ते काले तहेव भावे य। एसो खलु गरिहाए निक्खेवो छव्विहो होइ ॥ १२४० ॥

व्याख्या—नामस्थापने गतार्थे, द्रव्यगर्हा तापसादीनामेव स्वगुर्वालोचनादिना अनुपयुक्तस्य सम्यग्दृष्टेर्वोपयुक्तस्य वा निह्नवस्येत्यादिभावार्थो वक्तव्यः, यावत्प्रशस्तयेहाधिकारः। इदानीं शुद्धिः ‘शुध शौचे’ अस्य स्त्रियां क्तिन्, शोधनं शुद्धिः, विमलीकरणमित्यर्थः, सा च नामादिभेदतः षोढैव, तथा चाह—

नामं ठवणा दविए खित्ते काले तहेव भावे य। एसो खलु सुद्धीए निक्खेवो छव्विहो होइ ॥ १२४१ ॥ ||५५३||

१ हा दुष्ठु कृतं हा दुष्ठु कारितं दुष्ठ्वनुमतं हेति। अन्तरन्तर्दह्यते शुषिर इव द्रुमो वनदवेन ॥ १ ॥

प्रत
सूत्रांक
[१..]

दीप
अनुक्रम
[१०..]

व्याख्या—तत्र नामस्थापने गतार्थे, द्रव्यशुद्धिस्तापसादीनां स्वगुर्वालोचनादिना अनुपयुक्तस्य सम्यग्दृष्टेरुपयुक्तस्य वा निह्नवस्य वस्त्रसुवर्णादेर्वा जलक्षारादिभिरिति, क्षेत्रशुद्धिर्यत्र व्यावर्ण्यते क्रियते वा क्षेत्रस्य वा कुलिकादिनाऽस्थ्यादिशल्योद्धरणमिति, कालशुद्धिर्यत्र व्यावर्ण्यते क्रियते वा शङ्खवादिभिर्वा कालस्य शुद्धिः क्रियत इति, भावशुद्धिर्द्विधा–प्रशस्ताऽप्रशस्ता च, प्रशस्ता ज्ञानादेरप्रशस्ता चाशुद्धस्य सतः क्रोधादेर्वैमल्याधानं स्पष्टतापादनमित्यर्थः, अथवौघत एवोपयुक्तस्य सम्यग्दृष्टेः प्रशस्ता, तयेहाधिकारः, प्रतिक्रमणपर्यायता चास्याः स्फुटा, एवं प्रतिक्रमणमष्टधा भवतीति गाथार्थः ॥ १२४१ ॥ साम्प्रतं विनेयानुग्रहाय प्रतिक्रमणादिपदानां यथाक्रमं दृष्टान्तान् प्रतिपादयन्नाह—

अद्धाणे पासाए दुद्धकाय विसभोयणतलाए । दो कन्नाओ पइमारियाँ य वत्थे य अगए य ॥ १२४२ ॥

व्याख्या—अध्वानः प्रासादः दुग्धकायः विषभोजनं तडागं द्वे कन्ये पतिमारिका च वस्त्रं चागदश्च, तत्थ पडिक्कमणे अद्धाणदिट्ठंतो—जहा एगो राया णयरबाहिं पासायं काउकामो सोभणे दिणे सुत्ताणि पाडियाणि, रक्खगा णिउत्ता भणिया य–जइ कोइ इत्थ पविसिज्ज सो मारेयव्वो, जइ पुण ताणि चेव पयाणि अक्कमंतो पडिओसरइ सो मोयव्वो, तओ तेसिं रक्खगाण वक्खित्तचित्ताणं कालहया दो गामिल्लया पुरिसा पविट्ठा, ते णाइदूरं गया रक्खगेहिं दिट्ठा, उक्करिसियखग्गेहि य

१ तत्र प्रतिक्रमणेऽध्वन्यदृष्टान्तः, यथा एको राजा नगराद्बहिः प्रासादं कर्त्तुकामः शोभने दिने सूत्राणि पातितवान्, रक्षका नियुक्ता भणिताश्च–यदि कश्चित् अत्र प्रविशेत् स मारयितव्यः, यदि पुनस्तानेव पादान् आक्राम्यन् प्रत्यवसर्पति स मोक्तव्यः, ततस्तेषां रक्षकाणां व्याक्षिप्तचित्तानां कालहतौ द्वौ ग्रामेयकौ पुरुषौ प्रविष्टौ, तौ नातिदूरं गतौ रक्षकैर्दृष्टौ, आकृष्टखड्गैश्च

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [१..]

दीप अनुक्रम [१०..]

आवश्यक-हारिभद्रीया ॥५५४॥

४ प्रतिक्रमणाध्य० प्रतिक्रमणेऽध्वन्योदा०

संलेत्ता–हा दासा! कहिं एत्थ पविट्ठा ?, तत्थेगो काकधट्ठो भणइ–को एत्थ दोसोत्ति इओ तओ पहाविओ, सो तेहिं तत्थेव मारिओ, बितिओ भीओ तेसु चेव पएसु ठिओ भणइ–सामि ! अयाणंतो अहं पविट्ठो, मा मं मारेह, जं भणह तं करेमित्ति, तेहिं भण्णइ–जइ अण्णओ अणक्कमंतो तेहिं चेव पएहिं पडिओसरसि तओ मुच्चसि, सो भीओ परेण जत्तेण तेहिं चेव पएहिं पडिनियत्तो, सो मुक्को, इहलोइयाणं भोगाणं आभागीजाओ, इयरो चुक्को, एतं दव्वपडिक्कमणं, भावे दिट्ठंतस्स उवणओ–रायत्थाणीएहिं तित्थयरेहिं पासायत्थाणीओ संजमो रक्खियव्वोत्ति आणत्तं, सो य गामिल्लगत्थाणीएण एगेण साहुणा अइक्कमिओ, सो रागदोसरक्खगऽब्भाहओ सुचिरं कालं संसारे जाइयव्वमरियव्वाणि पाविहिति, जो पुण किहवि पमाएण अस्संजमं गओ तओ पडिनियत्तो अपुणक्करणाए पडिक्कमए सो णिव्वाणभागी भवइ, पडिक्कमणे अद्धाणदिट्ठंतो गतो १ । इयाणिं पडिचरणाए पासाएण दिट्ठंतो भण्णइ–एगम्मि णयरे धणसमिद्धो वाणियओ, तस्स अहुणुट्ठिओ

१ संलक्षौ–हा दासौ ! क्वात्र प्रविष्टौ ?, तत्रैकः काकधृष्टो भणति–कोऽत्र दोष इति इतस्ततः प्रधावितः, स तैस्तत्रैव मारितः, द्वितीयो भीतस्तयोरेव पदोः स्थितो भणति–स्वामिन् ! अजानानोऽहं प्रविष्टः मा मां मीमरः, यद्भणथ तत्करोमीति, तैर्भण्यते–यद्यन्यतोऽनाक्राम्यन् तैरेव पद्भिः प्रत्यवसर्पसि ततो मुच्यसे, स भीतः परेण यत्नेन तैरेव पद्भिः प्रतिनिवृत्तः, स मुक्तः, ऐहलौकिकानां भोगानामाभागीजातः, इतरो भ्रष्टः, एतद् द्रव्यप्रतिक्रमणं, भावे दृष्टान्तस्योपनयः–राजस्थानीयैस्तीर्थकरैः प्रासादस्थानीयः संयमो रक्षयितव्य इत्याज्ञप्तं, स च ग्रामेयकस्थानीयेनैकेन साधुनाऽतिक्रान्तः, स रागद्वेषरक्षकाभ्याहतः सुचिरं कालं संसारे जन्ममरणानि प्राप्स्यति, यः पुनः कथमपि प्रमादेनासंयमं गतस्ततः प्रतिनिवृत्तोऽपुनःकरणतया प्रतिक्राम्यति स निर्वाणभागी भवति, प्रतिक्रमणेऽध्वन्यदृष्टान्तः गतः । इदानीं प्रतिचरणायां प्रासादेन दृष्टान्तो भण्यते–एकस्मिन् नगरे धनसमृद्धो वणिग्, तस्याधुनोत्थितः

॥५५४॥

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्तिः

प्रत
सूत्रांक
[१..]

दीप
अनुक्रम
[१०..]

पासाओ रयणभरिओ, सो तं भज्जाए उवणिक्खिविउं दिसाजत्ताए गओ, सा अप्पए लग्गिया, मंडणपसाहणादिवावडा न तस्स पासायस्स अवलोयणं करेइ, तओ तस्स एगं खंडं पडियं, सा चिंतेइ–किं एत्तिलयं करेहिइत्ति, अण्णया पिप्पलपोतगो जाओ, किं एत्तिओ करेहित्ति णावणीओ तीए, तेण वड्ढंतेण सो पासाओ भग्गो, वाणियगो आगओ, पिच्छइ विणट्ठं पासायं, तेण सा णिच्छूढा, अण्णो पासाओ कारिओ, अण्णा भज्जा आणीया, भणिया य–जति एस पासाओ विणस्सइ तो ते अहं णत्थि, एवं भणिऊण दिसाजत्ताए गओ, साऽवि से महिला तं पासायं सव्वादरेण तिसंझं अवलोएति, जं किंचि तत्थ कट्ठकम्मे लेप्पकम्मे चित्तकम्मे पासाए वा उत्तुडियाइ पासइ तं संठवावेति किंचि दाऊण, तओ सो पासाओ तारिसो चेव अच्छइ, वाणियगेण आगएण दिट्ठो, तुट्ठेण सव्वस्स घरस्स सामिणी कया, विउलभोगसमण्णागया जाया, इयरा असणवसणरहिया अच्चंतदुक्खभागिणी जाया, एसा दव्वपडिचरणा, भावे दिट्ठंतस्स उवणओ–वाणियगत्थाणीएणाऽऽयरिएण

१ प्रासादो रत्नभृतः, स तं भार्यायामुपनिक्षिप्य दिग्यात्रायै गतः, सा शरीरे लग्ना, मण्डनप्रसाधनादिव्यापृता न तस्य प्रासादस्यावलोकनं करोति, ततस्तस्यैको भागः पतितः, सा चिन्तयति–किमेतावत् करिष्यति?, अन्यदा पिप्पलपोतको जातः, पतितः, किमेतावान् करिष्यतीति नापनीतः तया, तेन वर्धमानेन स प्रासादो भग्नः, वणिक् आगतः, प्रेक्षते विनष्टं प्रासादं, तेन सा निष्काशिता, अन्यः प्रासादः कारितः, अन्या भार्याऽऽनीता, भणिता च–यद्येष प्रासादो विनङ्क्ष्यति तदा तेऽहं नास्ति, एवं भणित्वा दिग्यात्रायै गतः, साऽपि तस्य महिला तं प्रासादं सर्वादरेण त्रिसन्ध्यमवलोकयति, यत्किञ्चित्तत्र काष्ठकर्मणि लेप्यकर्मणि चित्रकर्मणि प्रासादे वा राज्यादि पश्यति तत् संस्थापयति किञ्चिद्दत्वा, ततः स प्रासादः तादृश एव तिष्ठति, वणिजाऽऽगतेन दृष्टः, तुष्टेन सर्वस्य गृहस्य स्वामिनी कृता, विपुलभोगसमन्वागता जाता, इतराऽशनवसनरहिताऽत्यन्तदुःखभागिनी जाता, एषा द्रव्यपरिचरणा, भावे दृष्टान्तस्योपनयः–वणिक्स्थानीयेनाचार्येण

प्रत सूत्रांक [१..]

दीप अनुक्रम [१०..]

आवश्यक-हारिभ-द्रीया ॥५५५॥

४ प्रतिक्र-मणा० प्र-तिचरणा-यां प्रासादः परिहरणा-यां दुग्ध-घटः ॥५५५॥

[1]पासायरत्थाणीओ संजमो पडिचरियव्वोत्ति आणत्तो, एगेण साहुणा सातासुक्खबहुलेण ण पडिचरिओ, सो वाणिगिणीव संसारे दुक्खभायणं जाओ, जेण पडिचरिओ अक्खओ संजमपासाओ धरिओ सो णेव्वाणसुहभागी जाओ २। इयाणिं परिहरणाए दुद्धकाएण दिट्ठंतो भण्णइ–दुद्धकाओ नाम दुद्धघडगस्सकावोडी, एगो कुलपुत्तो, तस्स दुवे भगिणीओ अण्णगामेसु वसंति, तस्स धूया जाया, भगिणीण पुत्ता तेसु वयपत्तेसु ताओ दोवि भगिणीओ तस्स समगं चेव वरियाओ आगयाओ, सो भणइ–दुण्ह अत्थीण कयरं पियं करेमि ?, वच्चेह पुत्ते पेसह, जो खेयण्णो तस्स दाहामित्ति, गयाओ, पेसिया, तेण तेसिं दोण्हवि घडगा समप्पिया, वच्चह गोउलाओ दुद्धं आणेह, ते कावोडीओ गहाय गआ, ते दुद्धघडए भरिऊण कावोडीओ गहाय पडिनियत्ता, तत्थ दोण्णि पंथा–एगो परिहारेण सो य समो, बितिओ उज्जुएण, सो पुण विसमखाणुकंटगबहुलो, तेसिं एगो उज्जुएण पट्ठिओ, तस्स अक्खुडियस्स एगो घडो भिण्णो, तेण पडंतेण बिइओवि भिण्णो, सो विरिक्कओ गओ

१ प्रासादस्थानीयः संयमः प्रतिचरितव्य इत्याज्ञप्तः, एकेन साधुना सातासौख्यबहुलेन न प्रतिचरितः, स वणिग्जायेव संसारे दुःखभाजनं जातः, येन प्रतिचरितोऽक्षतः संयमप्रासादो धृतः स निर्वाणसुखभागी जातः २। इदानीं परिहरणायां दुग्धकायेन दृष्टान्तो भण्यते–दुग्धकायो नाम दुग्धघटकस्य कापोती, एकः कुलपुत्रः, तस्य द्वे भगिन्यौ अन्यग्रामयोर्वसतः, तस्य दुहिता जाता, भगिन्योः पुत्रौ तयोः वयः प्राप्तयोः ते द्वे अपि भगिन्यौ तेन सममेव वरिके आगते, स भणति–द्वयोरर्थिनोः कतरं प्रियं करोमि ?, व्रजतं पुत्रौ प्रेषयतं, यः खेदज्ञस्तस्मै दास्यामीति, गते, प्रेषितौ, तेन ताभ्यां द्वाभ्यामपि घटौ समर्पितौ, व्रजतं गोकुलाद्दुग्धमानयतं, तौ कापोत्यौ गृहीत्वा गतौ, तौ दुग्धघटौ भृत्वा कापोत्यौ गृहीत्वा प्रतिनिवृत्तौ, तत्र द्वौ पन्थानौ–एकः परिहारेण (भ्रमणेन), स च समः, द्वितीय ऋजुकेन, स पुनर्विषमस्थाणुकण्टकबहुलः, तयोरेक ऋजुना प्रस्थितः, तस्यास्फालितस्य (स्य स्खलितस्य) एको घटो भिन्नः, तेन पतता द्वितीयोऽपि भिन्नः, स विरिक्तो गतो

प्रत सूत्रांक [१..]

दीप अनुक्रम [१०..]

माउलगसगासं, विइओ समेण पंथेण सणियं २ आगओ अक्खुयाए दुद्धकावोडीए, एयस्स तुट्ठो, इयरो भणिओ–न मए भणियं को चिरेण लहुं वा एहित्ति, मए भणियं–दुद्धं आणेहत्ति, जेण आणीयं तस्स दिण्णा, इयरो धाडिओ, एसा दव्वपरिहणा, भावे दिट्ठंतस्स उवणओ–कुलपुत्तत्थाणीएहिं तित्थगरेहिं आणत्तं दुद्धत्थाणीयं चारित्तं अविराहंतेहिं कण्णगत्थाणीया सिद्धी पावियव्वत्ति, गोउलत्थाणीओ मणूसभवो, तओ चरित्तस्स मग्गो उज्जुओ जिणकप्पियाण, ते भगवंतो संघयणधिइसंपण्णा दव्वखित्तकालभावावइविसमंपि उस्सग्गेणं वच्चंति, वंको थेरकप्पियाण सउस्सग्गाववओऽसमो मग्गो, जो अजोग्गो जिणकप्पस्स तं मग्गं पडिवज्जइ सो दुद्धघडट्ठाणियं चारित्तं विराहिऊण कण्णगत्थाणीयाए सिद्धीए अणाभागी भवइ, जो पुण गीयत्थो दव्वखित्तकालभावावईसु जयणाए जयइ सो संजमं अविराधित्ता अचिरेण सिद्धिं पावेइ ३। इयाणिं वारणाए विसभोयणतलाएण दिट्ठंतो–जहा एगो राया परचक्कागमं अदूरागयं च जाणेत्ता गामेसु

---

१ मातुलसकाशं, द्वितीयः समेन पथा शनैः २ आगतोऽक्षतया दुग्धकापोत्या, एतस्मै तुष्टः, इतरो भणितः–न मया भणितं कश्चिरेण लघु वाऽऽयातीति, मया भणितं–दुग्धमानयतमिति, येनानीतं तस्मै दत्ता, इतरो धाटितः, एषा द्रव्यपरिहरणा, भावे दृष्टान्तस्योपनयः–कुलपुत्रस्थानीयैः तीर्थकरैराज्ञप्तं दुग्धस्थानीयं चारित्रमविराधयद्भिः कन्यकास्थानीया सिद्धिः प्राप्तव्येति, गोकुलस्थानीयो मनुष्यभवः, ततश्चरित्रस्य मार्गे ऋजुको जिनकल्पिकानां, ते भगवन्तः संहननधृतिसंपन्ना द्रव्यक्षेत्रकालभावापद्विषममपि उत्सर्गेण व्रजन्ति, वक्रः स्थविरकल्पिकानां सोत्सर्गापवादः असमो मार्गः, योऽयोग्यो जिनकल्पस्य तं मार्गं प्रतिपद्यते स दुग्धघटस्थानीयं चारित्रं विराध्य कन्यकास्थानीयायाः सिद्धेरनाभागी भवति, यः पुनर्गीतार्थो द्रव्यक्षेत्रकालभावापत्सु यतनया यतते स संयमं अविराध्याचिरेण सिद्धिं प्राप्नोति ३। इदानीं वारणायां विषभोजनतटाकेन दृष्टान्तः–यथैको राजा परचक्रागममदूरागतं च ज्ञात्वा ग्रामेषु

प्रत सूत्रांक [१..]

दीप अनुक्रम [१०..]

आवश्यक-हारिभ-द्रीया

॥५५६॥

४ प्रतिक्र-मणा० वारणायां विषभोजनं निवृत्तौ कन्या

दुद्धदधिभक्खभोज्जाइसु विसं पक्खिवावेइ, जाणि य मिट्ठपाणियाणि वावितलागाईणि तेसु य जे य रुक्खा पुप्फफलोवगा ताणिवि विसेण संजोएऊण अवक्कंतो, इयरो राया आगओ, सो तं विसभावियं जाणिऊण घोसावेइ खंधावारे-जो एयाणि भक्खभोज्जाणि तलागाईसु य मिट्ठाणि पाणियाणि एएसु य रुक्खेसु पुप्फफलाणि मिट्ठाणि उवभुंजइ सो मरइ, जाणि एयाणि खारकडुयाणि दुणापाणियाणि उवभुंजेह, जे तं घोसणं सुणित्ता विरया ते जीविया, इयरे मता, एसा दव्ववारणा भाववारणा (ए)दिट्ठंतस्स उवणओ-एवमेव रायत्थाणीएहिं तित्थगरेहिं विसन्नपाणसरिसा विसयत्ति काऊण वारिया, तेसु जे पसत्ता ते बहूणि जम्मणमरणाणि पाविहिंति, इयरे संसाराओ उत्तरंति ४। इयाणिं णियत्तीए दोण्हं कण्णयाणं पढमाए कोलियकण्णाए दिट्ठंतो कीरइ-एगम्मि णयरे कोलिओ, तस्स सालाए धुत्ता वुणंति, तत्थेगो धुत्तो महुरेण सरेण गायइ, तस्स कोलियस्स धूया तेण समं संपलग्गा, तेणं भण्णइ-नस्सामो जाव ण णज्जामुत्ति, सा भणइ-मम वयंसिया रायकण्णगा,

१ दुग्धदधिभक्ष्यभोज्यादिषु विषं प्रक्षेपयति, यानि च मिष्टपानीयानि वापीतटाकादीनि तेषु च ये च वृक्षाः पुष्पफलोपगास्तान्यपि विषेण संयोज्यापक्रान्तः, इतरो राजाऽऽगतः, स तं विषभावितं ज्ञात्वा घोषयति स्कन्धावारे-य एतानि भक्ष्यभोज्यानि तडाकादिषु च मिष्टानि पानीयानि एतेषु च वृक्षेषु पुष्पफलानि मिष्टानि उपभुङ्क्ते स म्रियते, यान्येतानि क्षारकटुकानि दुर्गन्धपानीयानि (तानि) उपभुङ्ग्ध्वं, ये तां घोषणं श्रुत्वा विरतास्ते जीविताः, इतरे मृताः, एषा द्रव्यवारणा, भाववारणा, दृष्टान्तस्योपनयः-एवमेव राजस्थानीयैस्तीर्थकरैर्विषान्नपानसदृशा विषया इतिकृत्वा वारिताः, तेषु ये प्रसक्तास्ते बहूनि जन्ममरणानि प्राप्स्यन्ति, इतरे संसारात् उत्तरन्ति ४। इदानीं निवृत्तौ द्वयोः कन्ययोः प्रथमया कोलिककन्यया दृष्टान्तः क्रियते-एकस्मिन्नगरे कोलिकः, तस्य शालायां धूर्ता वयन्ति, तत्रैको धूर्तो मधुरेण स्वरेण गायति, तस्य कोलिकस्य दुहिता तेन समं संप्रलग्ना, तेन भण्यते-नश्यावो यावन्न ज्ञायावहे इति, सा भणति-मम वयस्या राजकन्या. ॥५५६॥

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्तिः

तीए समं संगारो जहा दोहिवि एक्कभज्जाहि होयव्वंति, तोऽहं तीए विणा ण वच्चामि, सो भणइ–सावि आणिज्जउ, तीए कहियं, पडिस्सुयं चऽणाए, पहाविया महल्लए पच्चूसे, तत्थ केणवि उग्गीयं–'जइ फुल्ला कणियारया चूयय ! अहिमासमयंमि घुट्ठंमि । तुह न खमं फुल्लेउं जइ पच्चंता करिंति डमराइं ॥ १ ॥' रूपकम्, अस्य व्याख्या—यदि पुष्पिताः के ?–कुत्सिताः कर्णिकाराः–वृक्षविशेषाः कर्णिकारकाः चूत एव चूतकः, संज्ञायां कन्, तस्यामन्त्रणं हे चूतक ! अधिकमासे 'घोषिते' शब्दिते सति तव 'न क्षमं' न समर्थं न युक्तं पुष्पितुं, यदि 'प्रत्यन्तका' नीचकाः 'कुत्सायामेव कन्' कुर्वन्ति 'डमरकानि' अशोभनानि, ततः किं त्वयाऽपि कर्तव्यानि ?, नैष सतां न्याय इति भावार्थः ॥१॥ एवं च सोउं रायकण्णा चिंतेइ–एस चूओ वसंतेण उवालद्धो, जइ कणियारो रुक्खाण अंतिमो पुप्फिओ ततो तव किं पुप्फिएण उत्तिमस्स ?, ण तुमे अहियमासघोसणा सुया ?, अहो ! सुट्ठु भणियं–जइ कोलिगिणी एवं करेइ तो किं मएवि कायव्वं ?, रयणकरंडओ वीसरिउत्ति एएण छलेण पडिनियत्ता, तद्दिवसं च सामंतरायपुत्तो दाइयविप्परद्धो तं रायाणं सरणमुवगओ, रण्णा य से सा दिण्णा, इट्ठा जाया, तेण ससुरसमग्गेण दाइए णिज्जिऊण रज्जं लद्धं, सा से महादेवी जाया, एसा दव्वणियत्ती, भाव-

---

१ तया समं संकेतो यथा द्वाभ्यामप्येकभार्याभ्यां भवितव्यमिति, तदहं तया विना न व्रजामि, स भणति–साऽप्यानीयतां, तया कथितं, प्रतिश्रुतं चानया, प्रधाविता महति प्रत्यूषे, तत्र केनाप्युद्गीतं– । एवं च श्रुत्वा राजकन्या चिन्तयति–एष चूतो वसन्तेनोपालब्धः, यदि कर्णिकारो वृक्षाणामन्त्यः पुष्पितस्ततस्तव किं पुष्पितेनोत्तमस्य ? न त्वयाऽधिकमासघोषणा श्रुता ?, अहो सुष्ठु भणितं–यदि कोलिकी एवं करोति तदा किं मयाऽपि कर्त्तव्यं ?, रत्नकरण्डको विस्मृत इत्येतेन छलेन प्रतिनिवृत्ता, तद्दिवसे च सामन्तराजपुत्रो दायादधाटितस्तं राजानं शरणमुपगतः, राज्ञा च तस्मै सा दत्ता, इष्टा जाता, तेन श्वशुरसमग्रेण दायादान् निर्जित्य राज्यं लब्धं, सा तस्य महादेवी जाता, एषा द्रव्यनिवृत्तिः।

प्रत सूत्रांक [१..] दीप अनुक्रम [१०..]

आवश्यक-हारिभद्रीया ॥५५७॥

णियत्तीए दिट्ठंतस्स उवणओ–कण्णगत्थाणीया साहू धुत्तत्थाणीएसु विसएसु आसज्जमाणा गीतत्थाणीएण आयरिएण जे समणुसिट्ठा णियत्ता ते सुगइं गया, इयरे दुग्गइं गया। बितियं उदाहरणं दव्वभावणियत्तणे–एगंमि गच्छे एगो तरुणो गहणधारणासमत्थोत्तिकाउं तं आयरिया वट्टाविंति, अण्णया सो असुहकम्मोदएण पडिगच्छामित्ति पहाविओ, णिगच्छंतो य गीतं सुणेइ, तेण मंगलनिमित्तं उवओगो दिन्नो, तत्थ य तरुणा सूरजुवाणा इमं साहिणियं गायंति–'तरियव्वा य पइण्णिँया मरियव्वं वा समरे समत्थएणं। असरिसजणउल्लावा न हु सहियव्वा कुलपसूयएणं ॥ १ ॥' अस्याक्षरगमनिका 'तरितव्या वा' निर्वोढव्या वा प्रतिज्ञा मर्तव्यं वा समरे समर्थेन, असदृशजनोल्लापा नैव सोढव्याः कुले प्रसूतेन, तथा केनचिन्महात्मनैतत्संवाद्युक्तं—'लज्जां गुणौघजननीं जननीमिवाऽऽर्यामत्यन्तशुद्धहृदयामनुवर्तमानाः। तेजस्विनः सुखमसूनपि संत्यजन्ति, सत्यस्थितिव्यसनिनो न पुनः प्रतिज्ञाम् ॥ १ ॥' गीतियाए भावत्थो जहा–केइ लद्धजसा सामिसंमाणिया सुभडा रणे पहारओ विरया भज्जमाणा एगेण सपक्खजसावलंबिणा अप्फालिया–ण सोहिस्सह पडिप्पहरा गच्छमाणत्ति, तं सोउं पडिनियत्ता, ते य पट्ठिया पडिया पराणीए, भग्गं च तेहिं पराणीयं, सम्माणिया य पहुणा, पच्छा

४ प्रतिक्रमणा० निवृत्तौ कन्या

॥५५७॥

१ भावनिवृत्तौ दृष्टान्तस्योपनयः–कन्यास्थानीयाः साधवः धूर्तस्थानीयेषु विषयेषु आसजमाना गीतस्थानीयेनाचार्येण ये समनुशिष्टा निवृत्तास्ते सुगतिं गताः, इतरे दुर्गतिं गताः। द्वितीयमुदाहरणं द्रव्यभावनिवर्त्तने–एकस्मिन् गच्छे एकस्तरुणो ग्रहणधारणासमर्थ इतिकृत्वा तमाचार्या वर्त्तयन्ति, अन्यदा सोऽशुभकर्मोदयेन प्रतिगच्छामीति प्रधावितः, निर्गच्छंश्च गीतं शृणोति, तेन मङ्गलनिमित्तमुपयोगो दत्तः, तत्र च तरुणाः शूरयुवान इमां गीतिकां गायन्ति–गीतिकाया भावार्थो यथा–केचिल्लब्धयशसः स्वामिसन्मानिताः सुभटा रणे प्रहारतो विरता नश्यन्त एकेन स्वपक्षयशोऽवलम्बिना स्खलिताः–न शोभिष्यथ प्रतिप्रहारं गच्छन्त इति, तच्छ्रुत्वा प्रतिनिवृत्ताः, ते च प्रस्थिताः पतिताः परानीके, भग्नं च तैः परानीकं, सन्मानिताश्च प्रभुणा, पश्चात्. * णा.

प्रत
सूत्रांक
[१..]

दीप
अनुक्रम
[१०..]

सुभडवायं सोभंति वहमाणा, एतं गीयत्थं सोउं तस्स साहुणो चिंता जाया–एमेव संगामत्थाणीया पव्वज्जा, जइ तओ पराभज्जामि तो असरिसजणेण हीलिस्सामि–एस समणगो पच्चोगलिओत्ति, पडिनियत्तो आलोइयपडिक्कंतेण आयरियाण इच्छा पडिपूरिया ५। इयाणिं णिंदाए दोण्हं कणगाणं विइया कण्णगा चित्तकरदारिया उदाहरणं कीरइ–एगंमि णयरे राया, अण्णेसिं राइणं चित्तसभा अत्थि मम णत्थित्ति जाणिऊण महइमहालियं चित्तसभं कारेऊण चित्तकरसेणीए समप्पेइ, ते चित्तेन्ति, तत्थेगस्स चित्तगरस्स धूया भत्तं आणेइ, राया य रायमग्गेण आसेण वेगप्पमुक्केण एइ, सा भीया पलाया किहमवि फिडिया गया, पियावि से ताहे सरीरचिंताए गओ, तीए तत्थ कोट्टिमे वण्णएहिं मोरपिच्छं लिहियं, रायावि तत्थेव एगागिओ चंक्कमणियाओ करेति, सावि अण्णचित्तेण अच्छइ, राइणो तत्थ दिट्ठी गया, गिण्हामित्ति हत्थो पसारिओ, णहा दुक्खाविया, तीए हसियं, भणियं चऽणाए–तिहि पाएहिं आसंदओ ण ठाइ जाव चउत्थं पायं

---

१ शोभन्ते सुभटवादं वहमानाः, एनं गीतिकार्थं श्रुत्वा तस्य साधोश्चिन्ता जाता–एवमेव संग्रामस्थानीया प्रव्रज्या, यदि ततः पराभज्ये तदाऽसदृशजनेन हील्ये–एष श्रमणकः प्रत्यवगलित इति, प्रतिनिवृत्त आलोचितप्रतिक्रान्तेनाचार्याणामिच्छा प्रतिपूरिता ५। इदानीं निन्दायां द्वयोः कन्ययोर्द्वितीया कन्यका चित्रकरदारिकोदाहरणं क्रियते–एकस्मिन् नगरे राजा, अन्येषां राज्ञां चित्रसभाऽस्ति मम नास्तीति ज्ञात्वा महातिमहालयां चित्रसभां कारयित्वा चित्रकरश्रेण्यै समर्पयति, ते चित्रयन्ति, तत्रैकस्य चित्रकरस्य दुहिता भक्तमानयति, राजा च राजमार्गेणाश्वेन धावता याति, सा भीता पलायिता कथमपि छुटिता गता, पिताऽपि तस्यास्तदा शरीरचिन्तायै गतः, तया तत्र कुट्टिमे वर्णकैर्मयूरपिच्छं लिखितं, राजाऽपि तत्रैवैकाकी चङ्क्रमणिकाः करोति, साप्यन्यचित्तेन तिष्ठति, राज्ञस्तत्र दृष्टिर्गता, गृह्णामीति हस्तः प्रसारितः, नखा दुःखिताः, तया हसितं, भणितं चानया–त्रिभिः पादैरासन्दको न तिष्ठति यावच्चतुर्थं पादं.* गयागयाइं प्र०.

प्रत सूत्रांक [१..]

दीप अनुक्रम [१०..]

आवश्यक-हारिभ-द्रीया

॥५५८॥

४ प्रतिक्र-मणा० निन्दायां-चित्रकृ-त्सुता

मग्गंतीए तुमंसि लद्धो, राया पुच्छइ–किहत्ति?, सा भणइ–अहं च पिउणो भत्तं आणेमि, एगो य पुरिसो रायमग्गे आसेण वेगप्पमुक्केण एइ, ण से विण्णाणं किहवि कंचि मारिज्जामित्ति, तत्थाहं सएहिं पुण्णेहिं जीविया, एस एगो पाओ, बिइओ पाओ राया, तेण चित्तकराणं चित्तसभा विरिक्का, तत्थ इक्किक्के कुडुंबे बहुआ चित्तकरा मम पिया इक्कओ, तस्सवि तत्तिओ चेव भागो दिन्नो, तइओ पाओ मम पिया, तेण राउलियं चित्तसभं चित्तंतेण पुव्वविढत्तं णिट्ठवियं, संपइ जो वा सो वा आहारो सो य सीयलो केरिसो होइ?, तो आणीए सरीरचिंताए जाइ, राया भणइ–अहं किह चउत्थो पाओ?, सा भणइ–सव्वोवि ताव चिंतेइ–कुतो इत्थ आगमो मोराणं?, जइवि ताव आणितिल्लयं होज्ज तोवि ताव दिट्ठीए णिरिक्खिज्जइ, सो भणइ–सच्चयं मुक्खो, राया गओ, पिउणा जिमिए सा घरं गता, रण्णा वरगा पेसिया, तीए पियामाया भणिया–देह ममंति, भण्णइ य अम्हे दरिद्दाणि किह रण्णो सपरिवारस्स पूयं काहामो? दव्वस्स से रण्णाघरं भरियं, दासी

१ मार्गयन्त्या त्वमसि लब्धः, राजा पृच्छति–कथमिति?, सा भणति–अहं च पित्रे भक्तमानयामि (यन्त्यभूत् तदा) एकश्च पुरुषो राजमार्गेऽश्वेन धावताऽऽयाति (यान्नभूत्), न तस्य विज्ञानं कथमपि कञ्चित् मारयिष्यामीति, तत्राहं स्वकैः पुण्यैर्जीविता, एष एकः पादः, द्वितीयः पादो राजा, तेन चित्रकरेभ्यश्चित्रसभा विरिक्ता, तत्रैकैकस्मिन् कुटुम्बे बहुकाश्चित्रकरा मम पितैकाकी, तस्मायपि तावानेव भागो दत्तः, तृतीयः पादो मम पिता, तेन राजकुलीनां चित्रसभां चित्रयता पूर्वार्जितं निष्ठितं, सम्प्रति यो वा स वाऽऽहारः स च शीतलः कीदृशो भवति?, त(य)दाऽऽनीते शरीरचिन्तायै याति, राजा भणति–अहं कथं चतुर्थः पादः, सा भणति–सर्वोऽपि तावच्चिन्तयति–कुतोऽत्रागमो मयूराणां?, यद्यपि तावदानीतो भवेत् तदापि तावद्दृष्ट्या निरीक्ष्यते, स भणति–सत्यं मूर्खः, राजा गतः, पितरि जिमिते सा गृहं गता, राज्ञा वरकाः प्रेषिताः, तस्याः मातापितरौ भणितौ–दत्तं मह्यमिति; भणितवन्तौ–वयं दरिद्राः कथं राज्ञः सपरिवारस्य पूजां कुर्मः?, द्रव्येण तस्य राज्ञा गृहं भृतं, दासी

॥५५८॥

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्ति:

प्रत सूत्रांक [१..] दीप अनुक्रम [१०..]

थऽणाए सिक्खाविया–ममं रायाणं संवाहिंती अक्खाणयं पुच्छिज्जासि जाहे राया सोउकामो, जा सामिणी राया पवट्टइ किंचि ताव अक्खाणयं कहेहि, भणइ, कहेमि, एगस्स धूया, अलंघणिज्जा य जुगवं तिन्नि वरगा आगया, दक्खिण्णेणं माति-भातिपितीहि तिण्हवि दिण्णा, *जणत्ताओ आगयाओ, सा य रत्तिं अहिणा खइया मया, एगो तीए समं दड्ढो, एगो अण-सणं वइट्ठो, एगेण देवो आराहिओ, तेण संजीवणो मंतो दिण्णो, उज्जीवाविया, ते तिण्णिवि उवट्ठिया, कस्स दायव्वा ?, किं सक्का एक्का दोण्हं तिण्हं वा दाउं ? तो अक्खाहत्ति, भणइ–निद्दाइया सुवामि, कल्लं कहेहामि, तस्स अक्खाणयस्स कोउहल्लेणं बितियदिवसे तीसे चेव वारो आणत्तो, ताहे सा पुणो पुच्छइ, भणइ–जेण उज्जियाविया सो पिया, जेण समं उज्जीवाविया सो भाया, जो अणसणं बइट्ठो तस्स दायव्वत्ति, सा भणइ–अण्णं कहेहि, सा भणइ–एगस्स राइणो सुवण्ण-कारा भूमिघरे मणिरयणकउज्जोया अणिग्गच्छंता अंतेउरस्स आभरणगाणि घडाविज्जंति, एगो भणइ–का उण वेला वट्टइ ?,

---

१ चानया शिक्षिता–मां राजानं संवाहयन्ती पृच्छेर्यदा राजा स्वपितुकामः, यावत्स्वामिनि! राजा प्रवर्त्तते किञ्चित्तावदाख्यानकं कथय, भणति–कथयामि, एकस्य दुहिता, अलङ्घनीयाश्च युगपत्त्रयो वरका आगताः, दाक्षिण्येन मातृभ्रातृपितृभिस्त्रिभ्योऽपि दत्ता, जनता आगताः, सा च रात्रावहिना दष्टा मृता, एकस्तया समं दग्धः, एकोऽनशनमुपविष्टः, एकेन देव आराद्धः, तेन संजीवनो मन्त्रो दत्तः, उज्जीविता, ते त्रयोऽपि उपस्थिताः, कस्मै दातव्या ?, किं शक्या एका द्वाभ्यां त्रिभ्यो वा दातुं, तदाख्याहि, भणति–निद्राणा स्वपीमि, कल्ये कथयिष्यामि, तस्याख्यानिकस्य कौतूहलेन द्वितीयदिवसे तस्यायेव वारो दत्तः, तदा सा पुनः पृच्छति, भणति–येनोज्जीविता स पिता, येन सममुज्जीविता स भ्राता, योऽनशनं प्रविष्टस्तस्मै दातव्येति, सा भणति–अन्यद् कथय, सा भणति–एकस्य राज्ञः सुवर्णकारा भूमिगृहे मणिरत्नकृतोद्योता अनिर्गच्छन्तोऽन्तःपुरात् आभरणकानि कुर्वन्ति, एको भणति–का पुनर्वेला वर्तते ?. *जण्णत्ताओ प्र०. + पइट्ठो प्र०.

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्ति:

प्रत सूत्रांक [१..] दीप अनुक्रम [१०..]

॥५५९॥

[1]एगो भणइ–रत्ती वट्टइ, सो कहं जाणइ ?, जो ण चंदं ण सूरं पिच्छइ, तो अक्खाहि, सा भणइ–णिद्दाइया, बितियदिणे कहेइ–सो रत्तिअंधत्तणेण जाणइ, अण्णं अक्खाहित्ति, भणइ–एगो राया तस्स दुवे चोरा उवट्ठिया, तेण मंजूसाए पक्खिविऊण समुद्दे छूढा, ते किच्चिरस्सवि उच्छलिया, एगेण दिट्ठा मंजूसा, गहिया, विहाडिया, मणुस्से पेच्छइ, ताहे पुच्छिया–कइत्थो दिवसो छूढाणं ?, एगो भणइ–चउत्थो दिवसो, सो कहं जाणइ ?, तहेव बीयदिणे कहेइ–तस्स चाउत्थजरो तेण जाणेइ, अण्णं *कहेइ दो सवत्तिणीओ, एक्काए रयणाणि अत्थि, सा इयरीए ण विस्संभइ मा हरेज्जा, तओऽणाए जत्थ णिक्खमंती पविसंती य पिच्छइ तत्थ घडए छोढूण ठवियाणि, ओलित्तो घडओ, इयरीए विरहं णाउं हरिउं रयणाणि तहेव य घडओ ओलित्तो, इयरीए णायं हरियाणित्ति, तो कहं जाणइ, उलित्तए हरिताणित्ति ?, बिइए दिवसे भणइ–सो कायमओ घडओ, तत्थ ताणि पडिभासंति हरिएसु णत्थि, अण्णं कहेहि, भणइ–एगस्स रण्णो चत्तारि पुरिसरयणाणि

॥५५९॥

---

१ एको भणति–रात्रिर्वर्त्तते, स कथं जानाति ? न यश्चन्द्रं न सूर्यं प्रेक्षते, तदाख्याहि, सा भणति–निद्रिता, द्वितीयदिवसे कथयति–स रात्र्यन्धत्वेन जानाति, अन्यदाख्याहीति, भणति–एको राजा तस्मै द्वौ चौरावुपस्थापितौ, तेन मञ्जूषायां प्रक्षिप्य समुद्रे क्षिप्तौ, तौ कियच्चिरेणाप्युच्छलितौ, एकेन दृष्टा मञ्जूषा, गृहीता, उद्घाटिता, मनुष्यौ प्रेक्षते, तदा पृष्टौ–कतिथो दिवसः क्षिप्तयोः ?, एको भणति–चतुर्थो दिवसः, स कथं जानाति?, तथैव द्वितीयदिने कथयति–तस्य चातुर्थज्वरस्तेन जानाति, अन्यत् कथयति–द्वे सपत्न्यौ, एकस्या रत्नानि सन्ति, सा इतरस्यै न विश्रम्भति मा हार्षीत्, ततोऽनया यत्र निष्कामन्ती प्रविशन्ती च प्रेक्षते तत्र घटे क्षिप्त्वा स्थापितानि, अवलिप्तो घटकः, इतरयाऽपि रहो ज्ञात्वा हृत्वा रत्नानि तथैव च घटकोऽवलिप्तः, इतरया ज्ञातं हृतानीति, तत् कथं जानाति ? अवलिप्ते हृतानीति, द्वितीयदिवसे कथयति–स काचमयो घटकः, तत्र तानि प्रतिभासन्ते हृतेषु न सन्ति, अन्यत् कथय–एकस्य राज्ञश्चत्वारि पुरुषरत्नानि. * कहेहि प्र०.

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्ति:

प्रत सूत्रांक [१..] दीप अनुक्रम [१०..]

'तं०–'नेमित्ती रहकारो सहस्सजोही तहेव विज्जो य । दिण्णा चउण्ह कण्णा परिणीया नवरमेकेण ॥ २ ॥' कथं ?, तस्स रण्णो अइसुंदरा धूया, सा केणवि विज्जाहरेण हडा, ण णज्जइ कुओऽवि पिक्खिया, रण्णा भणियं–जो कण्णगं आणेइ तस्सेव सा, तओ णेमित्तिएण कहियं–अमुगं दिसं णीया, रहकारेण आगासगमणो रहो कओ, तओ चत्तारिवि तं विलग्गिऊण पहाविया, अब्भि(ब्भि)ओ विज्जाहरो, सहस्सजोहिणा सो मारिओ, तेणवि मारिज्जंतेण दारियाए सीसं छिन्नं, विज्जेण संजीवणोसहीहिं उज्जियाविया, आणीया घरं, राइणा चउण्हवि दिण्णा, दारिया भणइ–किह अहं चउण्हवि होमि ?, तो अहं अग्गिं पविसामि, जो मए समं पविसइ तस्साहं, एवं होउत्ति, तीए समं को अग्गिं पविसइ ?, कस्स *दायव्वा ?, बितियदिणे भणइ–णिमित्तिणा णिमित्तेण णायं जहा एसा ण मरइत्ति तेण अब्भुवगयं, इयरेहिं णिच्छियं, दारियाए चियट्ठाणस्स हेट्ठा सुरंगा खाणिया, तत्थ ताणि चियगाएणुवण्णाणि कट्ठाणि दिण्णाणि, अग्गी रइओ जाहे ताहे

---

१ तद्यथा–नैमित्तिको रथकारः सहस्रयोधी तथैव वैद्यश्च । दत्ता चतुर्भ्यः कन्या परिणीता नवरमेकेन ॥ १ ॥ कथं ?, तस्य राज्ञोऽतिसुन्दरा दुहिता, सा केनापि विद्याधरेण हृता, न ज्ञायते कुतोऽपीक्षिता, राज्ञा भणितं–यः कन्यकामानयति तस्यैव सा, ततो नैमित्तिकेन कथितं–अमूं दिशं नीता, रथकारेण आकाशगमनो रथः कृतः, ततश्चत्वारोऽपि तं विलग्य प्रधाविताः, अभ्यागतो विद्याधरः, सहस्रयोधिना स मारितः, तेनापि मार्यमाणेन दारिकायाः शीर्षं छिन्नं, वैद्येन संजीवन्योषध्योज्जीविता, आनीता गृहं, राज्ञा चतुर्भ्योऽपि दत्ता, दारिका भणति–कथमहं चतुर्भ्योऽपि भवामि ?, तदहमग्निं प्रविशामि, यो मया समं प्रविशति तस्याहं, एवं भवत्विति, तया समं कोऽग्निं प्रविशति ?, कस्मै दातव्या ?, द्वितीयदिने भणति–नैमित्तिकेन निमित्तेन ज्ञातं यथैषा न मरिष्यतीति तेनाभ्युपगतं, इतरैर्नेष्टं, दारिकया चितास्थानस्याधस्तात् सुरङ्गा खानिता, तत्र तानि चितिकानुरूपवर्णानि काष्ठानि दत्तानि, अग्नी रचितो यदा तदा

* सा कण्णा दायव्वा प्र०.

प्रत सूत्रांक [१..] दीप अनुक्रम [१०..]

आवश्यक-हारिभद्रीया ||५६०||

४प्रतिक्रमणा० ६ निन्दायां चित्रकृद्दारिकोदा०

ताणि सुरंगाए णिस्सरियाणि, तस्स दिण्णा, अण्णं कहेहि, सा भणइ–एक्काए अविरइयाए पगयं जंतिआए कडगा मग्गिया, ताहे रूवएहिं बंधएण दिन्ना, इयरीए धूयाए आविद्धा, वत्ते पगए ण चेव अल्लिवेइ, एवं कइवयाणि वरिसाणि गयाणि, कडइत्तएहिं मग्गिया, सा भणइ–देमित्ति, जाव दारिया महंती भूया ण सक्केति अवणेउं, ताहे ताए कडइत्तिया भणिया–अण्णेवि रूवए देमि, मुयह, ते णिच्छंति, तो किं सक्का हत्था छिंदिउं ?, ताहे भणियं–अण्णे एरिसए चेव कडए घडावेउं देमो, तेऽवि णिच्छन्ति, तेच्चेव दायव्वा, कहं संठवेयव्वा ?, जहा य दारियाए हत्था ण छिंदिज्जंति, कहं तेसिमुत्तरं दायव्वं ?, आह–ते भणियव्वा–अम्हवि जइ ते चेव रूवए देह तो अम्हेवि ते चेव कडए देमो, एरिसाणि अक्खाणगाणि कहेंतीए दिवसे २ राया छम्मासे आणीओ, सवत्तिणीओ से छिद्दाणि मग्गंति, सा य चित्तकरदारिया ओवरणं पविसिऊण एक्काणिया चिराणए मणियए चीराणि य पुरओ काउं अप्पाणं णिंदइ–तुमं चित्तयरधूया सिया, एयाणि ते पितिसंतियाणि

---

१ तौ सुरङ्गया निसृतौ, तस्मै दत्ता, अन्यत्कथय, सा भणति–एकयाऽविरतिकया प्रकरणं यान्त्या कटकौ मार्गितौ, तदा रूप्यकैर्बन्धेन दत्तौ (लब्धौ,) इतरस्या दुहित्राऽऽविद्धौ, वृत्ते प्रकरणे नैव ददाति, एवं कतिपयानि वर्षाणि गतानि, कटकस्वामिभ्यां मार्गितौ, सा भणति–ददामीति, यावद्दारिका महतीभूता, न शक्येते निष्काशयितुं, तदा तया कटकस्वामिनौ भणितौ–अन्यानपि रूप्यकान् ददामि मुञ्चतं, तौ नेच्छतः, तत् किं शक्यौ हस्तौ छेत्तुं ? तदा (तया) भणितं–अन्यौ ईदृशौ चैव कटकौ कारयित्वा ददामि, तावपि नेच्छतः, तावेव दातव्यौ, कथं संस्थापयितव्यौ ?, यथा च दारिकाया हस्तौ न छिद्येते, कथं ताभ्यामुत्तरं दातव्यं, आह–तौ भणितव्यौ–अस्माकमपि यदि तानेव रूप्यकान् दत्तं तदा वयमपि तावेव कटकौ दद्मः, ईदृशान्याख्यानकानि कथयन्त्या दिवसे दिवसे राजा षण्मासान् आनीतः, सपत्न्यस्तस्याश्छिद्राणि मार्गयन्ति, सा च चित्रकरदारिका अपवरके प्रविश्यैकाकिनी चिरन्तनानि मणियुक्तानि च चीवराणि पुरतः कृत्वाऽऽत्मानं निन्दति-त्वं चित्रकरदुहिताऽऽसीः, एतानि ते पितृसत्कानि

||५६०||

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्ति:

प्रत सूत्रांक [१..]

दीप अनुक्रम [१०..]

वत्थाणि आभरणाणि य, इमा सिरी रायसिरी, अण्णाओ उदिओदियकुलवंसप्पसूयाओ रायधूयाओ मोत्तुं राया तुमं अणुवत्तइ ता गव्वं मा काहिसि, एवं दिवसे २ दारं ढक्केउं करेइ, सवित्तीहिं से कहवि णायं, ताओ रायाणं पायपडियाओ विण्णविंति–मारिज्जिहिसि एयाए कम्मणकारियाए, एसा उवरए पविसिउं कम्मणं करेति, रण्णा जोइयं सुयं च, तुट्ठेण से महादेविपट्टो बद्धो, एसा दव्वणिंदा, भावणिंदाए साहुणा अप्पा णिंदियव्वो–जीव ! तुमे संसारं हिंडंतेणं निरयतिरियगईसुं कहमवि माणुसत्ते सम्मत्तणाणचरित्ताणि लद्धाणि, जेसिं पसाएण सव्वलोयमाणणिज्जो पूयणिज्जो य, ता मा गव्वं काहिसि–जहा अहं बहुस्सुओ उत्तिमचरित्तो वत्ति ६। दव्वगरिहाए पइमारियाए दिट्ठंतो–एगो मरुओ अज्झावओ, तस्स तरुणी महिला, सा बलिवइसदेवं करिंती भणइ–अहं काकाणं बिभेमित्ति, तओ उवज्झायनिउत्ता वट्टा दिवसे २ धणुगेहिं गहिएहिं रक्खंति बलिवइसदेवं करेंतिं, तत्थेगो वट्टो चिंतेइ–ण एस मुद्धा जा कागाण बिभेइ, असङ्किया एसा, सो तं पडिचरइ, सा

---

१ वस्त्राण्याभरणानि च, इयं श्री राज्यश्रीः, अन्या उदितोदितकुलवंशप्रसूता राजसुता मुक्त्वा राजा त्वामनुवर्त्तते तद् गर्वं मा कृथाः, एवं दिवसे २ द्वारं स्थगयित्वा करोति, सपत्नीभिस्तस्याः तत् कथमपि ज्ञातं, ता राज्ञे पादपतिता विज्ञपयन्ति–मार्यसे एतया कार्मणकारिण्या, एषाऽपवरके प्रविश्य कार्मणं करोति, राज्ञा दृष्टं श्रुतं च, तुष्टेन तस्या महादेवीपट्टो बद्धः, एषा द्रव्यनिन्दा, भावनिन्दायां साधुनाऽऽत्मा निन्दितव्यः-जीव ! त्वया संसारं हिण्डमानेन नरकतिर्यग्गतिषु कथमपि मनुष्यत्वे सम्यक्त्वज्ञानचारित्राणि लब्धानि, येषां प्रसादेन सर्वलोकानां माननीयः पूजनीयश्च, तन्मा गर्वं कृथाः, यथाऽहं बहुश्रुत उत्तमचारित्रो वेति । द्रव्यगर्हायां पतिमारिकाया दृष्टान्तः–एको ब्राह्मणोऽध्यापकः, तस्य तरुणा महेला, सा वैश्वदेवबलिं कुर्वती भणति–अहं काकेभ्यो बिभेमीति, तत उपाध्यायनियुक्ताश्छात्रा दिवसे २ धनुर्भिः गृहीतैः रक्षन्ति वैश्वदेवबलिं कुर्वतीं, तत्रैकश्छात्रश्चिन्तयति–नैषा मुग्धा या काकेभ्यो बिभ्यति, अशङ्कितैषा स तां प्रतिचरति–सा

प्रत सूत्रांक [१..] दीप अनुक्रम [१०..]

यं णम्मताए परकूले पिंडारो, तेण समं संपलग्गिया, अण्णया तं घडएणं णम्मयं तरंती पिंडारसगासं वच्चइ, चोरा य उत्तरंति, तेसिमेगो सुंसुमारेण गहिओ, सो रडइ, ताए भण्णइ–अच्छि ढोकेहित्ति, ढोकिए मुक्को, तीए भणिओ–किं त्थ कुतित्थेण उत्तिण्णा ?, सो खंडिओ तं मुणिंतो चेव णियत्तो, सा य बितियदिवसे बलिं करेइ, तस्स य वट्टस्स रक्खणवारओ, तेण भण्णइ–'दिया कागाण बीहेसि, रत्तिं तरसि णम्मयं । कुतित्थाणि य जाणासि, अच्छिढोक्कणियाणि य ॥ १ ॥' तीए भण्णइ–किं करेमि ?, तुम्हारिसा मे णिच्छंति, सा तं उवयरइ, भणइ–ममं इच्छसुत्ति, सो भणइ–कहं उवज्झायस्स पुरओ ठाइस्संति ?, तीए चिंतियं–मारेमि एयं अज्झावयं तो मे एस भत्ता भविस्सइत्ति मारिओ, पेडियाए छुभेऊण अडवीए उज्झिउमारद्धा, वाणमंतरीए थंभिया, अडवीए भमित्तुमारद्धा, छुहं ण सक्केइ अहियासिउं, तं च से कुणिमं गलति उवरिं, लोगेण हीलिज्जइ–पइमारिया हिंडइत्ति, तीसे पुणरावत्ती जाया, ताहे सा भणइ–देह अम्मो ! पइमारियाए

१ च नर्मदायाः परकूले पिण्डारस्तेन समं संप्रलग्ना, अन्यदा तां घटकेन नर्मदां तरन्ती पिण्डारसकाशं व्रजति, चौराश्चोत्तरन्ति, तेषामेकः शिशुमारेण गृहीतः, स रटति, तया भण्यते–अक्षिणी छादयेति, छादिते मुक्तः, तया भणितः–किं कुतीर्थेनोत्तीर्णाः ?, स छात्रस्तं जानान (तद्बुवन्नेव) एव निवृत्तः, सा च द्वितीयदिवसे बलिं करोति, तस्य च छात्रस्य रक्षणवारकः, तेन भण्यते–दिवा काकेभ्यो बिभेषि रात्रौ तरसि नर्मदाम् । कुतीर्थानि च जानासि, अक्षिच्छादनानि च ॥ १ ॥ तया भण्यते–किं करोमि ?, त्वादृशा मां नेच्छन्ति, सा तमुपचरति, भणति–मामिच्छेति, स भणति–कथमुपाध्यायस्य पुरतः स्थास्यामीति?, तया चिन्तितं–मारयाम्येनमध्यापकं तदा ममैष भर्त्ता भविष्यतीति मारितः, पेटिका (मञ्जूषा) यां क्षिप्त्वाऽटव्यामुज्झितुमारब्धा, व्यन्तर्या स्तम्भिता, अटव्यां भ्रमितुमारब्धा, क्षुधं न शक्नोत्यध्यासितुं, तत्तस्य रुधिरं गिलत्युपरि, लोकेन हील्यते–पतिमारिका हिण्डते इति, तस्याः पुनरावृत्तिर्जाता, तदा सा भणति–दत्ताम्बाः ! पतिमारिकायै

* पंडारो प्र०.

प्रत सूत्रांक [१..]

दीप अनुक्रम [१०..]

भिंक्खंति, एवं बहुकालो गओ, अण्णया साहुणीणं पाएसु पडंतीए पडिया पेडिया, पवइया, एव गरहियवं जं दुच्चरियं ७। इयाणिं सोहीए वत्थागया दोण्णि दिट्ठंता, तत्थ वत्थदिट्ठंतो–रायगिहे सेणिओ राया, तेण खोमजुगलं णिल्लेवँगस्स समप्पियं, कोमुदियवारो य वट्टइ, तेण दोण्हं भज्जाणं अणुचरंतेण दिण्णं, सेणिओ अभओ य कोमुदीए पच्छण्णं हिंडंति, दिट्ठं, तंबोलेण सित्तं, आगयाओ, रयगेण अंबाडियाओ, तेण खारेण सोहियाणि, गोसे आणावियाणि, सब्भावं पुच्छिएण कहियं रयएण, एस दवविसोही, एवं साहुणावि अहीणकालमायरियस्स आलोएयवं, तेण विसोही कायवत्ति, अगओ जहा णमोक्कारे, एवं साहुणाऽवि णिंदाऽगएण अतिचारविसं ओसारेयवं, एसा विसुद्धी ॥ उक्तान्येकार्थिकानि, साम्प्रतं प्रत्यहं यथा श्रमणेनेयं कर्तव्या, तथा मालाकारदृष्टान्तं चेतसि निधाय प्रतिपादयन्नाह—

आलोवणमालुंचन वियडीकरणं च भावसोही य। आलोइयंमि आराहणा अणालोइए भयणा ॥ १२४३ ॥

व्याख्या—अवलोचनम् आलुञ्चनं विकटीकरणं च भावशुद्धिश्च, यथेह कश्चिन्निपुणो मालाकारः स्वस्यारामस्य सदा द्विसन्ध्यमवलोकनं करोति, किं कुसुमानि सन्ति ? उत नेति, दृष्ट्वा तेषामालुञ्चनं करोति, ग्रहणमित्यर्थः, ततो विकटी-

१ भिक्षामिति, एवं बहुः कालो गतः, अन्यदा साध्वीनां पादयोः पतन्त्याः पतिता पेटा, प्रव्रजिता, गर्हयितव्यं एवं यदुश्चरितं। इदानीं शुद्धौ वस्त्रागदौ द्वौ दृष्टान्तौ, तत्र वस्त्रदृष्टान्तः–राजगृहे श्रेणिको राजा, तेन क्षौमयुगलं रजकाय समर्पितं, कौमुदीमहश्च वर्त्तते, तेन द्वयोर्भार्ययोरनुचरता दत्तं, श्रेणिकोऽभयश्च कौमुद्यां प्रच्छन्नं हिण्डेते, दृष्टं, ताम्बूलेन सिक्तं, आगते, रजकेण निर्भर्त्सिते, तेन क्षारेण शोधिते, प्रत्यूषे आनायिते, सद्भावः पृष्टेन कथितः रजकेन, एषा द्रव्यविशुद्धिः, एवं साधुनाऽप्यहीनकालमाचार्यायालोचयितव्यं तेन विशुद्धिः कर्त्तव्येति, अगदो यथा नमस्कारे, एवं साधुनाऽपि निन्दाऽगदेनातिचारविषमपसारयितव्यम्। एषा विशुद्धिः ॥ * रयगस्स प्र०.

प्रत सूत्रांक [१..] दीप अनुक्रम [१०..]

करणं, विकसितमुकुलितार्द्धमुकुलितानां भेदेन विभजनमित्यर्थः, चशब्दात्पश्चाद्ग्रन्थनं करोति, ततो ग्राहका गृह्णन्ति, ततोऽस्याभिलषितार्थलाभो भवति, शुद्धिश्च चित्तप्रसादलक्षणा, अस्या एव विवक्षितत्वाद्, अन्यस्तु विपरीतकारी मालाकारस्तस्य न भवति, एवं साधुरपि कृतोपधिप्रत्युपेक्षणादिव्यापारः उच्चारादिभूमीः प्रत्युपेक्ष्य व्यापाररहितः कायोत्सर्गस्थोऽनुप्रेक्षते सूत्रं, गुरौ तु स्थिते दैवसिकावश्यकस्य मुखवस्त्रिकाप्रत्युपेक्षणादेः कायोत्सर्गान्तस्यावलोकनं करोति, पश्चादालुञ्चनं स्पष्टबुद्ध्याऽपराधग्रहणं, ततो विकटीकरणं गुरुलघूनामपराधानां विभजनं, चशब्दादालोचनाप्रतिसेवनाऽनुलोमेन ग्रन्थनं, ततो यथाक्रमं गुरोर्निवेदनं करोति, एवं कुर्वतो भावशुद्धिरुपजायते, औदयिकभावात् क्षायोपशमिकप्राप्तिरित्यर्थः, इत्थमुक्तेन प्रकारेण 'आलोचिते' गुरोरपराधजाले निवेदिते 'आराधना' मोक्षमार्गाखण्डना भवति, 'अनालोचिते' अनिवेदिते 'भजना' विकल्पना कदाचिद्भवति कदाचिन्न भवति, तत्रेत्थं भवति–'आलोयणापरिणओ सम्मं संपट्ठिओ गुरुसगासं। जइ अंतरावि कालं करिज्ज आराहओ तहवि ॥ १ ॥' एवं तु न भवति–'इड्ढीए गारवेणं बहुस्सुयमएण वावि दुच्चरियं। जो ण कहेइ गुरूणं न हु सो आराहओ भणिओ ॥ १ ॥' त्ति गाथार्थः ॥ १२४३ ॥ इत्थं चालोचनादिप्रकारेणोभयकालं नियमत एव प्रथमचरमतीर्थकरतीर्थे सातिचारेण निरतिचारेण वा साधुना शुद्धिः कर्तव्या, मध्यमतीर्थकरतीर्थेषु पुनर्नैवं, किन्त्वतिचारवत एव शुद्धिः क्रियत इति, आह च—

---

१ आलोचनापरिणतः सम्यक् संप्रस्थितो गुरुसकाशम्। यद्यन्तराऽपि कालं कुर्यादाराधकस्तथापि ॥ १ ॥ ऋद्ध्या गौरवेण बहुश्रुतमदेन वाऽपि दुश्चरितम्। यो न कथयति गुरुभ्यो नैव स आराधको भणितः ॥ १ ॥

प्रत सूत्रांक [१..]

दीप अनुक्रम [१०..]

सपडिक्कमणो धम्मो पुरिमस्स य पच्छिमस्स य जिणस्स। मज्झिमयाण जिणाणं कारणजाए पडिक्कमणं ॥ १२४४ ॥

व्याख्या—सप्रतिक्रमणो धर्मः पुरिमस्य च पश्चिमस्य च जिनस्य, तत्तीर्थसाधुना ईर्यापथागतेनोच्चारादिविवेके उभयकालं चापराधो भवतु मा वा नियमतः प्रतिक्रान्तव्यं, शठत्वात्प्रमादबहुलत्वाच्च, एतेष्वेव स्थानेषु 'मध्यमानां जिनानाम्' अजितादीनां पार्श्वपर्यन्तानां 'कारणजाते' अपराध एवोत्पन्ने सति प्रतिक्रमणं भवति, अशठत्वात्प्रमादरहितत्वाच्चेति गाथार्थः ॥ १२४४ ॥ तथा चाह ग्रन्थकारः—

जो जाहे आवन्नो साहू अन्नयरयंमि ठाणंमि। सो ताहे पडिक्कमई मज्झिमयाणं जिणवराणं ॥ १२४५ ॥

व्याख्या—'यः' साधुरिति योगः 'यदा' यस्मिन् काले पूर्वाह्णादौ 'आपन्नः' प्राप्तः 'अन्यतरस्मिन् स्थाने' प्राणातिपातादौ स तदैव तस्य स्थानस्य, एकाक्येव गुरुप्रत्यक्षं वा प्रतिक्रामति मध्यमानां जिनवराणामिति गाथार्थः ॥ १२४५ ॥ आह–किमयमेवं भेदः प्रतिक्रमणकृतः ? आहोश्विदन्योऽप्यस्ति ?, अस्तीत्याह, यतः—

बावीसं तित्थयरा सामाइयसंजमं उवइसंति। छेओवट्ठावणयं पुण वयन्ति उसभो य वीरो य ॥ १२४६ ॥

व्याख्या—'द्वाविंशतिस्तीर्थकरा' मध्यमाः सामायिकं संयममुपदिशन्ति, यदैव सामायिकमुच्चार्यते तदैव व्रतेषु स्थाप्यते, छेदोपस्थापनिकं वदतः ऋषभश्च वीरश्च, एतदुक्तं भवति–प्रथमतीर्थङ्करचरमतीर्थकरतीर्थेषु हि प्रव्रजितमात्रः सामायिकसंयतो भवति तावद् यावच्छस्त्रपरिज्ञाऽवगमः, एवं हि पूर्वमासीत्, अधुना तु षड्जीवनिकायावगमं यावत् तया पुनः सूत्रतोऽर्थतश्चावगतया सम्यगपराधस्थानानि परिहरन् व्रतेषु स्थाप्यत इत्येवं निरतिचारः, सातिचारः पुनर्मूलस्थानं प्राप्त

प्रतिक्रमणस्य नित्यतादि विधानं

प्रत सूत्रांक [१..] दीप अनुक्रम [१०..]

आवश्यक-हारिभ-द्रीया ॥५६३॥

उपस्थाप्यत इति गाथार्थः ॥ १२४६ ॥ अयं च विशेषः–'आचेलुक्कोद्देसिय सिज्जातररायपिंडकिइकम्मे । वयजिट्ठपडिक्कमणे मासं पज्जोसवणकप्पे ॥ १ ॥' एतद्गाथानुसारतोऽवसेयः, इयं च सामायिके व्याख्यातैवेति गतं प्रासङ्गिकम्, अधुना यदुक्तं 'सप्रतिक्रमणो धर्म' इत्यादि, तत्प्रतिक्रमणं दैवसिकादिभेदेन निरूपयन्नाह—

४प्रतिक्रम-णा०प्रतिक्रमणसंख्या

पडिकमणं देसिय राइयं च इत्तरियमावकहियं च । पक्खियचाउम्मासिय संवच्छर उत्तिमट्ठे य ॥ १२४७ ॥

व्याख्या—'प्रतिक्रमणं' प्राग्निरूपितशब्दार्थ, 'दैवसिकं' दिवसनिर्वृत्तं 'रात्रिकं' रजनिनिर्वृत्तम्, इत्वरं तु–अल्पकालिकं दैवसिकाद्येव 'यावत्कथिकं' यावज्जीविकं व्रतादिलक्षणं 'पाक्षिकं' पक्षातिचारनिर्वृत्तम्, आह–दैवसिकेनैव शोधिते सत्यात्मनि पाक्षिकादि किमर्थम् ?, उच्यते, गृहदृष्टान्तोऽत्र–'जह गेहं पइदियहंपि सोहियं तहवि पक्खसंधीए । सोहिज्जइ सविसेसं एवं इहयंपि णायवं ॥ १ ॥' एवं चातुर्मासिकं सांवत्सरिकम्, एतानि हि प्रतीतान्येव, 'उत्तमार्थे च' भक्तप्रत्याख्याने प्रतिक्रमणं भवति, निवृत्तिरूपत्वात्तस्येति गाथासमुदायार्थः ॥ १२४७ ॥ साम्प्रतं यावत्कथिकं प्रतिक्रमणमुपदर्शयन्नाह—

पंच य महव्वयाइं राईछट्ठाइ चाउजामो य । भत्तपरिण्णा य तहा दुण्हंपि य आवकहियाइं ॥ १२४८ ॥

॥५६३॥

व्याख्या—पञ्च महाव्रतानि–प्राणातिपातादिनिवृत्तिलक्षणानि 'राईछट्ठाइं' ति उपलक्षणत्वाद् रात्रिभोजननिवृत्तिषष्ठानि पुरिमपश्चिमतीर्थकरयोस्तीर्थे इति, 'चातुर्यामश्च' निर्वृत्तिधर्म एव भक्तपरिज्ञा च तथा, चशब्दादिङ्गिनीमरणादि-

१ आचेलक्यमौद्देशिकं शय्यातरराजपिण्डकृतिकर्माणि । व्रतानि ज्येष्ठः प्रतिक्रमणं मासः पर्युषणाकल्पः ॥ १ ॥ २ यथा गृहं प्रतिदिवसमपि शोधितं तथापि पक्षसन्धौ । शोध्यते सविशेषमेवमिहापि ज्ञातव्यम् ॥ १ ॥

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्ति:

'प्रतिक्रमण'स्य दैवसिक आदि षड्भेदा:, प्रतिक्रमण-करणस्य कारणानि

प्रत सूत्रांक [१..] दीप अनुक्रम [१०..]

परिग्रहः, 'द्वयोरपि' पुरिमपश्चिमयोः, चशब्दाद् मध्यमानां च यावत्कथिकान्येतानीति गाथार्थः ॥ १२४८ ॥ इत्थं यावत्कथिकमनेकभेदभिन्नं प्रतिपादितम्, इत्वरमपि दैवसिकादिभेदं प्रतिपादितमेव, पुनरपीत्वरप्रतिपादनायैवाह—

उच्चारे पासवणे खेले सिंघाणए पडिक्कमणं । आभोगमणाभोगे सहस्सकारे पडिक्कमणं ॥ १२४९ ॥

व्याख्या—'उच्चारे' पुरीषे 'प्रस्रवणे' मूत्रे 'खेले' श्लेष्मणि 'सिङ्घानके' नासिकोद्भवे श्लेष्मणि व्युत्सृष्टे सति सामान्येन प्रतिक्रमणं भवति, अयं पुनर्विशेषः–'उच्चारं पासवणं भूमीए वोसिरित्तु उवउत्तो । वोसरिऊण य तत्तो इरियावहिअं पडिक्कमइ ॥ १ ॥ वोसिरइ मत्तगे जइ तो न पडिक्कमइ मत्तगं जो उ । साहू परिट्ठवेई णियमेण पडिक्कमे सो उ ॥ २ ॥ खेलं सिंघाणं वाऽपडिलेहिय अप्पमज्जिउं तह य । वोसिरिय पडिक्कमई तं पिय मिच्छुक्कडं देइ ॥ ३ ॥' प्रत्युपेक्षितादिविधिविवेके तु न ददाति, तथाऽऽभोगेऽनाभोगे सहसात्कारे सति योऽतिचारस्तस्य प्रतिक्रमणम्–'आभोगे जाणंतेण जोऽइयारो कओ पुणो तस्स । जायम्मिवि अणुतावे पडिक्कमणेऽजाणया इयरो ॥ १ ॥' अनाभोगसहसात्कारे इत्थंलक्षणे–'पुविं अपासिऊणं छूढे पायंमि जं पुणो पासे । ण य तरइ णियत्तेउं पायं सहसाकरणमेयं ॥ १ ॥' अस्मिंश्च सति प्रतिक्रमणम्,

---

१ उच्चारं प्रश्रवणं भूमौ व्युत्सृज्योपयुक्तः । व्युत्सृज्य च तत ईर्यापथिकीं प्रतिक्रामति ॥ १ ॥ व्युत्सृजति मात्रके यदि तदा न प्रतिक्राम्यति मात्रकं यस्तु । साधुः परिष्ठापयति नियमेन प्रतिक्राम्यति स एव ॥ २ ॥ श्लेष्माणं सिङ्घानं वाऽप्रतिलिख्याप्रमार्ज्य तथा च । व्युत्सृज्य प्रतिक्राम्यति तत्रापि च मिथ्यादुष्कृतं ददाति ॥ ३ ॥ आभोगे जानता योऽतिचारः कृतः पुनस्तस्य । जातेऽपि चानुतापे प्रतिक्रमणेऽजानतेतरः ॥ १ ॥ पूर्वमदृष्ट्वा क्षिप्ते पादे यत् पुनः पश्येत् । न च शक्नोति निवर्त्तितुं पादं सहसाकरणमेतत् ॥ १ ॥

प्रत सूत्रांक [१..]

दीप अनुक्रम [१०..]

आवश्यक-हारिभ-द्रीया ॥५६४॥

४ प्रतिक्रमणा० प्रतिक्रमणस्थानानि

अयं गाथाक्षरार्थः ॥ १२४९ ॥ इदं पुनः प्राकरणिकं–'पडिलेहेउं पमज्जिय भत्तं पाणं च वोसिरेऊणं । वसहीकयवरमेव उ णियमेण पडिक्कमे साहू ॥ १ ॥ हत्थसया आगंतुं गंतुं च मुहुत्तगं जहिं चिट्ठे। पंथे वा वच्चंतो णदिसंतरणे पडिक्कमइ ॥२॥' गतं प्रतिक्रमणद्वारम्, अधुना प्रतिक्रान्तव्यमुच्यते, तत्पुनरोघतः पञ्चधा भवतीति, आह च निर्युक्तिकारः—

मिच्छत्तपडिक्कमणं तहेव अस्संजमे पडिक्कमणं । कसायाण पडिक्कमणं जोगाण य अप्पसत्थाणं ॥ १२५० ॥
संसारपडिक्कमणं चउव्विहं होइ आणुपुव्वीए । भावपडिक्कमणं पुण तिविहं तिविहेण नेयव्वं ॥ १२५१ ॥

व्याख्या—मिथ्यात्वमोहनीयकर्मपुद्गलसाचिव्यविशेषादात्मपरिणामो मिथ्यात्वं तस्य प्रतिक्रमणं तत्प्रतिक्रान्तव्यं वर्तते, यदाभोगानाभोगसहसात्कारैर्मिथ्यात्वं गतस्तत्प्रतिक्रान्तव्यमित्यर्थः, तथैव 'असंयमे' असंयमविषये प्रतिक्रमणम्, असंयमः–प्राणातिपातादिलक्षणः प्रतिक्रान्तव्यो वर्तते, 'कषायाणां' प्राग्निरूपितशब्दार्थानां क्रोधादीनां प्रतिक्रमणं, कषायाः प्रतिक्रान्तव्याः,'योगानां च' मनोवाक्कायलक्षणानाम् 'अप्रशस्तानाम्' अशोभनानां प्रतिक्रमणं, ते च प्रतिक्रान्तव्या इति गाथार्थः ॥ १२५० ॥ संसरणं संसारः–तिर्यग्नरनारकामरभवानुभूतिलक्षणस्तस्य प्रतिक्रमणं 'चतुर्विधं' चतुष्प्रकारं भवति 'आनुपूर्व्या' परिपाट्या, एतदुक्तं भवति–नारकायुषो ये हेतवो महारम्भादयस्तेषां (षामा) भोगानाभोगसहसात्कारैर्यद्वर्तितमन्यथा वा प्ररूपितं तस्य प्रतिक्रान्तव्यम्, एवं तिर्यग्नरामरेष्वपि विभाषा, नवरं शुभनरामरायुर्हेतुभ्यो मायाद्यनासेव- ॥५६४॥

१ प्रतिलिख्य प्रमृज्य भक्तं पानं च व्युत्सृज्य । वसतिकचवरमेव तु नियमेन प्रतिक्राम्येत् साधुः ॥ १ ॥ हस्तशतादागत्य गत्वा च मुहूर्तकं यत्र तिष्ठेत् । पथि वा व्रजन् नदीसंतरणे प्रतिक्राम्यति ॥ २ ॥

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्ति:

प्रत सूत्रांक [१..]

दीप अनुक्रम [१०..]

नादिलक्षणेभ्यो निराशंसेनैवापवर्गाभिलाषिणाऽपि न प्रतिक्रान्तव्यं, 'भावपडिक्कमणं पुण तिविहं तिविहेण णेयव्वं' तदेतदनन्तरोदितं भावप्रतिक्रमणं पुनस्त्रिविधं त्रिविधेनैव नेतव्यं, पुनःशब्दस्यैवकारार्थत्वात्, एतदुक्तं भवति–'मिच्छत्ताइ न गच्छइ ण य गच्छावेइ णाणुजाणेई। जं मणवइकाएहिं तं भणियं भावपडिकमणं॥ १॥' 'मनसा न गच्छति' न चिन्तयति यथा शोभनः शाक्यादिधर्मः, वाचा नाभिधत्ते, कायेन न तैः सह निष्प्रयोजनं संसर्गं करोति, तथा 'न य गच्छावेइ' मनसा न चिन्तयति–कथमेष तच्चनिकादिः स्यात्?, वाचा न प्रवर्तयति यथा तच्चनिकादिर्भव, कायेन न तच्चनिकादीनामर्पयति, 'णाणुजाणइ' कश्चित्तच्चनिकादिर्भवति न तं मनसाऽनुमोदयति तूष्णीं वाऽऽस्ते, वाचा न सुष्ठ्वारब्धं कृतं वेति भणति, कायेन नखच्छोटिकादि प्रयच्छति, एवमसंयमादिष्वपि विभाषा कार्येति गाथार्थः॥ १२५१॥ इत्थं मिथ्यात्वादिगोचरं भावप्रतिक्रमणमुक्तम्, इह च भवमूलं कषायाः, तथा चोक्तम्–'कोहो[1] य माणो य अणिग्गहीया, माया य लोहो य पवड्ढमाणा। चत्तारि एए कसिणा कसाया, सिंचंति मूलाइं पुणब्भवस्स॥ १॥' अतः कषायप्रतिक्रमण एवोदाहरणमुच्यते–[2]केई दो संजया संगारं काऊण देवलोयं गया, इओ य एगंमि णयरे एगस्स सिट्ठिस्स भारिया पुत्तणिमित्तं णागदेवयाए उववासेण ठिया, ताए भणियं–होहिति ते पुत्तो देवलोयचुओत्ति, तेसिमेगो चइत्ता तीए पुत्तो जाओ,

१ क्रोधश्च मानश्च अनिगृहीतौ माया च लोभश्च परिवर्धमानौ। चत्वार एते कृत्स्नाः कषायाः सिञ्चन्ति मूलानि पुनर्भवस्य॥ १॥ २ कौचित् द्वौ संयतौ संकेतं कृत्वा देवलोकं गतौ, इतश्चैकस्मिन्नगरे एकस्य श्रेष्ठिनो भार्या पुत्रनिमित्तं नागदेवतायै उपवासेन स्थिता, तया भणितं–भविष्यति ते पुत्रो देवलोकच्युत इति, तयोरेकश्च्युत्वा तस्याः पुत्रो जातः.

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्ति:

'कषायप्रतिक्रमण" तस्य व्याख्या, कारणानि, तद् विषये नागदत्तकथा

प्रत सूत्रांक [१..]

दीप अनुक्रम [१०..]

आवश्यक-हारिभ-द्रीया ॥५६५॥

४प्रतिक्रम-णाध्य-नागदत्तो-दाहरणं ॥५६५॥

नागदत्तोत्ति से णामं कयं, बावत्तरिकलाविसारओ जाओ, गंधवं च से अइप्पियं, तेण गंधवणागदत्तो भण्णइ, तओ सो मित्तजणपरिवारिओ सोक्खमणुभवइ, देवो य णं बहुसो बहुसो बोहेइ, सो ण संबुज्झइ, ताहे सो देवो अवत्तलिंगेणं ण णजइ जहेस पवइयगो, जेण से रजोहरणाइ उवगरणं णत्थि, सप्पे चत्तारि करंडयहत्थो गहेऊण तस्स उज्जाणियागयस्स य अदूरसामंतेण वीईवयइ, मित्तेहिं से कहियं–एस सप्पखेल्लावगोत्ति, गओ तस्स मूलं, पुच्छइ–किमेत्थं ?, देवो भणइ–सप्पा, गंधवणागदत्तो भणइ–रमामो, तुमं ममच्चएहि अहं तुहच्चएहिं, देवो तस्सच्चएहिं रमति, खइओवि ण मरइ, गंधवणागदत्तो अमरिसिओ भणइ–अहंपि रमामि तव संतिएहिं सप्पेहिं, देवो भणइ–मरसि जइ खज्जसि, जाहे णिबंधेण लग्गो ताहे मंडलं आलिहित्ता देवेण चउद्दिसिंपि करंडगा ठविता, पच्छा से सवं सयणमित्तपरियणं मेलिऊण तस्स समक्खं इमं भणियाइओ—

---

१ नागदत्त इति तस्य नाम कृतं, द्वासप्ततिकलाविशारदो जातः, गान्धर्वं चास्यातिप्रियं, तेन गन्धर्वनागदत्तो भण्यते, ततः स मित्रजनपरिवारितः सौख्यमनुभवति, देवश्चैनं बहुशः २ बोधयति, स न सम्बुध्यते, तदा स देवोऽव्यक्तलिङ्गेन न ज्ञायते यथैष प्रव्रजितकः, येन रजोहरणाद्युपकरणं तस्य नास्ति, सर्पांश्चतुरः करण्डकहस्तो गृहीत्वा तस्योद्यानिकागतस्यादूरसामीप्येन व्यतिव्रजति, मित्रैस्तस्य कथितं–एष सर्पक्रीडक इति, गतस्तस्य मूलं, पृच्छति–किमत्र ?, देवो भणति–सर्पाः, गन्धर्वनागदत्तो भणति–रमावहे, त्वं मामकीनैरहं तावकीनैः, देवस्तत्सत्कैः रमते, खादितोऽपि न म्रियते, गन्धर्वनागदत्तोऽमर्षितो भणति–अहमपि तव सत्कैः सर्पैः रमे देवो भणति–मरिष्यसि यदि भक्षिष्यसे, यदा निर्बन्धेन लग्नस्तदा मण्डलमालिख्य देवेन चतसृष्वपि दिक्षु करण्डकाः स्थापिताः, पश्चात्तस्य सर्वं स्वजनमित्रपरिजनं मेलयित्वा तस्य समक्षं इदं भणितवान्–

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्ति:

प्रत
सूत्रांक
[१..]

दीप
अनुक्रम
[१०..]

गंधव्वनागदत्तो इच्छइ सप्पेहि खिल्लिउं इहयं। तं जइ कहिंवि खज्जइ इत्थ हु दोसो न कायव्वो ॥ १२५२ ॥

व्याख्या—'गन्धर्वनागदत्त' इति नामा 'इच्छति' अभिलषति सर्पैः सार्द्धं क्रीडितुम्, अत्र स खलु–अयं यदि 'कथञ्चित्' केनचित्प्रकारेण 'खाद्यते' भक्ष्यते 'इत्थ हु' अस्मिन् वृत्तान्ते न दोषः कर्तव्यो मम भवद्भिरिति गाथार्थः ॥ १२५२ ॥ यथा चतसृष्वपि दिक्षु स्थापितानां सर्पाणां माहात्म्यमसावकथयत् तथा प्रतिपादयन्नाह—

तरुणदिवायरनयणो विज्जुलयाचंचलग्गजीहालो। घोरमहाविसदाढो उक्का इव पज्जलियरोसो ॥ १२५३ ॥

व्याख्या—तरुणदिवाकरवद्–अभिनवोदितादित्यवन्नयने–लोचने यस्य स तरुणदिवाकरनयनः, रक्ताक्ष इत्यर्थः, विद्युल्लतेव चञ्चलाऽग्रजिह्वा यस्य स विद्युल्लताचञ्चलाग्रजिह्वाकः घोरा–रौद्रा महाविषाः–प्रधानविषयुक्ता दंष्ट्रा–आस्यो यस्य स घोरमहाविषदंष्ट्रः, उल्केव–चुडुलीव प्रज्वलितो रोषो यस्य स तथोच्यत इति गाथार्थः ॥ १२५३ ॥

डक्को जेण मणूसो कयमकयं न याणई सुबहुयंपि। अदिस्समाणमच्चुं कह घिच्छसि तं महानागं? ॥ १२५४ ॥

व्याख्या—'डक्को' दष्टः 'येन' सर्पेण मनुष्यः स कृतं किञ्चिदकृतं वा न जानाति सुबह्वपि, 'अदृश्यमानमृत्युम्' अदृश्यमानोऽयं करण्डकस्थो मृत्युर्वर्तते, मृत्युहेतुत्वान्मृत्युः, यतश्चैवमतः कथं ग्रहीष्यसि त्वं 'महानागं' प्रधानसर्पम् ?, इति गाथार्थः ॥ १२५४ ॥ अयं च क्रोधसर्पः, पुरुषे संयोजना स्वबुद्ध्या कार्या, क्रोधसमन्वितस्तरुणदिवाकरनयन एव भवतीत्यादि ॥

मेरुगिरितुंगसरिसो अट्ठफणो जमलजुगलजीहालो। दाहिणपासंमि ठिओ माणेण वियट्टई नागो ॥ १२५५ ॥

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्तिः

प्रत
सूत्रांक
[१..]

दीप
अनुक्रम
[१०..]

आवश्यक-हारिभ-द्रीया
॥५६६॥

व्याख्या—मेरुगिरेस्तुङ्गानि–उच्छ्रितानि तैः सदृशः मेरुगिरितुङ्गसदृशः, उच्छ्रित इत्यर्थः, अष्टौ फणा यस्य सोऽष्टफणः जातिकुलरूपबललाभबुद्धिवाल्लभ्यकश्रुतानि द्रष्टव्यानि, तत्त्वतो यमो–मृत्युर्मृत्युहेतुत्वात् 'ला आदाने' यमं लान्तीति–आददतीति यमला, यमला युग्मजिह्वा यस्य स यमलयुग्मजिह्वः, करण्डकन्यासमधिकृत्याऽऽह–दक्षिणपार्श्वे स्थितः, दक्षिणदिग्न्यासस्तु दाक्षिण्यवत उपरोधतो मानप्रवृत्तेः, अत एवाह–'मानेन' हेतुभूतेन व्यावर्त्तते 'नागः' सर्प इति गाथार्थः ॥ १२५५ ॥

४प्रतिक्रम-णा०क्रोधा-दिनागस्व.

डक्को जेण मणूसो थद्धो न गणेइ देवरायमवि । तं मेरुपव्वयनिभं कह घिच्छसि तं महानागं ? ॥ १२५६ ॥

व्याख्या—'डक्को' दष्टः 'येन' सर्पेण मनुष्यः स्तब्धः सन्न गणयति 'देवराजानमपि' इन्द्रमपि, 'तम्' इत्थम्भूतं मेरुपर्वतनिभं कथं गृहीष्यसि त्वं 'महानागं' प्रधानसर्पमिति गाथार्थः ॥ १२५६ ॥ अयं च मानसर्पः ॥

सललियविल्लहलगई सत्थिअलंछणफणंकिअपडागा । मायामइआ नागी नियडिकवडवंचणाकुसला ॥ १२५७॥

व्याख्या—सललिता–मृद्वी वेल्लहला–स्फीता गतिर्यस्याः सा सललितवेल्लहलगतिः, स्वस्तिकलाञ्छनेनाङ्किता फणापताका यस्याः सा स्वस्तिकलाञ्छनाङ्कितफणापताकेति वक्तव्ये गाथाभङ्गभयादन्यथा पाठः, मायात्मिका नागी 'निकृतिकपटवञ्चनाकुशला' निकृतिः–आन्तरो विकारः कपटं–वेषपरावर्तादिर्बाह्यः आभ्यां या वञ्चना तस्यां कुशला–निपुणेति गाथार्थः ॥ १२५७ ॥

॥५६६॥

१ उद्धृत प्र०.

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [१..]

दीप अनुक्रम [१०..]

तं च सि वालग्गाही अणोसहिबलो अ अपरिहत्थो य। सा य चिरसंचियविसा गहणंभि वणे वसइ नागी१२५८

व्याख्या—इयमेवम्भूता नागी रौद्रा, त्वं च 'व्यालग्राही' सर्पग्रहणशीलः 'अनौषधिबलश्च' औषधिबलरहितः 'अपरिहत्थश्च' अदक्षश्च, सा च चिरसञ्चितविषा 'गहने' सङ्कुले 'वने' कार्यजाले वसति नागीति गाथार्थः ॥ १२५८ ॥

होही ते विणिवाओ तीसे दाढंतरं उवगयस्स । अप्पोसहिमंतबलो न हु अप्पाणं चिगिच्छिहिसि ॥ १२५९ ॥

व्याख्या—भविष्यति ते विनिपातः तस्या दंष्ट्रान्तरम् 'उपगतस्य' प्राप्तस्य, अल्पं–स्तोकं औषधिमन्त्रबलं यस्य तव स त्वं अल्पौषधिमन्त्रबलः, यतश्चैवमतो नैवाऽऽत्मानं चिकित्सिष्यसीति गाथार्थः ॥ १२५९ ॥ इयं च मायानागी ॥

उत्थरमाणो सव्वं महालओ पुन्नमेहनिग्घोसो । उत्तरपासंमि ठिओ लोहेण वियट्टई नागो ॥ १२६० ॥

व्याख्या—'उत्थरमाणो'त्ति अभिभवन् 'सर्वं' वस्तु, महानालयोऽस्येति महालयः, सर्वत्रानिवारितत्वात्, पूर्णः पुष्करावर्त्तस्येव निर्घोषो यस्य स तथोच्यते, करण्डकन्यासमधिकृत्याह–उत्तरपार्श्वे स्थितः, उत्तरदिग्न्यासस्तु सर्वोत्तरो लोभ इति ख्यापनार्थम्, अत एव लोभेन हेतुभूतेन 'वियट्टइ'त्ति व्यावर्तते रुष्यति वा 'नागः' सर्प इति गाथार्थः ॥ १२६० ॥

डक्को जेण मणुसो होइ महासागरुव्व दुप्पूरो । तं सव्वविससमुदयं कह घिच्छसि तं महानागं ? ॥ १२६१ ॥

व्याख्या—दष्टो येन मनुष्यो भवति 'महासागर इव' स्वयम्भूरमण इव दुष्पूरः 'तम्' इत्थम्भूतं 'सर्वविषसमुदयं' सर्वव्यसनैकराजमार्गं कथं ग्रहीष्यसि त्वं 'महानागं' प्रधानसर्पमिति गाथार्थः ॥ १२६१ ॥ अयं तु लोभसर्पः ॥

एए ते पावाही चत्तारिवि कोहमाणमयलोभा । जेहिं सया संतत्तं जरियमिव जयं कलकलेइ ॥ १२६२ ॥

प्रत सूत्रांक [१..]

दीप अनुक्रम [१०..]

आवश्यक-हारिभद्रीया ॥५६७॥

४प्रतिक्रमणा०क्रोधाद्यहिप्रतीकारः

व्याख्या—एते ते 'पापाहयः' पापसर्पाश्चत्वारोऽपि क्रोधमानमायालोभा यैः सदा सन्तप्तं सत् ज्वरितमिव 'जगद्' भुवनं 'कलकलायति' भवजलधौ क्वथयतीति गाथार्थः ॥ १२६२ ॥

एएहिं जो खज्जइ चउहिवि आसीविसेहि पावेहिं । अवसस्स नरयपडणं णत्थि सि आलंबणं किंचि ॥ १२६३ ॥

व्याख्या—एभिर्य एव खाद्यते चतुर्भिरपि 'आशीविषैः' भुजङ्गैः 'पापैः' अशोभनैः तस्य अवशस्य सतः नरकपतनं भवति, 'नास्ति' न विद्यते 'से' तस्यालम्बनं किञ्चिद् येन न पततीति गाथार्थः ॥ १२६३ ॥ एवमभिधायेते मुक्ताः। सो खइओ पडिओ मओ य, पच्छा देवो भणइ–किह जायं ?, ण ठाइहत्ति वारिज्जंतो, पुव्वभणिया य ते मित्ता अगदे छुभंति ओसहाणि य, ण किंचि गुणं करेंति, पच्छा तस्स सयणो पाएहिं पडिओ–जिआवेहत्ति, देवो भणइ–एवं चेव अहंपि खइयो, जइ एरिसिं चरियं अणुचरइ तो जीवइ, जइ णाणुपालेइ तो उज्जीविओऽवि पुणो मरइ, तं च चरियं गाथाहिं कहेइ—

एएहिं अहं खइओ चउहिवि आसीविसेहि पावेहिं । विसनिग्घायणहेउं चरामि विविहं तवोकम्मं ॥ १२६४ ॥

व्याख्या—एभिरहं 'खइओ'त्ति भक्षितश्चतुर्भिरपि 'आशीविषैः' भुजङ्गैः घोरै–रौद्रैः 'विषनिर्घातनहेतुः' विषनिर्घातननिमित्तं 'चरामि' आसेवयामि 'विविधं' विचित्रं चतुर्थषष्ठाष्टमादिभेदं 'तपःकर्म' तपःक्रियामिति गाथार्थः ॥ १२६४ ॥

॥५६७॥

१ स खादितः पतितो मृतश्च, पश्चाद्देवो भणति–कथं जातं ?, न स्थास्यसि वार्यमाणः, पूर्वभणितानि च तानि मित्राणि अगदान् क्षिपन्ति औषधानि च, न कश्चिद्गुणं कुर्वन्ति, पश्चात्तस्य स्वजनः पादयोः पतितः–जीवयथेति, देवो भणति–एवमेवाहमपि खादितः, यदीदृशां चर्यामनुचरति तदा जीवति, यदि नानुपालयति तदोज्जीवितोऽपि पुनर्म्रियते, तां च चर्यां गाथाभिः कथयति ।

सेवामि सेलकाणणसुसाणसुन्नघररुक्खमूलाइं । पावाहीणं तेसिं खणमवि न उवेमि वीसंभं ॥ १२६५ ॥

व्याख्या—'सेवामि' भजामि शैलकाननश्मशानशून्यगृहवृक्षमूलानि शैलाः—पर्वताः काननानि—दूरवर्तिवनानि शैलाश्च काननानि चेत्यादि द्वन्द्वः, 'पापाहीनां' पापसर्पाणां तेषां क्षणमपि 'नोपैमि' न यामि 'विश्रम्भं' विश्वासमिति गाथार्थः ॥ १२६५ ॥

अच्चाहारो न सहे अइनिद्धेण विसया उइज्जंति । जायामायाहारो तंपि पकामं न इच्छामि ॥ १२६६ ॥

व्याख्या—'अत्याहारः' प्रभूताहारः 'न सहे'त्ति प्राकृतशैल्या न सहते—न क्षमते, मम स्निग्धमल्पं च भोजनं भविष्यत्येतदपि नास्ति, यतः—अतिस्निग्धेन हविःप्रचुरेण 'विषयाः' शब्दादयः 'उदीर्यन्ते' उद्रेकावस्थां नीयन्ते, ततश्च यात्रामात्राहारो यावता संयमयात्रोत्सर्पति तावन्तं भक्षयामि, तमपि प्रकामं पुनर्नेच्छामीति गाथार्थः ॥ १२६६ ॥

उस्सन्नकयाहारो अहवा विगईविवज्जियाहारो । जं किंचि कयाहारो अवउज्झियथोवमाहारो ॥ १२६७ ॥

व्याख्या—'उस्सन्नं' प्रायशोऽकृताहारः, तिष्ठामीति क्रिया, अथवा विगतिभिर्वर्जित आहारो यस्य मम सोऽहं विगतिविवर्जिताहारः, यत्किञ्चिच्छोभनमशोभनं वौदनादि कृतमाहारो येन मया सोऽहं तथाविधः, 'अवउज्झियथोवमाहारो'त्ति उज्झित—उज्झितधर्मा स्तोकः—स्वल्पः आहारो यस्य मम सोऽहमुज्झितस्तोकाहार इति गाथार्थः ॥ १२६७ ॥ एवं क्रियायुक्तस्य क्रियान्तरयोगाच्च गुणानुपदर्शयति—

थोवाहारो थोवभणिओ य जो होइ थोवनिद्दो य । थोवोवहिउवगरणो तस्स हु देवावि पणमंति ॥ १२६८ ॥

प्रत सूत्रांक [१..] दीप अनुक्रम [१०..]

 ॥५६८॥

व्याख्या—स्तोकाहारः स्तोकभणितश्च यो भवति स्तोकनिद्रश्च स्तोकोपध्युपकरणः, उपधिरेवोपकरणं, तस्य चेत्थम्भूतस्य देवा अपि प्रणमन्तीति गाथार्थः ॥ १२६८ ॥ एवं जइ अणुपालेइ तओ उट्ठेइ, भणंति–वरं एवंपि जीवंतो, पच्छा सो पुवाभिमुहो ठिओ किरियं पउंजिउंकामो देवो भणइ—

सिद्धे नमंसिऊणं संसारत्था य जे महाविज्जा। वोच्छामि दंडकिरियं सव्वविसनिवारणिं विज्जं ॥ १२६९ ॥

व्याख्या—'सिद्धान्' मुक्तान् नमस्कृत्य संसारस्थाश्च ये 'महावैद्याः' केवलिचतुर्दशपूर्ववित्प्रभृतयस्ताँश्च नमस्कृत्य वक्ष्ये दण्डक्रियां सर्वविषनिवारिणीं विद्यामिति गाथार्थः ॥ १२६९ ॥ सा चेयं—

सव्वं पाणइवायं पच्चक्खाई मि अलियवयणं च। सव्वमदत्तादाणं अव्बंभ परिग्गहं स्वाहा ॥ १२७० ॥

व्याख्या—'सर्वं' सम्पूर्णं प्राणातिपातं 'प्रत्याख्याति' प्रत्याचष्टे एष महात्मेति, अनृतवचनं च, सर्वं चादत्तादानम्, अब्रह्म परिग्रहं च प्रत्याचष्टे स्वाहेति गाथार्थः ॥ १२७० ॥ एवं भणिए उट्ठिओ, अम्मापिईहिं से कहियं, न सद्दहइ, पच्छा पहाविओ पडिओ, पुणोवि देवेण तहेव उट्ठविओ, पुणोवि पहाविओ, पडिओ, तइयाए वेलाए देवो णिच्छइ, पसादिओ, उट्ठविओ, पडिस्सुयं, अम्मापियरं पुच्छित्ता तेण समं पहाविओ, एगंमि वणसंडे पुवभवे कहेइ, संबुद्धो पत्तेयबुद्धो जाओ, ॥५६८॥

४प्रतिक्रम-णा०क्रोधा-द्यहिप्रती-कारः

१ एवं यद्यनुपालयति तदोत्तिष्ठति, भणन्ति–वरमेवमपि जीवन्, पश्चात् स पूर्वाभिमुखः स्थितः क्रियां प्रयोक्तुकामो देवो भणति–। एवं भणिते उत्थितो मातापितृभ्यां तस्मै कथितं, न श्रद्दधाति, पश्चात् प्रधावितः पतितः, पुनरपि देवेन तथैव उत्थापितः, पुनरपि प्रधावितः, पतितः, तृतीयायां वेलायां देवो नेच्छति, प्रसादितः, उत्थापितः, प्रतिश्रुतं, मातापितरावापृच्छ्य तेन समं प्रधावितः, एकस्मिन् वनषण्डे पूर्वभवान् कथयति, संबुद्धः प्रत्येकबुद्धो जातः,

प्रत सूत्रांक [१..]

दीप अनुक्रम [१०..]

देवोऽवि पडिगओ, एवं सो ते कसाए नाए सरीरकरंडए छोढूण कओऽवि संचरिउं ण देइ, एवं सो ओदइयस्स भावस्स अकरणयाए अब्भुट्ठिओ पडिक्कंतो होइ, दीहेण सामन्नपरियाएण सिद्धो, एवं भावपडिक्कमणं। आह–किंणिमित्तं पुणो २ पडिक्कमिज्जइ ?, जहा मज्झिमयाणं तहा कीस ण कज्जे पडिक्कमिज्जइ ?, आयरिओ आह–इत्थ विज्जेण दिट्ठंतो–एगस्स रण्णो पुत्तो अईव पिओ, तेण चिंतियं–मा से रोगो भविस्सइ, किरियं करावेमि, तेण विज्जा सद्दाविया, मम पुत्तस्स तिगिच्छं करेह जेण णिरुओ होइ, ते भणंति–करेमो, राया भणइ–केरिसा तुज्झ जोगा ?, एगो भणइ–जइ रोगो अत्थि तो उवसामेति, अह नत्थि तं चेव जीरंतो मारंति, बिइओ भणइ–जइ रोगो अत्थि तो उवसामिंति, अह णत्थि ण गुणं ण दोसं करिंति, तइओ भणइ–जइ रोगो अत्थि तो उवसामिंति, अह णत्थि वण्णरूवजोव्वणलावण्णताए परिणमंति, त्रिइओ विधी अणागयपरित्ताणे भावियव्वो, तइएण रण्णा कारिया किरिया, एवमिमंपि पडिक्कमणं जइ दोसा अत्थि तो

---

१ देवोऽपि प्रतिगतः, एवं स तान् कषायान् ज्ञातान् शरीरकरण्डके क्षिप्त्वा कुतोऽपि संचरितुं न ददाति, एवं स औदयिकस्य भावस्याकरणतयाऽभ्युत्थितः प्रतिक्रान्तो भवति, दीर्घेण श्रामण्यपर्यायेण सिद्धः, एवं भावप्रतिक्रमणं। किंनिमित्तं पुनः पुनः प्रतिक्रम्यते ?, यथा मध्यमकानां तथा कथं न कार्ये प्रतिक्रम्यते ?, आचार्य आह–अत्र वैद्येन दृष्टान्तः–एकस्य राज्ञः पुत्रोऽतीव प्रियः, तेन चिन्तितं–माऽस्य रोगो भूत्, क्रियां कारयामि, तेन वैद्याः शब्दिताः–मम पुत्रस्य चिकित्सां कुरुत येन नीरोगो भवति, ते भणन्ति–कुर्मः, राजा भणति–कीदृशा युष्माकं योगाः ! एको भणति–यदि रोगोऽस्ति तदोपशमयन्ति, अथ नास्ति त एव जीर्यन्तो मारयन्ति, द्वितीयो भणति–यदि रोगोऽस्ति तदोपशामयन्ति अथ नास्ति न गुणं न दोषं कुर्वन्ति, तृतीयो भणति–यदि रोगोऽस्ति तदोपशमयन्ति, अथ नास्ति वर्णरूप यौवन लावण्यतया परिणमन्ति, द्वितीयो विधिरनागतपरित्राणे भावयितव्यः, तृतीयेन राज्ञा कारिता क्रिया, एवमिदमपि प्रतिक्रमणं यदि दोषाः सन्ति तदा

प्रत सूत्रांक [सू.]

दीप अनुक्रम [१२]

आवश्यक-हारिभद्रीया ॥५६९॥

४प्रतिक्रम-णा० चतुर्मङ्गलाख्यानं

विसोहिज्जंति, जइ णत्थि तो सोही चरित्तस्स सुद्धतरिया भवइ । उक्तं सप्रसङ्गं प्रतिक्रमणम्, अत्रान्तरेऽध्ययनशब्दार्थो निरूपणीयः, स चान्यत्र न्यक्षेण प्ररूपितत्वान्नेहाधिक्रियते, गतो नामनिष्पन्नो निक्षेपः, साम्प्रतं सूत्रालापकनिष्पन्नस्य निक्षेपस्यावसरः, स च सूत्रे सति भवति, सूत्रं च सूत्रानुगम इत्यादि प्रपञ्चो वक्तव्यः, यावत्तच्चेदं सूत्रं★-करेमि भन्ते! जाव वोसिरामि

अस्य व्याख्या—तल्लक्षणं चेदं–'संहिता च पदं चैवे' त्यादि, अधिकृतसूत्रस्य व्याख्यालक्षणयोजना च सामायिकवद् द्रष्टव्या, आह–इदं स्वस्थान एव सामायिकाध्ययने उक्तं सूत्रं, पुनः किमभिधीयते ?, पुनरुक्तदोषप्रसङ्गात्, उच्यते, प्रतिषिद्धासेवितादि समभावस्थेनैव प्रतिक्रान्तव्यमिति ज्ञापनार्थम्, अथवा 'यद्वद्विषघातार्थं मन्त्रपदे न पुनरुक्तदोषोऽस्ति । तद्वद् रागविषघ्नं पुनरुक्तमदुष्टमर्थपदम् ॥ १ ॥' रागविषघ्नं चेदं, यतश्च मङ्गलपूर्वं प्रतिक्रान्तव्यम् अतः सूत्रकार एव तदभिधित्सुराह—

मू. चत्तारि मंगलं अरिहंता मंगलं सिद्धा मंगलं साहू मंगलं केवलिपण्णत्तो धम्मो मंगलं

मङ्गलं प्राग्निरूपितशब्दार्थं, तत्र चत्वारः पदार्था मङ्गलमिति, क एते चत्वारः ?, तानुपदर्शयन्नाह–'अरिहंता मंगल'-मित्यादि, अशोकाद्यष्टमहाप्रातिहार्यादिरूपां पूजामर्हन्तीत्यर्हन्तस्तेऽर्हन्तो मङ्गलं, सितं ध्मातं येषां ते सिद्धाः, ते च सिद्धा मङ्गलं, निर्वाणसाधकान् योगान् साधयन्तीति साधवः, ते च मङ्गलं, साधुग्रहणादाचार्योपाध्याया गृहीता एव द्रष्टव्याः, यतो न हि ते न साधवः, धारयतीति धर्मः, केवलमेषां विद्यत इति केवलिनः, केवलिभिः–सर्वज्ञैः प्रज्ञप्तः–प्ररूपितः केव- ॥५६९॥

१ विशोधयन्ति यदि न सन्ति तदा शुद्धिश्चारित्रस्य शुद्धतरा भवति ।

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्तिः

★ नमो अरिहंताणं, नमो सिद्धाणं, नमो आयरियाणं, नमो उवज्झायाणं, नमो लोए सव्वसाहूणं
एसो पंच नमुक्कारो, सव्व पावप्पणासणो, मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं

***मूलसूत्र - (१) "नमस्कार सूत्र" हमने पूज्यपाद आचार्य सागरानंदसूरीश्वरजी संपादित "आगममंजुषा" पृष्ठ-१२०५ के आधार से यहां लिखा है |

मू. (११) करेमि भंते सामाइयं ....जाव.........वोसिरामि |[यह पूरा सूत्र अध्ययन-१ 'सामायिकं' पृष्ठ- ९११ अनुसार समझ लेना]

*** यहां मैने उपर हेडिंग मे मूलं के साथ [कौंस मे] 'सू.' ऐसा सूत्र का संक्षेप लिखा है, क्यों की मूल संपादकने यहां कोइ क्रम नहि दिया है |

प्रत
सूत्रांक
[सू.]

दीप
अनुक्रम
[१३]

मू.

लिप्रज्ञप्तः, कोऽसौ ?-धर्मः–श्रुतधर्मश्चारित्रधर्मश्च मङ्गलम्, अनेन कपिलादिप्रज्ञप्तधर्मव्यवच्छेदमाह। अर्हदादीनां च मङ्गलता तेभ्य एव हितमङ्गलात् सुखप्राप्तेः, अत एव च लोकोत्तमत्वमेषामिति, आह च—

चत्तारि लोगुत्तमा अरिहंता लोगुत्तमा सिद्धा लोगुत्तमा साहू लोगुत्तमा केवलिपण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमो

अथवा कुतः पुनरर्हदादीनां मङ्गलता?, लोकोत्तमत्वात्, तथा चाऽऽह–'चत्तारि लोगुत्तमा' चत्वारः–खल्वनन्तरोक्ता वक्ष्यमाणा वा लोकस्य–भावलोकादेरुत्तमाः–प्रधाना लोकोत्तमाः, क एते चत्वारस्तानुपदर्शयन्नाह–'अरहंता लोगुत्तमा, इत्यादि, अर्हन्तः–प्राग्निरूपितशब्दार्थाः, लोकस्य–भावलोकस्य उत्तमाः–प्रधानाः, तथा चोक्तम्–अरिहंता ताव तहिं उत्तमा हुन्ती उ भावलोयस्स। कम्हा ?, जं सव्वासिं कम्मपयडीपसत्थाणं ॥ १ ॥ अणुभावं तु पडुच्चा वेअणियाऊण णामगोयस्स। भावस्सोदइयस्सा णियमा ते उत्तमा होंति ॥ २ ॥ एवं चेव य भूओ उत्तरपगईविसेसणविसिट्ठं। भण्णइ हु उत्तमत्तं समासओ से णिसामेह ॥ ३ ॥ साय मणुयाउ दोण्णी णामप्पगई समा पसत्था य। मणुगइ पणिंदिजाई ओरालियतेयकम्मं च ॥ ४ ॥ ओरालियंगुवंगा समचउरंसं तहेव संठाणं। वइरोसभसंघयणं वण्णरसगंधफासा य ॥ ५ ॥ अगुरुलहुं

---

१ अर्हन्तस्तावत्तत्रोत्तमा भवन्त्येव भावलोकस्य। कस्मात् ? यत्सर्वासां कर्मप्रकृतीनां प्रशस्तानाम् ॥ १ ॥ अनुभावं तु प्रतीत्य वेदनीयायुषोर्नामगोत्रयोः भाव औदयिके नियमात् ते उत्तमा भवन्ति ॥ २ ॥ एवमेव च भूय उत्तरप्रकृतिविशेषणविशिष्टम्। भण्यते उत्तमत्वं समासतस्तस्य निशामयत ॥ ३ ॥ सातम नुजायुषी द्वे नामप्रकृतयस्तस्येमाः समाः प्रशस्ताश्च। मनुजगतिः पञ्चेन्द्रियजातिरौदारिकं तैजसं कार्मणं च ॥४॥ औदारिकाङ्गोपाङ्गानि समचतुरस्रं तथैव संस्थानम् वज्रर्षभसंहननं वर्णो रसगन्धस्पर्शाश्च ॥ ५ ॥ अगुरुलघु

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्तिः

*** यहां मैने उपर हेडिंग मे मूलं के साथ [कौंस मे] 'सू.' ऐसा सूत्र का संक्षेप लिखा है, क्यों की मूल संपादकने यहां कोइ क्रम नहि दिया है |

** अरिहंत आदि चत्वारः मंगलत्वं, उत्तमत्वं एवं शरणत्वस्य सकारणानि वर्णयते

प्रत सूत्रांक [सू.]
दीप अनुक्रम [१३]

आवश्यक-हारिभद्रीया ॥५७०॥

४ प्रतिक्रमणा० चतुर्लोकोत्तमा.

'उवघायं परघाऊसासविहगइ पसत्था । तसबायरपज्जत्तग पत्तेयथिराथिराइं च ॥ ६ ॥ *सुभमुज्जोयं सुभगं सुसरं आदेज्ज तह य जसकित्ती । तत्तो णिम्मिणतित्थगर णामपगई समेयाइं ॥ ७ ॥ तत्तो उच्चागोयं चोत्तीसेहिं सह उदयभावेहिं । ते उत्तमा पहाणा अणण्णतुल्ला भवंतीह ॥ ८ ॥ उवसमिए पुण भावो अरहंताणं ण विज्जई सो हु । खाइगभावस्स पुणो आवरणाणं दुवेण्हंपि ॥ ९ ॥ तह मोहअंतराई णिस्सेसखयं पडुच्च एएसिं । भावखए लोगस्स उ भवंति ते उत्तमा णियमा ॥ १० ॥ हवइ पुण सन्निवाए उदयभावे हु जे भणियपुव्वं । अरहंताणं ताणं जे भणिया खाइगा भावा ॥ ११ ॥ तेहि सया जोगेणं णिप्फज्जइ सण्णिवाइओ भावो । तस्सवि य भावलोगस्स उत्तमा हुंति णियमेणं ॥ १२ ॥' सिद्धाः–प्राग्निरूपितशब्दार्था एव, तेऽपि च क्षेत्रलोकस्य क्षायिकभावलोकस्य चोत्तमाः–प्रधानाः लोकोत्तमाः, तथा चोक्तम्–'लोउत्तमत्ति सिद्धा ते उत्तमा होंति खित्तलोगस्स । तेलोक्कमत्थयत्था जं भणियं होइ ते णियमा ॥ १ ॥'

---

१ उपघातं पराघातोच्छ्वासौ विहायोगतिः प्रशस्ता । त्रसबादरपर्याप्तकाः प्रत्येकस्थिरास्थिराणि च ॥ ६ ॥ शुभमुद्योतं सुभगं सुस्वरं चादेयं तथा च भवति यशःकीर्त्तिः । ततो निर्माणं तीर्थकरत्वं नामप्रकृतयस्त्वेताः ॥ ७ ॥ तत उच्चैर्गोत्रं चतुस्त्रिंशता सहौदयिकभावैः । ते उत्तमाः प्रधाना अनन्यतुल्या भवन्तीह ॥ ८ ॥ औपशमिकः पुनर्भावोऽर्हतां न विद्यते सः । क्षायिकभावस्य पुनरावरणयोर्द्वयोरपि ॥ ९ ॥ तथा मोहान्तरायौ निःशेषक्षयं प्रतीत्यैतेषाम् । भावे क्षायिके लोकस्य तु भवन्ति ते उत्तमा नियमात् ॥ १० ॥ भवति पुनः सान्निपातिके औदयिकभावे ये भणितपूर्वाः । अर्हतां तेषां ये भणिताः क्षायिका भावाः ॥ ११ ॥ तैः सदा योगेन निष्पद्यते सान्निपातिको भावः । तस्यापि च भावलोकस्योत्तमा भवन्ति नियमेन ॥ १२ ॥ लोकोत्तमा इति सिद्धास्ते उत्तमा भवन्ति क्षेत्रलोकस्य । त्रैलोक्यमस्तकस्था यद्भणितं भवति ते नियमात् ॥ १ ॥ * सुभसुभगसुस्सरं वा प्र०.

॥५७०॥

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्ति:

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्ति:

प्रत सूत्रांक [सू.]

दीप अनुक्रम [१४]

णिस्सेसकम्मपगडीण वावि जो होइ खाइगो भावो । तस्सवि हु उत्तमा ते सव्वपयडिविज्जिया जम्हा ॥ २ ॥' साधवः–प्राग्निरूपितशब्दार्था एव, ते च दर्शनज्ञानचारित्रभावलोकस्य उत्तमाः–प्रधाना लोकोत्तमाः, तथा चोक्तम्–'लोगुत्तमत्ति साहू पडुच्च ते भावलोगमेयं तु । दंसणनाणचरित्ताणि तिण्णि जिणइंदभणियाणि ॥ १ ॥' केवलिप्रज्ञप्तो धर्मः–प्राग्निरूपितशब्दार्थः, स च क्षायोपशमिकौपशमिकक्षायिकभावलोकस्योत्तमः–प्रधानः लोकोत्तमः, तथा चोक्तम्–'धम्मो सुत चरणे या दुहावि लोगुत्तमोत्ति णायव्वो । खओवसमिओवसमियं खइयं च पडुच्च लोगं तु ॥ १ ॥' यत एव लोकोत्तमा अत एव शरण्याः, तथा चाऽऽह–'चत्तारि सरणं पवज्जामि' अथवा कथं पुनर्लोकोत्तमत्वम्?, आश्रयणीयत्वात्, आश्रयणीयत्वमुपदर्शयन्नाह–

(मू) **चत्तारि सरणं पवज्जामि अरिहन्ते सरणं पवज्जामि सिद्धे सरणं पवज्जामि साहू सरणं पवज्जामि केवलिपण्णत्तं धम्मं सरणं पवज्जामि' ॥ (सू०)**

चत्वा(तु)रः संसारभयपरित्राणाय 'शरणं प्रपद्ये' आश्रयं गच्छामि, भेदेन तानुपदर्शयन्नाह–'अरिहंते' त्यादि, अर्हतः 'शरणं प्रपद्ये' सांसारिकदुःखशरणाय*र्हत आश्रयं गच्छामि, भक्तिं करोमीत्यथः, एवं सिद्धान् शरणं प्रपद्ये, साधून् शरणं प्रपद्ये, केवलिप्रज्ञप्तं धर्मं शरणं प्रपद्ये। इत्थं कृतमङ्गलोपचारः प्रकृतं प्रतिक्रमणसूत्रमाह–

● **'इच्छामि पडिक्कमिउं जो मे देवसिओ अइआरो कओ, काइओ वाइओ माणसिओ, उस्सुत्तो उम्मग्गो**

१ निश्शेषकर्मप्रकृतीनां वापि यो भवति क्षायिको भावः । तस्याप्युत्तमास्ते सर्वप्रकृतिविवर्जिता यस्मात् ॥ २ ॥ २ लोकोत्तमा इति साधवः प्रतीत्य ते भावलोकमेनं तु । दर्शनज्ञानचारित्राणि त्रीणि जिनेन्द्रभणितानि ॥ १ ॥ ३ धर्मः श्रुतं चरणं च द्विधापि लोकोत्तम इति ज्ञातव्यः । क्षायोपशमिकौपशमिकौ क्षायिकं च प्रतीत्यैव लोकम् ॥ १ ॥ * त्राणाय प्र०.

*** यहां मैने उपर हेडिंग मे मूलं के साथ [कौंस मे] 'सू.' ऐसा सूत्र का संक्षेप लिखा है, क्यों की मूल संपादकने यहां कोइ क्रम नहि दिया है ।

** दैवसिक अतिचार संबंधी प्रतिक्रमणसूत्र तथा तस्य विशद व्याख्या

प्रत सूत्रांक [सू.] दीप अनुक्रम [१५]

आवश्यक-हारिभ-द्रीया ॥५७१॥

अकप्पो अकरणिज्जो दुज्झाओ दुव्विचिंतिओ अणायारो अणिच्छियव्वो असमणपाउग्गो नाणे दंसणे चरित्ते सुए सामाइए तिण्हं गुत्तीणं चउण्हं कसायाणं पंचण्हं महव्वयाणं छण्हं जीवणिकायाणं सत्तण्हं पिंडेसणाणं अट्ठण्हं पवयणमाऊणं नवण्हं बंभचेरगुत्तीणं दसविहे समणधम्मे समणाणं जोगाणं जं खंडिअं जं विराहियं तस्स मिच्छामि दुक्कडं ॥ (सू०)

४प्रतिक्रमणाध्य.

इच्छामि प्रतिक्रमितुं यो मया दैवसिकोऽतिचारः कृत इत्येवं पदानि वक्तव्यानि, अधुना पदार्थः-इच्छामि-अभिलषामि प्रतिक्रमितुं-निवर्त्तितुं, कस्य य इत्यतिचारमाह-मयेत्यात्मनिर्देशः, दिवसेन निर्वृत्तो दिवसपरिमाणो वा दैवसिकः, अतिचरणमतिचारः, अतिक्रम इत्यर्थः, कृतो-निर्वर्तितः, तस्येति योगः, अनेन क्रियाकालमाह,'मिच्छामि दुक्कडं' अनेन तु निष्ठाकालमिति भावना, स पुनरतिचारः उपाधिभेदेनानेकधा भवति, अत एवाह-कायेन-शरीरेण निर्वृत्तः कायिकः कायकृत इत्यर्थः, वाचा निर्वृत्तो वाचिकः-वाक्कृत इत्यर्थः, मनसा निर्वृत्तो मानसः, स एव 'मानसिउ'त्ति मनःकृत इत्यर्थः-ऊर्ध्वं सूत्रादुत्सूत्रः सूत्रानुक्त इत्यर्थः, मार्गः क्षायोपशमिको भावः, ऊर्ध्वं मार्गादुन्मार्गः, क्षायोपशमिकभावत्यागेनौदयिक, भावसङ्क्रम इत्यर्थः, कल्पनीयः न्यायः कल्पो विधिः आचारः कल्प्यः-चरणकरणव्यापारः न कल्प्यः-अकल्प्यः, अतद्रूप इत्यर्थः, करणीयः सामान्येन कर्तव्यः न करणीयः-अकरणीयः, हेतुहेतुमद्भावश्चात्र, यत एवोत्सूत्रः अत एवोन्मार्ग इत्यादि, उक्तस्तावत्कायिको वाचिकश्च, अधुना मानसमाह-दुष्टो ध्यातो दुर्ध्यातः-आर्तरौद्रलक्षण एकाग्रचित्ततया, दुष्टो विचिन्तितो दुर्विचिन्तितः-अशुभ एव चलचित्तया, यत एवेत्थम्भूतः अत एवासौ न श्रमणप्रायोग्यः अश्रमणप्रायोग्यः तप- ॥५७१॥

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्ति:

*** यहां मैने उपर हेडिंग मे मूलं के साथ [कौंस मे] 'सू.' ऐसा सूत्र का संक्षेप लिखा है, क्यों की मूल संपादकने यहां कोइ क्रम नहि दिया है ।

प्रत
सूत्रांक
[सू.]

दीप
अनुक्रम
[१५]

स्व्यनुचित इत्यर्थः, यत एवाश्रमणप्रायोग्योऽत एवानाचारः, आचरणीयः आचारः न आचारः अनाचारः–साधूनामनाचरणीयः, यत एव साधूनामनाचरणीयः अत एवानेष्टव्यः–मनागपि मनसाऽपि न प्रार्थनीय इति, किंविषयोऽयमतिचार इत्याह–'णाणे दंसणे चरित्ते' ज्ञानदर्शनचारित्रविषयः, अधुना भेदेन व्याचष्टे–'सुए'त्ति श्रुतविषयः, श्रुतग्रहणं मत्यादिज्ञानोपलक्षणं, तत्र विपरीतप्ररूपणाऽकालस्वाध्यायादिरतिचारः, 'सामाइय(ए)'त्ति सामायिकविषयः, सामायिकग्रहणात् सम्यक्त्वसामायिकचारित्रसामायिकग्रहणं, तत्र सम्यक्त्वसामायिकातिचारः शङ्कादिः, चारित्रसामायिकातिचारं तु भेदेनाह–'तिण्हं गुत्तीण'मित्यादि, तिसृणां गुप्तीनां, तत्र प्रविचाराप्रविचाररूपा गुप्तयः, चतुर्णां कषायाणां–क्रोधमानमायालोभानां, पञ्चानां महाव्रतानां–प्राणातिपातादिनिवृत्तिलक्षणानां, षण्णां जीवनिकायानां पृथिवीकायिकादीनां, सप्तानां पिण्डैषणानां–असंसृष्टादीनां, ताश्चेमाः—'संसट्ठमसंसट्ठा उद्धड तह होइ अप्पलेवा य। उग्गहिआ पग्गहिआ उज्झिय तह होइ सत्तमिआ॥१॥'

व्याख्या—तत्रासंसृष्टा हस्तमात्राभ्यां चिन्त्या, '[1]असंसट्ठे हत्थे असंसट्ठे मत्ते, अखरडियमिति वुत्तं भवइ' एवं गृह्णतः प्रथमा भवति, गाथायां सुखमुखोच्चारणार्थमन्यथा पाठः, संसृष्टा ताभ्यामेव चिन्त्या, '[2]संसट्ठे हत्थे संसट्ठे मत्ते, खरडिइत्ति वुत्तं होइ, एवं गृह्णतो द्वितीया, उद्धृता नाम स्थालादौ स्वयोगेन भोजन*जातमुद्धृतं, ततः '[3]असंसट्ठे हत्थे असंसट्ठे मत्ते असंसट्ठे वा मत्ते संसट्ठे हत्थे' एवं गृह्णतस्तृतीया, अल्पलेपा नाम अल्पशब्दोऽभाववाचकः निर्लेपं–पृथुकादि गृह्णत-

१ असंसृष्टो हस्तोऽसंसृष्टं मात्रं अखरण्टितं इत्युक्तं भवति. २ संसृष्टो हस्तो संसृष्टं मात्रं खरण्टितं इत्युक्तं भवति. ३ असंसृष्टो हस्तो असंसृष्टं मात्रं असंसृष्टं वा मात्रं संसृष्टो हस्तो * नेन प्र०.

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्ति:

प्रत सूत्रांक [सू.]

दीप अनुक्रम [१५]

आवश्यक-हारिभ-द्रीया ॥५७२॥

४प्रतिक्रम-णाध्य.

श्चतुर्थी, अवगृहीता नाम भोजनकाले शरावादिषूपहितमेव भोजनजातं ततो गृह्णतः पञ्चमी, प्रगृहीता नाम भोजनवेलायां दातुमभ्युद्यतेन करादिना प्रगृहीतं यद्भोजनजातं भो(भु)क्त्वा वा स्वहस्तादिना तद्गृह्णत इति भावना षष्ठी, उज्झितधर्मा नाम यत्परित्यागार्हं भोजनजातमन्ये च द्विपदादयो नावकाङ्क्षन्ति तदर्द्धत्यक्तं वा गृह्णत इति हृदयं सप्तमी, एष खलु समासार्थः, व्यासार्थस्तु ग्रन्थान्तरादवसेयः, सप्तानां पानैषणानां केचित् पठन्ति, ता अपि चैवम्भूता एव, नवरं चतुर्थ्यां नानात्वं, तत्राप्यायामसौवीरादि निर्लेपं विज्ञेयमिति, अष्टानां प्रवचनमातॄणां, ताश्चाष्टौ प्रवचनमातरः–तिस्रो गुप्तयः तथा पञ्च समितयः, तत्र प्रवीचाराप्रवीचाररूपा गुप्तयः, समितयः प्रवीचाररूपा एव, तथा चोक्तम्–"समिओ[1] णियमा गुत्तो गुत्तो समियत्तणंमि भइयव्वो । कुसलवइमुदीरिंतो जं वयगुत्तोऽवि समिओऽवि ॥ १ ॥" नवानां ब्रह्मचर्यगुप्तीनां–वसतिकथादीनाम्, आसां स्वरूपमुपरिष्टाद्वक्ष्यामः, दशविधे–दशप्रकारे श्रमणधर्मे–साधुधर्मे क्षान्त्यादिके, अस्यापि स्वरूपमुपरिष्टाद्वक्ष्यामः, अस्मिन् गुप्त्यादिषु च ये श्रामणा योगाः–श्रमणानामेते श्रामणास्तेषां श्रामणानां योगानां–व्यापाराणां सम्यक्प्रतिसेवनश्रद्धानप्ररूपणालक्षणानां यत् खण्डितं–देशतो भग्नं यद्विराधितं–सुतरां भग्नं, न पुनरेकान्ततोऽभावमापादितं, तस्य खण्डनविराधनद्वाराऽऽयातस्य चारित्रातिचारस्यैतद्गोचरस्य ज्ञानादिगोचरस्य च दैवसिकातिचारस्य, ॥५७२॥ एतावता क्रियाकालमाह, तस्यैव 'मिच्छामि दुक्कडं' इत्यनेन तु निष्ठाकालमाह, मिथ्येति–प्रतिक्रमामि दुष्कृतमेतदकर्तव्यमित्यर्थः, अत्रेयं सूत्रस्पर्शिकगाथा—

---

१ समितो नियमाद्गुप्तो गुप्तः समितत्वे भक्तव्यः । कुशलवाचमुदीरयन् यद्वचोगुप्तोऽपि समितोऽपि ॥ १ ॥

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्ति:

प्रत सूत्रांक [सू.]

दीप अनुक्रम [१६]

पडिसिद्धाणं करणे किच्चाणमकरणे य पडिक्कमणं । असद्दहणे य तहा विवरीयपरूवणाए य ॥ १२७१ ॥

व्याख्या—'प्रतिषिद्धानां'निवारितानामकालस्वाध्यायादीनामतिचाराणां 'करणे' निष्पादने आसेवन इत्यर्थः, किं ?–प्रतिक्रमणमिति योगः, प्रतीपं क्रमणं प्रतिक्रमणमिति व्युत्पत्तेः, 'कृत्यानाम्' आसेवनीयानां कालस्वाध्यायादीनां योगानाम् 'अकरणे' अनिष्पादनेऽनासेवने प्रतिक्रमणम्, अश्रद्धाने च तथा केवलिप्ररूपितानां पदार्थानां प्रतिक्रमणमिति वर्तते, विपरीतप्ररूपणायां च अन्यथा पदार्थकथनायां च प्रतिक्रमणमिति गाथार्थः ॥ १२७१ ॥ अनया च गाथया यथायोगं सर्वसूत्राण्यनुगन्तव्यानि, तद्यथा–सामायिकसूत्रे प्रतिषिद्धौ रागद्वेषौ तयोः करणे कृत्यस्तु तन्निग्रहस्तस्याकरणे सामायिकं मोक्षकारणमित्यश्रद्धाने असमभावलक्षणं सामायिकमिति विपरीतप्ररूपणायां च प्रतिक्रमणमिति, एवं मङ्गलादि–सूत्रेष्वप्यायोज्यं, चत्वारो मङ्गलमित्यत्र प्रतिषिद्धोऽमङ्गलाध्यवसायस्तत्करण इत्यादिना प्रकारेण, एवमोघातिचारस्य समासेन प्रतिक्रमणमुक्तं, साम्प्रतमस्यैव विभागेनोच्यते, तत्रापि गमनागमनातिचारमधिकृत्याऽऽह—

इच्छामि पडिक्कमिउं इरियावहियाए विराहणाए गमणागमणे पाणक्कमणे बीयक्कमणे हरियक्कमणे ओसाउत्तिंगपणगदगमट्टिमक्कडासंताणासंकमणे जे मे जीवा विराहिया एगिंदिया बेइंदिया तेइंदिया चउरिंदिया पंचिंदिआ अभिहआ वत्तिआ लेसिआ संघाइआ संघट्टिआ परिआविआ किलामिआ उद्दविआ ठाणाओ ठाणं संकामिआ जीविआओ ववरोविआ तस्स मिच्छामि दुक्कडं ॥ (सू०)

अस्य व्याख्या—इच्छामि–अभिलषामि प्रतिक्रमितुं–निवर्तितुम्, ईर्यापथिकायां विराधनायां योऽतिचार इति गम्यते,

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्तिः

*** यहां मैने उपर हेडिंग मे मूलं के साथ [कौंस मे] 'सू.' ऐसा सूत्र का संक्षेप लिखा है, क्यों की मूल संपादकने यहां कोइ क्रम नहि दिया है ।

** “ईर्यापथ-प्रतिक्रमण” मूलसूत्र एवं तस्य विशद् व्याख्या

प्रत सूत्रांक [सू.]

दीप अनुक्रम [१६]

आवश्यक-हारिभद्रीया ॥५७३॥

४प्रतिक्रमणाध्य.

तस्येति योगः, अनेन क्रियाकालमाह, 'मिच्छामि दुक्कडं' इत्यनेन तु निष्ठाकालमिति, तत्रेरणमीर्या गमनमित्यर्थः, तत्प्रधानः पन्था ईर्यापथः तत्र भवैर्यापथिकी तस्यां, कैस्यामित्यत आह–विराध्यन्ते–दुःखं स्थाप्यन्ते प्राणिनोऽनयेति विराधना–क्रिया तस्यां विराधनायां सत्यां, योऽतिचार इति वाक्यशेषः, तस्येति योगः, विषयमुपदर्शयन्नाह–गमनं चागमनं चेत्येकवद्भावस्तस्मिन्, तत्र गमनं स्वाध्यायादिनिमित्तं वसतेरिति, आगमनं प्रयोजनपरिसमाप्तौ पुनर्वसतिमेवेति, तत्रापि यः कथं जातोऽतिचार इत्यत आह–'पाणक्कमणे' प्राणिनो–द्वीन्द्रियादयस्त्रसा गृह्यन्ते, तेषामाक्रमणं–पादेन पीडनं प्राण्याक्रमणं, तस्मिन्निति, तथा बीजाक्रमणे, अनेन बीजानां जीवत्वमाह, हरिताक्रमणे, अनेन तु सकलवनस्पतेरेव, तथाऽवश्यायोत्तिङ्गपनकदगमृत्तिकामर्कटसन्तानसङ्क्रमणे सति, तत्रावश्यायः–जलविशेषः, इह चावश्यायग्रहणमतिशयतः शेषजलसम्भोगपरिवारणार्थमिति, एवमन्यत्रापि भावनीयं, उत्तिङ्गा–गर्दभाकृतयो जीवाः कीटिकानगराणि वा पनकः–फुल्लि दगमृत्तिका–चिक्खल्लम्, अथवा दकग्रहणादप्कायः, मृत्तिकाग्रहणात् पृथ्वीकायः, मर्कटसन्तानः कोलिकजालमुच्यते, ततश्चावश्यायश्चोत्तिङ्गश्चेत्यादि द्वन्द्वः, अवश्यायोत्तिङ्गपनकदगमृत्तिकामर्कटसन्तानास्तेषां सङ्क्रमणं–आक्रमणं तस्मिन्, किं बहुना!, कियन्तो भेदेनाऽऽख्यास्यन्ते ?, सर्वे ये मया जीवा विराधिता–दुःखेन स्थापिताः, एकेन्द्रियाः–पृथिव्यादयः, द्वीन्द्रियाः–कृम्यादयः, त्रीन्द्रियाः–पिपीलिकादयः, चतुरिन्द्रिया–भ्रमरादयः, पञ्चेन्द्रिया–मूषिकादयः, अभिहता–अभिमुख्येन+ हताः, चरणेन घट्टिताः, उत्क्षिप्य क्षिप्ता वा, वर्तिताः–पुञ्जीकृताः, धूल्या वा स्थगिता इति, श्लेषिताः–पिष्टाः, भूम्यादिषु वा लगिताः, ॥५७३॥

* किंविशिष्टाया० प्र०. + अभिमुखागता.

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्तिः

प्रत
सूत्रांक
[सू.]

दीप
अनुक्रम
[१७]

सङ्घातिता–अन्योऽन्यं गात्रैरेकत्र लगिताः, सङ्घट्टिता–मनाक् स्पृष्टाः, परितापिताः–समन्ततः पीडिताः, क्लामिताः–समुद्घातं नीताः ग्लानिमापादिता इत्यर्थः, अवद्राविता–उत्त्रासिताः स्थानात् स्थानान्तरं सङ्क्रामिताः–स्वस्थानात् परं स्थानं नीताः, जीविताद् व्यपरोपिताः, व्यापादिता इत्यर्थः, एवं यो जातोऽतिचारस्तस्य, एतावता क्रियाकालमाह, तस्यैव 'मिच्छामि दुक्कडं' इत्यनेन निष्ठाकालमाह, मिथ्या दुष्कृतं पूर्ववद्, एवं तस्येत्युभययोजना सर्वत्र कार्या। इत्थं गमनातिचारप्रतिक्रमणमुक्तम्, अधुना त्वग्वर्तनस्थानातिचारप्रतिक्रमणं प्रतिपादयन्नाह—

इच्छामि पडिक्कमिउं पगामसिज्जाए निगामसिज्जाए संथाराउव्वट्टणाए परिवट्टणाए आउंटणपसारणाए छप्पइसंघट्टणाए कूइए कक्कराइए छिइए जंभाइए आमोसे ससरक्खामोसे आउलमाउलाए सोअणवत्तिआए इत्थीविप्परिआसिआए दिट्ठीविप्परिआसिआए मणविप्परिआसिआए पाणभोयणविप्परिआसिआए जो मे देवसिओ अइआरो कओ तस्स मिच्छामि दुक्कडं॥ (सू०)

अस्य व्याख्या—इच्छामि प्रतिक्रमितुं पूर्ववत्, कस्येत्याह–प्रकामशय्यया हेतुभूतया यो मया दैवसिकोऽतिचारः कृतः, तस्येति योगः, अनेन क्रियाकालमाह, 'मिच्छामि दुक्कडं' इत्यनेन तु निष्ठाकालमेवेति भावना, एवं सर्वत्र योजना कार्येति, 'शीङ् स्वप्ने' अस्य यप्रत्ययान्तस्य 'कृत्यल्युटो बहुल'(पा० ३-३-११३)मिति वचनात् शयनं शय्या प्रकामं–चातुर्यामं शयनं प्रकामशय्या शेरतेऽस्यामिति वा शय्या–संस्तारकादिलक्षणा प्रकामा–उत्कटा शय्या प्रकामशय्या–संस्तारोत्तरपट्टकातिरिक्ता प्रावरणमधिकृत्य कल्पत्रयातिरिक्ता वा तया हेतुभूतया, स्वाध्यायाद्यकरणतश्चेहातिचारः,प्रतिदिवसं प्रकामशय्यैव निकाम-

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्तिः

*** यहां मैने उपर हेडिंग मे मूलं के साथ [कौंस मे] 'सू.' ऐसा सूत्र का संक्षेप लिखा है, क्यों की मूल संपादकने यहां कोइ क्रम नहि दिया है।

**मूल प्रतिक्रमणसूत्र "पगामसज्झाय" मूल एवं तस्य अति विषद् व्याख्या

प्रत सूत्रांक [सू.]

दीप अनुक्रम [१७]

आवश्यक-हारिभ-द्रीया

॥५७४॥

४प्रतिक्रम-णाध्य-

शय्योच्यते तया हेतुभूतया, अत्राप्यतिचारः पूर्ववत्, उद्वर्तनं तत्प्रथमतया वामपार्श्वेन सुप्तस्य दक्षिणपार्श्वेन वर्तनमुद्वर्तनमुद्वर्तनमेवोद्वर्तना तया, परिवर्तनं पुनर्वामपार्श्वेनैव वर्तनं तदेव परिवर्तना तया, अत्राप्यप्रमृज्य कुर्वतोऽतिचारः, आकुञ्चनं–गात्रसङ्कोचलक्षणं तदेवाकुञ्चना तया, प्रसारणम्–अङ्गानां विक्षेपः तदेव प्रसारणा तया, अत्र च कुक्कुटिदृष्टान्तप्रतिपादितं विधिमकुर्वतोऽतिचारः, तथा चोक्तम्–'कुक्कुडिपायपसारे जह आगासे पुणोवि आउंटे। एवं पसारिऊणं आगासि पुणोवि आउंटे ॥ १ ॥ अइकुंडिय सिय ताहे जहियं पायस्स पण्हिया ठाइ। तहियं पमज्जिऊणं आगासेणं तु णेऊणं ॥ २ ॥ पायं ठावित्तु तहिं आगासे चेव पुणोवि आउंटे। एवं विहिमकरेंते अइयारो तत्थ से होइ ॥ ३ ॥' षट्पदिकानां–यूकानां सङ्घट्टनम्–अविधिना स्पर्शनं षट्पदिकासङ्घट्टनं तदेव षट्पदिकासङ्घट्टना तया, तथा 'कूइए'त्ति कूजिते सति योऽतिचारः, कूजितं–कासितं तस्मिन् अविधिना मुखवस्त्रिकां करं वा मुखेऽनाधाय कृत इत्यर्थः, विषमा घर्मवतीत्यादिशय्यादोषोच्चारणं सकर्करायितमुच्यते तस्मिन् सति योऽतिचारः, इह चाऽऽर्तध्यानजोऽतिचारः, क्षुते–अविधिना जृम्भितेऽविधिनैव आमर्षणम् आमर्षः–अप्रमृज्य करेण स्पर्शनमित्यर्थः तस्मिन्, सरजस्कामर्षे सति, सह पृथिव्यादिरजसा यद्वस्तु स्पृष्टं तत्संस्पर्शे सतीत्यर्थः, एवं जाग्रतोऽतिचारसम्भवमधिकृत्योक्तम्, अधुना सुप्तस्योच्यते–'आउलमाउलाए'त्ति आकुलाकुलया–स्त्र्यादिपरिभोगविवाहयुद्धादिसंस्पर्शननानाप्रकारया स्वप्नप्रत्ययया–स्वप्ननिमित्तया, विराधनयेति गम्यते, सा पुनर्मू- ॥५७४॥

१ कुक्कुटी पादौ प्रसारयेत् यथाऽऽकाशे पुनरप्याकुञ्चयेत्। एवं प्रसार्याकाशे पुनरप्याकुञ्चयेत् ॥ १ ॥ अतिबाधितं स्यात्तदा यत्र पादस्य पार्ष्णिका तिष्ठति। तत्र प्रमार्ज्याकाशे तु नीत्वा ॥ २ ॥ पादं स्थापयित्वा तत्राकाश एव पुनरप्याकुञ्चयेत्। एवं विधिमकुर्वत्यतिचारस्तत्र तस्य भवति ॥ ३ ॥

प्रत
सूत्रांक
[सू.]

दीप
अनुक्रम
[१८]

लोत्तरगुणातिचारविषया भवत्यतो भेदेन तां दर्शयन्नाह–'इत्थीविप्परियासियाए'त्ति स्त्रिया विपर्यासः स्त्रीविपर्यासः–अब्रह्मासेवनं तस्मिन् भवा स्त्रीवैपर्यासिकी तया, स्त्रीदर्शनानुरागतस्तदवलोकनं दृष्टिविपर्यासः तस्मिन् भवा दृष्टिवैपर्यासिकी तया, एवं मनसाऽध्युपपातो मनोविपर्यासः तस्मिन् भवा मनोवैपर्यासिकी तया, एवं पानभोजनवैपर्यासिक्या, रात्रौ पानभोजनपरिभोग एव तद्विपर्यासः, अनया हेतुभूतया य इत्यतिचारमाह, मयेत्यात्मनिर्देशः, दिवसेन निर्वृत्तो दिवसपरिमाणो वा दैवसिकः, अतिचरणमतिचारः–अतिक्रम इत्यर्थः, कृतो–निर्वर्तितः 'तस्स मिच्छामि दुक्कडं' पूर्ववत्, आह–दिवा शयनस्य निषिद्धत्वादसम्भव एवास्यातिचारस्य, न, अपवादविषयत्वादस्य, तथाहि–अपवादतः सुप्यत एव दिवा अध्वानखेदादौ, इदमेव वचनं ज्ञापकम् ॥ एवं त्वग्वर्तनास्थानातिचारप्रतिक्रमणमभिधायेदानीं गोचरातिचारप्रतिक्रमणप्रतिपादनायाऽऽह—

पडिक्कमामि गोयरचरियाए भिक्खायरियाए उग्घाडकवाडउग्घाडणाए साणावच्छादारासंघट्टणाए मंडीपाहुडिआए बलिपाहुडिआए ठवणापाहुडिआए संकिए सहसागारिए अणेसणाए पाणभोयणाए बीयभोयणाए हरियभोयणाए पच्छेकम्मियाए पुरेकम्मियाए अदिट्ठहडाए दगसंसट्ठहडाए रयसंसट्ठहडाए पारिसाडणियाए पारिठावणिआए ओहासणभिक्खाए जं उग्गमेणं उप्पायणेसणाए अपरिसुद्धं परिग्गहियं परिभुत्तं वा जं न परिट्ठविअं तस्स मिच्छामि दुक्कडं ॥ (सू०)

अस्य व्याख्या—प्रतिक्रमामि–निवर्तयामि, कस्य ?–गोचरचर्यायां–भिक्षाचर्यायां, योऽतिचार इति गम्यते, तस्येति

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्तिः

*** यहां मैने उपर हेडिंग मे मूलं के साथ [कौंस मे] 'सू.' ऐसा सूत्र का संक्षेप लिखा है, क्यों की मूल संपादकने यहां कोइ क्रम नहि दिया है ।

** "गौचरी" गोचरचर्या विषयक अतिचारस्य प्रतिक्रमण-वर्णनं

प्रत सूत्रांक [सू.]

दीप अनुक्रम [१८]

आवश्यक-हारिभ-द्रीया

॥५७५॥

४प्रतिक्रम-णाध्य.

योगः, गोश्चरणं गोचरः चरणं–चर्या गोचर इव चर्या गोचरचर्या तस्यां गोचरचर्यायां, कस्यां ?–भिक्षार्थं चर्या भिक्षा-चर्या तस्यां, तथाहि–लाभालाभनिरपेक्षः खल्वदीनचित्तो मुनिरुत्तमाधममध्यमेषु कुलेष्विष्टानिष्टेषु वस्तुषु रागद्वेषावग-च्छन् भिक्षामटतीति, कथं पुनस्तस्यामतिचार इत्याह–'उग्घाडकवाडउग्घाडणाए' उद्घाटम्–अदत्तार्गलमीषत्स्थगितं वा किं तत् ?–कपाटं तस्योद्घाटनं–सुतरां प्रेरणम् उद्घाटकपाटोद्घाटनम् इदमेवोद्घाटकपाटोद्घाटना तया हेतुभूतया, इह चाप्रमार्जनादिभ्योऽतिचारः, तथा श्वानवत्सदारकसङ्घट्टनयेति प्रकटार्थं, मण्डीप्राभृतिकया बलिप्राभृतिकया स्थाप-नाप्राभृतिकया, आसां स्वरूपं–'मंडीपाहुडिया साहुंमि आगए अग्गकूरमंडीए। अण्णंमि भायणंमि व काउं तो देइ साहुस्स ॥ १ ॥ तत्थ पवत्तणदोसो ण कप्पए तारिसा सुविहियाणं। बलिपाहुडिया भण्णइ चउद्दिसिं काउ अच्चणियं ॥ २ ॥ अग्गिंमि व छोढूणं सित्थे तो देइ साहुणो भिक्खं। सावि ण कप्पइ ठवणा (जा) भिक्खायरियाण ठविया उ ॥ ३ ॥' आधाकर्मादीनाम्–उद्गमादिदोषाणामन्यतमेन शङ्किते गृहीते सति योऽतिचारः, सहसाकारे वा सत्यकल्पनीये गृहीत इति, अत्र च तमपरित्यजतोऽविधिना वा परित्यजतो योऽतिचारः, अनेन प्रकारेणानेषणया हेतुभूतया, तथा 'पाणभो-यणाए'त्ति प्राणिनो–रसजादयः भोजने–दध्योदनादौ सङ्घट्ट्यन्ते–विराध्यन्ते व्यापाद्यन्ते वा यस्यां प्राभृतिकायां सा

॥५७५॥

१ मण्डिप्राभृतिका साधावागते अग्रकूरमण्ड्यै। अन्यस्मिन् भाजने वा कृत्वा ततो ददाति साधवे ॥ १ ॥ तत्र प्रवर्त्तनदोषो न कल्पते तादृशी सुविहितानाम्। बलिप्राभृतिका भण्यते चतुर्दिशं कृत्वाऽर्चनिकाम् ॥ २ ॥ अग्नौ वा क्षिप्त्वा सिक्थान् ततो ददाति साधवे भिक्षाम्। साऽपि न कल्पते स्थापना(या) भिक्षाचरेभ्यः स्थापिता ॥ ३ ॥

प्रत सूत्रांक [सू.]

दीप अनुक्रम [१८]

प्राणिभोजना तया, तेषां च सङ्घट्टनादि दातृग्राहकप्रभवं विज्ञेयम्, अत एवातिचारः, एवं 'बीयभोयणाए' बीजानि भोजने यस्यां सा बीजभोजना तया, एवं हरितभोजनया, 'पच्छाकम्मियाए पुरेकम्मियाए' पश्चात् कर्म यस्यां पश्चाज्जलोज्झनकर्म भवति पुरःकर्म यस्यामादाविति, 'अदिट्ठहडाए'त्ति अदृष्टाहृतया–अदृष्टोत्क्षेपमानीतयेत्यर्थः, तत्र च सत्त्वसङ्घट्टनादिनाऽतिचारसम्भवो, दगसंसृष्टाहृतया–उदकसम्बद्धानीतया हस्तमात्रगतोदकसंसृष्टया वा भावना, एवं रजःसंसृष्टाहृतया, नवरं रजः पृथिवीरजोऽभिगृह्यते, 'पारिसाडणियाए'त्ति परिशाटः–उज्झनलक्षणः प्रतीत एव तस्मिन् भवा पारिशाटनिका तया, 'पारिट्ठावणियाए'त्ति परिस्थापनं–प्रदानभाजनगतद्रव्यान्तरोज्झनलक्षणं तेन निर्वृत्ता पारिस्थापनिका तया, एतदुक्तं भवति–'पारिट्ठावणिया खलु जेण भाणेण देइ भिक्खं तु । तंमि पडिओयणाई जातं सहसा परिट्ठवियं ॥ १ ॥' 'ओहासणभिक्खाए'त्ति विशिष्टद्रव्ययाचनं समयपरिभाषया 'ओहासणंति भण्णइ' तत्प्रधाना या भिक्षा तया, कियदत्र भणिष्यामो ?, भेदानामेवंप्रकाराणां बहुत्वात्, ते च सर्वेऽपि यस्मादुद्गमोत्पादनैषणास्ववतरन्त्यत आह–'जं उग्गमेण' मित्यादि, यत्किञ्चिदशनाद्युद्गमेन–आधाकर्मादिलक्षणेन उत्पादनया–धात्र्यादिलक्षणया एषणया–शङ्कितादिलक्षणया अपरिशुद्धम्–अयुक्तियुक्तं प्रतिगृहीतं वा परिभुक्तं वा यन्न परिष्ठापितं, कथञ्चित् प्रतिगृहीतमपि यन्नोज्झितं परिभुक्तमपि च भावतोऽपुनःकरणादिना प्रकारेण यन्नोज्झितम्, एवमनेन प्रकारेण यो जातोऽतिचारस्तस्य मिथ्या दुष्कृतमिति पूर्ववत् ॥ एवं गोचरातिचारप्रतिक्रमणमभिधायाधुना स्वाध्यायाद्यतिचारप्रतिक्रमणप्रतिपादनायाऽऽह–

१ पारिस्थापनिका खलु येन भाजनेन ददाति भिक्षां तु । तस्मिन् पतितौदनादि जातं सहसा परिस्थापितम् ॥ १ ॥

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [सू.]

दीप अनुक्रम [१९]

आवश्यक-हारिभद्रीया ॥५७६॥

पडिक्कमामि चाउक्कालं सज्झायस्स अकरणयाए उभओकालं भंडोवगरणस्स अप्पडिलेहणयाए दुप्पडिलेहणयाए अप्पमज्जणाए दुप्पमज्जणाए अइक्कमे वइक्कमे अइयारे अणायारे जो मे देवसिओ अइआरो कओ तस्स मिच्छामि दुक्कडं ॥ (सू०)

४ प्रतिक्रमणाध्य.

अस्य व्याख्या—प्रतिक्रमामि पूर्ववत्, कस्य ?–चतुष्कालं–दिवसरजनीप्रथमचरमप्रहरेष्वित्यर्थः, स्वाध्यायस्य–सूत्रपौरुषीलक्षणस्य, अकरणतया–अनासेवनया हेतुभूतयेत्यर्थः, यो मया दैवसिकोऽतिचारः कृतः, तस्येति योगः, तथोभयकालं–प्रथमपश्चिमपौरुषीलक्षणं भाण्डोपकरणस्य–पात्रवस्त्रादेः ‘अप्रत्युपेक्षणया दुष्प्रत्युपेक्षणया’ तत्राप्रत्युपेक्षणा–मूलत एव चक्षुषाऽनिरीक्षणा दुष्प्रत्युपेक्षणा–दुर्निरीक्षणा तया, ‘अप्रमार्जनया दुष्प्रमार्जनया’ तत्राप्रमार्जना मूलत एव रजोहरणादिनाऽस्पर्शना दुष्प्रमार्जना त्वविधिना प्रमार्जनेति, तथा अतिक्रमे व्यतिक्रमे अतिचारे अनाचारे यो मया दैवसिकोऽतिचारः कृतस्तस्य मिथ्यादुष्कृतमित्येतत्प्राग्वत्, नवरमतिक्रमादीनां स्वरूपमुच्यते–‘[1]आधाकम्मनिमंतण पडिसुणमाणे अइक्कमो होइ । पयभेयाइ वइक्कम गहिए तइएयरो गिलिए ॥ १ ॥’ अस्य व्याख्या—आधाकर्मनिमन्त्रणे गृहीष्ये एवं प्रतिशृण्वति सति साधावतिक्रमः–साधुक्रियोल्लङ्घनरूपो भवति, यत एवम्भूतं वचः श्रोतुमपि न कल्पते, किं पुनः प्रतिपत्तुं ?, ततःप्रभृति भाजनोद्ग्रहणादौ तावदतिक्रमो यावदुपयोगकरणं, ततः कृते उपयोगे गच्छतः पदभेदादिर्व्यतिक्रमस्तावद् यावदुत्क्षिप्तं भोजनं दात्रेति, ततो गृहीते सति तस्मिँस्तृतीयः, अतिचार इत्यर्थः, तावद् यावद्वसतिं गत्वेर्यापथ- ॥५७६॥

१ आधाकर्मनिमन्त्रणे प्रतिश्रृण्वति अतिक्रमो भवति । पदभेदादि व्यतिक्रमो गृहीते तृतीय इतरो गिलिते ॥ १ ॥

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्ति:

*** यहां मैने उपर हेडिंग मे मूलं के साथ [कौंस मे] ‘सू.’ ऐसा सूत्र का संक्षेप लिखा है, क्यों की मूल संपादकने यहां कोइ क्रम नहि दिया है ।

** चतुष्काल स्वाध्यायस्य अकरणं आदे: अतिचारस्य प्रतिक्रमणं

प्रत सूत्रांक [सू.]

दीप अनुक्रम [२०]

प्रतिक्रमणाद्युत्तरकालं लम्बनोत्क्षेपः, तत उत्तरकालमनाचारः, तथा चाह–'इतरो गिलिए'त्ति प्रक्षिप्ते सति कवले अनाचार इति गाथार्थः ॥ इदं चाधाकर्मोदाहरणेन सुखप्रतिपत्त्यर्थमतिक्रमादीनां स्वरूपमुक्तम्, अन्यत्राप्यनेनैवानुसारेण विज्ञेयमिति । अयं चातिचारः संक्षेपत एकविधः, संक्षेपविस्तरतस्तु द्विविधः त्रिविधो यावदसङ्ख्येयविधः, संक्षेपविस्तरता पुनर्द्विविधः, त्रिविधं प्रति संक्षेप, एकविधं प्रति विस्तर इति, एवमन्यत्रापि योज्यं, विस्तरतस्त्वनन्तविधः, तत्रैकविधादिभेदप्रतिक्रमणप्रतिपादनायाह—

पडिक्कमामि एगविहे असंजमे। पडिक्कमामि दोहिं बन्धणेहिं–रागबंधणेणं दोसबन्धणेणं। प० तिहिं दण्डेहिं–मणदंडेणं वयदंडेणं कायदंडेणं । प० तिहिं गुत्तीहिं–मणगुत्तीए वयगुत्तीए कायगुत्तीए ॥ (सूत्रम्)

प्रतिक्रमामि पूर्ववत्, एकविधे–एकप्रकारे असंयमे–अविरतिलक्षणे सति प्रतिषिद्धकरणादिना यो मया दैवसिकोऽतिचारः कृत इति गम्यते, तस्य मिथ्या दुष्कृतमिति सम्बन्धः, वक्ष्यते च–'सज्झाए ण सज्झाइयं तस्स मिच्छामि दुक्कडं' एवमन्यत्रापि योजना कर्तव्या, प्रतिक्रामामि द्वाभ्यां बन्धनाभ्यां हेतुभूताभ्यां योऽतिचारः, बद्ध्यतेऽष्टविधेन कर्मणा येन हेतुभूतेन तद्बन्धनमिति, तद्बन्धनद्वयं दर्शयति–रागबन्धनं च द्वेषबन्धनं च, रागद्वेषयोस्तु स्वरूपं यथा नमस्कारे, बन्धनत्वं चानयोः प्रतीतं, यथोक्तम्–'स्नेहाभ्यक्तशरीरस्य रेणुना श्लिष्यते यथा गात्रम् । रागद्वेषाक्लिन्नस्य कर्मबन्धो भवत्येवम् ॥ १ ॥' 'प्रतिक्रमामि त्रिभिर्दण्डैः' दण्ड्यते–चारित्रैश्वर्यापहारतोऽसारीक्रियते एभिरात्मेति दण्डाः द्रव्यभावभेदभिन्नाः, भावदण्डैरिहाधिकारः, तैर्हेतुभूतैर्योऽतिचारः, भेदेन दर्शयति–मनोदण्डेन वाग्दण्डेन कायदण्डेन, मनःप्रभृति-

*** यहां मैने उपर हेडिंग मे मूलं के साथ [कौंस मे] 'सू.' ऐसा सूत्र का संक्षेप लिखा है, क्यों की मूल संपादकने यहां कोइ क्रम नहि दिया है ।

** एकविध आदि भेदानां त्रयस्त्रिंशत् पर्यतानां प्रतिक्रमणं

प्रत सूत्रांक [सू.]

दीप अनुक्रम [२०]

आवश्यक-हारिभ-द्रीया ॥५७७॥

४प्रतिक्रम-णा.

भिश्च दुष्प्रयुक्तैर्दण्ड्यते आत्मेति, अत्र चोदाहरणानि–तत्थ मणदंडे उदाहरणं—कोंकणगखमणओ, सो उड्डजाणू अहोसिरो चिंतितो अच्छइ, साहूणो अहो खंतो सुहज्झाणोवगओत्ति वंदंति, चिरेण संलावं देउमारद्धो, साहूहिं पुच्छिओ, भणइ–खरो वाओ वायति, जइ ते मम पुत्ता संपयं वल्लराणि पलीविज्जा तो तेसिं वरिसारत्ते सरसाए भूमीए सुबहू सालिसंपया होज्जा, एवं चिंतियं मे, आयरिएण वारिओ ठिओ, तो एवमाइ जं असुहं मणेण चिंतेइ सो मणदंडो १ ॥ वइदंडे उदाहरणं–साहू सण्णाभूमीओ आगओ, अविहीए आलोएइ–जहा सूयरवंदं दिट्ठंति, पुरिसेहिं गंतुं मारियं २ ॥ इयाणिं कायदंडे उदाहरणं–चंडरुद्दो आयरिओ, उज्जेणिं बाहिरगामाओ अणुजाणपेक्खओ आगओ, सो य अईव रोसणो, तत्थ समोसरणे गणियाघरविहेडिओ जाइकुलाइसंपण्णो इब्भदारओ सेहो उवट्ठिओ, तत्थ अण्णेहिं असद्दहंतेहिं चंडरुद्दस्स पासं पेसिओ, कलिणा कली घस्सउत्ति, सो तस्स उवट्ठिओ, तेण सो तहेव लोयं काउं पव्वाविओ, पच्चूसे गामं वच्चंताणं

---

१ तत्र मनोदण्डे उदाहरणं–कोङ्कणकक्षपकः, स ऊर्ध्वजानुरधःशिराश्चिन्तयन् तिष्ठति, साधवः अहो वृद्धः शुभध्यानोपगत इति वन्दन्ते, चिरेण संलापं दातुमारब्धः, साधुभिः पृष्टः, भणति–खरो वातो वाति, यदि ते मम पुत्राः साम्प्रतं तृणादीनि प्रदीपयेयुः तदा तेषां वर्षारात्रे सरसायां भूमौ सुबह्वी शालीसंपत् भवेत्, एवं चिन्तितं मया, आचार्येण वारितः स्थितः, तदेवमादि यदशुभं मनसा चिन्तयति स मनोदण्डः १॥ वाग्दण्डे उदाहरणं–साधुः संज्ञाभूमेरागतः, अविधिनाऽऽलोचयति–यथा शूकरवृन्दं दृष्टमिति, पुरुषैर्गत्वा मारितं २॥ इदानीं कायदण्डे उदाहरणम्–चण्डरुद्र आचार्यः उज्जयिनीं बहिर्ग्रामादनुयानप्रेक्षक आगतः, स चातीव रोषणः, तत्र समवसरणे गणिकागृहविनिर्गतो जातिकुलादिसंपन्न इभ्यदारकः शैक्ष उपस्थितः, तत्रान्यैरश्रद्दधद्भिश्चण्डरुद्रस्य पार्श्वे प्रेषितः, कलिना घृष्यतां कलिरिति, स तत्रोपस्थितः, तेन स तथैव लोचं कृत्वा प्रव्राजितः, प्रत्यूषे ग्रामं व्रजतोः ॥५७७॥

प्रत सूत्रांक [सू.]

दीप अनुक्रम [२०]

पुरओ सेहो पिट्ठओ चंडरुद्दो, आवडिओ रुट्ठो सेहं दंडेण मत्थए हणइ, कहं ते पत्थरो ण दिट्ठोत्ति ?, सेहो सम्मं सहइ, आवस्सयवेलाए रुहिरावलित्तो दिट्ठो, चंडरुद्दस्स तं पासिऊण मिच्छामि दुक्कडत्ति वेरग्गेण केवलणाणं उप्पण्णं, सेहस्सवि कालेण केवलणाणमुप्पण्णं ३॥ 'पडिक्कमामि तिहिं गुत्तीहिं–मणगुत्तीए वयगुत्तीए कायगुत्तीए' प्रतिक्रमामि तिसृभिर्गुप्तिभिः करणभूताभिर्योऽतिचारः कृत इति, तद्यथा–मनोगुप्त्या वाग्गुप्त्या कायगुप्त्या, गुप्तीनां च करणता अतिचारं प्रति प्रतिषिद्धकरणकृत्याकरणाश्रद्धानविपरीतप्ररूपणादिना प्रकारेण, शब्दार्थस्त्वासां सामायिकवद् द्रष्टव्यः, यथासङ्ख्यमुदाहरणानि– 'मणगुत्तीए तहियं जिणदासो सावओ य सेट्ठिसुओ। सो सव्वराइपडिमं पडिवण्णो जाणसालाए ॥ १ ॥ भज्जुब्भामिग पल्लंक घेत्तुं खीलजुत्तमागया तत्थ। तस्सेव पायमुवरिं मंचगपायं ठवेऊणं ॥ २ ॥ अणायारमायरंती पाओ विद्धो य मंचकीलेणं। सो ता महई वेदण अहियासेई तहिं सम्मं ॥ ३ ॥ ण य मणदुक्कडमुप्पण्णं तस्सज्झाणंमि निच्चलमणस्स। दट्ठूणवि विलीयं इय मणगुत्ती करेयव्वा ॥ ४ ॥ वइगुत्तीए साहू सण्णातगपल्लिगच्छए दट्ठुं। चोरग्गह सेणावइविमोइओ

---

१ पुरतः शैक्षकः पृष्ठतश्चण्डरुद्रः, आपतितो रुष्टः शिष्यं दण्डेन मस्तके हन्ति, कथं त्वया प्रस्तरो न दृष्ट इति?, शैक्षः सम्यक् सहते, आवश्यकवेलायां रुधिरावलिप्तो दृष्टः, चण्डरुद्रस्य तद्दृष्ट्वा मिथ्या मे दुष्कृतमिति वैराग्येण केवलज्ञानमुत्पन्नं, शैक्षस्यापि कालेन केवलज्ञानमुत्पन्नं। २ मनोगुप्तौ तत्र जिनदासः श्रावकश्च श्रेष्ठिसुतः। स सर्वरात्रिकीप्रतिमां प्रतिपन्नो यानशालायाम् ॥ १ ॥ भार्या उद्भ्रामिका पल्यङ्कं गृहीत्वा कीलकयुक्तमायाता तत्र। तस्यैव पादस्योपरि मञ्चकपादं स्थापयित्वा ॥ २ ॥ अनाचारमाचरन्ती पादो विद्धश्च मञ्चकीलकेन। स तावत् महतीं वेदनामध्यासयति तत्र सम्यक् ॥ ३ ॥ न च मनोदुष्कृतमुत्पन्नं तस्य ध्याने निश्चलमनसः। दृष्ट्वापि व्यलीकं एवं मनोगुप्तिः कर्त्तव्या ॥४॥ वाग्गुप्तौ साधून् संज्ञातीयपल्लीं गच्छतो दृष्ट्वा। चौरग्रहः सेनापतिना विमोचितो

प्रत सूत्रांक [सू.]

दीप अनुक्रम [२०]

आवश्यक-हारिभ-द्रीया ||५७८||

४प्रतिक्रम-णा.

भणइ मा साह ॥ १ ॥ चलिया य जण्णजत्ता सण्णायग मिलिय अंतरा चेव । मायपियभायमाई सोवि णियत्तो समं तेहिं ॥ २ ॥ तेणेहि गहिय मुसिया दिट्ठो ते बिंति सो इमो साहू । अम्हेहि गहियमुक्को तो बेंती अम्मया तस्स ॥ ३ ॥ तुज्झेहिं गहियमुक्को ? आमं आणेह बेइ तो छुरियं । जा छिंदामि थणंती किंति सेणावई भणइ ॥ ४ ॥ दुज्जम्मजात एसो दिट्ठा तुम्हे तहावि णवि सिट्ठं । किह पुत्तोत्ति ? अह मम किह णवि सिट्ठंति ? धम्मकहा ॥५॥ आउट्टो उवसंतो मुक्का मज्झं पियंसि मायत्ति । सव्वं समप्पियं से वइगुत्ती एव कायव्वा ॥ ६ ॥ काइयगुत्ताहरणं अद्धाणपवण्णगो जहा साहू । आवासियंमि सत्थे ण लहइ तहिं थंडिलं किंचि ॥ १ ॥ लद्धं चऽणेण कहवी एगो पाओ जहिं पइट्ठाइ । तहियं ठिएगपओ सव्वं राइं तहिं थद्धो ॥ २ ॥ ण ठविय किंचि अत्थंडिलंमि होयव्वमेव गुत्तेणं । सुमहब्भएवि अहवा साहु ण भिंदे गइं एगो ॥ ३ ॥ सक्कपसंसा अस्सद्दहाण देवागमो विउव्वइ य । मंडुक्कलिया साहू जयणा सो संकमे सणियं ॥ ४ ॥ हत्थी विउव्विओ जो

---

१ भणति मा चीकथः ॥ १ ॥ चलिताश्च यज्ञयात्रार्थं सज्ञातीया मिलिता अन्तरैव । मातापितृभ्रात्रादयः सोऽपि निवृत्तः समं तैः ॥ २ ॥ स्तेनैर्गृहीता मुषिता दृष्टस्ते ब्रुवते सोऽयं साधुः । अस्माभिर्गृहीत्वा मुक्तस्तदा ब्रवीत्यम्बा तस्य ॥ ३ ॥ युष्माभिर्गृहीतमुक्तः ? ओम् आनयत ब्रूते ततः क्षुरिकाम् । यच्छिनद्मि स्तनमिति किमिति सेनापतिर्भणति ॥४॥ दुर्जन्मजात एष दृष्टा यूयं तथापि नैव शिष्टम् । कथं पुत्र इति अथ मह्यं कथं नैव शिष्टमिति ? धर्मकथा ॥ ५ ॥ आवृत्त उपशान्तो मुक्ता मम प्रियाऽसि मातरिति । सर्वं समर्पितं तस्या वचोगुप्तिरेवं कर्त्तव्या ॥ ६ ॥ कायिकगुप्त्याहरणं अध्वप्रपन्नको यथा साधुः । आवासिते सार्थे न लभते तत्र स्थण्डिलं कचित् ॥१॥ लब्धं चानेन कथमपि एकः पादो यत्र प्रतिष्ठति । तत्र स्थितैकपादः सर्वां रात्रिं तत्र स्तब्धः (स्थितः) ॥२॥ न स्थापितं किञ्चिदस्थण्डिले भवितव्यमेवं गुप्तेन । सुमहाभयेऽप्यथवा साधुर्न भिनत्ति गतिमेकः ॥ ३ ॥ शक्रप्रशंसा अश्रद्दधानं देवागमो विकुर्वति च । मण्डूकिकाः साधुर्यतनया स संक्रामति शनैः ॥ ४ ॥ हस्ती विकुर्वितो यः ||५७८||

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्ति:

प्रत सूत्रांक [सू.]

दीप अनुक्रम [२१]

आगच्छइ मग्गओ गुलगुलिंतो । ण य गइभेयं कुणई गएण हत्थेण उच्छूढो ॥ ५ ॥ बेइ पडंतो मिच्छामिदुक्कडं जिय विराहिया मेत्ति । ण य अप्पाणे चिंता देवो तुट्ठो णमंसइ य ॥ ६ ॥

पडिक्कमामि तिहिं सल्लेहिं–मायासल्लेणं नियाणसल्लेणं मिच्छादंसणसल्लेणं। पडिक्कमामि तिहिं गारवेहिं-इड्डीगारवेणं रसगारवेणं सायागारवेणं। पडिक्कमामि तिहिं विराहणाहिं-णाणविराहणाए दंसणविराहणाए चरित्तविराहणाए। पडिक्कमामि चउहिं कसाएहिं–कोहकसाएणं माणकसाएणं मायाकसाएणं लोहकसाएणं। पडिक्कमामि चउहिं सण्णाहिं–आहारसण्णाए भयसण्णाए मेहुणसंणाए परिग्गहसण्णाए। पडिक्कमामि चउहिं विकहाहिं–इत्थीकहाए भत्तकहाए देसकहाए रायकहाए। पडिक्कमामि चउहिं झाणेहिं- अट्टेणं झाणेणं रुद्देणं० धम्मेणं० सुक्केणं०

प्रतिक्रामामि त्रिभिः शल्यैः करणभूतैर्योऽतिचारः कृतः, तद्यथा–मायाशल्येन निदानशल्येन मिथ्यादर्शनशल्येन, शल्यतेऽनेनेति शल्यं–द्रव्यभावभेदभिन्नं, द्रव्यशल्यं कण्टकादि, भावशल्यमिदमेव, माया–निकृतिः सैव शल्यं मायाशल्यम्, इयं भावना–यो यदाऽतिचारमासाद्य मायया नालोचयत्यन्यथा वा निवेदयत्यभ्याख्यानं वा यच्छति तदा सैव शल्यमशुभकर्मबन्धनेनात्मशल्यनात् तेन, निदानं–दिव्यमानुषर्द्धिसंदर्शनश्रवणाभ्यां तदभिलाषानुष्ठानं तदेव शल्यमधिकरणानुमोदनेनात्मशल्यनात् तेन, मिथ्या–विपरीतं दर्शनं मिथ्यादर्शनं मोहकर्मोदयजमित्यर्थः, तदेव शल्यं तत्प्रत्ययकर्मादानेनात्मशल्यनात्, तत्पुनरभिनिवेशमतिभेदान्यसंस्तवोपाधितो भवति, इह चोदाहरणानि–मायाशल्ये रुद्रो वक्ष्यमाणः पण्डुरार्या

१ आगच्छति पृष्ठतो गुलगुलायमानः । न च गतिभेदं करोति गजेन हस्तेनोत्क्षिप्तः ॥ ५ ॥ ब्रूते पतन् मिथ्यामेदुष्कृतं जीवा विराद्धा मयेति। न चात्मनि चिन्ता देवस्तुष्टो नमस्यति च ॥ ६ ॥

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्ति:

*** यहां मैने उपर हेडिंग मे मूलं के साथ [कौंस मे] 'सू.' ऐसा सूत्र का संक्षेप लिखा है, क्यों की मूल संपादकने यहां कोइ क्रम नहि दिया है।

प्रत सूत्रांक [सू.]

दीप अनुक्रम [२१]

चोक्ता, निदानशल्ये ब्रह्मदत्तकथानकं यथा तच्चरिते, मिथ्यादर्शनशल्ये गोष्ठामाहिलजमालिभिक्षूपचरकश्रावका अभिनिवेशमतिभेदान्यसंस्तवेभ्यो मिथ्यात्वमुपागताः, तत्र गोष्ठामाहिलजमालिकथानकद्वयं सामायिके उक्तं, भिक्षूपचरकश्रावककथानकं तूपरिष्टाद्वक्ष्यामः॥ प्रतिक्रमामि त्रिभिर्गौरवैः करणभूतैर्योऽतिचारः कृतः,तद्यथा–ऋद्धिगौरवेण रसगौरवेण सातगौरवेण, तत्र गुरोर्भावो गौरवं, तच्च द्रव्यभावभेदभिन्नं, द्रव्यगौरवं वज्रादेः भावगौरवमभिमानलोभाभ्यामात्मनोऽशुभभावगौरवं संसारचक्रवालपरिभ्रमणहेतुः कर्मनिदानमिति भावार्थः, तत्र ऋद्ध्या–नरेन्द्रादिपूज्याचार्यादित्वाभिलाषलक्षणया गौरवं–ऋद्धिप्राप्त्यभिमानाप्राप्तिसम्प्रार्थनद्वारेणाऽऽत्मनोऽशुभभावगौरवमित्यर्थः, एवं रसेन गौरवम्–इष्टरसप्राप्त्यभिमानाप्राप्तिप्रार्थनद्वारेणाऽऽत्मनोऽशुभभावगौरवं तेन, सातं–सुखं तेन गौरवं सातप्राप्त्यभिमानाप्राप्तप्रार्थनद्वारेणात्मनोऽशुभभावगौरवं तेन, इह च त्रिष्वप्युदाहरणं मङ्गुः–मथुराएँ अज्जमंगू आयरिया सुबहुसड्ढा (ड्ढया य) तहियं च । इट्ठरसवत्थसयणासणाइ अहियं पयच्छंति ॥ १ ॥ सो तिहिवि गारवेहिं पडिबद्धो अईव तत्थ कालगओ। महुराए निद्धमणे जक्खो य तहिं समुप्पण्णो ॥ २ ॥ जक्खायतणअदूरेण तत्थ साहूण वच्चमाणाणं । सण्णाभूमिं ताहे अणुपविसइ जक्खपडिमाए ॥ ३ ॥ णिल्लालेउं जीहं णिप्फेडिऊण तं गवक्खेणं । दंसेइ एव बहुसो पुट्ठो य कयाइ साहूहिं ॥ ४ ॥ किमिदं? तो सो वयई जीहादुट्ठो अहं तु सो मंगू । इत्थुववण्णो तम्हा तुब्भेवि एवं करे कोई ॥५॥ ॥५७९॥

१ मथुरायामार्यमङ्गव आचार्याः, सुबहवः श्राद्धास्तत्र च । इष्टरसवस्त्रशयनासनादि अधिकं प्रयच्छन्ति ॥ १ ॥ स त्रिभिरपि गौरवैः प्रतिबद्धोऽतीव तत्र कालगतः । मथुरायां निर्धमने यक्षश्च तत्र समुत्पन्नः ॥ २ ॥ यक्षायतनस्यादूरेण तत्र साधूनां व्रजताम् । संज्ञाभूमिं तदाऽनुप्रविश्य यक्षप्रतिमायाम् ॥ ३ ॥ निर्लाल्य जिह्वां निष्काश्य तां गवाक्षेण । दर्शयति एवं बहुशः पृष्टश्च कदाचित् साधुभिः ॥ ४ ॥ किमिदं? तदा स वदति जिह्वादुष्टोऽहं तु स मङ्गुः। अत्रोपपन्नस्तस्माद्युष्माकमप्येवं कुर्यात्कोऽपि ॥ ५ ॥

प्रत सूत्रांक [सू.]

दीप अनुक्रम [२१]

मा सोवि एवं होहिति जीहादोसेण जीह दाएमि । दट्ठूण तयं साहू सुट्ठुतरमगारवा जाया ॥ ६ ॥ प्रतिक्रमामि तिसृभिर्विराधनाभिर्योऽतिचार इत्यादि पूर्ववत्, तद्यथा–ज्ञानविराधनयेत्यादि, तत्र विराधनं–कस्यचिद्वस्तुनः खण्डनं तदेव विराधना ज्ञानस्य विराधना ज्ञानविराधना–ज्ञानप्रत्यनीकतादिलक्षणा तया, उक्तं च–'णाणपडिणीय णिण्हव अच्चासायण तदंतरायं च । कुणमाणस्सऽइयारो णाणविसंवादजोगं च ॥ १ ॥' तत्र प्रत्यनीकता पञ्चविधज्ञाननिन्दया, तद्यथा–आभिनिबोधिकज्ञानमशोभनं, यतस्तदवगतं कदाचित्तथा भवति कदाचिदन्यथेति, श्रुतज्ञानमपि शीलविकलस्याकिञ्चित्करत्वादशोभनमेव, अवधिज्ञानमप्यरूपिद्रव्यागोचरत्वादसाधु, मनःपर्यायज्ञानमपि मनुष्यलोकावधिपरिच्छिन्नगोचरत्वादशोभनं, केवलज्ञानमपि समयभेदेन दर्शनज्ञानप्रवृत्तेरेकसमयेऽकेवलत्वादशोभनमिति, निह्नवो–व्यपलापः, अन्यसकाशेऽधीतमन्यं व्यपदिशति, अच्चासायणा–'काया वया य तेच्चिय ते चेव पमाय अप्पमाया य । मोक्खाहिगारिगाणं जोइसजोणीहि किं कज्जं ? ॥१॥' इत्यादि, अन्तरायमसङ्खडास्वाध्यायिकादिभिः करोति, ज्ञानविसंवादयोगः अकालस्वाध्यायादिना, दर्शनं–सम्यग्दर्शनं तस्य विराधना दर्शनविराधना तया, असावप्येवमेव पञ्चभेदा, तत्र दर्शनप्रत्यनीकता क्षायिकदर्शनिनोऽपि श्रेणिकादयो नरकमुपगता इति निन्दया, निह्नवः–दर्शनप्रभावनीयशास्त्रापेक्षया प्राग्वद् द्रष्टव्यः, अत्याशातना–किमेभिः कलहशास्त्रैरिति ?, अन्तरायं प्राग्वत्, दर्शनविसंवादयोगः शङ्कादिना, चारित्रं प्राग्निरूपितशब्दार्थं तस्य विराधना चारि-

---

१ मा सोऽप्येवं भविष्यति जिह्वादोषेण जिह्वां दर्शयामि । दृष्ट्वा तकत् साधवः सुष्ठुतरमगौरवा जाताः ॥६॥ २ काया व्रतानि च तान्येव त एव प्रमादा अप्रमादाश्च । मोक्षाधिकारिणां ज्योतिर्योनिभिः किं कार्यम् ? ॥ १ ॥

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्ति:

प्रत
सूत्रांक
[सू.]

दीप
अनुक्रम
[२१]

आवश्यक-हारिभ-द्रीया ॥५८०॥

त्रविराधना तया–व्रतादिखण्डनलक्षणया॥ प्रतिक्रमामि चतुर्भिः कषायैर्योऽतिचारः कृतः, तद्यथा–क्रोधकषायेण मानकषायेण मायाकषायेण लोभकषायेण, कषायस्वरूपं सोदाहरणं यथा नमस्कार इति॥ प्रतिक्रमामि चतसृभिः संज्ञाभिर्योऽतिचारः कृतः, तद्यथा–आहारसंज्ञयेत्यादि ४, तत्र संज्ञानं संज्ञा, सा पुनः सामान्येन क्षायोपशमिकी औदयिकी च, तत्राऽऽद्या ज्ञानावरणक्षयोपशमजा मतिभेदरूपा, न तयेहाधिकारः, द्वितीया सामान्येन चतुर्विधाऽऽहारसंज्ञादिलक्षणा, तत्राहार-संज्ञा–आहाराभिलाषः क्षुद्वेदनीयोदयप्रभवः खल्वात्मपरिणाम इत्यर्थः, सा पुनश्चतुर्भिः स्थानैः समुत्पद्यते, तद्यथा–'ओम-कोट्ठयाए १ छुहावेयणिज्जस्स कम्मस्सोदएणं २ मईए ३ तदट्ठोवजोगेणं' तत्र मतिराहारश्रवणादिभ्यो भवति, तदर्थोपयो-गस्त्वाहारमेवानवरतं चिन्तयतः, तयाऽऽहारसंज्ञया, भयसंज्ञा–भयाभिनिवेशः–भयमोहोदयजो जीवपरिणाम एव, इयमपि चतुर्भिः स्थानैः समुत्पद्यते, तद्यथा–'हीणसत्तयाए १ भयमोहणिज्जोदएणं २ मइए ३ तयट्ठोवओगेणं' तया, मैथुनसंज्ञा–मैथुनाभिलाषः वेदमोहोदयजो जीवपरिणाम एव, इयमपि चतुर्भिः स्थानैः समुत्पद्यते, तद्यथा–'चियमंससोणियत्ताए १ वेद-मोहणिज्जोदएणं २ मईए ३ तयट्ठोवओगेणं ४' तया, तथा परिग्रहसंज्ञा–परिग्रहाभिलाषस्तीव्रलोभोदयप्रभव आत्मपरिणामः, इयमपि चतुर्भिः स्थानैरुत्पद्यते, तद्यथा–'अविवित्तयाए १ लोहोदएणं २ मईए ३ तदट्ठोवओगेणं ४' तया॥ प्रतिक्रमामि चतसृभिर्विकथाभिः करणभूताभिर्योऽतिचारः कृतः, तद्यथा–'स्त्रीकथये'ति विरुद्धा विनष्टा वा कथा विकथा, सा च

४प्रतिक्रमणा. ॥५८०॥

१ अवमकोष्ठतया क्षुधा वेदनीयस्य कर्मण उदयेन मत्या तदर्थोपयोगेन. २ हीनसत्त्वतया भयमोहनीयोदयेन मत्या तदर्थोपयोगेन. ३ चितमांसशोणित-तया वेदमोहनीयोदयेन मत्या तदर्थोपयोगेन. ४ अविविक्ततया लोभोदयेन मत्या तदर्थोपयोगेन.

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्तिः

प्रत
सूत्रांक
[सू.]

दीप
अनुक्रम
[२१]

स्त्रीकथादिलक्षणा, तत्र स्त्रीणां कथा स्त्रीकथा तया, सा चतुर्विधा–जातिकथा कुलकथा रूपकथा नेपथ्यकथा, तत्र जातिकथा ब्राह्मणीप्रभृतीनामन्यतमां प्रशंसति द्वेष्टि वा, कुलकथा उग्रादिकुलप्रसूतानामन्यतमां, रूपकथा अन्ध्रिप्रभृतीनामन्यतमाया रूपं प्रशंसति–'अन्ध्रीणां च ध्रुवं लीलाचलितभ्रूलते मुखे। आसज्य राज्यभारं स्वं, सुखं स्वपिति मन्मथः ॥ १ ॥' इत्यादिना, द्वेष्टि वाऽन्यथा, नेपथ्यकथा अन्ध्रीप्रभृतीनामेवान्यतमायाः कच्छटादिनेपथ्यं प्रशंसति द्वेष्टि वा, तथा भक्तम्–ओदनादि तस्य कथा भक्तकथा तया, सा चतुर्विधाऽऽवापादिभेदतः, यथोक्तम्–'भत्तकहावि चउद्धा आवावकहा तहेव णिव्वावे। आरंभकहा य तहा णिट्ठाणकहा चउत्थी उ ॥ १॥ आवावित्तियदव्वा सागघयादी य एत्थ उवउत्ता। दसपंचरूवइत्तियवंजणभेयाइ णिव्वावे ॥ २ ॥ आरंभ छागतित्तिरमहिसारण्णादिया वधित एत्थ। रूवगसयपंचसया णिट्ठाणं जा सयसहस्सं ॥ ३ ॥' देशः–जनपदस्तस्य कथा देशकथा तया, इयमपि छन्दादिभेदादिना चतुर्द्धैव, यथोक्तम्–देसस्स कहा भण्णइ देसकहा देस जणवओ होति। सावि चउद्धा छंदो विही विगप्पो य णेवत्थं ॥ १ ॥ छंदो गम्मागम्मं जह माउलदुहियमंगलाडाणं। अण्णेसिं सा भगिणी गोल्लाईणं अगम्मा उ ॥ २ ॥ मातिसवत्तिउदिच्चाण गम्म अण्णेसि एग पंचण्हं ।

---

१ भक्तकथापि चतुर्धा आवापकथा तथैव निर्वापे। आरम्भकथा च तथा निष्ठानकथा चतुर्थी च ॥१॥ आवाप ईयद्द्रव्या शाकघृतादिश्चात्रोपयुक्ताः। दश पञ्चरूप्यका इयद्–व्यञ्जनभेदादिर्निर्वापे ॥ २ ॥ आरम्भे छागतित्तिरमहिषारण्यादिका हता अत्र । शतपञ्चशतरूपका निष्ठानं यावत् शतसहस्रम् ॥ ३ ॥ देशस्य कथा भण्यते देशकथा देशो जनपदो भवति। साऽपि चतुर्धा छन्दो विधिर्विकल्पश्च नेपथ्यम् ॥ १ ॥ छन्दो गम्यागम्यं यथा मातुलदुहिताऽङ्गलाटानाम्। अन्येषां सा भगिनी गोल्लादीनामगम्या तु ॥ २ ॥ मातृसपत्नी तु उदीच्यानां गम्या अन्येषामेका पञ्चानाम्।

प्रत सूत्रांक [सू.]

दीप अनुक्रम [२१]

आवश्यक-हारिभ-द्रीया ||५८१||

४प्रतिक्रम-णा.

ऍमाइ देसछंदो देसविहीविरयणा होइ ॥ ३ ॥ भोयणविरयणमणिभूसियाइ जं वावि भुज्जए पढमं । वीवाहविरयणाऽविय
चउरंतगमाइया होइ ॥ ४ ॥ एमाई देसविही देसविगप्पं च सासनिप्फत्ती। जह वप्पकूवसारणिनइरेल्लगसालिरोप्पाई ॥ ५ ॥
घरदेवकुलविगप्पा तह विनिवेसा य गामनयराई । एमाइ विगप्पकहा नेवत्थकहा इमा होइ ॥ ६ ॥ इत्थीपुरिसाणंपि य
साभाविय तहय होइ वेउव्वी । भेडिगजालिगमाई देसकहा एस भणिएवं ॥ ७ ॥' राज्ञः कथा राजकथा तया, इयमपि
नरेन्द्रनिर्गमादिभेदेन चतुर्विधैव, यथोक्तम्–रायकह चउह निग्गम अइगमण बले य कोसकोट्ठारे । निज्जाइ अज्ज राया
एरिस इड्ढीविभूईए ॥ १ ॥ चामीयरसूरतणू हत्थीखंधंमि सोहए एवं । एमेव य अइयाइं इंदो अलयाउरी चेव ॥ २ ॥
एवइय आसहत्थी रहपायलबलवाहणकहेसा । एवइ कोडी कोसा कोट्ठागारा व एवइया ॥ ३ ॥" प्रतिक्रमामि चतुर्भि-
र्ध्यानैः करणभूतैरश्रद्धेयादिना प्रकारेण योऽतिचारः कृतः, तद्यथा–आर्तध्यानेन ४, तत्र ध्यातिर्ध्यानमिति भावसाधनः,

१ एवमादि देशच्छन्दो देशविधिविरचना भवति ॥ ३ ॥ भोजनविरचनमणिभूषणानि यद्वापि भुज्यते प्रथमम् । विवाहविरचनापि च चतुरन्तगमा-
दिका (शारिपट्टादिका) भवति ॥ ४ ॥ एवमादि देशविधिर्देशविकल्पश्च शस्यनिष्पत्तिः । यथा वप्रकूपसारिणीनदीपूरादिना शालीरोपादि ॥ ५ ॥ गृहदेव-
कुलविकल्पा तथा विनिवेशाश्च ग्रामनगरादीनाम् । एवमादिर्विकल्पकथा नेपथ्यकथैषा भवति ॥ ६ ॥ स्त्रीणां पुरुषाणामपि च स्वाभाविकस्तथा भवति विकुर्वा ।
भेडिकजालिकादि (मीलनादि) देशकथैषा भणितैवं ॥ ७ ॥ राजकथा चतुर्धा निर्गमोऽतिगमो बलं च कोशकोष्ठागारे । निर्यात्यद्य राजा ईदृश्या ऋद्धिवि-
भूत्या ॥ १ ॥ चामीकरसूरतनुर्हस्तिस्कन्धे शोभते एवम् । एवमेव चातियाति इन्द्रोऽलकापुर्यामिव ॥ २ ॥ एतावन्तोऽश्वा हस्तिनो रथाः पादातं बलवाहनानि ||५८१||
कथैषा । इयन्त्यः कोट्यः कोशाः कोष्ठागाराणि वेयन्ति ॥ ३ ॥

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्तिः

प्रत
सूत्रांक
[सू...]

दीप
अनुक्रम
[२१..]

तत्पुनः कालतोऽन्तर्मुहूर्तमात्रं, भेदतस्तु चतुष्प्रकारमार्तादिभेदेन, ध्येयप्रकारास्त्वमनोज्ञविषयसंप्रयोगादयः, तत्र शोकाक्रन्दनविलपनादिलक्षणमार्तं तेन, उत्सन्नवधादिलक्षणं रौद्रं तेन, जिनप्रणीतभावश्रद्धानादिलक्षणं धर्म्यं तेन, अवधासम्मोहादिलक्षणं शुक्लं तेन, फलं पुनस्तेषां हि तिर्यङ्नरकदेवगत्यादिमोक्षाख्यमिति क्रमेण, अयं ध्यानसमासार्थः । व्यासार्थस्तु ध्यानशतकादवसेयः, तच्चेदम्–ध्यानशतकस्य च महार्थत्वाद्वस्तुतः शास्त्रान्तरत्वात् प्रारम्भ एव विघ्नविनायकोपशान्तये मङ्गलार्थमिष्टदेवतानमस्कारमाह—

वीरं सुक्कज्झाणग्गिदड्ढकम्मिंधणं पणमिऊणं । जोईसरं सरण्णं झाणज्झयणं पवक्खामि ॥ १ ॥

व्याख्या–वीरं—शुक्लध्यानाग्निदग्धकर्मेन्धनं प्रणम्य ध्यानाध्ययनं प्रवक्ष्यामीति योगः, तत्र 'ईर गतिप्रेरणयोः' इत्यस्य विपूर्वस्याजन्तस्य विशेषेण ईरयति कर्म गमयति याति वेह शिवमिति वीरस्तं वीरं, किंविशिष्टं तमित्यत आह–शुचं क्लमयतीति शुक्लं, शोकं ग्लपयतीत्यर्थः, ध्यायते–चिन्त्यतेऽनेन तत्त्वमिति ध्यानम्, एकाग्रचित्तनिरोध इत्यर्थः, शुक्लं च तद् ध्यानं च तदेव कर्मेन्धनदहनादग्निः शुक्लध्यानाग्निः तथा मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगैः क्रियत इति कर्म–ज्ञानावरणीयादि तदेवातितीव्रदुःखानलनिबन्धनत्वादिन्धनं कर्मेन्धनं ततश्च शुक्लध्यानाग्निना दग्धं–स्वस्वभावापनयनेन भस्मीकृतं कर्मेन्धनं येन स तथाविधस्तं, 'प्रणम्य' प्रकर्षेण मनोवाक्काययोगैर्नत्वेत्यर्थः, समानकर्तृकयोः पूर्वकाले क्त्वाप्रत्ययविधानाद् ध्यानाध्ययनं प्रवक्ष्यामीति योगः, तत्राधीयत इत्यध्ययनं, 'कर्मणि ल्युट्' पठ्यत इत्यर्थः, ध्यानप्रतिपादकमध्ययनं २ तद् याथात्म्यमङ्गीकृत्य प्रकर्षेण वक्ष्ये–अभिधास्ये इति, किंविशिष्टं वीरं प्रणम्येत्यत आह–'योगेश्वरं योगी-

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्ति:

अथ ध्यानशतक- मूल गाथा एवं तस्य वृत्ति: प्रकाश्यते

प्रत सूत्रांक [सू...]
दीप अनुक्रम [२१..]

आवश्यक-हारिभ-द्रीया ॥५८२॥

४ प्रतिक्रम-णाध्यान-शतकं

श्वरं वा' तत्र युज्यन्त इति योगाः–मनोवाक्कायव्यापारलक्षणाः तैरीश्वरः–प्रधानस्तं, तथाहि–अनुत्तरा एव भगवतो मनोवाक्कायव्यापारा इति, यथोक्तम्–'दव्वमणोजोएणं मणणाणीणं अणुत्तराणं च । संसयवोच्छित्तिं केवलेण नाऊण सइ कुणइ ॥ १ ॥ रिभियपयक्खरसरला मिच्छितरतिरिच्छसगिरपरिणामा । मणणिव्वाणी वाणी जोयणनिहारिणी जं च ॥ २ ॥ एक्का य अणेगेसिं संसयवोच्छेयणे अपडिभूया । न य णिविज्जइ सोया तिप्पइ सव्वाउएणंपि ॥ ३ ॥ सव्वसुरेहिंतोवि हु अहिगो कंतो य कायजोगो से । तहवि य पसंतरूवे कुणइ सया पाणिसंघाए ॥ ४ ॥' इत्यादि, युज्यते वाऽनेन केवलज्ञानादिना आत्मेति योगः–धर्मशुक्लध्यानलक्षणः स येषां विद्यत इति योगिनः–साधवस्तैरीश्वरः, तदुपदेशेन तेषां प्रवृत्तेस्तत्सम्बन्धादिति, तेषां वा ईश्वरो योगीश्वरः, ईश्वरः प्रभुः स्वामीत्यनर्थान्तरं, योगीश्वरम्, अथवा योगिस्मर्य–योगिचिन्त्यं ध्येयमित्यर्थः, पुनरपि स एव विशेष्यते–शरण्यं,तत्र शरणे साधुः शरण्यस्तं–रागादिपरिभूताश्रितसत्त्ववत्सलं रक्षकमित्यर्थः, ध्यानाध्ययनं प्रवक्ष्यामीत्येतद् व्याख्यातमेव। अत्राऽऽह–यः शुक्लध्यानाग्निना दग्धकर्मेन्धनः स योगेश्वर एव यश्च योगेश्वरः स शरण्य एवेति गतार्थे विशेषणे, न,अभिप्रायापरिज्ञानाद्,इह शुक्लध्यानाग्निना दग्धकर्मेन्धनः सामान्यकेवल्यपि भवति, नत्वसौ योगेश्वरः, वाक्कायातिशयाभावात्, स एव च तत्त्वतः शरण्य इति ज्ञापनार्थमेवादुष्टमेतदपि, तथा चोभयपदव्य-

॥५८२॥

१ द्रव्यमनोयोगेन मनोज्ञानिनामनुत्तराणां च । संशयव्युच्छित्तिं केवलेन ज्ञात्वा सदा करोति ॥ १ ॥ रिभितपदाक्षरसरला म्लेच्छेतरतिर्यक्स्वगीःपरिणामा । मनोनिर्वापिणी वाणी योजनव्यापनी यच्च ॥ २ ॥ एका चानेकेषां संशयव्युच्छेदनी अपरिभूता । न च निर्विद्यते श्रोता तृप्यति सर्वायुषाऽपि ॥ २ ॥ सर्वसुरेभ्योऽपि अधिकः कान्तश्च काययोगस्तस्य । तथापि च प्रशान्तरूपान् करोति सदा प्राणिसंघातान् ॥ ४ ॥

प्रत सूत्रांक [सू...]

दीप अनुक्रम [२१..]

भिचारेऽज्ञातज्ञापनार्थं च शास्त्रे विशेषणाभिधानमनुज्ञातमेव पूर्वमुनिभिरित्यलं विस्तरेणेति गाथार्थः ॥ १ ॥ साम्प्रतं ध्यानलक्षणप्रतिपादनायाऽऽह—

जं थिरमज्झवसाणं तं झाणं जं चलं तयं चित्तं । तं होज्ज भावणा वा अणुपेहा वा अहव चिंता ॥ २ ॥

व्याख्या—'यदि'त्युद्देशः स्थिरं–निश्चलम् अध्यवसानं–मन एकाग्रतालम्बनमित्यर्थः, 'तदि'ति निर्देशे, 'ध्यानं' प्रागूनिरूपितशब्दार्थं, ततश्चैतदुक्तं भवति—यत् स्थिरमध्यवसानं तद्ध्यानमभिधीयते, 'यच्चल'मिति यत्पुनरनवस्थितं तच्चित्तं, तच्चौघतस्त्रिधा भवतीति दर्शयति–'तद्भवेद्भावना वे'ति तच्चित्तं भवेद्भावना, भाव्यत इति भावना ध्यानाभ्यासक्रियेत्यर्थः, वा विभाषायाम्, 'अनुप्रेक्षा वेति' अनु–पश्चाद्भावे प्रेक्षणं प्रेक्षा, सा च स्मृतिध्यानाद् भ्रष्टस्य चित्तचेष्टेत्यर्थः, वा पूर्ववत् ' अथवा चिन्ते ' ति अथवाशब्दः प्रकारान्तरप्रदर्शनार्थः चिन्तेति या खलूक्तप्रकारद्वयरहिता चिन्तामनश्चेष्टा सा चिन्तेति गाथार्थः ॥ २ ॥ इत्थं ध्यानलक्षणमोघतोऽभिधायाधुना ध्यानमेव कालस्वामिभ्यां निरूपयन्नाह—

अंतोमुहुत्तमेत्तं चित्तावत्थाणमेगवत्थुंमि । छउमत्थाणं झाणं जोगनिरोहो जिणाणं तु ॥ ३ ॥

व्याख्या—इह मुहूर्तः–सप्तसप्ततिलवप्रमाणः कालविशेषो भण्यते, उक्तं च—'कालो परमनिरुद्धो अविभज्जो तं तु जाण समयं तु । समया य असंखेज्जा भवंति ऊसासनीसासा ॥ १ ॥ हट्ठस्स अणवगल्लस्स, णिरुवकिट्ठस्स जंतुणो । एगे

---

१ कालः परमनिरुद्धोऽविभाज्यस्तमेव जानीहि समयं तु । समयाश्चासंख्येया भवत उच्छ्वासनिःश्वासौ ॥ १ ॥ हृष्टस्यानवकल्पस्य निरुपक्लिष्टस्य जन्तोः । एक

प्रत सूत्रांक [सू...]

दीप अनुक्रम [२१..]

॥५८३॥ ऊसासनीसासे, एस पाणुत्ति वुच्चइ ॥ २ ॥ सत्त पाणूणि से थोवे, सत्त थोवाणि से लवे । लवाणं सत्तहत्तरीए, एस मुहुत्ते वियाहिए ॥ ३ ॥ ' अन्तर्मध्यकरणे, ततश्चान्तर्मुहूर्तमात्रं कालमिति गम्यते, मात्रशब्दस्तदधिककालव्यवच्छेदार्थः, ततश्च भिन्नमुहूर्तमेव कालं, किं?–'चित्तावस्थान'मिति चित्तस्य–मनसः अवस्थानं चित्तावस्थानम्, अवस्थितिः–अवस्थानं, निष्प्रकम्पतया वृत्तिरित्यर्थः, क?–' एकवस्तुनि ' एकम्–अद्वितीयं वसन्त्यस्मिन् गुणपर्याया इति वस्तु–चेतनादि एकं च तद्वस्तु एकवस्तु तस्मिन् २ 'छद्मस्थानां ध्यान'मिति, तत्र छादयतीति छद्म–पिधानं तच्च ज्ञानादीनां गुणानामावारकत्वाज्ज्ञानावरणादिलक्षणं घातिकर्म, छद्मनि स्थिताश्छद्मस्था अकेवलिन इत्यर्थः, तेषां छद्मस्थानां, 'ध्यानं' प्राग्वत्, ततश्चायं समुदायार्थः–अन्तर्मुहूर्तकालं यच्चित्तावस्थानमेकस्मिन् वस्तुनि तच्छद्मस्थानां ध्यानमिति, 'योगनिरोधो जिनानां त्वि'ति तत्र योगाः–तत्त्वत औदारिकादिशरीरसंयोगसमुत्था आत्मपरिणामविशेषव्यापारा एव, यथोक्तम्—"औदारिकादिशरीरयुक्तस्याऽऽत्मनो वीर्यपरिणतिविशेषः काययोगः, तथौदारिकवैक्रियाहारकशरीरव्यापाराहृतवाग्द्रव्यसमूहसाचिव्याज्जीवव्यापारो वाग्योगः, तथौदारिकवैक्रियाहारकशरीरव्यापाराहृतमनोद्रव्यसमूहसाचिव्याज्जीवव्यापारो मनोयोगः" इति, अमीषां निरोधो योगनिरोधः, निरोधनं निरोधः, प्रलयकरणमित्यर्थः, केषां?–'जिनानां' केवलिनां, तुशब्द एवकारार्थः स चावधारणे, योगनिरोध एव न तु चित्तावस्थानं, चित्तस्यैवाभावाद्, अथवा योगनिरोधो जिनानामेव ध्यानं ॥५८३॥

१ उच्छ्वासनिश्वास एष प्राण इत्युच्यते ॥ २ ॥ सप्त प्राणास्ते स्तोके सप्त स्तोकास्ते लवे । लवानां सप्तसप्तत्या एष मुहूर्त्तो व्याख्यातः ॥ ३ ॥

प्रत सूत्रांक [सू...]

दीप अनुक्रम [२१..]

नान्येषाम् , अशक्यत्वादित्यलं विस्तरेण, यथा चायं योगनिरोधो जिनानां ध्यानं यावन्तं च कालमेतद्भवत्येतदुपरिष्टाद्वक्ष्याम इति गाथार्थः ॥ ३ ॥ साम्प्रतं छद्मस्थानामन्तर्मुहूर्तात् परतो यद्भवति तदुपदर्शयन्नाह—

अंतोमुहुत्तपरओ चिंता झाणंतरं व होज्जाहि । सुचिरंपि होज्ज बहुवत्थुसंकमे झाणसंताणो ॥ ४ ॥

व्याख्या—'अन्तर्मुहूर्तात् परत' इति भिन्नमुहूर्तादूर्ध्वं 'चिन्ता' प्रागुक्तस्वरूपा तथा ध्यानान्तरं वा भवेत्, तत्रेह न ध्यानादन्यद् ध्यानं ध्यानान्तरं परिगृह्यते, किं तर्हि ?—भावनानुप्रेक्षात्मकं चेत इति, इदं च ध्यानान्तरं तदुत्तरकालभाविनि ध्याने सति भवति, तत्राप्ययमेव न्याय इतिकृत्वा ध्यानसन्तानप्राप्तिर्यतः अतस्तमेव कालमानं वस्तुसङ्क्रमद्वारेण निरूपयन्नाह—'सुचिरमपि' प्रभूतमपि, कालमिति गम्यते, भवेत् बहुवस्तुसङ्क्रमे सति 'ध्यानसन्तानः' ध्यानप्रवाह इति, तत्र बहूनि च तानि वस्तूनि २ आत्मगतपरगतानि गृह्यन्ते, तत्रात्मगतानि मनःप्रभृतीनि परगतानि द्रव्यादीनीति, तेषु सङ्क्रमः सञ्चरणमिति गाथार्थः ॥ ४ ॥ इत्थं तावत् सप्रसङ्गं ध्यानस्य सामान्येन लक्षणमुक्तम्, अधुना विशेषलक्षणाभिधित्सया ध्यानोद्देशं विशिष्टफलभावं च संक्षेपतः प्रदर्शयन्नाह—

अट्टं रुद्दं धम्मं सुक्कं झाणाइ तत्थ अंताइं । निव्वाणसाहणाइं भवकारणमट्टरुद्दाइं ॥ ५ ॥

व्याख्या—आर्तं रौद्रं धर्म्यं शुक्लं, तत्र ऋतं—दुःखं तन्निमित्तो दृढाध्यवसायः, ऋते भवमार्तं क्लिष्टमित्यर्थः, हिंसाद्यतिक्रौर्यानुगतं रौद्रं, श्रुतचरणधर्मानुगतं धर्म्यं, शोधयत्यष्टप्रकारं कर्ममलं शुचं वा क्लमयतीति शुक्लम्, अमूनि ध्यानानि वर्तन्ते, अधुना फलहेतुत्वमुपदर्शयति—'तत्र' ध्यानचतुष्टये 'अन्त्ये' चरमे सूत्रक्रमप्रामाण्याद्धर्मशुक्ले इत्यर्थः, किं ?—'निर्वा-

प्रत सूत्रांक [सू...]

दीप अनुक्रम [२१..]

आवश्यक-हारिभद्रीया ||५८४||

४प्रतिक्रमणाध्यान-शतकं

णसाधने' इह निर्वृतिः निर्वाणं–सामान्येन सुखमभिधीयते तस्य साधने–करणे इत्यर्थः, ततश्च–'अट्टेणं तिरिक्खगई रुद्दज्झाणेण गम्मती नरयं । धम्मेण देवलोयं सिद्धिगई सुक्कझाणेणं ॥ १ ॥'ति यदुक्तं तदपि न विरुध्यते, देवगतिसिद्धिगत्योः सामान्येन सुखसिद्धेरिति, अथापि निर्वाणं मोक्षस्तथापि पारम्पर्येण धर्मध्यानस्यापि तत्साधनत्वादविरोध इति, तथा 'भवकारणमार्त्तरौद्रे' इति तत्र भवन्त्यस्मिन् कर्मवशवर्तिनः प्राणिन इति भवः–संसार एव, तथाऽप्यत्र व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिः(त्तेः)तिर्यङ्नरकभवग्रह इति गाथार्थः ॥ ५ ॥ साम्प्रतं 'यथोद्देशस्तथा निर्देश' इति न्यायादार्त्तध्यानस्य स्वरूपाभिधानावसरः, तच्च स्वविषयलक्षणभेदतश्चतुर्द्धा, उक्तं च भगवता वाचकमुख्येन–"आर्तममनोज्ञानां सम्प्रयोगे तद्विप्रयोगाय स्मृतिसमन्वाहारः ॥ वेदनायाश्च ॥ विपरीतं मनोज्ञादीनां ॥ निदानं च ॥ (तत्त्वा० अ० ९ सू० ३१-३२-३३-३४) इत्यादि, तत्राऽऽद्यभेदप्रतिपादनायाह—

अमणुण्णाणं सद्दाइविसयवत्थूण दोसमइलस्स । धणियं विओगचिंतणमसंपओगाणुसरणं च ॥ ६ ॥

व्याख्या—'अमनोज्ञाना'मिति मनसोऽनुकूलानि मनोज्ञानि इष्टानीत्यर्थः न मनोज्ञानि अमनोज्ञानि तेषां, केषामित्यत आह–'शब्दादिविषयवस्तूना'मिति शब्दादयश्च ते विषयाश्च, आदिग्रहणाद्वर्णादिपरिग्रहः, विषीदन्ति एतेषु सक्ताः प्राणिन इति विषया इन्द्रियगोचरा वा, वस्तूनि तु तदाधारभूतानि रासभादीनि, ततश्च–शब्दादिविषयाश्च वस्तूनि चेति विग्रहस्तेषां, किं ?–सम्प्राप्तानां सतां 'धणियं' अत्यर्थं 'वियोगचिन्तनं' विप्रयोगचिन्तेति योगः, कथं नु नाम ममैभिर्वि- ||५८४||

१ आर्त्तेन तिर्यग्गतिः रौद्रध्यानेन गम्यते नरकः । धर्मेण देवलोकः सिद्धिगतिः शुक्लध्यानेन ॥ १ ॥

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [सू...]

दीप अनुक्रम [२१..]

योगः स्यादिति भावः ?, अनेन वर्त्तमानकालग्रहः, तथा सति च वियोगेऽसम्प्रयोगानुस्मरणं, कथमेभिः सदैव सम्प्रयोगाभाव इति ?, अनेन चानागतकालग्रहः, चशब्दात् पूर्वमपि वियुक्तासम्प्रयुक्तयोर्बहुमतत्वेनातीतकालग्रह इति, किंविशिष्टस्य सत इदं वियोगचिन्तनाद्यत आह–'द्वेषमलिनस्य' जन्तोरिति गम्यते, तत्राप्रीतिलक्षणो द्वेषस्तेन मलिनस्य–तदाक्रान्तमूर्तेरिति गाथार्थः ॥ ६ ॥ उक्तः प्रथमो भेदः, साम्प्रतं द्वितीयमभिधित्सुराह—

तह सूलसीसरोगाइवेयणाए व(वि) जोगपणिहाणं । तदसंपओगचिंता तप्पडियाराउलमणस्स ॥ ७ ॥

व्याख्या—'तथे'ति धणियम्–अत्यर्थमेव, शूलशिरोरोगवेदनाया इत्यत्र शूलशिरोरोगौ प्रसिद्धौ, आदिशब्दाच्छेषरोगातङ्कपरिग्रहः, ततश्च शूलशिरोरोगादिभ्यो वेदना २, वेद्यत इति वेदना तस्याः, किं ?–'वियोगप्रणिधानं' वियोगे दृढाध्यवसाय इत्यर्थः, अनेन वर्तमानकालग्रहः, अनागतमधिकृत्याह–'तदसम्प्रयोगचिन्ते'ति तस्याः–वेदनायाः कथञ्चिद्भावे सत्यसम्प्रयोगचिन्ता, कथं पुनर्ममानया आयत्यां सम्प्रयोगो न स्यादिति ?, चिन्ता चात्र ध्यानमेव गृह्यते, अनेन च वर्तमानानागतकालग्रहणेनातीतकालग्रहोऽपि कृत एव वेदितव्यः, तत्र च भावनाऽनन्तरगाथायां कृतैव, किंविशिष्टस्य सत इदं वियोगप्राणिधानाद्यत आह–तत्प्रतिकारे–वेदनाप्रतिकारे चिकित्सायामाकुलं–व्यग्रं मनः–अन्तःकरणं यस्य स तथाविधस्तस्य, वियोगप्रणिधानाद्यार्तध्यानमिति गाथार्थः ॥ ७ ॥ उक्तो द्वितीयो भेदः, साम्प्रतं तृतीयमुपदर्शयन्नाह—

इट्ठाणं विसयाईण वेयणाए य रागरत्तस्स । अवियोगऽज्झवसाणं तह संजोगाभिलासो य ॥ ८ ॥

व्याख्या—'इष्टानां' मनोज्ञानां विषयादीनामिति विषयाः–पूर्वोक्ताः आदिशब्दाद् वस्तुपरिग्रहः, तथा 'वेदनायाश्च'

प्रत
सूत्रांक
[सू...]

दीप
अनुक्रम
[२१..]

इष्टाया इति वर्तते, किम् ?–अवियोगाध्यवसानमिति योगः, अविप्रयोगदृढाध्यवसाय इति भावः, अनेन वर्तमानकालग्रहः, तथा संयोगाभिलाषश्चेति, तत्र 'तथेति' धणियमित्यनेनात्यर्थप्रकारोपदर्शनार्थः, संयोगाभिलाषः–कथं ममैभिर्विषयादिभिरायत्यां सम्बन्ध इतीच्छा, अनेन किलानागतकालग्रह इति वृद्धा व्याचक्षते, चशब्दात् पूर्ववदतीतकालग्रह इति, किंविशिष्टस्य सत इदमवियोगाध्यवसानाद्यत आह–रागरक्तस्य, जन्तोरिति गम्यते, तत्राभिष्वङ्गलक्षणो रागस्तेन रक्तस्य-तद्भावितमूर्तेरिति गाथार्थः ॥ ८ ॥ उक्तस्तृतीयो भेदः, साम्प्रतं चतुर्थमभिधित्सुराह—

देविंदचक्कवट्टित्तणाइं गुणरिद्धिपत्थणमईयं । अहमं नियाणचिंतणमण्णाणाणुगयमच्चंतं ॥ ९ ॥

व्याख्या—दीव्यन्तीति देवाः–भवनवास्यादयस्तेषामिन्द्राः–प्रभवो देवेन्द्राः–चमरादयः तथा चक्रं–प्रहरणं तेन विजयाधिपत्ये वर्तितुं शीलमेषामिति चक्रवर्तिनो–भरतादयः, आदिशब्दाद्बलदेवादिपरिग्रहः अमीषां गुणऋद्धयः देवेन्द्रचक्रवर्त्यादिगुणर्द्धयः, तत्र गुणाः–सुरूपादयः ऋद्धिस्तु विभूतिः, तत्प्रार्थनात्मकं तद्याञ्चामयमित्यर्थः, किं तद् ?–'अधमं' जघन्यं 'निदानचिंतनं' निदानाध्यवसायः, अहमनेन तपस्त्यागादिना देवेन्द्रः स्यामित्यादिरूपः, आह–किमितीदमधमम् ?, उच्यते, यस्मादज्ञानानुगतमत्यन्तं, तथा च नाज्ञानिनो विहाय सांसारिकेषु सुखेष्वन्येषामभिलाष उपजायते, उक्तं च–'अज्ञानान्धाश्चटुलवनितापाङ्गविक्षेपितास्ते, कामे सक्तिं दधति विभवाभोगतुङ्गार्जने वा । विद्वच्चित्तं भवति च महत् मोक्षकाङ्क्षैकतानं, नाल्पस्कन्धे विटपिनि कषत्यंसभित्तिं गजेन्द्रः ॥ १ ॥' इति गाथार्थः ॥ ९ ॥ उक्तश्चतुर्थो भेदः, साम्प्रतमिदं यथाभूतस्य भवति यद्वर्द्धनं चेदमिति तदेतदभिधातुकाम आह— ॥५८५॥

प्रत
सूत्रांक
[सू...]

दीप
अनुक्रम
[२१..]

एयं चउव्विहं रागदोसमोहंकियस्स जीवस्स । अट्टज्झाणं संसारवद्धणं तिरियगइमूलं ॥ १० ॥

व्याख्या—'एतद्' अनन्तरोदितं 'चतुर्विधं' चतुष्प्रकारं 'रागद्वेषमोहाङ्कितस्य' रागादिलाञ्छितस्येत्यर्थः, कस्य ?—'जीवस्य' आत्मनः, किम् ?—आर्तध्यानमिति, तथा च इयं चतुष्टयस्यापि क्रिया, किंविशिष्टमित्यत आह—संसारवर्द्धनमोघतः, तिर्यग्गतिमूलं विशेषत इति गाथार्थः ॥ १० ॥ आह—साधोरपि शूलवेदनाभिभूतस्यासमाधानात् तत्प्रतिकारकरणे च तद्विप्रयोगप्रणिधानापत्तेः तथा तपःसंयमासेवने च नियमतः सांसारिकदुःखवियोगप्रणिधानादार्तध्यानप्राप्तिरिति, अत्रोच्यते, रागादिवशवर्तिनो भवत्येव, न पुनरन्यस्येति, आह च ग्रन्थकारः—

मज्झत्थस्स उ मुणिणो सकम्मपरिणामजणियमेयंति । वत्थुस्सभावचिंतणपरस्स समं सहंतस्स ॥ ११ ॥

व्याख्या—मध्ये तिष्ठतीति मध्यस्थः, रागद्वेषयोरिति गम्यते, तस्य मध्यस्थस्य, तुशब्द एवकारार्थः, स चावधारणे, मध्यस्थस्यैव नेतरस्य, मन्यते जगतस्त्रिकालावस्थामिति मुनिस्तस्य मुनेः, साधोरित्यर्थः, स्वकर्मपरिणामजनितमेतत्—शूलादि, यच्च प्राक्कर्मविपरिणामिदैवादशुभमापतति न तत्र परितापाय भवन्ति सन्तः, उक्तं च परममुनिभिः—'पुव्विं खलु भो! कडाणं कम्माणं दुच्चिण्णाणं दुप्पडिक्कंताणं वेइत्ता मोक्खो, नत्थि अवेदइत्ता, तवसा वा झोसइत्ते'त्यादि, एवं वस्तुस्वभावचिन्तनपरस्य 'सम्यक्' शोभनाध्यवसायेन सहमानस्य सतः कुतोऽसमाधानम्?, अपि तु धर्म्यमनिदानमिति वक्ष्यतीति गाथार्थः ॥ ११ ॥ परिहृत आशङ्कागतः प्रथमपक्षः, द्वितीयतृतीयावधिकृत्याह—

१ पूर्वं खलु भोः कृतानां कर्मणां दुश्चीर्णानां दुष्प्रतिक्रान्तानां वेदयित्वा मोक्षो नास्त्यवेदयित्वा तपसा वा क्षपयित्वा.

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्ति:

प्रत सूत्रांक [सू...] दीप अनुक्रम [२१..]

कुणओ व पसत्थालंबणस्स पडियारमप्पसावज्जं । तवसंजमपडियारं च सेवओ धम्ममणियाणं ॥ १२ ॥

व्याख्या—कुर्वतो वा, कस्य ?–प्रशस्तं–ज्ञानाद्युपकारकम् आलम्ब्यत इत्यालम्बनं–प्रवृत्तिनिमित्तं शुभमध्यवसानमित्यर्थः, उक्तं च–'काहं अछित्तिं अदुवा अहीहं, तवोवहाणेसु य उज्जमिस्सं। गणं च णीती अणुसारवेस्सं, सालंबसेवी समुवेइ मोक्खं ॥ १ ॥' इत्यादि, यस्यासौ प्रशस्तालम्बनस्तस्य, किं कुर्वत इत्यत आह–'प्रतीकारं' चिकित्सालक्षणं, किंविशिष्टम् ?–'अल्पसावद्यम्' अवद्यं–पापं सहावद्येन सावद्यम्, अल्पशब्दोऽभाववचनः स्तोकवचनो वा, अल्पं सावद्यं यस्मिन्नसावल्पसावद्यस्तं, धर्म्यमनिदानमेवेति योगः, कुतः ?–निर्दोषत्वात्, निर्दोषत्वं च वचनप्रामाण्याद्, उक्तं च–'गीयत्थो जयणाए कडजोगी कारणंमि निद्दोसो'त्तीत्याद्यागमस्योत्सर्गापवादरूपत्वाद्, अन्यथा परलोकस्य साधयितुमशक्यत्वात्, साधु चैतदिति, तथा 'तपःसंयमप्रतिकारं च सेवमानस्ये'ति तपःसंयमावेव प्रतिकारस्तपःसंयमप्रतिकारः, सांसारिकदुःखानामिति गम्यते, तं च सेवमानस्य, चशब्दात्पूर्वोक्तप्रतिकारं च, किं ?–'धर्म्यं' धर्मध्यानमेव भवति, कथं सेवमानस्य ?–'अनिदान'मिति क्रियाविशेषणं, देवेन्द्रादिनिदानरहितमित्यर्थः, आह–कृत्स्नकर्मक्षयान्मोक्षो भवत्वितीदमपि निदानमेव, उच्यते, सत्यमेतदपि निश्चयतः प्रतिषिद्धमेव, कथं ?–मोक्षे भवे च सर्वत्र, निस्पृहो मुनिसत्तमः । प्रकृत्याऽभ्यासयोगेन, यत उक्तो जिनागमे ॥ १ ॥ इति, तथापि तु भावनायामपरिणतं सत्त्वमङ्गीकृत्य व्यवहारत इदमदुष्टमेव, अनेनैव प्रकारेण तस्य

१ करिष्याम्यच्छित्तिमथवाध्येष्ये तपउपधानयोश्चोद्यंस्यामि । गणं च नीत्या सारयिष्यामि सालम्बसेवी समुपैति मोक्षम् ॥ १ ॥ गीतार्थो यतनया कृतयोगी कारणे निर्दोषः.

प्रत
सूत्रांक
[सू...]

दीप
अनुक्रम
[२१..]

चित्तशुद्धेः क्रियाप्रवृत्तियोगाच्चेत्यत्र बहु वक्तव्यं तत्तु नोच्यते ग्रन्थविस्तरभयादिति गाथार्थः ॥ १२ ॥ अन्ये पुनरिदं गाथाद्वयं चतुर्भेदमप्यार्तध्यानमधिकृत्य साधोः प्रतिषेधरूपतया व्याचक्षते, न च तदत्यन्तसुन्दरं, प्रथमतृतीयपक्षद्वये सम्यगाशङ्काया एवानुपपत्तेरिति॥ आह–उक्तं भवताऽऽर्तध्यानं संसारवर्द्धनमिति, तत्कथम् ?, उच्यते–बीजत्वात् , बीजत्वमेव दर्शयन्नाह—

रागो दोसो मोहो य जेण संसारहेयवो भणिया । अट्टंमि य ते तिण्णिवि तो तं संसारतरुबीयं ॥ १३ ॥

व्याख्या—रागो द्वेषो मोहश्च येन कारणेन 'संसारहेतवः' संसारकारणानि 'भणिता' उक्ताः परममुनिभिरिति गम्यते, 'आर्ते च' आर्तध्याने च ते 'त्रयोऽपि' रागादयः संभवन्ति, यत एवं ततस्तत् 'संसारतरुबीजं' भववृक्षकारणमित्यर्थः। आह–यद्येवमोघत एव संसारतरुबीजं ततश्च तिर्यग्गतिमूलमिति किमर्थमभिधीयते ?, उच्यते, तिर्यग्गतिगमननिबन्धनत्वेनैव संसारतरुबीजमिति, अन्ये तु व्याचक्षते–तिर्यग्गतावेव प्रभूतसत्त्वसम्भवात् स्थितिबहुत्वाच्च संसारोपचार इति गाथार्थः ॥ १३ ॥ इदानीमार्त्तध्यायिनो लेश्याः प्रतिपाद्यन्ते—

कावोयनीलकालालेस्साओ णाइसंकिलिट्ठाओ । अट्टज्झाणोवगयस्स कम्मपरिणामजणिआओ ॥ १४ ॥

व्याख्या—कापोतनीलकृष्णलेश्याः, किम्भूताः ?–'नातिसंक्लिष्टा' रौद्रध्यानलेश्यापेक्षया नातीवाशुभानुभावा भवन्तीति क्रिया, कस्येत्यत आह–आर्तध्यानोपगतस्य, जन्तोरिति गम्यते, किंनिबन्धना एता इत्यत आह–कर्मपरिणामजनिताः, तत्र–'कृष्णादिद्रव्यसाचिव्यात् , परिणामो य आत्मनः । स्फटिकस्येव तत्रायं, लेश्याशब्दः प्रयुज्यते ॥ १ ॥' एताः

प्रत सूत्रांक [सू...]
दीप अनुक्रम [२१..]

आवश्यक-हारिभद्रीया ॥५८७॥

४प्रतिक्रमणाध्यान-शतकं

कर्मोदयायत्ता इति गाथार्थः ॥ १४ ॥ आह–कथं पुनरोघत एवाऽऽर्त्तध्याता ज्ञायत इति ?, उच्यते, लिङ्गेभ्यः, तान्येवोपदर्शयन्नाह—

तस्सऽक्कंदणसोयणपरिदेवणताडणाइं लिंगाइं । इट्ठाणिट्ठविओगाविओगवियणानिमित्ताइं ॥ १५ ॥

व्याख्या—'तस्य' आर्तध्यायिनः आक्रन्दनादीनि लिङ्गानि, तत्राऽऽक्रन्दनं–महता शब्देन विरवणं, शोचनं त्वश्रुपरिपूर्णनयनस्य दैन्यं परिदेवनं–पुनः २ क्लिष्टभाषणं ताडनम्–उरःशिरःकुट्टनकेशलुञ्चनादि, एतानि 'लिङ्गानि' चिह्नानि, अमूनि च इष्टानिष्टवियोगावियोगवेदनानिमित्तानि, तत्रेष्टवियोगनिमित्तानि तथाऽनिष्टावियोगनिमित्तानि तथा वेदनानिमित्तानि चेति गाथार्थः ॥ १५ ॥ किं चान्यत्—

निंदइ य नियकयाइं पसंसइ सविम्हओ विभूईओ । पत्थेइ तासु रज्जइ तयज्जणपरायणो होइ ॥ १६ ॥

व्याख्या—'निन्दति च' कुत्सति च 'निजकृतानि' आत्मकृतानि अल्पफलविफलानि कर्मशिल्पकलावाणिज्यादीन्येतद्गम्यते, तथा 'प्रशंसति' स्तौति बहुमन्यते 'सविस्मयः' साश्चर्यः 'विभूतीः' परसम्पद इत्यर्थः, तथा 'प्रार्थयते' अभिलषति परविभूतीरिति, 'तासु रज्यते' तास्विति प्राप्तासु विभूतिषु रागं गच्छति, तथा 'तदर्जनपरायणो भवति' तासां–विभूतीनामर्जने–उपादाने परायण–उद्युक्तः तदर्जनपरायण इति, ततश्चैवम्भूतो भवति, असावप्यार्तध्यायीति गाथार्थः ॥१६॥ किं च— ॥५८७॥

सद्दाइविसयगिद्धो सद्धम्मपरम्मुहो पमायपरो । जिणमयमणवेक्खंतो वट्टइ अट्टंमि झाणंमि ॥ १७ ॥

व्याख्या—शब्दादयश्च ते विषयाश्च तेषु गृद्धो–मूर्च्छितः काङ्क्षावानित्यर्थः, तथा सद्धर्मपराङ्मुखः प्रमादपरः, तत्र

प्रत
सूत्रांक
[सू...]

दीप
अनुक्रम
[२१..]

दुर्गतौ प्रपतन्तमात्मानं धारयतीति धर्मः सँश्चासौ धर्मश्च सद्धर्मः–क्षान्त्यादिकश्चरणधर्मो गृह्यते ततः पराङ्मुखः, 'प्रमादपरः' मद्यादिप्रमादासक्तः, 'जिनमतमनपेक्षमाणो वर्तते आर्तध्याने' इति तत्र जिनाः–तीर्थकरास्तेषां मतम्–आगमरूपं प्रवचनमित्यर्थः तदनपेक्षमाणः–तन्निरपेक्ष इत्यर्थः, किम् ?–वर्त्तते आर्त्तध्याने इति गाथार्थः ॥ १७॥ साम्प्रतमिदमार्तध्यानं सम्भवमधिकृत्य यदनुगतं यदनर्हं वर्तते तदेतदभिधित्सुराह—

तदविरयदेसविरया पमायपरसंजयाणुगं झाणं । सव्वप्पमायमूलं वज्जेयव्वं जइजणेणं ॥ १८ ॥

व्याख्या—'तद्' आर्तध्यानमिति योगः, 'अविरतदेशविरतप्रमादपरसंयतानुग'मिति तत्राविरता–मिथ्यादृष्टयः सम्यग्दृष्टयश्च देशविरताः–एकव्रताद्यणुव्रतधरभेदाः श्रावकाः प्रमादपराः–प्रमादनिष्ठाश्च ते संयताश्च २ताननुगच्छतीति विग्रहः, नैवाप्रमत्तसंयतानिति भावः, इदं च स्वरूपतः सर्वप्रमादमूलं वर्तते, यतश्चैवमतो 'वर्जयितव्यं' परित्यजनीयं, केन ?–'यतिजनेन' साधुलोकेन, उपलक्षणत्वात् श्रावकजनेन, परित्यागार्हत्वादेवास्येति गाथार्थः ॥ १८ ॥ उक्तमार्तध्यानं, साम्प्रतं रौद्रध्यानावसरः, तदपि चतुर्विधमेव, तद्यथा–हिंसानुबन्धि मृषानुबन्धि स्तेयानुबन्धि विषयसंरक्षणानुबन्धि च, उक्तं चोमास्वातिवाचकेन–"हिंसाऽनृतस्तेयविषयसंरक्षणेभ्यो रौद्र"मित्यादि (तत्त्वार्थे अ० ९–सू० ३६) ॥ तत्राऽऽद्यभेदप्रतिपादनायाह—

सत्तवहवेहबंधणडहणंकणमारणाइपणिहाणं । अइकोहग्गहघत्थं निग्घिणमणसोऽहमविवागं ॥ १९ ॥

व्याख्या—सत्त्वा–एकेन्द्रियादयः तेषां वधवेधबन्धनदहनाङ्कनमारणादिप्रणिधानं तत्र वधः–ताडनं करकशलतादिभिः

प्रत सूत्रांक [सू...]

दीप अनुक्रम [२१..]

आवश्यक-हारिभ-द्रीया ॥५८८॥

४ प्रतिक्रम-णाध्यान-शतकं

वेधस्तु नासिकादिवेधनं कीलिकादिभिः बन्धनं-संयमनं रज्जुनिगडादिभिः दहनं-प्रतीतमुल्मुकादिभिः अङ्कनं-लाञ्छनं श्वशृगालचरणादिभिः मारणं-प्राणवियोजनमसिशक्तिकुन्तादिभिः, आदिशब्दादागाढपरितापनपाटनादिपरिग्रहः, एतेषु प्रणिधानम्-अकुर्वतोऽपि करणं प्रति दृढाध्यवसानमित्यर्थः, प्रकरणाद् रौद्रध्यानमिति गम्यते, किंविशिष्टं प्रणिधानम् ?-'अतिक्रोधग्रहग्रस्तम्' अतीवोत्कटो यः क्रोधः-रोषः स एवापायहेतुत्वाद्ग्रह इव ग्रहस्तेन ग्रस्तम्-अभिभूतं, क्रोधग्रहणाच्च मानादयो गृह्यन्ते, किंविशिष्टस्य सत इदमित्यत आह-'निर्घृणमनसः' निर्घृणं-निर्गतदयं मनः-चित्तमन्तःकरणं यस्य स निर्घृणमनास्तस्य, तदेव विशेष्यते-'अधमविपाक'मिति अधमः-जघन्यो नरकादिप्राप्तिलक्षणो विपाकः-परिणामो यस्य तत्तथाविधमिति गाथार्थः ॥ १९ ॥ उक्तः प्रथमो भेदः, साम्प्रतं द्वितीयमभिधित्सुराह—

पिसुणासब्भासब्भूयभूयघायाइवयणपणिहाणं । मायाविणोऽइसंधणपरस्स पच्छन्नपावस्स ॥ २० ॥

व्याख्या—'पिशुनासभ्यासद्भूतभूतघातादिवचनप्रणिधान'मित्यत्रानिष्टस्य सूचकं पिशुनं पिशुनमनिष्टसूचकं 'पिशुनं सूचकं विदु'रिति वचनात्, सभायां साधु सभ्यं न सभ्यमसभ्यं-जकारमकारादि न सद्भूतमसद्भूतमनृतमित्यर्थः, तच्च व्यवहारनयदर्शनेनोपाधिभेदतस्त्रिधा, तद्यथा-अभूतोद्भावनं भूतनिह्नवोऽर्थान्तराभिधानं चेति, तत्राभूतोद्भावनं यथा-सर्वगतोऽयमात्मेत्यादि, भूतनिह्नवस्तु नास्त्येवात्मेत्यादि, गामश्वमित्यादि ब्रुवतोऽर्थान्तराभिधानमिति, भूतानां-सत्त्वानामुपघातो यस्मिन् तद्भूतोपघातं, छिन्द्धि भिन्द्धि व्यापादय इत्यादि, आदिशब्दः प्रतिभेदं स्वगतानेकभेदप्रदर्शनार्थः, यथा-पिशुनमनेकधाऽनिष्टसूचकमित्यादि, तत्र पिशुनादिवचनेष्वप्रवर्तमानस्यापि प्रवृत्तिं प्रति प्रणिधानं-दृढाध्यवसानलक्षणं,

॥५८८॥

प्रत सूत्रांक [सू...]

दीप अनुक्रम [२१..]

रौद्रध्यानमिति प्रकरणाद्गम्यते, किंविशिष्टस्य सत इत्यत आह–माया–निकृतिः साऽस्यास्तीति मायावी तस्य मायाविनो–वणिजादेः, तथा 'अतिसन्धानपरस्य' परवञ्चनाप्रवृत्तस्य, अनेनाशेषेष्वपि प्रवृत्तिमप्या(स्या)ह, तथा 'प्रच्छन्नपापस्य' कूटप्रयोगकारिणस्तस्यैव, अथवा धिग्जातिककुतीर्थिकादेरसद्भूतगुणं गुणवन्तमात्मानं ख्यापयतः, तथाहि–गुणरहितमप्यात्मानं यो गुणवन्तं ख्यापयति न तस्मादपरः प्रच्छन्नपापोऽस्तीति गाथार्थः ॥ २० ॥ उक्तो द्वितीयो भेदः, साम्प्रतं तृतीयमुपदर्शयति—

तह तिव्वकोहलोहाउलस्स भूओवघायणमणज्जं । परदव्वहरणचित्तं परलोयावायनिरवेक्खं ॥ २१ ॥

व्याख्या—तथाशब्दो दृढाध्यवसायप्रकारसादृश्योपदर्शनार्थः, तीव्रौ–उत्कटौ तौ क्रोधलोभौ च २ ताभ्यामाकुलः–अभिभूतस्तस्य, जन्तोरिति गम्यते, किं ?–'भूतोपहननमनार्य'मिति हन्यतेऽनेनेति हननम् उप–सामीप्येन हननम् उपहननं भूतानामुपहननं भूतोपहननम्, आराद्यातं सर्वहेयधर्मेभ्य इत्यार्यं नाऽऽर्यमनार्यं, किं तदेवंविधमित्यत आह–परद्रव्यहरणचित्तं, रौद्रध्यानमिति गम्यते, परेषां द्रव्यं २ सचित्तादि तद्विषयं हरणचित्तं २ परद्रव्यहरणचित्तं, तदेव विशेष्यते–किम्भूतं तदित्यत आह–'परलोकापायनिरपेक्ष'मिति, तत्र परलोकापायाः–नरकगमनादयस्तन्निरपेक्षमिति गाथार्थः ॥ २१ ॥ उक्तस्तृतीयो भेदः, साम्प्रतं चतुर्थं भेदमुपदर्शयन्नाह—

सद्दाइविसयसाहणधणसारक्खणपरायणमणिट्ठं । सव्वाभिसंकणपरोवघायकलुसाउलं चित्तं ॥ २२ ॥

व्याख्या—शब्दादयश्च ते विषयाश्च शब्दादिविषयास्तेषां साधनं–कारणं शब्दादिविषयसाधनं च (तच्च) तद्धनं च शब्दादिविषयसाधनधनं तत्संरक्षणे–तत्परिपालने परायणम्–उद्युक्तमिति विग्रहः, तथाऽनिष्टं–सतामनभिलषणीयमित्यर्थः, इदमेव

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्ति:

प्रत सूत्रांक [सू...]

दीप अनुक्रम [२१..]

विशेष्यते–सर्वेषामभिशङ्कनेनाकुलमिति संबध्यते–न विघ्नः कः किं करिष्यतीत्यादिलक्षणेन, तस्मात्सर्वेषां यथाशक्त्योपघात एव श्रेयानित्येवं परोपघातेन च, तथा कलुषयन्त्यात्मानमिति कलुषाः–कषायास्तैराकुलं–व्याप्तं यत् तत् तथोच्यते, चित्तम्–अन्तःकरणं, प्रकरणाद्रौद्रध्यानमिति गम्यते, इह च शब्दादिविषयसाधनं धनविशेषणं किल श्रावकस्य चैत्यधनसंरक्षणे न रौद्रध्यानमिति ज्ञापनार्थमिति गाथार्थः ॥ २२ ॥ साम्प्रतं विशेषणाभिधानगर्भमुपसंहरन्नाह—

इय करणकारणाणुमइविसयमणुचिंतणं चउब्भेयं । अविरयदेसासंजयजणमणसंसेवियमहण्णं ॥ २३ ॥

व्याख्या—'इय' एवं करणं स्वयमेव कारणमन्यैः कृतानुमोदनमनुमतिः करणं च कारणं चानुमतिश्च करणकारणानुमतयः एता एव विषयः–गोचरो यस्य तत्करणकारणानुमतिविषयं, किमिदमित्यत आह–'अनुचिन्तनं' पर्यालोचनमित्यर्थः, 'चतुर्भेदं' इति हिंसानुबन्ध्यादि चतुष्प्रकारं, रौद्रध्यानमिति गम्यते, अधुनेदमेव स्वामिद्वारेण निरूपयति–अविरताः–सम्यग्दृष्टयः, इतरे च देशासंयताः–श्रावकाः, अनेन सर्वसंयतव्यवच्छेदमाह, अविरतदेशासंयता एव जनाः २ तेषां मनांसि–चित्तानि तैः संसेवितं, सञ्चिन्तितमित्यर्थः, मनोग्रहणमित्यत्र ध्यानचिन्तायां प्रधानाङ्गख्यापनार्थम्, 'अधन्य'-मित्यश्रेयस्करं पापं निन्द्यमिति गाथार्थः ॥२३॥ अधुनेदं यथाभूतस्य भवति यद्वर्द्धनं चेदमिति तदेतदभिधातुकाम आह— ॥५८९॥

एयं चउव्विहं रागदोसमोहाउलस्स जीवस्स । रोद्दज्झाणं संसारवद्धणं नरयगइमूलं ॥ २४ ॥

व्याख्या—'एतद्' अनन्तरोक्तं 'चतुर्विधं' चतुष्प्रकारं रागद्वेषमोहाङ्कितस्य आकुलस्य वेति पाठान्तरं, कस्य ?–'जीवस्य'

प्रत
सूत्रांक
[सू...]

दीप
अनुक्रम
[२१..]

आत्मनः, किं ?–रौद्रध्यानमिति, इयमत्र चतुष्टयस्यापि क्रिया, किंविशिष्टमिदमित्यत आह–'संसारवर्द्धनम्' ओघतः 'नरकगतिमूलं' विशेषत इति गाथार्थः ॥ २४ ॥ साम्प्रतं रौद्रध्यायिनो लेश्याः प्रतिपाद्यन्ते—

काबोयनीलकाला लेसाओ तिव्वसंकिलिट्ठाओ । रोद्दज्झाणोवगयस्स कम्मपरिणामजणियाओ ॥ २५ ॥

व्याख्या—पूर्ववद् व्याख्येया, एतावाँस्तु विशेषः–तीव्रसंक्लिष्टाः–अतिसंक्लिष्टा एता इति, आह–कथं पुनः रौद्रध्यायी ज्ञायत इति ?, उच्यते, लिङ्गेभ्यः, तान्येवोपदर्शयति—

लिंगाइँ तस्स उस्सण्णबहुलनाणाविहामरणदोसा । तेसिं चिय हिंसाइसु बाहिरकरणोवउत्तस्स ॥ २६ ॥

व्याख्या—'लिङ्गानि' चिह्नानि 'तस्य' रौद्रध्यायिनः, 'उत्सन्नबहुलनानाविधामरणदोषा' इत्यत्र दोषशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते, उत्सन्नदोषः बहुलदोषः नानाविधदोषः आमरणदोषश्चेति, तत्र हिंसानुबन्ध्यादीनामन्यतरस्मिन् प्रवर्तमान उत्सन्नम्–अनुपरतं बाहुल्येन प्रवर्तते इत्युत्सन्नदोषः, सर्वेष्वपि चैवमेव प्रवर्तत इति बहुलदोषः, नानाविधेषु त्वक्त्वक्षणनयनोत्खननादिषु हिंसाद्युपायेष्वसकृदप्येवं प्रवर्तत इति नानाविधदोषः, महदापद्गतोऽपि स्वतः महदापद्गतेऽपि च परे आमरणादसञ्जातानुतापः कालसौकरिकवद् अपि त्वसमासानुतापानुशयपर इत्यामरणदोष इति तेष्वेव हिंसादिषु, आदिशब्दान्मृषावादादिपरिग्रहः, ततश्च तेष्वेव हिंसानुबन्ध्यादिषु चतुर्भेदेषु, किं ?–बाह्यकरणोपयुक्तस्य सत उत्सन्नादिदोषलिङ्गानीति, बाह्यकरणशब्देनेह वाक्कायौ गृह्येते, ततश्च ताभ्यामपि तीव्रमुपयुक्तस्येति गाथार्थः ॥ किं च—

परवसणं अहिनंदइ निरवेक्खो निद्दओ निरणुतावो । हरिसिज्जइ कयपावो रोद्दज्झाणोवगयचित्तो ॥ २७ ॥

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्ति:

प्रत सूत्रांक [सू...]

दीप अनुक्रम [२१..]

आवश्यक-हारिभद्रीया ||५९०||

४प्रतिक्रमणाध्यान-शतकं ||५९०||

व्याख्या—इहाऽऽत्मव्यतिरिक्तो योऽन्यः स परस्तस्य व्यसनम्–आपत् परव्यसनं तद् 'अभिनन्दति' अतिक्लिष्टचित्तत्वाद्बहु मन्यत इत्यर्थः, शोभनमिदं यदेतदित्थं संवृत्तमिति, तथा 'निरपेक्ष' इहान्यभविकापायभयरहितः, तथा निर्गतदयो निर्दयः, परानुकम्पाशून्य इत्यर्थः, तथा निर्गतानुतापो निरनुतापः, पश्चात्तापरहित इति भावः, तथा किंच–'हृष्यते' तुष्यति 'कृतपापः' निर्वर्तितपापः सिंहमारकवत्, क इत्यत आह–रौद्रध्यानोपगचित्त इति, अमूनि च लिङ्गानि वर्तन्त इति गाथार्थः ॥ २७ ॥ उक्तं रौद्रध्यानं, साम्प्रतं धर्मध्यानावसरः, तत्र तदभिधित्सयैवादाविदं द्वारगाथाद्वयमाह—

झाणस्स भावणाओ देसं कालं तहाऽऽसणविसेसं । आलंबणं कमं झाइयव्वयं जे य झायारो ॥ २८ ॥

तत्तोऽणुप्पेहाओ लेस्सा लिंगं फलं च नाऊणं । धम्मं झाइज्ज मुणी तग्गयजोगो तओ सुक्कं ॥ २९ ॥

व्याख्या—'ध्यानस्य' प्राग्निरूपितशब्दार्थस्य, किं ?–'भावना' ज्ञानाद्याः, ज्ञात्वेति योगः, किं च–'देशं' तदुचितं, कालं तथा आसनविशेषं तदुचितमिति, 'आलम्बनं' वाचनादि, 'क्रमं' मनोनिरोधादि, तथा 'ध्यातव्यं' ध्येयमाज्ञादि, तथा ये च 'ध्यातारः' अप्रमादादियुक्ताः, ततः 'अनुप्रेक्षा' ध्यानोपरमकालभाविन्योऽनित्यत्वाद्यालोचनारूपाः, तथा 'लेश्याः' शुद्धा एव, तथा 'लिङ्गं' श्रद्धानादि, तथा 'फलं' सुरलोकादि, चशब्दः स्वगतानेकभेदप्रदर्शनपरः, एतद् ज्ञात्वा, किं ?–'धर्म्यम्' इति धर्मध्यानं ध्यायेन्मुनिरिति, 'तत्कृतयोगः' धर्मध्यानकृताभ्यासः, 'ततः' पश्चात् शुक्लध्यानमिति गाथाद्वयसमासार्थः ॥ २८–२९ ॥ व्यासार्थं तु प्रतिद्वारं ग्रन्थकारः स्वयमेव वक्ष्यति, तत्राऽऽद्यद्वारावयवार्थप्रतिपादनायाह—

पुव्वकयब्भासो भावणाहि झाणस्स जोग्गयमुवेइ । ताओ य नाणदंसणचरित्तवेरग्गजणियाओ ॥ ३० ॥

प्रत सूत्रांक [सू...] दीप अनुक्रम [२१..]

व्याख्या—पूर्वं-ध्यानात् प्रथमं कृतः-निर्वर्तितोऽभ्यासः-आसेवनालक्षणो येन स तथाविधः, काभिः पूर्वकृताभ्यासः ?-'भावनाभिः' करणभूताभिः भावनासु वा-भावनाविषये पश्चाद् 'ध्यानस्य' अधिकृतस्य 'योग्यताम्' अनुरूपताम् 'उपैति' यातीत्यर्थः, 'ताश्च' भावना ज्ञानदर्शनचारित्रवैराग्यनियता वर्तन्ते, नियताः-परिच्छिन्नाः पाठान्तरं वा जनिता इति गाथार्थः ॥ ३० ॥ साम्प्रतं ज्ञानभावनास्वरूपगुणदर्शनायेदमाह—

णाणे णिच्चब्भासो कुणइ मणोधारणं विसुद्धिं च । नाणगुणमुणियसारो तो झाइ सुनिच्चलमईओ ॥ ३१ ॥

व्याख्या—'ज्ञाने' श्रुतज्ञाने, नित्यं-सदा अभ्यासः-आसेवनालक्षणः 'करोति' निर्वर्तयति, किं ?-मनसः-अन्तःकरणस्य, चेतस इत्यर्थः, धारणम्-अशुभव्यापारनिरोधेनावस्थानमिति भावना, तथा 'विशुद्धिं च' तत्र विशोधनं विशुद्धिः, सूत्रार्थयोरिति गम्यते, तां, चशब्दाद्भवनिर्वेदं च, एवं 'ज्ञानगुणमुणितसार' इति ज्ञानेन गुणानां-जीवाजीवाश्रितानां 'गुणपर्यायवत् द्रव्य'मिति (तत्त्वा० अ० ५ सू० ३७) वचनात् पर्यायाणां च तदविनाभाविनां मुणितः-ज्ञातः सारः-परमार्थो येन स तथोच्यते, ज्ञानगुणेन वा-ज्ञानमाहात्म्येनेति भावः ज्ञातः सारो येन, विश्वस्येति गम्यते, स तथाविधः, ततश्च पश्चाद् 'ध्यायति' चिन्तयति, किंविशिष्टः सन् ?-सुष्ठु-अतिशयेन निश्चला-निष्प्रकम्पा सम्यग्ज्ञानतोऽन्यथाप्रवृत्तिकम्परहितेति भावः मतिः-बुद्धिर्यस्य स तथाविध इति गाथार्थः ॥ ३१ ॥ उक्ता ज्ञानभावना, साम्प्रतं दर्शनभावनास्वरूपगुणदर्शनार्थमिदमाह—

संकाइदोसरहिओ पसमथेज्जाइगुणगणोवेओ । होइ असंमूढमणो दंसणसुद्धीऍ झाणंमि ॥ ३२ ॥

प्रत सूत्रांक [सू...]

दीप अनुक्रम [२१..]

आवश्यक-हारिभद्रीया ॥५९१॥

४प्रतिक्रमणाध्यान-शतकं

व्याख्या—'शङ्कादिदोषरहितः' शङ्कनं-शङ्का, आदिशब्दात् काङ्क्षादिपरिग्रहः, उक्तं च—'शङ्काकाङ्क्षाविचिकित्साऽन्यदृष्टिप्रशंसापरपाषण्डसंस्तवाः सम्यग्दृष्टेरतिचाराः (तत्त्वा० अ० १ सू० १८) इति, एतेषां च स्वरूपं प्रत्याख्यानाध्ययने न्यक्षेण वक्ष्यामः, तत्र शङ्कादय एव सम्यक्त्वाख्यप्रथमगुणातिचारत्वात् दोषाः शङ्कादिदोषास्तैः रहितः-त्यक्तः, उक्तदोषरहितत्वादेव, किं ?-'प्रश(श्र)मस्थैर्यादिगुणगणोपेतः' तत्र प्रकर्षेण श्रमः प्रश्रमः-खेदः, स च स्वपरसमयतत्त्वाधिगमरूपः, स्थैर्यं तु जिनशासने निष्प्रकम्पता, आदिशब्दात्प्रभावनादिपरिग्रहः, उक्तं च-'सपरसमयकोसल्लं थिरया जिणसासणे पभावणया । आययणसेव भत्ती दंसणदीवा गुणा पंच ॥ १ ॥' प्रश्रमस्थैर्यादय एव गुणास्तेषां गणः-समूहस्तेनोपेतो-युक्तो यः स तथाविधः, अथवा प्रशमादिना स्थैर्यादिना च गुणगणेनोपेतः २, तत्र प्रशमादिगुणगणः-प्रशमसंवेगनिर्वेदानुकम्पास्तिक्याभिव्यक्तिलक्षणः, स्थैर्यादिस्तु दर्शित एव, य इत्थम्भूतः असौ भवति 'असम्मूढमनाः' तत्त्वान्तरेऽभ्रान्तचित्त इत्यर्थः, 'दर्शनशुद्ध्या' उक्तलक्षणया हेतुभूतया, क ?-ध्यान इति गाथार्थः ॥ ३२ ॥ उक्ता दर्शनभावना, साम्प्रतं चारित्रभावनास्वरूपगुणदर्शनायेदमाह—

नवकम्माणायाणं पोराणविणिज्जरं सुभायाणं । चारित्तभावणाए झाणमयत्तेण य समेइ ॥ ३३ ॥

व्याख्या—'नवकर्मणामनादान'मिति नवानि-उपचीयमानानि प्रत्यग्राणि भण्यन्ते, क्रियन्त इति कर्माणि-ज्ञानावरणीयादीनि तेषामनादानम्-अग्रहणं चारित्रभावनया 'समेति' गच्छतीति योगः, तथा 'पुराणविनिर्जरां' चिरन्तनक्षपणा- ॥५९१॥

१ स्वपरसमयकौशलं स्थिरता जिनशासने प्रभावना । आयतनसेवा भक्तिः दर्शनदीपका गुणाः पञ्च ॥ १ ॥

प्रत सूत्रांक [सू...]

दीप अनुक्रम [२१..]

मित्यर्थः, तथा 'शुभादान'मिति शुभं–पुण्यं सातसम्यक्त्वहास्यरतिपुरुषवेदशुभायुर्नामगोत्रात्मकं तस्याऽऽदानं–ग्रहणं, किं ?–'चारित्रभावनया' हेतुभूतया, ध्यानं च चशब्दान्नवकर्मानादानादि च 'अयत्नेन' अक्लेशेन 'समेति' गच्छति प्राप्नोतीत्यर्थः। तत्र चारित्रभावनयेति कोऽर्थः ?–'चर गतिभक्षणयोः' इत्यस्य 'अर्तिलूधूसूखनिसहिचर इत्रन्' (पा० ३–२–१८४) इतीत्रन्प्रत्ययान्तस्य चरित्रमिति भवति, चरन्त्यनन्दितमनेनेति चरित्रं–क्षयोपशमरूपं तस्य भावश्चारित्रम्, एतदुक्तं भवति–इहान्यजन्मोपात्ताष्टविधकर्मसञ्चयापचयाय चरणभावश्चारित्रमिति, सर्वसावद्ययोगविनिवृत्तिरूपा क्रिया इत्यर्थः, तस्य भावना–अभ्यासश्चारित्रभावनेति गाथार्थः ॥ ३३ ॥ उक्ता चारित्रभावना, साम्प्रतं वैराग्यभावनास्वरूपगुणदर्शनार्थमाह—

सुविदियजगस्सभावो निस्संगो निब्भओ निरासो य। वेरग्गभावियमणो झाणंमि सुनिच्चलो होइ ॥ ३४ ॥

व्याख्या—सुष्ठु–अतीव विदितः–ज्ञातो जगतः–चराचरस्य, यथोक्तं–'जगन्ति जङ्गमान्याहुर्जगद् ज्ञेयं चराचरम्' स्वो भावः स्वभावः,–'जन्म मरणाय नियतं बन्धुर्दुःखाय धनमनिर्वृतये। तन्नास्ति यन्न विपदे तथापि लोको निरालोकः ॥ १ ॥' इत्यादिलक्षणो येन स तथाविधः, कदाचिदेवम्भूतोऽपि कर्मपरिणतिवशात्ससङ्गो भवत्यत आह–'निःसङ्गः' विषयजस्नेहसङ्गरहितः, एवम्भूतोऽपि च कदाचित्सभयो भवत्यत आह–'निर्भयः' इहलोकादिसप्तभयविप्रमुक्तः, कदाचिदेवम्भूतोऽपि विशिष्टपरिणत्यभावात्परलोकमधिकृत्य साशंसो भवत्यत आह–'निराशंसश्च' इहपरलोकाशंसाविप्रमुक्तः, चशब्दात्तथाविधक्रोधादिरहितश्च, य एवंविधो वैराग्यभावितमना भवति स खल्वज्ञानाद्युपद्रवरहितत्वाद् ध्याने सुनिश्चलो भवतीति

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्ति:

प्रत सूत्रांक [सू...]

दीप अनुक्रम [२१..]

आवश्यक-हारिभद्रीया ॥५९२॥

४प्रतिक्रमणाध्यान-शतकं

गाथार्थः ॥ ३४ ॥ उक्ता वैराग्यभावना । मूलद्वारगाथाद्वये ध्यानस्य भावना इति व्याख्यातम्, अधुना देशद्वारव्याचिख्यासयाऽऽह—

निच्चं चिय जुवइपसूनपुंसगकुसीलवज्जियं जइणो । ठाणं वियणं भणियं विसेसओ झाणकालंमि ॥ ३५ ॥

व्याख्या—'नित्यमेव' सर्वकालमेव, न केवलं ध्यानकाल इति, किं ?–'युवतिपशुनपुंसककुशीलपरिवर्जितं यतेः स्थानं विजनं भणित'मिति, तत्र युवतिशब्देन मनुष्यस्त्री देवी च परिगृह्यते, पशुशब्देन तु तिर्यक्स्त्रीति नपुंसकं–प्रतीतं कुत्सितं–निन्दितं शीलं–वृत्तं येषां ते कुशीलाः, ते च तथाविधा द्यूतकारादयः, उक्तं च–'जूईयरसोलमेंठा वट्टा उब्भायगादिणो जे य । एए होंति कुसीला वज्जेयव्वा पयत्तेणं ॥ १ ॥' युवतिश्च पशुश्चेत्यादि द्वन्द्वः, युवत्यादिभिः परि–समन्तात् वर्जितं–रहितमिति विग्रहः, यतेः–तपस्विनः साधोः, 'एकग्रहणे तज्जातीयग्रहण'मिति साध्व्याश्च योग्यं यतिनपुंसकस्य च, किं ?–स्थानम्–अवकाशलक्षणं, तदेव विशेष्यते–युवत्यादिव्यतिरिक्तशेषजनापेक्षया विगतजनं विजनं भणितम्–उक्तं तीर्थकरैर्गणधरैश्चेदमेवम्भूतं नित्यमेव, अन्यत्र प्रवचनोक्तदोषसम्भवात्, विशेषतो ध्यानकाल इत्यपरिणतयोगादिनाऽन्यत्र ध्यानस्याऽऽराधयितुमशक्यत्वादिति गाथार्थः ॥ ३५ ॥ इत्थं तावदपरिणतयोगादीनां स्थानमुक्तम्, अधुना परिणतयोगादीनधिकृत्य विशेषमाह— ॥ ५९२॥

थिरकयजोगाणं पुण मुणीण झाणे सुनिच्चलमणाणं । गामंमि जणाइण्णे सुण्णे रण्णे व ण विसेसो ॥ ३६ ॥

१ द्यूतकाराः कलाला मेण्ठाश्छट्टा उद्भ्रामका इत्यादयो ये च । एते भवन्ति कुशीला वर्जयितव्याः प्रयत्नेन ॥ १ ॥

व्याख्या—तत्र स्थिराः-संहननधृतिभ्यां बलवन्त उच्यन्ते, कृता-निर्वर्तिता अभ्यस्ता इतियावत्, के ?-युज्यन्त इति योगाः-ज्ञानादिभावनाव्यापाराः सत्त्वसूत्रतपःप्रभृतयो वा यैस्ते कृतयोगाः, स्थिराश्च ते कृतयोगाश्चेति विग्रहस्तेषाम्, अत्र च स्थिरकृतयोगयोश्चतुर्भङ्गी भवति, तद्यथा-'थिरे णामेगे णो कयजोगे'इत्यादि, स्थिरा वा-पौनःपुन्यकरणेन परिचिताः कृता योगा यैस्ते तथाविधास्तेषां, पुनःशब्दो विशेषणार्थः, किं विशिनष्टि ?-तृतीयभङ्गवतां न शेषाणां, स्वभ्यस्तयोगानां वा मुनीनामिति, मन्यन्ते जीवादीन् पदार्थानिति मुनयो-विपश्चित्साधवस्तेषां च, तथा ध्याने-अधिकृत एव धर्मध्याने सुष्ठु-अतिशयेन निश्चलं-निष्प्रकम्पं मनो येषां ते तथाविधास्तेषाम्, एवंविधानां स्थानं प्रति ग्रामे जनाकीर्णे शून्येऽरण्ये वा न विशेष इति, तत्र ग्रसति बुद्ध्यादीन् गुणान् गम्यो वा करादीनामिति ग्रामः-सन्निवेशविशेषः, इह 'एकग्रहणे तज्जातीयग्रहणा'न्नगरखेटकर्बटादिपरिग्रह इति, जनाकीर्णे-जनाकुले ग्राम एवोद्यानादौ वा, तथा शून्ये तस्मिन्नेवारण्ये वा कान्तारे वेति, वा विकल्पे, न विशेषो-न भेदः, सर्वत्र तुल्यभावत्वात्परिणतत्वात्तेषामिति गाथार्थः ॥ ३६ ॥ यतश्चैवं—

जो (तो) जत्थ समाहाणं होज्ज मणोवयणकायजोगाणं । भूओवरोहरहिओ सो देसो झायमाणस्स ॥ ३७ ॥

व्याख्या—यत एव तदुक्तं 'ततः' तस्मात्कारणाद् 'यत्र' ग्रामादौ स्थाने 'समाधानं' स्वास्थ्यं 'भवति' जायते, केषामित्यत आह-'मनोवाक्काययोगानां' प्राग्निरूपितस्वरूपाणामिति, आह-मनोयोगसमाधानमस्तु, वाक्काययोगसमाधानं तत्र क्वोपयुज्यते ?, न हि तन्मयं ध्यानं भवति, अत्रोच्यते, तत्समाधानं तावन्मनोयोगोपकारकं, ध्यानमपि च तदात्मकं भव-

प्रत सूत्रांक [सू...] दीप अनुक्रम [२१..]

आवश्यक-हारिभद्रीया ॥५९३॥ | ४प्रतिक्रमणाध्यान-शतकं

त्येव, यथोक्तम्–'एवंविहा गिरा मे वत्तवा एरिसी न वत्तवा । इय वेयालियवक्कस्स भासओ वाइगं झाणं ॥ १ ॥' तथा–'सुसमाहियकरपायस्स अकज्जे कारणंमि जयणाए । किरियाकरणं जं तं काइयझाणं भवे जइणो ॥ २ ॥' न चात्र समाधानमात्रकारित्वमेव गृह्यते, किन्तु भूतोपरोधरहितः, तत्र भूतानि–पृथिव्यादीनि उपरोधः–तत्सङ्घट्टनादिलक्षणः तेन रहितः–परित्यक्तो यः 'एकग्रहणे तज्जातीयग्रहणाद्' अनृतादत्तादानमैथुनपरिग्रहाद्युपरोधरहितश्च स देशो 'ध्यायतः' चिन्तयतः, उचित इति शेषः, अयं गाथार्थः ॥ ३७ ॥ गतं देशद्वारम्, अधुना कालद्वारमभिधित्सुराह—

कालोऽवि सोच्चिय जहिं जोगसमाहाणमुत्तमं लहइ । न उ दिवसनिसावेलाइनियमणं झाइणो भणियं ॥ ३८ ॥

व्याख्या—कलनं कालः कलासमूहो वा कालः, स चार्द्धतृतीयेषु द्वीपसमुद्रेषु चन्द्रसूर्यगतिक्रियोपलक्षितो दिवसादिरवसेयः, अपिशब्दो देशानियमेन तुल्यत्वसम्भावनार्थः, तथा चाह–कालोऽपि स एव, ध्यानोचित इति गम्यते, 'यत्र' काले 'योगसमाधानं' मनोयोगादिस्वास्थ्यम् 'उत्तमं' प्रधानं 'लभते' प्राप्नोति, 'न तु' न पुनर्नैव च, तुशब्दस्य पुनःशब्दार्थत्वादेवकारार्थत्वाद्वा, किं ?–दिवसनिशावेलादिनियमनं ध्यायिनो भणितमिति, दिवसनिशे प्रतीते, वेला सामान्यत एव, तदेकदेशो मुहूर्तादिः, आदिशब्दात् पूर्वाह्णापराह्णादि वा, एतन्नियमनं दिवैवेत्यादिलक्षणं, ध्यायिनः–सत्त्वस्य भणितम्–उक्तं तीर्थकरगणधरैर्नैवेति गाथार्थः ॥ ३८ ॥ गतं कालद्वारं, साम्प्रतमासनविशेषद्वारं व्याचिख्यासयाऽऽह— ॥५९३॥

---

१ एवंविधाः गीर्मया वक्तव्येदृशी न वक्तव्या । इति विचारितवाक्यस्य भाषमाणस्य वाचिकं ध्यानम् ॥ १ ॥ सुसमाहितकरपादस्याकार्ये कारणे यतनया । क्रियाकरणं यत्तत्कायिकं भवेत् यतेः ध्यानं ॥ २ ॥

प्रत सूत्रांक [सू...]

दीप अनुक्रम [२१..]

अच्चिय देहावत्था जिया ण झाणोवरोहिणी होइ । झाइज्जा तदवत्थो ठिओ निसण्णो निवण्णो वा ॥ ३९ ॥

व्याख्या—इहैव या काचिद् 'देहावस्था' शरीरावस्था निषण्णादिरूपा, किं ?–'जिता' इत्यभ्यस्ता उचिता वा, तथाऽनुष्ठीयमाना 'न ध्यानोपरोधिनी भवति' नाधिकृतधर्मध्यानपीडाकरी भवतीत्यर्थः, 'ध्यायेत् तदवस्थ' इति सैवावस्था यस्य स तदवस्थः, तामेव विशेषतः प्राह–'स्थितः' कायोत्सर्गेणेषन्नतादिना 'निषण्णः' उपविष्टो वीरासनादिना 'निर्विण्णः' सन्निविष्टो दण्डायतादिना 'वा' विभाषायामिति गाथार्थः ॥ ३९ ॥ आह–किं पुनरयं देशकालासनानामनियम इति ?, अत्रोच्यते,

सव्वासु वट्टमाणा मुणओ जं देसकालचेट्ठासु । वरकेवलाइलाभं पत्ता बहुसो समियपावा ॥ ४० ॥

व्याख्या—'सर्वासु' इत्यशेषासु, देशकालचेष्टासु इति योगः, चेष्टा–देहावस्था, किं ?–'वर्तमानाः' अवस्थिताः, के ?–'मुनयः' प्राग्निरूपितशब्दार्थाः 'यद्' यस्मात्कारणात्, किं ?–वरः–प्रधानश्चासौ केवलादिलाभश्च २ तं प्राप्ता इति, आदिशब्दान्मनःपर्यायज्ञानादिपरिग्रहः, किं सकृदेव प्राप्ताः ?, न, केवलवर्जं 'बहुशः' अनेकशः, किंविशिष्टाः ?–'शान्तपापाः' तत्र पातयति नरकादिष्विति पापं शान्तम्–उपशमं नीतं पापं यैस्ते तथाविधा इति गाथार्थः ॥ ४० ॥

तो देसकालचेट्ठानियमो झाणस्स नत्थि समयंमि । जोगाण समाहाणं जह होइ तहा (प)यइयव्वं ॥ ४१ ॥

व्याख्या—यस्मादिति पूर्वगाथायामुक्तं तेन सहास्याभिसम्बन्धः, तस्माद्देशकालचेष्टानियमो ध्यानस्य 'नास्ति' न विद्यते, क्व ?–'समये' आगमे, किन्तु 'योगानां' मनःप्रभृतीनां 'समाधानं' पूर्वोक्तं यथा भवति तथा (प्र) 'यतितव्यं' (प्र)-यत्नः कार्य इत्यत्र नियम एवेति गाथार्थः ॥ ४१ ॥ गतमासनद्वारम्, अधुनाऽऽलम्बनद्वारावयवार्थप्रतिपादनायाह—

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [सू...] दीप अनुक्रम [२१..]

आलंबणाई वायणपुच्छणपरियट्टणाणुचिंताओ । सामाइयाइयाइं सद्धम्मावस्सयाइं च ॥ ४२ ॥

व्याख्या—इह धर्मध्यानारोहणार्थमालम्ब्यन्त इत्यालम्बनानि 'वाचनाप्रश्नपरावर्तनानुचिन्ता' इति तत्र वाचनं वाचना, विनेयाय निर्जरायै सूत्रादिदानमित्यर्थः, शङ्किते सूत्रादौ संशयापनोदाय गुरुप्रच्छनं प्रश्न इति, परावर्तनं तु पूर्वाधीतस्यैव सूत्रादेरविस्मरणनिर्जरानिमित्तमभ्यासकरणमिति, अनुचिन्तनम् अनुचिन्ता मनसैवाविस्मरणादिनिमित्तं सूत्रानुस्मरणमित्यर्थः, वाचना च प्रश्नश्चेत्यादि द्वन्द्वः, एतानि च श्रुतधर्मानुगतानि वर्तन्ते, तथा सामायिकादीनि सद्धर्मावश्यकानि चेति, अमूनि तु चरणधर्मानुगतानि वर्तन्ते, सामायिकमादौ येषां तानि सामायिकादीनि, तत्र सामायिकं प्रतीतम्, आदिशब्दान्मुखवस्त्रिकाप्रत्युपेक्षणादिलक्षणसकलचक्रवालसामाचारीपरिग्रहो यावत् पुनरपि सामायिकमिति, एतान्येव विधिवदासेव्यमानानि सन्ति–शोभनानि सन्ति च तानि चारित्रधर्मावश्यकानि चेति विग्रहः, आवश्यकानि–नियमतः करणीयानि, चः समुच्चये इति गाथार्थः ॥ ४२ ॥ साम्प्रतममीषामेवाऽऽलम्बनत्वे निबन्धनमाह—

विसमंमि समारोहइ दढदव्वालंबणो जहा पुरिसो । सुत्ताइकयालंबो तह झाणवरं समारुहइ ॥ ४३ ॥

व्याख्या—'विषमे' निम्ने दुःसञ्चरे 'समारोहति' सम्यगपरिक्लेशेनोर्ध्वं याति, कः ?–दृढं–बलवद्द्रव्यं रज्ज्वाद्यालम्बनं यस्य स तथाविधः, यथा 'पुरुषः' पुमान् कश्चित्, 'सूत्रादिकृतालम्बनः' वाचनादिकृतालम्बन इत्यर्थः, 'तथा' तेनैव प्रकारेण 'ध्यानवरं' धर्मध्यानमित्यर्थः, समारोहतीति गाथार्थः ॥ ४३ ॥ गतमालम्बनद्वारम्, अधुना क्रमद्वारावसरः, तत्र लाघवार्थं धर्मस्य शुक्लस्य च (तं) प्रतिपादयन्नाह—

प्रत सूत्रांक [सू...]

दीप अनुक्रम [२१..]

झाणप्पडिवत्तिकमो होइ मणोजोगनिग्गहाईओ । भवकाले केवलिणो सेसाण जहासमाहीए ॥ ४४ ॥

व्याख्या—ध्यानं–प्राग्निरूपितशब्दार्थं तस्य प्रतिपत्तिक्रम इति समासः, प्रतिपत्तिक्रमः–प्रतिपत्तिपरिपाट्यभिधीयते, स च भवति मनोयोगनिग्रहादिः, तत्र प्रथमं मनोयोगनिग्रहः ततो वाग्योगनिग्रहः ततः काययोगनिग्रह इति, किमयं सामान्येन सर्वथैवेत्थम्भूतः क्रमो ?, न, किन्तु भवकाले केवलिनः, अत्र भवकालशब्देन मोक्षगमनप्रत्यासन्नः अन्तर्मुहूर्तप्रमाण एव शैलेश्यवस्थान्तर्गतः परिगृह्यते, केवलमस्यास्तीति केवली तस्य, शुक्लध्यान एवायं क्रमः, शेषस्यान्यस्य धर्मध्यानप्रतिपत्तुर्योगकालावाश्रित्य किं ?–'यथासमाधिने'ति यथैव स्वास्थ्यं भवति तथैव प्रतिपत्तिरिति गाथार्थः ॥ ४४ ॥ गतं क्रमद्वारम्, इदानीं ध्यातव्यमुच्यते, तच्चतुर्भेदमाज्ञादिः, उक्तं च–"आज्ञाऽपायविपाकसंस्थानविचयाय धर्म्य'(तत्त्वार्थे अ० ९ सू० ३७) मित्यादि, तत्राऽऽद्यभेदप्रतिपादनायाह—

सुनिउणमणाइणिहणं भूयहियं भूयभावणमहग्घं । अमियमजियं महत्थं महाणुभावं महाविसयं ॥ ४५ ॥

व्याख्या—सुष्ठु–अतीव निपुणा–कुशला सुनिपुणा ताम्, आज्ञामिति योगः, नैपुण्यं पुनः सूक्ष्मद्रव्याद्युपदर्शकत्वात्तथा मत्यादिप्रतिपादकत्वाच्च, उक्तं च–'सुयनाणंमि नेउण्णं, केवले तयणंतरं । अप्पणो सेसगाणं च, जम्हा तं परिभावगं ॥ १ ॥' इत्यादि, इत्थं सुनिपुणां ध्यायेत्, तथा 'अनाद्यनिधनाम्' अनुत्पन्नशाश्वतामित्यर्थः, अनाद्यनिधनत्वं च द्रव्याद्यपेक्षयेति, उक्तं च–"द्रव्यार्थादेशादित्येषा द्वादशाङ्गी न कदाचिन्नासी"दित्यादि, तथा 'भूतहिता'मिति इह भूत-

१ श्रुतज्ञाने नैपुण्यं केवले तदनन्तरम् । आत्मनः शेषकाणां च, यस्मात्तत् परिभावकम् (प्रकाशकम्) ॥ १ ॥

प्रत सूत्रांक [सू...]

दीप अनुक्रम [२१..]

आवश्यक-हारिभ-द्रीया ॥५९५॥

शब्देन प्राणिन उच्यन्ते तेषां हितां–पथ्यामिति भावः, हितत्वं पुनस्तदनुपरोधिनीत्वात्तथा हितकारिणीत्वाच्च, उक्तं च– 'सर्वे जीवा न हन्तव्या' इत्यादि, एतत्प्रभावाच्च भूयांसः सिद्धा इति, 'भूतभावनाम्' इत्यत्र भूतं–सत्यं भाव्यतेऽनयेति भूतस्य वा भावना भूतभावना, अनेकान्तपरिच्छेदात्मिकेत्यर्थः, भूतानां वा–सत्त्वानां भावना भूतभावना, भावना वाससनेत्यनर्थान्तरम्, उक्तं च–'कूरावि सहावेणं रागविसवसाणुगावि होऊणं। भावियजिणवयणमणा तेलुक्कसुहावहा होंति ॥ १ ॥' श्रूयन्ते च चिलातीपुत्रादय एवंविधा बहव इति, तथा 'अनर्घ्याम्' इति सर्वोत्तमत्वादविद्यमानमूल्यामिति भावः, उक्तं च–“सव्वेऽवि य सिद्धंता सदव्वरयणासया सतेलोक्का। जिणवयणस्स भगवओ न मुल्लमित्तं अणग्घेणं ॥ १ ॥' तथा स्तुतिकारेणाप्युक्तम्–“कल्पद्रुमः कल्पितमात्रदायी, चिन्तामणिश्चिन्तितमेव दत्ते। जिनेन्द्रधर्मातिशयं विचिन्त्य, द्वयेऽपि लोको लघुतामवैति ॥ १ ॥” इत्यादि, अथवा 'ऋणघ्ना'मित्यत्र ऋणं–कर्म तद्घ्नामिति, उक्तं च–“जं अन्नाणी कम्मं खवेइ बहुयाहि वासकोडीहिं। तं नाणी तिहिँ गुत्तो खवेइ ऊसासमित्तेणं ॥ १ ॥” इत्यादि, तथा 'अमिताम्' इत्यपरिमिताम्, उक्तं च–“सव्वनईणं जा होज्ज वालुया सव्वउदहीण जं उदयं। एत्तोवि अणंतगुणो अत्थो एगस्स सुत्तस्स॥ १ ॥” अमृतां वा मृष्टां वा पथ्यां वा, तथा चोक्तम्–“जिणवयणमोदगस्स उ रत्तिं च दिवा य खज्जमाणस्स। तित्तिं बुहो न गच्छइ ॥५९५॥

१ क्रूरा अपि स्वभावेन रागविषवशानुगा अपि भूत्वा। भावितजिनवचनमनसस्त्रैलोक्यसुखावहा भवन्ति ॥ १ ॥ २ सर्वेऽपि च सिद्धान्ताः सद्रव्यरत्नाश्रयाः सत्रैलोक्याः। जिनवचनस्य भगवतो न मूल्यमात्रमनर्घेण (र्घत्वेन) ॥ १ ॥ ३ यदज्ञानी कर्म क्षपयति बहुकाभिर्वर्षकोटीभिः। तत् ज्ञानी त्रिभिर्गुप्तः क्षपयत्युच्छ्वासमात्रेण ॥ १ ॥ ४ सर्वनदीनां या भवेयुः वालुकाः सर्वोदधीनां यदुदकम्। अतोप्यऽनन्तगुणोऽर्थ एकस्य सूत्रस्य ॥१॥ ५ जिनवचनमोदकस्य तु रात्रौ दिवा च खाद्यमानस्य। तृप्तिं बुधो न गच्छति.

४प्रतिक्रमणाध्यान-शतकं

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्तिः

प्रत
सूत्रांक
[सू...]

दीप
अनुक्रम
[२१..]

हेउसहस्सोवगूढस्स ॥ १ ॥ नरनरयतिरियसुरगणसंसारियसव्वदुक्खरोगाणं । जिणवयणमेगमोसहमपवग्गसुहक्खयंफलयं ॥ २ ॥" सजीवां वाऽमृतामुपपत्तिक्षमत्वेन सार्थिकामिति भावः, न तु यथा–'तेषां कटतटभ्रष्टैर्गजानां मदबिन्दुभिः । प्रावर्तत नदी घोरा, हस्त्यश्वरथवाहिनी ॥ १ ॥' इत्यादिवन्मृतामिति, तथा 'अजिता'मिति शेषप्रवचनाज्ञाभिरपराजितामित्यर्थः, उक्तं च–'जीवाइवत्थुचिंतणकोसल्लगुणेणऽणण्णसरिसेणं । सेसवयणेहिं अजियं जिणिंदवयणं महाविसयं ॥ १ ॥' तथा 'महार्था'मिति महान्–प्रधानोऽर्थो यस्याः सा तथाविधा तां, तत्र पूर्वापराविरोधित्वादनुयोगद्वारात्मकत्वान्नयगर्भत्वाच्च प्रधानां, महत्स्थां वा अत्र महान्तः–सम्यग्दृष्टयो भव्या एवोच्यन्ते ततश्च महत्सु स्थिता महत्स्था तां च, प्रधानप्राणिस्थितामित्यर्थः, महास्थां वेत्यत्र महा पूजोच्यते तस्यां स्थिता महास्था तां, तथा चोक्तम्–'सव्वसुरासुरमाणुसजोइसवंतरसुपूइयं णाणं । जेणेह गणहराणं छुहंति चुण्णे सुरिंदावि ॥ १ ॥' तथा 'महानुभावा'मिति तत्र महान्–प्रधानः प्रभूतो वाऽनुभावः–सामर्थ्यादिलक्षणो यस्याः सा तथा तां, प्राधान्यं चास्याश्चतुर्दशपूर्वविदः सर्वलब्धिसम्पन्नत्वात्, प्रभूतत्वं च प्रभूतकार्यकरणाद्, उक्तं च–'पभू णं चोद्दसपुव्वी घडाओ घडसहस्सं करित्तए' इत्यादि, एवमिहलोके, परत्र तु जघन्यतोऽपि वैमानिकोपपातः, उक्तं च–'उववाओ लंतगंमि चोद्दसपुव्वीस्स होइ उ जहण्णो । उक्कोसो सव्वट्ठे सिद्धिगमो वा अकम्मस्स ॥१॥'

१ हेतुसहस्रोपगूढस्य ॥ १ ॥ नरनारकतिर्यक्सुरगणसांसारिकसर्वदुःखरोगाणाम् । जिनवचनमेकमौषधमपवर्गसुखाक्षतफलदम् ॥ २ ॥ २ जीवादिवस्तुचिन्तनकौशल्यगुणेनानन्यसदृशेन । शेषवचनैरजितं जिनेन्द्रवचनं महाविषयम् ॥ १ ॥ ३ सर्वसुरासुरमनुष्यज्योतिष्कव्यन्तरसुपूजितं ज्ञानम् । येनेह गणधराणां (शीर्षे) क्षिपन्ति चूर्णानि देवेन्द्रा अपि ॥१॥ ४ प्रभुश्चतुर्दशपूर्वी घटात् घटसहस्रं कर्तुं. ५ उपपातो लान्तके चतुर्दशपूर्विणां भवति तु जघन्यः । उत्कृष्टः सर्वार्थे सिद्धिगमनं वाऽकर्मणः ॥ १ ॥

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्ति:

प्रत
सूत्रांक
[सू...]

दीप
अनुक्रम
[२१..]

आवश्यक-
हारिभ-
द्रीया

॥५९६॥

तथा 'महाविषया'मिति महद्विषयत्वं तु सकलद्रव्यादिविषयत्वाद्, उक्तं च–'[1]दव्वओ सुयनाणी उवउत्ते सव्वदव्वाइं जाणई'-त्यादि कृतं विस्तरेणेति गाथार्थः ॥ ४५ ॥

झाइज्जा निरवज्जं जिणाणमाणं जगप्पईवाणं । अणिउणजणदुण्णेयं नयभंगपमाणगमगहणं ॥ ४६ ॥

व्याख्या—'ध्यायेत्' चिन्तयेदिति सर्वपदक्रिया, 'निरवद्या'मिति अवद्यं–पापमुच्यते निर्गतमवद्यं यस्याः सा तथा ताम्, अनृतादिद्वात्रिंशद्दोषावद्यरहितत्वात्, क्रियाविशेषणं वा, कथं ध्यायेत्?–निरवद्यम्–इहलोकाद्याशंसारहितमित्यर्थः, उक्तं च–'[2]नो इहलोगट्ठयाए नो परलोगट्ठयाए नो परपरिभवओ अहं नाणी'त्यादिकं निरवद्यं ध्यायेत्, 'जिनानां' प्राग्निरूपितशब्दार्थानाम् 'आज्ञां' वचनलक्षणां कुशलकर्मण्याज्ञाप्यन्तेऽनया प्राणिन इत्याज्ञा तां, किंविशिष्टां?–जिनानां–केवलालोकेनाशेषसंशयतिमिरनाशनाज्जगत्प्रदीपानामिति, आज्ञैव विशेष्यते–'अनिपुणजनदुर्ज्ञेयां' न निपुणः अनिपुणः अकुशल इत्यर्थः जनः–लोकस्तेन दुर्ज्ञेयामिति–दुरवगमां, तथा 'नयभङ्गप्रमाणगमगहनाम्' इत्यत्र नयाश्च भङ्गाश्च प्रमाणानि च गमाश्चेति विग्रहस्तैर्गहना–गह्वरा तां, तत्र नैगमादयो नयास्ते चानेकभेदाः, तथा भङ्गाः क्रमस्थानभेदभिन्नाः, तत्र क्रमभङ्गा यथा एको जीव एक एवाजीव इत्यादि, स्थापना ॥ स्थानभङ्गास्तु यथा प्रियधर्मा नामैकः नो दृढधर्मेत्यादि ॥ तथा प्रमीयते ज्ञेयमेभिरिति प्रमाणानि–द्रव्यादीनि, यथा–ऽनुयोगद्वारेषु गमाः–चतुर्विंशतिदण्डकादयः, कारण–वशतो वा किञ्चिद्विसदृशाः सूत्रमार्गा यथा षड्जीवनिकाद्वाविति कृतं विस्तरेणेति गाथार्थः ॥ ४६ ॥ ननु,

(स्थापना: IS / SI | IS / SI | SS | SS)

१ द्रव्यतः श्रुतज्ञानी उपयुक्तः सर्वद्रव्याणि जानाति. २ नो इहलोकार्थाय नो परलोकार्थाय नो परपरिभावकोऽहं ज्ञानी.

४प्रतिक्रमणाध्यानशतकं

॥५९६॥

प्रत सूत्रांक [सू.]

दीप अनुक्रम [१२१]

या एवंविशेषणविशिष्टा सा बोद्धुमपि न शक्यते मन्दधीभिः, आस्तां तावद्ध्यातुं, ततश्च यदि कथञ्चिन्नावबुध्यते तत्र का वार्तेत्यत आह—

तत्थ य मइदोब्बलेणं तव्विहायरियविरहओ यावि । णेयगहणत्तणेण य णाणावरणोदएणं च ॥ ४७ ॥

व्याख्या—'तत्र' तस्यामाज्ञायां, चशब्दः प्रस्तुतप्रकरणानुकर्षणार्थः, किं ?–जडतया चलत्वेन वा मतिदौर्बल्येन–बुद्धेः सम्यगर्थानवधारणेनेत्यर्थः, तथा 'तद्विधाचार्यविरहतोऽपि' तत्र तद्विधः–सम्यगविपरीततत्त्वप्रतिपादनकुशलः आचर्यतेऽसावित्याचार्यः सूत्रार्थावगमार्थं मुमुक्षुभिरासेव्यत इत्यर्थः तद्विधश्चासावाचार्यश्च २ तद्विरहतः–तदभावतश्च, चशब्दः अबोधे द्वितीयकारणसमुच्चयार्थः, अपिशब्दः क्वचिदुभयवस्तूपपत्तिसम्भावनार्थः, तथा 'ज्ञेयगहनत्वेन च' तत्र ज्ञायत इति ज्ञेयं–धर्मास्तिकायादि तद्गहनत्वेन–गह्वरत्वेन, चशब्दोऽबोध एव तृतीयकारणसमुच्चयार्थः, तथा 'ज्ञानावरणोदयेन च' तत्र ज्ञानावरणं प्रसिद्धं तदुदयेन तत्काले तद्विपाकेन, चशब्दश्चतुर्थाबोधकारणसमुच्चयार्थः, अत्राह–ननु ज्ञानावरणोदयादेव मतिदौर्बल्यं तथा तद्विधाचार्यविरहो ज्ञेयगहनाप्रतिपत्तिश्च, ततश्च तदभिधाने न युक्तममीषामभिधानमिति, न, तत्कार्यस्यैव संक्षेपविस्तरत उपाधिभेदेनाभिधानादिति गाथार्थः ॥ ४७ ॥ तथा—

हेऊदाहरणासंभवे य सइ सुट्ठु जं न बुज्झेज्जा । सव्वण्णुमयमवितहं तहावि तं चिंतए मइमं ॥ ४८ ॥

व्याख्या—तत्र हिनोति–गमयति जिज्ञासितधर्मविशिष्टानर्थानिति हेतुः–कारको व्यञ्जकश्च, उदाहरणं–चरितकल्पितभेदं, हेतुश्चोदाहरणं च हेतूदाहरणे तयोरसम्भवः, कञ्चन पदार्थं प्रति हेतूदाहरणासम्भवात्, तस्मिंश्च, चशब्दः पञ्चम-

प्रत सूत्रांक [सू...]

दीप अनुक्रम [२१..]

षष्ठकारणसमुच्चयार्थः, 'सति' विद्यमाने, किं?–'यद्' वस्तुजातं 'न सुष्ठु बुद्ध्येत' नातीवावगच्छेत् 'सर्वज्ञमतमवितथं तथापि तच्चिन्तयेन्मतिमा'निति तत्र सर्वज्ञाः–तीर्थकरास्तेषां मतं सर्वज्ञमतं–वचनं, किं ?–वितथम्–अनृतं न वितथम्–अवितथं सत्यमित्यर्थः, 'तथापि' तदबोधकारणे सत्यनवगच्छन्नपि 'तत्' मतं वस्तु वा 'चिन्तयेत्' पर्यालोचयेत् 'मतिमान्' बुद्धिमानिति गाथार्थः ॥ ४८ ॥ किमित्येतदेवमित्यत आह—

अणुवकयपराणुग्गहपरायणा जं जिणा जगप्पवरा । जियरागदोसमोहा य णण्णहावादिणो तेणं ॥ ४९ ॥

व्याख्या—अनुपकृते–परैरवर्तिते सति परानुग्रहपरायणा–धर्मोपदेशादिना परानुग्रहोद्युक्ता इति समासः, 'यद्' यस्मात् कारणात्, के ?–'जिनाः' प्राग्निरूपितशब्दार्थाः, त एव विशेष्यन्ते–'जगत्प्रवराः' चराचरश्रेष्ठा इत्यर्थ, एवंविधा अपि कदाचिद् रागादिभावाद्वितथवादिनो भवन्त्यत आह–जिता–निरस्ता रागद्वेषमोहा यैस्ते तथाविधाः, तत्राभिष्वङ्गलक्षणो रागः अप्रीतिलक्षणो द्वेषः अज्ञानलक्षणश्च मोहः, चशब्द एतदभावगुणसमुच्चयार्थः, नान्यथावादिनः 'तेने'ति तेन कारणेन ते नान्यथावादिन इति, उक्तं च–"रागाद्वा द्वेषाद्वे" त्यादि गाथार्थः ॥ ४९ ॥ उक्तस्तावद्ध्यातव्यप्रथमो भेदः, अधुना द्वितीय उच्यते—

रागद्दोसकसायासवादिकिरियासु वट्टमाणाणं । इहपरलोयावाओ झाइज्जा वज्जपरिवज्जी ॥ ५० ॥

व्याख्या—रागद्वेषकषायाश्रवादिक्रियासु प्रवर्तमानानामिहपरलोकापायान् ध्यायेत्, यथा रागादिक्रिया ऐहिकामुष्मिकविरोधिनी, उक्तं च–"रागः सम्पद्यमानोऽपि, दुःखदो दुष्टगोचरः । महाव्याध्यभिभूतस्य, कुपथ्यान्नाभिलाषवत् ॥ १ ॥"

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [सू...] दीप अनुक्रम [२१..]

तथा–'द्वेषः सम्पद्यमानोऽपि, तापयत्येव देहिनम् । कोटरस्थो ज्वलन्नाशु, दावानल इव द्रुमम् ॥ २ ॥' तथा–'दृष्ट्यादिभेदभिन्नस्य, रागस्यामुष्मिकं फलम् । दीर्घः संसार एवोक्तः, सर्वज्ञैः सर्वदर्शिभिः ॥ ३ ॥' इत्यादि, तथा–दोसानलसंसत्तो इह लोए चेव दुक्खिओ जीवो । परलोगंमि य पावो पावइ निरयानलं तत्तो ॥ १ ॥' इत्यादि, तथा कषायाः–क्रोधादयः, तदपायाः पुनः–'कोहो य माणो य अणिग्गहीया, माया य लोहो य पवड्ढमाणा । चत्तारि एए कसिणो कसाया, सिंचंति मूलाइं पुणब्भवस्स ॥ १ ॥' तथाऽऽश्रवाः–कर्मबन्धहेतवो मिथ्यात्वादयः, तदपायः पुनः–'मिच्छत्तमोहियमई जीवो इहलोग एव दुक्खाइं । निरओवमाइं पावो पावइ पसमाइगुणहीणो ॥ १ ॥' तथा–'अज्ञानं खलु कष्टं क्रोधादिभ्योऽपि सर्वपापेभ्यः । अर्थं हितमहितं वा न वेत्ति येनावृतो लोकः ॥ १ ॥' तथा–'जीवा पाविंति इहं पाणवहादविरईए पावाए । नियसुयघायणमाई दोसे जणगरहिए पावा ॥ १ ॥ परलोगंमिवि एवं आसवकिरियाहि अज्जिए कम्मे । जीवाण चिरमवाया निरयाइगई भमंताणं ॥ २ ॥' इत्यादि, आदिशब्दः स्वगतानेकभेदख्यापकः, प्रकृतिस्थित्यनुभावप्रदेशबन्धभेदग्राहक इत्यन्ये,

---

१ द्वेषानलसंतप्त इहलोक एव दुःखितो जीवः । परलोके च पापः प्राप्नोति निरयानलं ततः ॥१॥ २ क्रोधश्च मानश्चानिगृहीतौ माया च लोभश्च प्रवर्धमानौ । चत्वार एते कृत्स्नाः कषायाः सिञ्चन्ति मूलानि पुनर्भवस्य ॥ १ ॥ कोहो पीइं पणासेइ माणो विणयणासणो । माया मित्ताणि नासेइ लोहो सव्वविणासणो ॥ १ ॥ (प्रत्यन्तरेऽधिकं प्राक्). ३ मिथ्यात्वमोहितमतिर्जीव इहलोक एव दुःखानि । निरयोपमाणि पापः प्राप्नोति प्रशमादिगुणहीनः ॥१॥ ४ जीवाः प्राप्नुवन्तीह प्राणवधाद्विरतेः पापिकायाः । निजसुतघातादिदोषान् जनगर्हितान् पापाः ॥१॥ परलोकेऽप्येवमाश्रवक्रियाभिरर्जिते कर्मणि । जीवानां चिरमपाया निरयादिगतिषु भ्रमताम् ॥ २ ॥

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्ति:

प्रत सूत्रांक [सू...] दीप अनुक्रम [२१..]

क्रियास्तु कायिक्यादिभेदाः पञ्च, एताः पुनरुत्तरत्र न्यक्षेण वक्ष्यामः, विपाकः पुनः–'किरियासु वट्टमाणा काइगमाईसु दुक्खिया जीवा। इह चेव य परलोए संसारपवड्ढया भणिया ॥ १ ॥' ततश्चैवं रागादिक्रियासु वर्तमानानामपायान् ध्यायेत्, किंविशिष्टः सन्नित्याह–'वर्ज्यपरिवर्जी' तत्र वर्जनीयं वर्ज्यम्–अकृत्यं परिगृह्यते तत्परिवर्जी–अप्रमत्त इति गाथार्थः ॥ ५० ॥ उक्तः खलु द्वितीयो ध्यातव्यभेदः, अधुना तृतीय उच्यते, तत्र—

पयइठिइपएसाणुभावभिन्नं सुहासुहविहत्तं। जोगाणुभावजणियं कम्मविवागं विचिंतेज्जा ॥ ५१ ॥

व्याख्या—'प्रकृतिस्थितिप्रदेशानुभावभिन्नं शुभाशुभविभक्त'मिति अत्र प्रकृतिशब्देनाष्टौ कर्मप्रकृतयोऽभिधीयन्ते ज्ञानावरणीयादिभेदा इति, प्रकृतिरंशो भेद इति पर्यायाः, स्थितिः–तासामेवावस्थानं जघन्यादिभेदभिन्नं, प्रदेशशब्देन जीवप्रदेशकर्मपुद्गलसम्बन्धोऽभिधीयते, अनुभावशब्देन तु विपाकः, एते च प्रकृत्यादयः शुभाशुभभेदभिन्ना भवन्ति, ततश्चैतदुक्तं भवति–प्रकृत्यादिभेदभिन्नं शुभाशुभविभक्तं 'योगानुभावजनितं' मनोयोगादिगुणप्रभवं कर्मविपाकं विचिन्तयेदिति गाथार्थः ॥ ५१ ॥ भावार्थः पुनर्वृद्धविवरणादवसेयः, तच्चेदं–इह पयइभिन्नं सुहासुहविहत्तं कम्मविवागं विचिंतेज्जा, तत्थ पयईउत्ति कम्मणो भेया अंसा णाणावरणिज्जाइणो अट्ठ, तेहिं भिन्नं विहत्तं, सुहं पुण्णं सायाइयं असुहं पावं तेहिं विहत्तं–विभिन्नविपाकं जहा कम्मपकडीए तहा विसेसेण चिंतिज्जा, किं च–ठिइविभिन्नं च सुहासुहविहत्तं कम्मविवागं विचिंतेज्जा, ॥ ५९८॥

१ क्रियासु वर्त्तमानाः कायिक्यादिषु दुःखिता जीवाः। इहैव परलोके च संसारप्रवर्धका भणिताः ॥४॥ २ इह प्रकृतिभिन्नं शुभाशुभविभक्तं कर्मविपाकं विचिन्तयेत्, तत्र प्रकृतय इति कर्मणो भेदा अंशा ज्ञानावरणादयोऽष्ट, तैर्भिन्नं विभक्तं शुभं पुण्यं सातादिकं अशुभं पापं तैर्विभक्तं. विभिन्नविपाकं यथा कर्मप्रकृतौ तथा विशेषेण चिन्तयेत्। किंच–स्थितिविभक्तं च शुभाशुभविभक्तं कर्मविपाकं विचिन्तयेत्.

प्रत सूत्रांक [सू...]

दीप अनुक्रम [२१..]

ठिइत्ति तासिं चेव अट्ठण्हं पयडीणं जहण्णमज्झिमुक्कोसा कालावत्था जहा कम्मपयडीए, किं च–पएसभिन्नं शुभाशुभं यावत्–'कृत्वा पूर्वविधानं पदयोस्तावेव पूर्ववद् वर्ग्यौ। वर्गघनौ कुर्यातां तृतीयराशेस्ततः प्राग्वत् ॥ १ ॥" कृत्वा विधान'-मिति २५६, अस्य राशेः पूर्वपदस्य घनादि कृत्वा तस्यैव वर्गादि ततः द्वितीयपदस्येदमेव विपरीतं क्रियते, तत एतावेव वर्ग्येते, ततस्तृतीयपदस्य वर्गघनौ क्रियते, एवमनेन क्रमेणायं राशिः १६७७७२१६ चिंतेज्जा पएसोत्ति जीवपएसाणं कम्मपएसेहिं सुहुमेहिं एगखेत्तावगाढेहिं पुट्ठोगाढअणंतरअणुबायरउद्धाइभेएहिं बद्धाणं वित्थरओ कम्मपयडीए भणियाणं कम्मविवागं विचिंतेज्जा, किं च–अणुभावभिन्नं सुहासुहविहत्तं कम्मविवागं विचिंतेज्जा, तत्थ अणुभावोत्ति तासिं चेवऽट्ठण्हं पयडीणं पुट्ठबद्धनिकाइयाणं उदयाउ अणुभवणं, तं च कम्मविवागं जोगाणुभावजणियं विचिंतेज्जा, तत्थ जोगा मणवयणकाया, अणुभावो जीवगुण एव, स च मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषायाः, तेहिं अणुभावेण य जणियमुप्पाइयं जीवस्स कम्मं जं तस्स विवागं उदयं विचिंतिज्जइ। उक्तस्तृतीयो ध्यातव्यभेदः, साम्प्रतं चतुर्थ उच्यते, तत्र—

जिणदेसियाइ लक्खणसंठाणासणविहाणमाणाई। उप्पायट्ठिइभंगाइ पज्जवा जे य दव्वाणं ॥ ५२ ॥

---

१ स्थितिरिति तासामेवाष्टानां प्रकृतीनां जघन्यमध्यमोत्कृष्टाः कालावस्था यथा कर्मप्रकृतौ। किंच–प्रदेशभिन्नं–चिन्तयेत्, प्रदेश इति जीवप्रदेशानां कर्मप्रदेशैः सूक्ष्मैरेकक्षेत्रावगाढैः स्पृष्टावगाढानन्तराणुबादरोर्ध्वादिभेदैर्बद्धानां विस्तरतः कर्मप्रकृतौ भणितानां कर्मविपाकं विचिन्तयेत्, किं च अनुभावभिन्नं शुभाशुभविभक्तं कर्मविपाकं विचिन्तयेत्, तत्रानुभाव इति तासामेवाष्टानां प्रकृतीनां स्पृष्टबद्धनिकाचितानामुदयादनुभवनम्, तं च कर्मविपाकं योगानुभावजनितं विचिन्तयेत्, तत्र योगा मनोवचनकाया, अनुभावो जीवगुण एव, तैरनुभावेन च जनितम्–उत्पादितं जीवस्य कर्म यत् तस्य विपाकं–उदयो विचिन्त्यते।

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्ति:

प्रत सूत्रांक [सू...]

दीप अनुक्रम [२१..]

आवश्यक-हारिभ-द्रीया ॥५९९॥

४प्रतिक्रम-णाध्यान-शतकं

व्याख्या—जिनाः–प्राग्निरूपितशब्दार्थास्तीर्थकरास्तैर्देशितानि–कथितानि जिनदेशितानि, कान्यत आह–'लक्षणसंस्थानासनविधानमानानि,' किं ?–विचिन्तयेदिति पर्यन्ते वक्ष्यति षष्ठ्यां गाथायामिति, तत्र लक्षणादीनि विचिन्तयेत्, अत्रापि गाथान्ते द्रव्याणामित्युक्तं तत्प्रतिपदमायोजनीयमिति, तत्र लक्षणं धर्मास्तिकायादिद्रव्याणां गत्यादि, तथा संस्थानं मुख्यवृत्त्या पुद्गलरचनाकारलक्षणं परिमण्डलाद्यजीवानां, यथोक्तम्–'[1]परिमंडले य वट्टे तंसे चउरंस आयते चेव' जीवशरीराणां च समचतुरस्रादि, यथोक्तम्–'[2]समचउरंसे नग्गोहमंडले साइ वामणे खुज्जे। हुंडेवि य संठाणे जीवाणं छ मुणेयव्वा ॥ १ ॥' तथा धर्माधर्मयोरपि लोकक्षेत्रापेक्षया भावनीयमिति, उक्तं च–'[3]हेट्ठा मज्झे उवरि छव्वीझल्लरिमुइंगसंठाणे। लोगो अद्धागारो अद्धाखेत्तागिई नेओ ॥ १ ॥' तथाऽऽसनानि–आधारलक्षणानि धर्मास्तिकायादीनां लोकाकाशादीनि स्वस्वरूपाणि वा, तथा विधानानि धर्मास्तिकायादीनामेव भेदानित्यर्थः, यथा–'[4]धम्मत्थिकाए धम्मत्थिकायस्स देसे धम्मत्थिकायस्स पएसे' इत्यादि, तथा मानानि–प्रमाणानि धर्मास्तिकायादीनामेवात्मीयानि, तथोत्पादस्थितिभङ्गादिपर्याया ये च 'द्रव्याणां' धर्मास्तिकायादीनां तान् विचिन्तयेदिति, तत्रोत्पादादिपर्यायसिद्धिः 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सदि'ति (तत्त्वार्थे अ० ५ सू० २९) वचनाद्, युक्तिः पुनरत्र–'घटमौलीसुवर्णार्थी, नाशोत्पत्तिस्थितिष्वयम्। शोकप्रमोदमाध्यस्थं, जनो याति सहेतुकम् ॥ १ ॥ पयोव्रतो न दध्यत्ति, न पयोऽत्ति दधिव्रतः। अगोरसव्रतो नोभे, तस्मात्तत्त्वं त्रयात्मकम् ॥ २ ॥"

॥५९९॥

१ परिमण्डलं वृत्तं त्र्यस्रं चतुरस्रमायतमेव. २ समचतुरस्रं न्यग्रोधमण्डलं सादि वामनं कुब्जं। हुण्डमपि च संस्थानानि जीवानां षड् ज्ञातव्यानि ॥१॥ ३ अधस्तान्मध्ये उपरि वेत्रासनझल्लरीमृदङ्गसंस्थानः। लोको वैशाखाकारो वैशाखक्षेत्राकृतिर्ज्ञेयः ॥१॥ ४ धर्मास्तिकायो धर्मास्तिकायस्य देशः धर्मास्तिकायस्य प्रदेशः।

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्ति:

प्रत
सूत्रांक
[सू...]

दीप
अनुक्रम
[२१..]

ततश्च धर्मास्तिकायो विवक्षितसमयसम्बन्धरूपापेक्षयोत्पद्यते तदनन्तरातीतसमयसम्बन्धरूपापेक्षया तु विनश्यति धर्मास्तिकायद्रव्यात्मना तु नित्य इति, उक्तं च—'सर्वव्यक्तिषु नियतं क्षणे क्षणेऽन्यत्वमथ च न विशेषः। सत्योश्चित्यपचित्योराकृतिजातिव्यवस्थानात् ॥१॥' आदिशब्दादगुरुलघ्वादिपर्यायपरिग्रहः, चशब्दः समुच्चयार्थ इति गाथार्थः ॥५२॥ किं च—

पंचत्थिकायमइयं लोगमणाइणिहणं जिणक्खायं । णामाइभेयविहियं तिविहमहोलोयभेयाई ॥ ५३ ॥

व्याख्या—'पञ्चास्तिकायमयं लोकमनाद्यनिधनं जिनाख्यात'मिति, क्रिया पूर्ववत्, तत्रास्तयः—प्रदेशास्तेषां काया अस्तिकायाः पञ्च च ते अस्तिकायाश्चेति विग्रहः, एते च धर्मास्तिकायादयो गत्याद्युपग्रहकरा ज्ञेया इति, उक्तं च—"जीवानां पुद्गलानां च, गत्युपग्रहकारणम् । धर्मास्तिकायो ज्ञानस्य, दीपश्चक्षुष्मतो यथा ॥ १ ॥ जीवानां पुद्गलानां च, स्थित्युपग्रहकारणम् । अधर्मः पुरुषस्येव, तिष्ठासोरवनिर्यथा ॥ २ ॥ जीवानां पुद्गलानां च, धर्माधर्मास्तिकाययोः । बदराणां घटो यद्वदाकाशमवकाशदम् ॥ ३ ॥ ज्ञानात्मा सर्वभावज्ञो, भोक्ता कर्ता च कर्मणाम् । नानासंसारिमुक्ताख्यो, जीवः प्रोक्तो जिनागमे ॥ ४ ॥ स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दमूर्तस्वभावकाः । सङ्घातभेदनिष्पन्नाः, पुद्गला जिनदेशिताः ॥ ५ ॥" तन्मयं—तदात्मकं, लोक्यत इति लोकस्तं, कालतः किम्भूतमित्यत आह—'अनाद्यनिधनम्' अनाद्यपर्यवसितमित्यर्थः, अनेनेश्वरादिकृतव्यवच्छेदमाह, असावपि दर्शनभेदाच्चित्र एवेत्यत आह—'जिनाख्यातं' तीर्थकरप्रणीतम्, आह—'जिनदेशितानि'त्यस्माज्जिनप्रणीताधिकारोऽनुवर्तत एव, ततश्च जिनाख्यातमित्यतिरिच्यते, न, अस्याऽऽदरख्यापनार्थत्वात्, आदरख्यापनादौ च पुनरुक्तदोषानुपपत्तेः, तथा चोक्तम्—"अनुवादादरवीप्साभृशार्थविनियोगहेत्वसूयासु । ईषत्सम्भ्रमविस्मयगणनास्म-

प्रत सूत्रांक [सू...] दीप अनुक्रम [२१..]

रणेष्वपुनरुक्तम् ॥ १ ॥" तथा हि 'नामादिभेदविहितं' भेदतो नामादिभेदावस्थापितमित्यर्थः, उक्तं च-'नामं ठवणा दविए खित्ते काले तहेव भावे य । पज्जवलोगो य तहा अट्ठविहो लोगंमि (ग) निक्खेवो ॥१॥' भावार्थश्चतुर्विंशतिस्तवविवरणादवसेयः, साम्प्रतं क्षेत्रलोकमधिकृत्याह-'त्रिविधं' त्रिप्रकारम् 'अधोलोकभेदादिं' इति प्राकृतशैल्याऽधोलोकादिभेदम्, आदिशब्दात्तिर्यगूर्ध्वलोकपरिग्रह इति गाथार्थः ॥ ५३ ॥ किं च-तस्मिन्नेव क्षेत्रलोके इदं चेदं च विचिन्तयेदिति प्रतिपादयन्नाह—

खिइवलयदीवसागरनरयविमाणभवणाइसंठाणं । वोमाइपइट्ठाणं नियथं लोगट्ठिइविहाणं ॥ ५४ ॥

व्याख्या—'क्षितिवलयद्वीपसागरनिरयविमानभवनादिसंस्थानं' तत्र क्षितयः खलु घर्माद्या ईषत्प्राग्भारावसाना अष्टौ भूमयः परिगृह्यन्ते, वलयानि-घनोदधिघनवाततनुवातात्मकानि घर्मादिसप्तपृथिवीपरिक्षेपीण्येकविंशतिः, द्वीपाः-जम्बूद्वीपादयः स्वयम्भूरमणद्वीपान्ता असङ्ख्येयाः, सागरा-लवणसागरादयः स्वयम्भूरमणसागरपर्यन्ता असङ्ख्येया एव, निरयाः-सीमन्तकाद्या अप्रतिष्ठानावसानाः सङ्ख्येयाः, यत उक्तम्-'तीसा य पन्नवीसा पनरस दसेव सयसहस्साइं । तिन्नेगं पंचूणं पंच य नरगा जहाकमसो ॥ १ ॥' विमानानि-ज्योतिष्कादिसम्बन्धीन्यनुत्तरविमानान्तान्यसङ्ख्येयानि, ज्योतिष्कविमानानामसंख्येयत्वात्, भवनानि-भवनवास्यालयलक्षणानि असुरादिदशनिकायसंबन्धीनि असंख्येयानि, उक्तं च-

---

१ नामस्थापनयोः द्रव्ये क्षेत्रे च काले तथैव भावे च । पर्यवलोकः तथाऽष्टविधो लोके निक्षेपः ॥ १ ॥ २ त्रिंशत् पञ्चविंशतिश्च पञ्चदश दशैव शतसहस्राणि । त्रीणि एकं पञ्चोनं पञ्च च नरका यथाक्रमम् ॥ १ ॥

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [सू...]

दीप अनुक्रम [२१..]

"सत्तेवं य कोडीओ हवंति बावत्तरिं सयसहस्सा । एसो भवणसमासो भवणवईणं वियाणेज्जा ॥१॥" आदिशब्दादसङ्ख्येयव्यन्तरनगरपरिग्रहः, उक्तं च–"हेट्ठोवरिजोयणसयरहिए रयणाए जोयणसहस्से । पढमे वंतरियाणं भोमा नयरा असंखेज्जा ॥ १ ॥" ततश्च क्षितयश्च वलयानि चेत्यादिद्वन्द्वः, एतेषां संस्थानम्–आकारविशेषलक्षणं विचिन्तयेदिति, तथा 'व्योमादिप्रतिष्ठानम्' इत्यत्र प्रतिष्ठितिः प्रतिष्ठानं, भावे ल्युट्, व्योम–आकाशम्, आदिशब्दाद्वाय्वादिपरिग्रहः, व्योमादौ प्रतिष्ठानमस्येति व्योमादिप्रतिष्ठानं, लोकस्थितिविधानमिति योगः, विधिः–विधानं प्रकार इत्यर्थः, लोकस्य स्थितिः २, स्थितिः व्यवस्था मर्यादा इत्यनर्थान्तरं, तद्विधानं, किम्भूतं?–'नियतं' नित्यं शाश्वतं, क्रिया पूर्ववदिति गाथार्थः ॥ ५४ ॥ किं च—

उवओगलक्खणमणाइनिहणमत्थंतरं सरीराओ । जीवमरूविं कारिं भोयं च सयस्स कम्मस्स ॥ ५५ ॥

व्याख्या—उपयुज्यतेऽनेनेत्युपयोगः–साकारानाकारादिः, उक्तं च–'स द्विविधोऽष्टचतुर्भेदः' (तत्त्वार्थे अ० २ सू० ९) स एव लक्षणं यस्य स उपयोगलक्षणस्तं, जीवमिति वक्ष्यति, तथा 'अनाद्यनिधनम्' अनाद्यपर्यवसितं, भवापवर्गप्रवाहापेक्षया नित्यमित्यर्थः, तथा 'अर्थान्तरं' पृथग्भूतं, कुतः ?–शरीरात्, जातावेकवचनं, शरीरेभ्यः–औदारिकादिभ्य इति, किमित्यत आह–जीवति जीविष्यति जीवितवान् वा जीव इति तं, किम्भूतमित्यत आह–'अरूपिणम्' अमूर्तमित्यर्थः, तथा 'कर्तारं' निर्वर्तकं, कर्मण इति गम्यते, तथा 'भोक्तारम्' उपभोक्तारं, कस्य ?–स्वकर्मणः–आत्मीयस्य कर्मणः, ज्ञानावरणीयादेरिति गाथार्थः ॥ ५५ ॥

---

१ सप्तैव च कोट्यो भवन्ति द्वासप्ततिः शतसहस्राणि । एष भवनसमासो भवनपतीनां (इति) विजानीयात् ॥१॥ अधस्तादुपरि योजनशतरहिते रत्नाया योजनसहस्रे । प्रथमे व्यन्तराणां भौमानि नगराण्यसंख्येयानि ॥ १ ॥

प्रत सूत्रांक [सू...]

दीप अनुक्रम [२१..]

तस्स य सकम्मजणियं जम्माइजलं कसायपायालं । वसणसयसावयमणं मोहावत्तं महाभीमं ॥ ५६ ॥

व्याख्या—'तस्य च' जीवस्य 'स्वकर्मजनितम्' आत्मीयकर्मनिर्वर्तितं, कं ?–संसारसागरमिति वक्ष्यति तं, किम्भूतमित्यत आह–'जन्मादिजलं' जन्म–प्रतीतम्, आदिशब्दाज्जरामरणपरिग्रहः, एतान्येवातिबहुत्वाज्जलमिव जलं यस्मिन् स तथाविधस्तं, तथा 'कषायपातालं' कषायाः–पूर्वोक्तास्त एवागाधभवजननसाम्येन पातालमिव पातालं यस्मिन् स तथाविधस्तं, तथा 'व्यसनशतश्वापदवन्तं' व्यसनानि–दुःखानि द्यूतादीनि वा तच्छतान्येव पीडाहेतुत्वात् श्वापदानि तान्यस्य विद्यन्त इति तद्वन्तं 'मणं'ति देशीशब्दो मत्वर्थीयः, उक्तं च "मतुयत्थंमि मुणिज्जह आलं इलं मणं च मणुयं चे"ति, तथा 'मोहावर्तं' मोहः–मोहनीयं कर्म तदेव तत्र विशिष्टभ्रमिजनकत्वादावर्तो यस्मिन् स तथाविधस्तं, तथा 'महाभीमम्' अतिभयानकमिति गाथार्थः ॥ ५६ ॥ किं च—

अण्णाणमारुएरियसंजोगविजोगवीइसंताणं । संसारसागरमणोरपारमसुहं विचिंतेज्जा ॥ ५७ ॥

व्याख्या—'अज्ञानं' ज्ञानावरणकर्मोदयजनित आत्मपरिणामः स एव तत्प्रेरकत्वान्मारुतः–वायुस्तेनेरितः–प्रेरितः, कः ?–संयोगवियोगवीचिसन्तानो यस्मिन् स तथाविधस्तं, तत्र संयोगः–केनचित् सह सम्बन्धः वियोगः–तेनैव विप्रयोगः एतावेव सन्ततप्रवृत्तत्वात् वीचयः–ऊर्मयस्तत्प्रवाहः–सन्तान इति भावना, संसरणं संसारः (स) सागर इव संसारसागरस्तं, किम्भूतम् ? 'अनोरपारम्' अनाद्यपर्यवसितम् 'अशुभम्' अशोभनं विचिन्तयेत्, तस्य गुणरहितस्य जीवस्येति गाथार्थः ॥ ५७ ॥ ॥६०१॥

प्रत सूत्रांक [सू...]

दीप अनुक्रम [२१..]

तस्स य संतरणसहं सम्मद्दंसणसुबंधणमणग्घं । णाणमयकण्णधारं चारित्तमयं महापोयं ॥ ५८ ॥

व्याख्या—'तस्य च' संसारसागरस्य 'संतरणसहं' सन्तरणसमर्थं, पोतमिति वक्ष्यति, किंविशिष्टं ?—सम्यग्दर्शनमेव शोभनं बन्धनं यस्य स तथाविधस्तम्, 'अनघम्' अपापं, ज्ञानं—प्रतीतं तन्मयः—तदात्मकः कर्णधारः—निर्यामकविशेषो यस्य यस्मिन् वा स तथाविधस्तं, चारित्रं—प्रतीतं तदात्मकं 'महापोतम्' इति महाबोहित्थं, क्रिया पूर्ववदिति गाथार्थः ॥ ५८ ॥

संवरकयनिच्छिद्दं तवपवणाइद्धजइणतरवेगं । वेरग्गमग्गपडियं विसोत्तियावीइनिक्खोभं ॥ ५९ ॥

व्याख्या—इहाऽऽश्रवनिरोधः संवरस्तेन कृतं निश्छिद्रं—स्थगितरन्ध्रमित्यर्थः, अनशनादिलक्षणं तपः तदेवेष्टपुरं प्रति प्रेरकत्वात् पवन इव तपःपवनस्तेनाऽऽविद्धस्य—प्रेरितस्य जवनतरः—शीघ्रतरो वेगः—रयो यस्य स तथाविधस्तं, तथा विरागस्य भावो वैराग्यं, तदेवेष्टपुरप्रापकत्वान्मार्ग इव वैराग्यमार्गस्तस्मिन् पतितः—गतस्तं, तथा विस्रोतसिका—अपध्यानानि एता एवेष्टपुरप्राप्तिविघ्नहेतुत्वाद्वीचय इव विस्रोतसिकावीचयः ताभिर्निक्षोभ्यः—निष्प्रकम्पस्तमिति गाथार्थः ॥ ५९ ॥ एवम्भूतं पोतं किं ?—

आरोढुं मुणिवणिया महग्घसीलंगरयणपडिपुन्नं । जह तं निव्वाणपुरं सिग्घमविग्घेण पावंति ॥ ६० ॥

व्याख्या—'आरोढुं' इत्यारुह्य, के ?—'मुनिवणिजः' मन्यन्ते जगतस्त्रिकालावस्थामिति मुनयः त एवातिनिपुणमायव्ययपूर्वकं प्रवृत्तेर्वणिज इव मुनिवणिजः, पोत एव विशेष्यते—महार्घाणि शीलाङ्गानि—पृथिवीकायसंरम्भपरित्यागादीनि वक्ष्यमाणलक्षणानि तान्येवैकान्तिकात्यन्तिकसुखहेतुत्वाद्रत्नानि २ तैः परिपूर्णः—भृतस्तं, येन प्रकारेण यथा 'तत्' प्रक्रान्तं

प्रत सूत्रांक [सू...] दीप अनुक्रम [२१..]

आवश्यक-हारिभ-द्रीया ॥६०२॥ | ४प्रतिक्रम-णाध्यान शतकम्

'निर्वाणपुरं' सिद्धिपत्तनं परिनिर्वाणपुरं वेति पाठान्तरं 'शीघ्रम्' आशु स्वल्पेन कालेनेत्यर्थः, 'अविघ्नेन' अन्तरायमन्तरेण 'प्राप्नुवन्ति' आसादयन्ति, तथा विचिन्तयेदिति वर्तत इत्ययं गाथार्थः ॥ ६० ॥

तत्थ य तिरयणविणिओगमइयमेगंतियं निराबाहं । साभावियं निरुवमं जह सोक्खं अक्खयमुवेंति ॥ ६१ ॥

व्याख्या—'तत्र च' परिनिर्वाणपुरे 'त्रिरत्नविनियोगात्मक'मिति त्रीणि रत्नानि–ज्ञानादीनि विनियोगश्चैषां क्रियाकरणं, ततः प्रसूतेस्तदात्मकमुच्यते, तथा 'एकान्तिकम्' इत्येकान्तभावि 'निराबाधम्' इत्याबाधारहितं, 'स्वाभाविकं' न कृत्रिमं 'निरुपमम्' उपमातीतमिति, उक्तं च–'[1]नवि अत्थि माणुसाणं तं सोक्ख'मित्यादि 'यथा' येन प्रकारेण 'सौख्यं' प्रतीतम् 'अक्षयम्' अपर्यवसानम् 'उपयान्ति' सामीप्येन प्राप्नुवन्ति, क्रिया प्राग्वदिति गाथार्थः ॥ ६१ ॥

किं बहुणा ? सव्वं चिय जीवाइपयत्थवित्थरोवेयं । सव्वनयसमूहमयं झाएज्जा समयसब्भावं ॥ ६२ ॥

व्याख्या—किं बहुना भाषितेन ?, 'सर्वमेव' निरवशेषमेव 'जीवादिपदार्थविस्तरोपेतं' जीवाजीवाश्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षाख्यपदार्थप्रपञ्चसमन्वितं समयसद्भावमिति योगः, किंविशिष्टं ?–'सर्वनयसमूहात्मकं' द्रव्यास्तिकादिनयसङ्घातमयमित्यर्थः, 'ध्यायेत्' विचिन्तयेदिति भावना, 'समयसद्भावं' सिद्धान्तार्थमिति हृदयम्, अयं गाथार्थः ॥ ६२ ॥ गतं ध्यातव्यद्वारं, साम्प्रतं येऽस्य ध्यातारस्तान् प्रतिपादयन्नाह—

सव्वप्पमायरहिया मुणओ खीणोवसंतमोहा य । झायारो नाणधणा धम्मज्झाणस्स निद्दिट्ठा ॥ ६३ ॥ ॥६०२॥

1 नैवास्ति मनुष्याणां तत्सौख्यं.

प्रत सूत्रांक [सू...]

दीप अनुक्रम [२१..]

व्याख्या—प्रमादा–मद्यादयः, यथोक्तम्–'मज्जं विसयकसाया निद्दा विकहा य पंचमी भणिया' सर्वप्रमादै रहिताः सर्वप्रमादरहिताः, अप्रमादवन्त इत्यर्थः, 'मुनयः' साधवः 'क्षीणोपशान्तमोहाश्च' इति क्षीणमोहाः–क्षपकनिर्ग्रन्थाः उपशान्तमोहा–उपशामकनिर्ग्रन्थाः, चशब्दादन्ये वाऽप्रमादिनः, 'ध्यातारः' चिन्तकाः, धर्मध्यानस्येति सम्बन्धः, ध्यातार एव विशेष्यन्ते–'ज्ञानधनाः' ज्ञानवित्ताः, विपश्चित इत्यर्थः, 'निर्दिष्टाः' प्रतिपादितास्तीर्थकरगणधरैरिति गाथार्थः ॥ ६३ ॥ उक्ता धर्मध्यानस्य ध्यातारः, साम्प्रतं शुक्लध्यानस्याप्याद्यभेदद्वयस्याविशेषेण एत एव यतो ध्यातार इत्यतो मा भूत्पुनरभिधेया भविष्यन्तीति लाघवार्थं चरमभेदद्वयस्य प्रसङ्गत एव तानेवाभिधित्सुराह—

एएच्चिय पुव्वाणं पुव्वधरा सुप्पसत्थसंघयणा । दोण्ह सजोगाजोगा सुक्काण पराण केवलिणो ॥ ६४ ॥

व्याख्या—'एत एव' येऽनन्तरमेव धर्मध्यानध्यातार उक्ताः 'पूर्वयोः' इत्याद्ययोर्द्वयोः शुक्लध्यानभेदयोः पृथक्त्ववितर्कसविचारमेकत्ववितर्कमविचारमित्यनयोः ध्यातार इति गम्यते, अयं पुनर्विशेषः–'पूर्वधराः' चतुर्दशपूर्वविदस्तदुपयुक्ताः, इदं च पूर्वधरविशेषणमप्रमादवतामेव वेदितव्यं, न निर्ग्रन्थानां, माषतुषमरुदेव्यादीनामपूर्वधराणामपि तदुपपत्तेः, 'सुप्रशस्तसंहनना' इत्याद्यसंहननयुक्ताः, इदं पुनरोघत एव विशेषणमिति, तथा 'द्वयोः' शुक्लयोः परयोः–उत्तरकालभाविनोः प्रधानयोर्वा सूक्ष्मक्रियानिवृत्तिव्युपरतक्रियाऽप्रतिपातिलक्षणयोर्यथासङ्ख्यं सयोगायोगकेवलिनो ध्यातार इति योगः,

---

१ मद्यं विषयाः कषाया निद्रा विकथा च पञ्चमी भणिता.

प्रत
सूत्रांक
[सू...]

दीप
अनुक्रम
[२१..]

आवश्यक-हारिभद्रीया ॥६०३॥

४प्रतिक्रमणाध्यान-शतकम्

'एवं च गम्मए–सुक्कज्झाणाइदुगं वोलीणस्स ततियमप्पत्तस्स एयाए झाणंतरियाए वट्टमाणस्स केवलणाणमुप्पज्जइ, केवली य सुक्कलेसोऽज्झाणी य जाव सुहुमकिरियमनियट्टि'त्ति गाथार्थः ॥ ६४ ॥ उक्तमानुषङ्गिकम्, इदानीमवसरप्राप्तमनुप्रेक्षाद्वारं व्याचिख्यासुरिदमाह—

झाणोवरमेऽवि मुणी णिच्चमणिच्चाइभावणापरमो । होइ सुभावियचित्तो धम्मज्झाणेण जो पुव्विं ॥ ६५ ॥

व्याख्या—इह ध्यानं धर्मध्यानमभिगृह्यते, तदुपरमेऽपि–तद्विगमेऽपि 'मुनिः' साधुः 'नित्यं' सर्वकालमनित्यादिचिन्तनापरमो भवति, आदिशब्दादशरणैकत्वसंसारपरिग्रहः, एताश्च द्वादशानुप्रेक्षा भावयितव्याः, "इष्टजनसम्प्रयोगर्द्धिविषयसुखसम्पदः" (प्रशमरतौ १५१–१६२) इत्यादिना ग्रन्थेन, फलं चासां सचित्तादिष्वनभिष्वङ्गभवनिर्वेदाविति भावनीयम्, अथ किंविशिष्टोऽनित्यादिचिन्तनापरमो भवतीत्यत आह–'सुभावितचित्तः' सुभावितान्तःकरणः, केन ?–'धर्मध्यानेन' प्राग्निरूपितशब्दार्थेन 'यः' कश्चित् 'पूर्वम्' आदाविति गाथार्थः ॥ ६५ ॥ गतमनुप्रेक्षाद्वारम्, अधुना लेश्याद्वारप्रतिपादनायाह—

होंति कमविसुद्धाओ लेसाओ पीयपम्हसुक्काओ । धम्मज्झाणोवगयस्स तिव्वमंदाइभेयाओ ॥ ६६ ॥ ॥६०३॥

व्याख्या—इह 'भवन्ति' संजायन्ते 'क्रमविशुद्धाः' परिपाटिविशुद्धाः, काः ?–लेश्याः, ताश्च पीतपद्मशुक्लाः, एतदुक्तं

---

१ एवं च गम्यते–शुक्लध्यानादिद्वयं व्यतिक्रान्तस्य तृतीयमप्राप्तस्य एतस्यां ध्यानान्तरिकायां वर्तमानस्य केवलज्ञानमुत्पद्यते, केवली च शुक्ललेश्योऽध्यानी च यावत् सूक्ष्मक्रियमनिवृत्तीति.

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्ति:

प्रत सूत्रांक [सू...]

दीप अनुक्रम [२१..]

भवति–पीतलेश्यायाः पद्मलेश्या विशुद्धा तस्या अपि शुक्ललेश्येति क्रमः, कस्यैता भवन्त्यत आह–'धर्मध्यानोपगतस्य' धर्मध्यानयुक्तस्येत्यर्थः, किंविशिष्टाश्चैता भवन्त्यत आह–'तीव्रमन्दादिभेदा' इति तत्र तीव्रभेदाः पीतादिस्वरूपेष्वन्त्याः, मन्दभेदास्त्वाद्याः, आदिशब्दान्मध्यमपक्षपरिग्रहः, अथवौघत एव परिणामविशेषा तीव्रमन्दभेदा इति गाथार्थः ॥ ६६ ॥ उक्तं लेश्याद्वारम्, इदानीं लिङ्गद्वारं विवृण्वन्नाह–

आगमउवएसाणाणिसग्गओ जं जिणप्पणीयाणं । भावाणं सद्दहणं धम्मज्झाणस्स तं लिंगं ॥ ६७ ॥

व्याख्या—इहागमोपदेशाज्ञानिसर्गतो यद् 'जिनप्रणीतानां' तीर्थकरप्ररूपितानां द्रव्यादिपदार्थानां 'श्रद्धानम्' अवितथा एत इत्यादिलक्षणं धर्मध्यानस्य तल्लिङ्गं, तत्त्वश्रद्धानेन लिङ्ग्यते धर्मध्यायीति, इह चागमः–सूत्रमेव तदनुसारेण कथनम्–उपदेशः आज्ञा त्वर्थः निसर्गः–स्वभाव इति गाथार्थः ॥ ६७ ॥ किं च—

जिणसाहूगुणकित्तणपसंसणाविणयदाणसंपण्णो । सुअसीलसंजमरओ धम्मज्झाणी मुणेयव्वो ॥ ६८ ॥

व्याख्या—'जिनसाधुगुणोत्कीर्तनप्रशंसाविनयदानसम्पन्नः' इह जिनसाधवः–प्रतीताः, तद्गुणाश्च निरतिचारसम्यग्दर्शनादयस्तेषामुत्कीर्तनं–सामान्येन संशब्दनमुच्यते, प्रशंसा त्वहोश्लाघ्यतया भक्तिपूर्विका स्तुतिः, विनयः–अभ्युत्थानादि, दानम्–अशनादिप्रदानम्, एतत्सम्पन्नः–एतत्समन्वितः, तथा श्रुतशीलसंयमरतः, तत्र श्रुतं–सामायिकादिबिन्दुसारान्तं शीलं–व्रतादिसमाधानलक्षणं संयमस्तु प्राणातिपातादिनिवृत्तिलक्षणः, यथोक्तं–'पञ्चाश्रवा' दित्यादि, एतेषु भावतो रतः, किं ?–धर्मध्यानीति ज्ञातव्य इति गाथार्थः ॥ ६८ ॥ गतं लिङ्गद्वारम्, अधुना फलद्वारावसरः, तच्च लाघवार्थं शुक्लध्यान-

प्रत
सूत्रांक
[सू...]

दीप
अनुक्रम
[२१..]

आवश्यक-हारिभद्रीया ॥६०४॥

४प्रतिक्रमणाध्यान-शतकम्

फलाधिकारे वक्ष्यतीत्युक्तं धर्मध्यानम्, इदानीं शुक्लध्यानावसर इत्यस्य चान्वर्थः प्राग्निरूपित एव, इहापि च भावनादीनि फलान्तानि तान्येव द्वादश द्वाराणि भवन्ति, तत्र भावनादेशकालासनविशेषेषु (धर्म)ध्यानादस्याविशेष एवेत्यत एतान्यनादृत्याऽऽलम्बनान्यभिधित्सुराह—

अह खंतिमद्दवज्जवमुत्तीओ जिणमयप्पहाणाओ। आलंबणाइँ जेहिं सुक्कज्झाणं समारुहइ ॥ ६९ ॥

व्याख्या—'अथे' त्यासनविशेषानन्तर्ये, 'क्षान्तिमार्द्दवार्जवमुक्तयः' क्रोधमानमायालोभपरित्यागरूपाः, परित्यागश्च क्रोधे*निवर्त्तनमुदयनिरोधः उदीर्णस्य वा विफलीकरणमिति, एवं मानादिष्वपि भावनीयम्, एता एव क्षान्तिमार्द्दवार्जवमुक्तयो विशेष्यन्ते–'जिनमतप्रधाना' इति जिनमते–तीर्थकरदर्शने कर्मक्षयहेतुतामधिकृत्य प्रधानाः २, प्राधान्यं चासामकषायं चारित्रं चारित्राच्च नियमतो मुक्तिरितिकृत्वा, ततश्चैता आलम्बनानि–प्राग्निरूपितशब्दार्थानि, यैरालम्बनैः करणभूतैः शुक्लध्यानं समारोहति, तथा च क्षान्त्याद्यालम्बना एव शुक्लध्यानं समासादयन्ति, नान्य इति गाथार्थः ॥ ६९ ॥ व्याख्यातं शुक्लध्यानमधिकृत्याऽऽलम्बनद्वारं, साम्प्रतं क्रमद्वारावसरः, क्रमश्चाऽऽद्ययोर्धर्मध्यान एवोक्तः, इह पुनरयं विशेषः—

तिहुयणविसयं कमसो संखिविउ मणो अणुंमि छउमत्थो। झायइ सुनिप्पकंपो झाणं अमणो जिणो होइ ॥ ७० ॥

व्याख्या—त्रिभुवनम्–अधस्तिर्यगूर्ध्वलोकभेदं तद्विषयः–गोचरः आलम्बनं यस्य मनस इति इति योगः, तत्त्रिभुवनविषयं 'क्रमशः' क्रमेण परिपाट्या–प्रतिवस्तुपरित्यागलक्षणया 'संक्षिप्य' सङ्कोच्य, किं ?–'मनः' अन्तःकरणं, क्व ?–'अणौ ॥६०४॥

* क्रोधे न वर्त्तनं प्र०.

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्ति:

परमाणौ, निधायेति शेषः, कः ?–'छद्मस्थः' प्राग्निरूपितशब्दार्थः, 'ध्यायति' चिन्तयति 'सुनिष्प्रकम्पः' अतीव निश्चल इत्यर्थः, 'ध्यानं' शुक्लं, ततोऽपि प्रयत्नविशेषान्मनोऽपनीय 'अमनाः' अविद्यमानान्तःकरणः 'जिनो भवति' अर्हन् भवति, चरमयोर्द्वयोर्ध्यातेति वाक्यशेषः, तत्राप्याद्यस्यान्तर्मुहूर्तेन शैलेशीमप्राप्तः, तस्यां च द्वितीयस्येति गाथार्थः ॥ ७० ॥ आह–कथं पुनश्छद्मस्थस्त्रिभुवनविषयं मनः संक्षिप्याणौ धारयति ?, केवली वा ततोऽप्यपनयतीति ?, अत्रोच्यते—

जह सव्वसरीरगयं मंतेण विसं निरुंभए डंके । तत्तो पुणोऽवणिज्जइ पहाणयरमंतजोगेणं ॥ ७१ ॥

व्याख्या—'यथे' त्युदाहरणोपन्यासार्थः, 'सर्वशरीरगतं' सर्वदेहव्यापकं 'मन्त्रेण' विशिष्टवर्णानुपूर्वीलक्षणेन 'विषं' मारणात्मकं द्रव्यं 'निरुध्यते' निश्चयेन ध्रियते, क ?–'डङ्के' भक्षणदेशे, 'ततः' डङ्कात्पुनरपनीयते, केनेत्यत आह–'प्रधानतरमन्त्रयोगेन' श्रेष्ठतरमन्त्रयोगेनेत्यर्थः, मन्त्रयोगाभ्यामिति च पाठान्तरं वा, अत्र पुनर्योगशब्देनागदः परिगृह्यते इति गाथार्थः ॥ ७१ ॥ एष दृष्टान्तः, अयमर्थोपनयः—

तह तिहुयणतणुविसयं मणोविसं जोगमंतबलजुत्तो । परमाणुंमि निरुंभइ अवणेइ तओवि जिणवेज्जो ॥ ७२ ॥

व्याख्या—तथा 'त्रिभुवनतनुविषयं' त्रिभुवनशरीरालम्बनमित्यर्थः, मन एव भवमरणनिबन्धनत्वाद्विषं मन्त्रयोगबलयुक्तः–जिनवचनध्यानसामर्थ्यसम्पन्नः परमाणौ निरुणद्धि, तथाऽचिन्त्यप्रयत्नाच्चापनयति 'ततोऽपि' तस्मादपि परमाणोः, कः ?–'जिनवैद्यः' जिनभिषग्वर इति गाथार्थः ॥ ७२ ॥ अस्मिन्नेवार्थे दृष्टान्तान्तरमभिधातुकाम आह—

उस्सारियेंधणभरो जह परिहाइ कमसो हुयासुव्व । थोविंधणावसेसो निव्वाइ तओऽवणीओ य ॥ ७३ ॥

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्ति:

प्रत सूत्रांक [सू...]

दीप अनुक्रम [२१..]

आवश्यक-हारिभद्रीया ॥६०५॥

४प्रतिक्रमणाध्यान-शतकम्

व्याख्या—'उत्सारितेन्धनभरः' अपनीतदाह्यसङ्घातः यथा 'परिहीयते' हानिं प्रतिपद्यते 'क्रमशः' क्रमेण 'हुताशः' वह्निः, 'वा' विकल्पार्थः, स्तोकेन्धनावशेषः हुताशमात्रं भवति, तथा 'निर्वाति' विध्यायति 'ततः' स्तोकेन्धनादपनीतश्चेति गाथार्थः ॥ ७३ ॥ अस्यैव दृष्टान्तोपनयमाह—

तह विसइंधणहीणो मणोहुयासो कमेण तणुयंमि । विसइंधणे निरुंभइ निव्वाइ तओऽवणीओ य ॥ ७४ ॥

व्याख्या—तथा 'विषयेन्धनहीनः' गोचरेन्धनरहित इत्यर्थः, मन एव दुःखदाहकारणत्वाद् हुताशो मनोहुताशः, "क्रमेण' परिपाट्या 'तनुके' कृशे, क्व ?–'विषयेन्धने' अणावित्यर्थः, किं ?–'निरुध्यते' निश्चयेन ध्रियते, तथा निर्वाति ततः' तस्मादणोरपनीतश्चेति गाथार्थः ॥ ७४ ॥ पुनरप्यस्मिन्नेवार्थे दृष्टान्तोपनयावाह—

तोयमिव नालियाए तत्तायसभायणोदरत्थं वा । परिहाइ कमेण जहा तह जोगिमणोजलं जाण ॥ ७५ ॥

व्याख्या—'तोयमिव' उदकमिव 'नालिकायाः' घटिकायाः, तथा तप्तं च तदायसभाजनं–लोहभाजनं चं तप्तायसभाजनं तदुदरस्थं, वा विकल्पार्थः, परिहीयते क्रमेण यथा, एष दृष्टान्तः, अयमर्थोपनयः–'तथा' तेनैव प्रकारेण योगिमन एवाविकलत्वाज्जलं २ 'जानीहि' अवबुद्ध्यस्व, तथाऽप्रमादानलतप्तजीवभाजनस्थं मनोजलं परिहीयत इति भावना, अलमतिविस्तरेणेति गाथार्थः ॥ ७५ ॥ 'अपनयति ततोऽपि जिनवैद्य' इतिवचनाद् एवं तावत् केवली मनोयोगं निरुणद्धीत्युक्तम्, अधुना शेषयोगनियोगविधिमभिधातुकाम आह— ॥६०५॥

एवं चिय वयजोगं निरुंभइ कमेण कायजोगंपि । तो सेलेसोव्व थिरो सेलेसी केवली होइ ॥ ७६ ॥

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्तिः

प्रत
सूत्रांक
[सू...]

दीप
अनुक्रम
[२१..]

व्याख्या—'एवमेव' एभिरेव विषादिदृष्टान्तैः, किं ?—वाग्योगं निरुणद्धि, तथा क्रमेण काययोगमपि निरुणद्धीति वर्तते, ततः 'शैलेश इव' मेरुरिव स्थिरः सन् शैलेशी केवली भवतीति गाथार्थः ॥ ७६ ॥ इह च भावार्थो नमस्कार-निर्युक्तौ प्रतिपादित एव, तथाऽपि स्थानाशून्यार्थं स एव लेशतः प्रतिपाद्यते, तत्र योगानामिदं स्वरूपम्—औदारिकादि-शरीरयुक्तस्याऽऽत्मनो वीर्यपरिणतिविशेषः काययोगः, तथौदारिकवैक्रियाहारकशरीरव्यापाराहृतवाग्द्रव्यसमूहसाचिव्या-ज्जीवव्यापारो वाग्योगः, तथौदारिकवैक्रियाहारकशरीरव्यापाराहृतमनोद्रव्यसाचिव्याज्जीवव्यापारो मनोयोग इति, स चामीषां निरोधं कुर्वन् कालतोऽन्तर्मुहूर्तभाविनि परमपदे भवोपग्राहिकर्मसु च वेदनीयादिषु समुद्घाततो निसर्गेण वा समस्थितिषु सत्स्वेतस्मिन् काले करोति, परिमाणतोऽपि—'[1]पज्जत्तमित्तसन्निस्स जत्तियाइं जहण्णजोगिस्स । होंति मणोदव्वाइं तव्वावारो य जम्मत्तो ॥ १ ॥ तदसङ्ख्गुणविहीणे समए २ निरुंभमाणो सो। मणसो सव्वनिरोहं कुणइ असंखेज्जसमएहिं ॥ २ ॥ पज्जत्तमित्तबिंदियजहण्णवइजोगपज्जया जे उ । तदसंखगुणविहीणे समए २ निरुंभंतो ॥ ३ ॥ सव्ववइजोगरोहं संखाईएहिं कुणइ समएहिं । तत्तो य सुहुमपणगस्स पढमसमओववन्नस्स ॥ ४ ॥ जो किर जहण्णजोओ तदसंखेज्जगुणहीणमेक्केक्के । समए निरुंभमाणो देहतिभागं च मुचंतो ॥ ५ ॥ रुंभइ स कायजोगं संखाईएहिं चेव समएहिं । तो

१ पर्याप्तमात्रसंज्ञिनो यावन्ति जघन्ययोगिनः । भवन्ति मनोद्रव्याणि तद्व्यापारश्च यन्मात्रः ॥ १ ॥ तदसंख्यगुणविहीनान् समये २ निरुन्धन् सः । मनसः सर्वनिरोधं करोत्यसंख्येयसमयैः ॥२॥ पर्याप्तमात्रद्वीन्द्रियस्य जघन्यवचोयोगिनः पर्याया ये तु । तदसंख्यगुणविहीनान् समये २ निरुन्धन् ॥ ३ ॥ सर्ववचोयोगरोधं संख्यातीतैः करोति समयैः । ततश्च सूक्ष्मपनकस्य प्रथमसमयोत्पन्नस्य ॥४॥ यः किल जघन्यो योगस्तदसंख्येयगुणहीनमेकैकस्मिन्। समये २ निरुन्धन् देहत्रिभागं च मुञ्चन् ॥ ५ ॥ रुणद्धि स काययोगं संख्यातीतैरेव समयैः । ततः

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [सू...] दीप अनुक्रम [२१..]

आवश्यक-हारिभ-द्रीया ॥६०६॥

कयजोगनिरोहो सेलेसीभावणामेइ ॥ ६ ॥ सेलेसो किर मेरू सेलेसो होइ जा तहाऽचलया। होउं च असेलेसो सेलेसी-
होइ थिरयाए ॥ ७ ॥ अहवा सेलुव इसी सेलेसी होइ सो उ थिरयाए। सेव अलेसीहोई सेलेसीहोअलोवाओ ॥ ८ ॥
सीलं व समाहाणं निच्छयओ सवसंवरो सो य। तस्सेसो सीलेसो सीलेसी होइ तयवत्थो ॥ ९ ॥ हस्सक्खराइ मज्झेण
जेण कालेण पंच भण्णंति। अच्छइ सेलेसिगओ तत्तियमेत्तं तओ कालं ॥ १० ॥ तणुरोहारंभाओ झायइ सुहुमकिरिया-
णियट्टिं सो। वोच्छिन्नकिरियमप्पडिवाई सेलेसिकालंमि ॥ ११ ॥ तयसंखेज्जगुणाए गुणसेढीऍ रइयं पुरा कंमं। समए २
खवयं कमसो सेलेसिकालेणं ॥ १२ ॥ सवं खवेइ तं पुण निलेवं किंचि दुचरिमे समए। किंचिच्च होंति चरमे सेलेसीए
तयं वोच्छं ॥ १३ ॥ मणुयगइजाइतसबादरं च पज्जत्तसुभगमाएज्जं । अन्नयरवेयणिज्जं नराउमुच्चं जसो नामं ॥ १४ ॥
संभवओ जिणणामं नराणुपुवी य चरिमसमयंमि । सेसा जिणसंताओ दुचरिमसमयंमि निट्ठंति ॥ १५ ॥ ओरालियाहिं

---

१ कृतयोगनिरोधः शैलेशीभावनामेति ॥ ६ ॥ शैलेशः किल मेरुः शैलेशी भवति या तथाऽचलता। भूत्वा चाशैलेशः शैलेशीभवति स्थिरतया ॥ ७ ॥
अथवा शैल इवर्षिः शैलर्षीभवति स एव स्थिरतया। सैवालेश्यीभवति सैलेशीभवत्यलोपात् ॥ ८ ॥ शीलं वा समाधानं निश्चयतः सर्वसंवरः स च। तस्येशः
शीलेशः शैलेशीभवति तदवस्थः ॥ ९ ॥ ह्रस्वाक्षराणि मध्येन येन कालेन पञ्च भण्यन्ते। तिष्ठति शैलेशीगतस्तावन्मात्रं ततः कालम् ॥ १० ॥ तनुरोधार-
म्भात् ध्यायति सूक्ष्मक्रियाऽनिवृत्तिं सः। व्युच्छिन्नक्रियमप्रतिपाति शैलेशीकाले ॥ ११ ॥ तदसंख्यगुणया गुणश्रेण्या रचितं पुरा कर्म। समये २ क्षपयन् क्रमशः
शैलेशीकालेन ॥ १२ ॥ सर्वं क्षपयति तत् पुनर्निर्लेपं किञ्चिद्द्विचरमे समये। किञ्चिच भवति चरमे शैलेश्यास्तद्वक्ष्ये ॥ १३ ॥ मनुजगतिजाती त्रसं बादरं च
पर्याप्तसुभगादेयं च। अन्यतरवेदनीयं नरायुरुच्चैर्गोत्रं यशोनाम ॥ १४ ॥ संभवतो जिननाम नरानुपूर्वी च चरमसमये । शेषा जिनसत्काः द्विचरमसमये
निस्तिष्ठन्ति ॥ १५ ॥ औदारिकाभिः

४ प्रतिक्रमणाध्यान-शतकम्. ॥६०६॥

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्ति:

प्रत
सूत्रांक
[सू...]

दीप
अनुक्रम
[२१..]

सव्वाहिं चयइ विप्पजहणाहिं जं भणियं । निस्सेस तहा न जहा देसच्चाएण सो पुव्वं ॥ १६ ॥ तस्सोदइयाभावा भव्वत्तं च विणियत्तए समयं । सम्मत्तणाणदंसणसुहसिद्धत्ताणि मोत्तूणं ॥ १७ ॥ उजुसेढिं पडिवन्नो समयपएसंतरं अफुसमाणो । एगसमएण सिज्झइ अह सागारोवउत्तो सो ॥ १८ ॥' अलमतिप्रसङ्गेनेति गाथार्थः ॥ ७६ ॥ उक्तं क्रमद्वारम्, इदानीं ध्यातव्यद्वारं विवृण्वन्नाह—

उप्पायट्ठिइभंगाइपज्जयाणं जमेगवत्थुंमि । नाणानयाणुसरणं पुव्वगयसुयाणुसारेणं ॥ ७७ ॥

व्याख्या—'उत्पादस्थितिभङ्गादिपर्यायाणाम्' उत्पादादयः प्रतीताः, आदिशब्दान्मूर्तामूर्तग्रहः, अमीषां पर्यायाणां यदेकस्मिन् द्रव्ये–अण्वात्मादौ, किं ? नानानयैः–द्रव्यास्तिकादिभिरनुस्मरणं–चिन्तनं, कथं ?–पूर्वगतश्रुतानुसारेण पूर्वविदः, मरुदेव्यादीनां त्वन्यथा ॥ तत्किमित्याह—

सवियारमत्थवंजणजोगंतरओ तयं पढमसुक्कं । होइ पुहुत्तवितक्कं सवियारमरागभावस्स ॥ ७८ ॥

व्याख्या—'सविचारं' सह विचारेण वर्तत इति २, विचारः–अर्थव्यञ्जनयोगसङ्क्रम इति, आह च–'अर्थव्यञ्जनयोगान्तरतः–अर्थः–द्रव्यं व्यञ्जनं–शब्दः योगः–मनःप्रभृति एतदन्तरतः–एतावद्भेदेन सविचारम्, अर्थाद्व्यञ्जनं सङ्क्रामतीति विभाषा, 'तकम्' एतत् 'प्रथमं शुक्लम्' आद्यशुक्लं भवति, किंनामेत्यत आह–'पृथक्त्ववितर्कं सविचारं' पृथक्त्वेन–

---

१ सर्वाभिस्त्यजति विप्रजहणाभिः यद्भणितम् । निःशेषत्यागेन तथा न यथा देशत्यागेन स पूर्वम् ॥१६॥ तस्यौदयिकाभावात् भव्यत्वं च विनिवर्त्तते समकम् । सम्यक्त्वज्ञानदर्शनसिद्धत्वानि मुक्त्वा ॥ १७ ॥ ऋजुश्रेणिं प्रतिपन्नः समयप्रदेशान्तरमस्पृशन् । एकसमयेन सिध्यति अथ साकारोपयुक्तः सः ॥ १८ ॥

प्रत सूत्रांक [सू...]

दीप अनुक्रम [२१..]

आवश्यक-हारिभ-द्रीया ॥६०७॥

भेदेन विस्तीर्णभावेनान्ये वितर्कः–श्रुतं यस्मिन् तत्तथा, कस्येदं भवतीत्यत आह–'अरागभावस्य' रागपरिणामरहितस्येति गाथार्थः ॥ ७८ ॥

जं पुण सुणिप्पकंपं निवायसरणप्पईवमिव चित्तं । उप्पायठिइभंगाइयाणमेगंमि पज्जाए ॥ ७९ ॥

व्याख्या—यत्पुनः 'सुनिष्प्रकम्पं' विक्षेपरहितं 'निवातशरणप्रदीप इव' निर्गतवातगृहैकदेशस्थदीप इव 'चित्तम्' अन्तःकरणं, क ?–उत्पादस्थितिभङ्गादीनामेकस्मिन् पर्याये ॥ ७९ ॥ ततः किमत आह—

अवियारमत्थवंजणजोगंतरओ तयं बितियसुक्कं । पुव्वगयसुयालंबणमेगत्तवितक्कमवियारं ॥ ८० ॥

व्याख्या—अविचारम्—असङ्क्रमं, कुतः ?–अर्थव्यञ्जनयोगान्तरतः इति पूर्ववत्, तमेवंविधं द्वितीयं शुक्लं भवति, किमभिधानमित्यत आह–'एकत्ववितर्कमविचारम्' एकत्वेन–अभेदेन वितर्कः–व्यञ्जनरूपोऽर्थरूपो वा यस्य तत्तथा, इदमपि च पूर्वगतश्रुतानुसारेणैव भवति, अविचारादि पूर्ववदिति गाथार्थः ॥ ८० ॥

निव्वाणगमणकाले केवलिणो दरनिरुद्धजोगस्स । सुहुमकिरियाऽनियट्टिं तइयं तणुकायकिरियस्स ॥ ८१ ॥

व्याख्या—'निर्वाणगमनकाले' मोक्षगमनप्रत्यासन्नसमये 'केवलिनः' सर्वज्ञस्य मनोवाग्योगद्वये निरुद्धे सति अर्द्धनिरुद्धकाययोगस्य, किं ?–'सूक्ष्मक्रियाऽनिवर्ति' सूक्ष्मा क्रिया यस्य तत्तथा सूक्ष्मक्रियं च तदनिवर्ति चेति नाम, निवर्तितुं शीलमस्येति निवर्ति प्रवर्द्धमानतरपरिणामात् न निवर्ति अनिवर्ति तृतीयं, ध्यानमिति गम्यते, 'तनुकायक्रियस्ये'ति तन्वी उच्छ्वासनिःश्वासादिलक्षणा कायक्रिया यस्य स तथाविधस्तस्येति गाथार्थः ॥ ८१ ॥

४प्रतिक्रमणाध्यान-शतकम् ॥६०७॥

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्ति:

प्रत
सूत्रांक
[सू...]

दीप
अनुक्रम
[२१..]

तस्सेव य सेलेसीगयस्स सेलोव्व णिप्पकंपस्स । वोच्छिन्नकिरियमप्पडिवाइ ज्झाणं परमसुक्कं ॥ ८२ ॥

व्याख्या—'तस्यैव च' केवलिनः 'शैलेशीगतस्य' शैलेशी–प्राग्वर्णिता तां प्राप्तस्य, किंविशिष्टस्य ?–निरुद्धयोगत्वात् 'शैलेश इव निष्प्रकम्पस्य' मेरोरिव स्थिरस्येत्यर्थः, किं ?–व्यवच्छिन्नक्रियं योगाभावात् तद् 'अप्रतिपाति' अनुपरतस्वभावमिति, एतदेव चास्य नाम ध्यानं परमशुक्लं–प्रकटार्थमिति गाथार्थः ॥ ८२ ॥ इत्थं चतुर्विधं ध्यानमभिधायाधुनैतत्प्रतिबद्धमेव वक्तव्यताशेषमभिधित्सुराह—

पढमं जोगे जोगेसु वा मयं बितियमेव जोगंमि । तइयं च कायजोगे सुक्कमजोगंमि य चउत्थं ॥ ८३ ॥

व्याख्या—'प्रथमं' पृथक्त्ववितर्कसविचारं 'योगे' मनआदौ योगेषु वा सर्वेषु 'मतम्' इष्टं, तच्चागमिकश्रुतपाठिनः, 'द्वितीयम्' एकत्ववितर्कमविचारं तदेकयोग एव, अन्यतरस्मिन् सङ्क्रमाभावात्, तृतीयं च सूक्ष्मक्रियाऽनिवर्ति काययोगे, न योगान्तरे, शुक्लम् 'अयोगिनि च' शैलेशीकेवलिनि 'चतुर्थं' व्युपरतक्रियाऽप्रतिपातीति गाथार्थः ॥८३॥ आह–शुक्लध्यानोपरिमभेदद्वये मनो नास्त्येव, अमनस्कत्वात् केवलिनः, ध्यानं च मनोविशेषः 'ध्यै चिन्तायाम्'इति पाठात्, तदेतत्कथम् ?, उच्यते—

जह छउमत्थस्स मणो झाणं भण्णइ सुनिच्चलो संतो । तह केवलिणो काओ सुनिच्चलो भन्नए झाणं ॥ ८४ ॥

व्याख्या—यथा छद्मस्थस्य मनः, किं ?–ध्यानं भण्यते सुनिश्चलं सत्, 'तथा' तेनैव प्रकारेण योगत्वाव्यभिचारात्केवलिनः कायः सुनिश्चलो भण्यते ध्यानमिति गाथार्थः ॥ ८४ ॥ आह–चतुर्थे निरुद्धत्वादसावपि न भवति, तथाविधभावेऽपि च सर्वभावप्रसङ्गः, तत्र का वार्तेति ?, उच्यते—

प्रत सूत्रांक [सू...]

दीप अनुक्रम [२१..]

पुव्वप्पओगओ चिय कम्मविणिज्जरणहेउतो यावि । सद्दत्थबहुत्ताओ तह जिणचंदागमाओ य ॥ ८५ ॥
चित्ताभावेवि सया सुहुमोवरयकिरियाइ भण्णंति । जीवोवओगसब्भावओ भवत्थस्स झाणाइं ॥ ८६ ॥

व्याख्या—काययोगनिरोधिनो योगिनोऽयोगिनोऽपि चित्ताभावेऽपि सूक्ष्मोपरतक्रियो भण्यते,सूक्ष्मग्रहणात् सूक्ष्मक्रियाऽनिवर्तिनो ग्रहणम् , उपरतग्रहणाद्युपरतक्रियाऽप्रतिपातिन इति, पूर्वप्रयोगादिति हेतुः, कुलालचक्रभ्रमणवदिति दृष्टान्तोऽभ्यूह्यः, यथा चक्रं भ्रमणनिमित्तदण्डादिक्रियाऽभावेऽपि भ्रमति तथाऽस्यापि मनःप्रभृतियोगोपरमेऽपि जीवोपयोगसद्भावतः भावमनसो भावात् भवस्थस्य ध्याने इति, अपिशब्दश्चोदनानिर्णयप्रथमहेतुसम्भावनार्थः, चशब्दस्तु प्रस्तुतहेत्वनुकर्षणार्थः, एवं शेषहेतवोऽप्यनया गाथया योजनीयाः, विशेषस्तूच्यते–‘कर्मविनिर्जरणहेतुतश्चापि’ कर्मविनिर्जरणहेतुत्वात् क्षपकश्रेणिवत् , भवति च क्षपकश्रेण्यामिवास्य भवोपग्राहिकर्मनिर्जरेति भावः, चशब्दः प्रस्तुतहेतुत्वनुकर्षणार्थः, अपिशब्दस्तु द्वितीयहेतुसम्भावनार्थ इति, ‘तथा शब्दार्थबहुत्वात्’ यथैकस्यैव हरिशब्दस्य शक्रशाखामृगादयोऽनेकार्थाः एवं ध्यानशब्दस्यापि न विरोधः, ‘ध्यै चिन्तायां’ ‘ध्यै कायनिरोधे’ ‘ध्यै अयोगित्वे’ इत्यादि, तथा जिनचन्द्रागमाच्चैतदेवमिति, उक्तं च–‘आगमश्चोपपत्तिश्च, सम्पूर्णं दृष्टिलक्षणम् । अतीन्द्रियाणामर्थानां, सद्भावप्रतिपत्तये ॥ १ ॥ इत्यादि गाथाद्वयार्थः ॥ ८५–८६ ॥ उक्तं ध्यातव्यद्वारं, ध्यातारस्तु धर्मध्यानाधिकार एवोक्ताः, अधुनाऽनुप्रेक्षाद्वारमुच्यते—

सुक्कज्झाणसुभावियचित्तो चिंतेइ झाणविरमेऽवि । णिययमणुप्पेहाओ चत्तारि चरित्तसंपन्नो ॥ ८७ ॥

व्याख्या—शुक्लध्यानसुभावितचित्तश्चिन्तयति ध्यानविरमेऽपि नियतमनुप्रेक्षाश्चतस्रश्चारित्रसम्पन्नः, तत्परिणामरहितस्य तदभावादिति गाथार्थः ॥ ८७ ॥ ताश्चैताः—

प्रत
सूत्रांक
[सू...]

दीप
अनुक्रम
[२१..]

आसवदारावाए तह संसारासुहाणुभावं च । भवसंताणमणन्तं वत्थूणं विपरिणामं च ॥ ८८ ॥

व्याख्या—आश्रवद्वाराणि–मिथ्यात्वादीनि तदपायान्–दुःखलक्षणान्, तथा संसारानुभावं च, 'धी संसारो' इत्यादि, भवसन्तानमनन्तं भाविनं नारकाद्यपेक्षया, वस्तूनां विपरिणामं च सचेतनाचेतनानां 'सव्वट्ठाणाणि असासयाणी'त्यादि, एताश्चतस्रोऽप्यपायाशुभानन्तविपरिणामानुप्रेक्षा आद्यद्वयभेदसङ्गता एव द्रष्टव्या इति गाथार्थः ॥ ८८ ॥ उक्तमनुप्रेक्षाद्वारम्, इदानीं लेश्याद्वाराभिधित्सयाऽऽह—

सुक्काए लेसाए दो ततियं परमसुक्कलेस्साए । थिरयाजियसेलेसिं लेसाईयं परमसुक्कं ॥ ८९ ॥

व्याख्या—सामान्येन शुक्लायां लेश्यायां 'द्वे' आद्ये उक्तलक्षणे 'तृतीयम्' उक्तलक्षणमेव, परमशुक्ललेश्यायां 'स्थिरताजितशैलेशं' मेरोरपि निष्प्रकम्पतरमित्यर्थः, लेश्यातीतं 'परमशुक्लं' चतुर्थमिति गाथार्थः ॥ ८९ ॥ उक्तं लेश्याद्वारम्, अधुना लिङ्गद्वारं विवरीषुस्तेषां नामप्रमाणस्वरूपगुणभावनार्थमाह—

अवहासंमोहविवेगविउसग्गा तस्स होंति लिंगाइं । लिंगिज्जइ जेहिं मुणी सुक्कज्झाणोवगयचित्तो ॥ ९० ॥

व्याख्या—अवधासम्मोहविवेकव्युत्सर्गाः 'तस्य' शुक्लध्यानस्य भवन्ति लिङ्गानि, 'लिङ्ग्यते' गम्यते यैर्मुनिः शुक्लध्यानोपगतचित्त इति गाथाक्षरार्थः ॥ ९० ॥ अधुना भावार्थमाह—

चालिज्जइ बीभेइ य धीरो न परीसहोवसग्गेहिं । सुहुमेसु न संमुज्झइ भावेसु न देवमायासु ॥ ९१ ॥

व्याख्या—चाल्यते ध्यानात् न परीषहोपसर्गैर्बिभेति वा 'धीरः' बुद्धिमान् स्थिरो वा न तेभ्य इत्यवधलिङ्गं, 'सूक्ष्मेषु'

प्रत सूत्रांक [सू...] दीप अनुक्रम [२१..]

आवश्यक-हारिभद्रीया ॥६०९॥

४प्रतिक्रमणाध्यानशतकम्

अत्यन्तगहनेषु 'न संमुह्यते' न सम्मोहमुपगच्छति, 'भावेषु' पदार्थेषु न देवमायासु अनेकरूपास्वित्यसम्मोहलिङ्गमिति गाथाक्षरार्थः ॥ ९१ ॥

देहविवित्तं पेच्छइ अप्पाणं तह य सव्वसंजोगे । देहोवहिवोसग्गं निस्संगो सव्वहा कुणइ ॥ ९२ ॥

व्याख्या—देहविविक्तं पश्यत्यात्मानं तथा च सर्वसंयोगानिति विवेकलिङ्गं, देहोपधिव्युत्सर्गं निःसङ्गः सर्वथा करोति व्युत्सर्गलिङ्गमिति गाथार्थः ॥ ९२ ॥ गतं लिङ्गद्वारं, साम्प्रतं फलद्वारमुच्यते, इह च लाघवार्थं प्रथमोपन्यस्तं धर्मफलमभिधाय शुक्लध्यानफलमाह, धर्मफलानामेव शुद्धतराणामाद्यशुक्लद्वयफलत्वाद्, अत आह—

होंति सुहासवसंवरविणिज्जरामरसुहाइं विउलाइं । झाणवरस्स फलाइं सुहाणुबंधीणि धम्मस्स ॥ ९३ ॥

व्याख्या—भवन्ति 'शुभाश्रवसंवरविनिर्जरामरसुखानि' शुभाश्रवः—पुण्याश्रवः संवरः—अशुभकर्मागमनिरोधः विनिर्जरा—कर्मक्षयः अमरसुखानि—देवसुखानि, एतानि च दीर्घस्थितिविशुद्ध्युपपाताभ्यां 'विपुलानि' विस्तीर्णानि, 'ध्यानवरस्य' ध्यानप्रधानस्य फलानि 'शुभानुबन्धीनि' सुकुलप्रत्यायातिपुनर्बोधिलाभभोगप्रव्रज्याकेवलशैलेश्यपवर्गानुबन्धीनि 'धर्मस्य' ध्यानस्येति गाथार्थः ॥ ९३ ॥ उक्तानि धर्मफलानि, अधुना शुक्लमधिकृत्याह— ॥६०९॥

ते य विसेसेण सुभासवादओऽणुत्तरामरसुहं च । दोण्हं सुक्काण फलं परिनिव्वाणं परिल्लाणं ॥ ९४ ॥

व्याख्या—ते च विशेषेण 'शुभाश्रवादयः' अनन्तरोदिताः, अनुत्तरामरसुखं च द्वयोः शुक्लयोः फलमाद्ययोः 'परिनिर्वाणं' मोक्षगमनं 'परिल्लाणं'ति चरमयोर्द्वयोरिति गाथार्थः ॥ ९४ ॥ अथवा सामान्येनैव संसारप्रतिपक्षभूते एते इति दर्शयति—

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्तिः

प्रत
सूत्रांक
[सू...]

दीप
अनुक्रम
[२१..]

आसवदारा संसारहेयवो जं ण धम्मसुक्केसु । संसारकारणाइं तओ धुवं धम्मसुक्काइं ॥ ९५ ॥

व्याख्या—आश्रवद्वाराणि संसारहेतवो वर्तन्ते, तानि च यस्मान्न शुक्लधर्मयोर्भवन्ति संसारकारणानि तस्माद् 'ध्रुवं' नियमेन धर्मशुक्ले इति गाथार्थः ॥ ९५ ॥ संसारप्रतिपक्षतया च मोक्षहेतुर्ध्यानमित्यावेदयन्नाह—

संवरविणिज्जराओ मोक्खस्स पहो तवो पहो तासिं । झाणं च पहाणंगं तवस्स तो मोक्खहेऊयं ॥ ९६ ॥

व्याख्या—संवरनिर्जरे 'मोक्षस्य पन्थाः' अपवर्गस्य मार्गः, तपः 'पन्थाः' मार्गः 'तयोः' संवरनिर्जरयोः ध्यानं च प्रधानाङ्गं तपसः आन्तरकारणत्वात्, ततो मोक्षहेतुस्तद्ध्यानमिति गाथार्थः ॥ ९६ ॥ अमुमेवार्थं सुखप्रतिपत्तये दृष्टान्तैः प्रतिपादयन्नाह—

अंबरलोहमहीणं कमसो जह मलकलंकपंकाणं । सोज्झावणयणसोसे साहेंति जलाणलाइच्चा ॥ ९७ ॥

व्याख्या—'अम्बरलोहमहीनां' वस्त्रलोहार्द्रक्षितीनां 'क्रमशः' क्रमेण यथा मलकलङ्कपङ्कानां यथासङ्ख्यं शोध्या(ध्य)पनयनशोषान् यथासङ्ख्यमेव 'साधयन्ति' निर्वर्तयन्ति जलानलादित्या इति गाथार्थः ॥ ९७ ॥

तह सोज्झाइसमत्था जीवंबरलोहमेइणिगयाणं । झाणजलाणलसूरा कम्ममलकलंकपंकाणं ॥ ९८ ॥

व्याख्या—तथा शोध्यादिसमर्था जीवाम्बरलोहमेदिनीगतानां ध्यानमेव जलानलसूर्याः कर्मैव मलकलङ्कपङ्कास्तेषामिति गाथार्थः ॥ ९८ ॥ किं च—

तापो सोसो भेओ जोगाणं झाणओ जहा नियथं । तह तावसोसभेया कम्मस्सवि झाइणो नियमा ॥ ९९ ॥

प्रत सूत्रांक [सू...] दीप अनुक्रम [२१..]

आवश्यक-हारिभद्रीया ॥६१०॥

४प्रतिक्रमणाध्यान-शतकम्

व्याख्या—तापः शोषो भेदो योगानां 'ध्यानतः' ध्यानात् यथा 'नियतम्' अवश्यं, तत्र तापः—दुःखं तत एव शोषः—दौर्बल्यं तत एव भेदः—विदारणं योगानां—वागादीनां, 'तथा' तेनैव प्रकारेण तापशोषभेदाः कर्मणोऽपि भवन्ति, कस्य ?—'ध्यायिनः' न यदृच्छया नियमेनेति गाथार्थः ॥ ९९ ॥ किं च—

जह रोगासयसमणं विसोसणविरेयणोसहविहीहिं । तह कम्मामयसमणं झाणाणसणाइजोगेहिं ॥ १०० ॥

व्याख्या—यथा 'रोगाशयशमनं' रोगनिदानचिकित्सा 'विशोषणविरेचनौषधविधिभिः' अभोजनविरेकौषधप्रकारैः, तथा 'कर्मामयशमनं' कर्मरोगचिकित्सा ध्यानानशनादिभिर्योगैः, आदिशब्दाद् ध्यानवृद्धिकारकशेषतपोभेदग्रहणमिति गाथार्थः ॥ १०० ॥ किं च—

जह चिरसंचियमिंधणमनलो पवणसहिओ दुयं दहइ । तह कम्मेंधणममियं खणेण झाणाणलो डहइ ॥ १०१ ॥

व्याख्या—यथा 'चिरसञ्चितं' प्रभूतकालसञ्चितम् 'इन्धनं' काष्ठादि 'अनलः' अग्निः 'पवनसहितः' वायुसमन्वितः 'द्रुतं' शीघ्रं च 'दहति' भस्मीकरोति, तथा दुःखतापहेतुत्वात् कर्मैवेन्धनं कर्मेन्धनम् 'अमितम्' अनेकभवोपात्तमनन्तं 'क्षणेन' समयेन ध्यानमनल इव ध्यानानलः असौ 'दहति' भस्मीकरोतीति गाथार्थः ॥ १०१ ॥

॥६१०॥

जह वा घणसंघाया खणेण पवणाहया विलिज्जंति । झाणपवणावहूया तह कम्मघणा विलिज्जंति ॥ १०२ ॥

व्याख्या—यथा वा 'घनसङ्घाताः' मेघौघाः क्षणेन 'पवनाहताः' वायुप्रेरिता विलयं—विनाशं यान्ति—गच्छन्ति, 'ध्यानपवनावधूता' ध्यानवायुविक्षिप्ताः तथा कर्मैव जीवस्वभावावरणाद् घनाः २, उक्तं च—"स्थितः शीतांशुवज्जीवः, प्रकृत्या

प्रत
सूत्रांक
[सू...]

दीप
अनुक्रम
[२१..]

भावशुद्धया । चन्द्रिकावच्च विज्ञानं, तदावरणमभ्रवद् ॥ १ ॥” इत्यादि, ‘विलीयन्ते’ विनाशमुपयान्तीति गाथार्थः ॥ १०२ ॥ किं चेदमन्यद् ?, इहलोकप्रतीतमेव ध्यानफलमिति दर्शयति—

न कसायसमुत्थेहि य वाहिज्जइ माणसेहिं दुक्खेहिं । ईसाविसायसोगाइएहिं झाणोवगयचित्तो ॥ १०३ ॥

व्याख्या—‘न कषायसमुत्थैश्च’ न क्रोधाद्युद्भवैश्च ‘बाध्यते’ पीड्यते मानसैर्दुःखैः, मानसग्रहणात्ताप इत्याद्यपि यदुक्तं तन्न बाध्यते ‘ईर्ष्याविषादशोकादिभिः’ तत्र प्रतिपक्षाभ्युदयोपलम्भजनितो मत्सरविशेष ईर्ष्या विषादः—वैक्लव्यं शोकः—दैन्यम्, आदिशब्दाद् हर्षादिपरिग्रहः, ध्यानोपगतचित्त इति प्रकटार्थमयं गाथार्थः ॥ १०३ ॥

सीयायवाइएहि य सारीरेहिं सुबहुप्पगारेहिं । झाणसुनिच्चलचित्तो न वहिज्जइ निज्जरापेही ॥ १०४ ॥

व्याख्या—इह कारणे कार्योपचारात् शीतातपादिभिश्च, आदिशब्दात् क्षुदादिपरिग्रहः, शारीरैः ‘सुबहुप्रकारैः’ अनेकभेदैः ‘ध्यानसुनिश्चलचित्तः’ ध्यानभावितमतिर्न बाध्यते, ध्यानसुखादिति गम्यते, अथवा न शक्यते चालयितुं तत एव, ‘निर्जरापेक्षी’ कर्मक्षयापेक्षक इति गाथार्थः ॥ १०४ ॥ उक्तं फलद्वारम्, अधुनोपसंहरन्नाह—

इय सव्वगुणाधाणं दिट्ठादिट्ठसुहसाहणं झाणं । सुपसत्थं सद्धेयं नेयं झेयं च निच्चंपि ॥ १०५ ॥

व्याख्या—‘इय’ एवमुक्तेन प्रकारेण ‘सर्वगुणाधानम्’ अशेषगुणस्थानं दृष्टादृष्टसुखसाधनं ध्यानमुक्तन्यायात् सुष्ठु प्रशस्तं २, तीर्थकरगणधरादिभिरासेवितत्वात्, यतश्चैवमतः श्रद्धेयं नान्यथैतदिति भावनया ‘ज्ञेयं’ ज्ञातव्यं स्वरूपतः ‘ध्येयम्’ अनुचिन्तनीयं क्रियया, एवं च सति सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राण्यासेवितानि भवन्ति, ‘नित्यमपि’ सर्वकालमपि,

प्रत
सूत्रांक
[सू.]

दीप
अनुक्रम
[२२]

आवश्यक-हारिभद्रीया ॥६११॥

आह–एवं तर्हि सर्वक्रियालोपः प्राप्नोति, न, तदासेवनस्यापि तत्त्वतो ध्यानत्वात्, नास्ति काचिदसौ क्रिया यया साधूनां ध्यानं न भवतीति गाथार्थः ॥ १०५ ॥ ग्रन्थाग्रं १५६९६ ॥ समाप्तं ध्यानशतकं ॥

४प्रतिक्रमणा.क्रियाधिकारः

पडिक्कमामि पंचहिं किरियाहिं काइयाए अहिगरणियाए पाउसियाए पारितावणियाए पाणाइवायकिरियाए (सूत्रम्) प्रतिक्रमामि पञ्चभिः क्रियाभिः–व्यापारलक्षणाभिर्योऽतिचारः कृतः, तद्यथा–'काइयाए' इत्यादि, चीयत इति कायः, कायेन निर्वृत्ता कायिकी तया, सा पुनस्त्रिधा–अविरतकायिकी दुष्प्रणिहितकायिकी उपरतकायिकी, (च) तत्र मिथ्यादृष्टेरविरतसम्यग्दृष्टेश्चाऽऽद्या अविरतस्य कायिकी–उत्क्षेपणादिलक्षणा क्रिया कर्मबन्धनिबन्धनाऽविरतकायिकी, एवमन्यत्रापि षष्ठीसमासो योज्यः, द्वितीया दुष्प्रणिहितकायिकी प्रमत्तसंयतस्य, सा पुनर्द्विधा–इन्द्रियदुष्प्रणिहितकायिकी नोइन्द्रियदुष्प्रणिहितकायिकी च, तत्राऽऽद्येन्द्रियैः–श्रोत्रादिभिर्दुष्प्रणिहितस्य–इष्टानिष्टविषयप्राप्तौ मनाक्संवेगनिर्वेदद्वारेणापवर्गमार्गं प्रति दुर्व्यवस्थितस्य कायिकी, एवं नोइन्द्रियेण–मनसा दुष्प्रणिहितस्याशुभसङ्कल्पद्वारेण दुर्व्यवस्थितस्य कायिकी, तृतीयाऽप्रमत्तसंयतस्य–उपरतस्य–सावद्ययोगेभ्यो निवृत्तस्य कायिकी, गता कायिकी १, अधिक्रियत आत्मा नरकादिषु येन तदधिकरणम्–अनुष्ठानं बाह्यं वा वस्तु चक्रमहादि तेन निर्वृत्ता–अधिकरणिकी तया, सा पुनर्द्विधा–अधिकरणप्रवर्तिनी निर्वर्तिनी च, तत्र प्रवर्तिनी चक्रमहःपशुबन्धादिप्रवर्तिनी, निर्वर्तिनी खड्गादिनिर्वर्तिनी, अलमन्यैरुदाहरणैः, अनयोरेवान्तःपातित्वात्तेषां, गताऽऽधिकरणिकी २, प्रद्वेषः–मत्सरस्तेन निर्वृत्ता प्राद्वेषिकी, असावपि द्विधा–जीवप्राद्वेषिक्यजीवप्राद्वेषिकी च, आद्या जीवे प्रद्वेषं गच्छतः, द्वितीया पुनरजीवे, तथाहि–पाषाणादौ प्रस्खलितस्तत्प्रद्वेषमावहति गता तृतीया ३, ॥६११॥

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्तिः

** क्रियाया: अधिकार: - ५ क्रिया: तथा २५ क्रिया: सविस्तरवर्णनं

प्रत
सूत्रांक
[सू.]

दीप
अनुक्रम
[२२]

परितापनं–ताडनादिदुःखविशेषलक्षणं तेन निर्वृत्ता पारितापनिकी तथा, असावपि द्विधैव–स्वदेहपारितापनिकी परदेहपारितापनिकी च, आद्या स्वदेहे परितापनं कुर्वतो द्वितीया परदेहे परितापनमिति, तथा च अन्यरुष्टोऽपि स्वदेहपरितापनं करोत्येव कश्चिज्जडः, अथवा स्वहस्तपारितापनिकी परहस्तपारितापनिकी च, आद्या स्वहस्तेन परितापनं कुर्वतः द्वितीया परहस्तेन कारयतः, गता चतुर्थी ४, प्राणातिपातः–प्रतीतः, तद्विषया क्रिया प्राणातिपातक्रिया तथा, असावपि द्विधा–स्वप्राणातिपातक्रिया परप्राणातिपातक्रिया च, तत्राऽऽद्याऽऽत्मीयप्राणातिपातं कुर्वतः द्वितीया परप्राणातिपातमिति, तथा च कश्चिन्निर्वेदतः स्वर्गाद्यर्थं वा गिरिपतनादिना स्वप्राणातिपातं करोति, तथा क्रोधमानमायालोभमोहवशाच्च परप्राणातिपातमिति, क्रोधेनाऽऽक्रुष्टः रुष्टो वा व्यापादयति, मानेन जात्यादिभिर्हीलितः, माययाऽपकारिणं विश्वासेन, लोभेन शौकरिकः, मोहेन संसारमोचकः स्मार्तो वा याग इति, गता पञ्चमी ५। क्रियाऽधिकाराच्च शिष्यहितायानुपात्ता अपि सूत्रे अन्या अपि विंशतिः क्रियाः प्रदर्श्यन्ते, तंजहा–आरंभिया १ परिग्गहिया २ मायावत्तिया ३ मिच्छादंसणवत्तिया ४ अपच्चक्खाणकिरिया ५ दिट्ठिया ६ पुट्ठिया ७ पाडुच्चिया ८ सामंतोवणिवाइया ९ नेसत्थिया १० साहत्थिया ११ आणमणिया १२ वियारणिया १३ अणाभोगवत्तिया १४ अणवकंखवत्तिया १५ पओगकिरिया १६ समुयाणकिरिया १७ पेज्जवत्तिया १८ दोसवत्तिया १९ ईरियावहिया २० चेति, तत्थारंभिया दुविहा–जीवारंभिया य अजीवारंभिया य जीवारंभिया–जं जीवे

१ तद्यथा–आरम्भिकी पारिग्रहिकी मायाप्रत्ययिकी मिथ्यादर्शनप्रत्ययिकी अप्रत्याख्यानक्रिया दृष्टिजा स्पृष्टिजा प्रातीत्यिकी सामन्तोपनिपातिकी नैःशस्त्रिकी स्वहस्तिकी आज्ञापनी विदारणी अनाभोगप्रत्ययिकी अनवकाङ्क्षाप्रत्ययिकी प्रयोगक्रिया समुदानक्रिया प्रेमप्रत्ययिकी द्वेषप्रत्ययिकी ऐर्यापथिकी चेति। तत्रारम्भिकी द्विविधा–जीवारम्भिकी अजीवारम्भिकी च, जीवारम्भिकी यज्जीवान्

प्रत सूत्रांक [सू.]

दीप अनुक्रम [२२]

आवश्यक-हारिभद्रीया ॥६१२॥

४ प्रतिक्रमणा.क्रियाधिकारः

आरंभइ अजीवारंभिया–अजीवे आरंभइ १, पारिग्गहिया किरिया दुविहा–जीवपारिग्गहिया अजीवपारिग्गहिया य, जीवपारिग्गहिया–जीवे परिगिण्हइ, अजीवपारिग्गहिया–अजीवे परिगिण्हइ २, मायावत्तिया किरिया दुविहा–आयभाववंचणा य परभाववंचणा य, आयभाववंचणा अप्पणोच्चयं भावं गूहइ नियडीमंतो उज्जुयभावं दंसेइ, संजमाइसिढिलो वा करणफडाडोवं दरिसेइ, परभाववंचणया तं तं आयरति जेण परो वंचिज्जइ कूडलेहकरणाईहिं ३, मिच्छादंसणवत्तिया किरिया दुविहा–अणभिग्गहियमिच्छादंसणवत्तिया य अभिग्गहियमिच्छादंसणवत्तिया य, अणभिग्गहियमिच्छादंसणवत्तिया असंणीण संणीणवि जेहिं न किंचि कुतित्थियमयं पडिवण्णं, अभिग्गहियमिच्छादंसणवत्तिया किरिया दुविहा–हीणाइरित्तदंसणे य तवइरित्तदंसणे य, हीणा जहा–अंगुट्ठपवमेत्तो अप्पा जवमेत्तो सामागतंदुलमेत्तो वालग्गमेत्तो परमाणुमेत्तो हृदये जाज्वल्यमानस्तिष्ठति भ्रूललाटमध्ये वा, इत्येवमादि, अहिगा जहा–पंचधणुसइगो अप्पा सवगओ अकत्ता अचेयणो

---

१ आरम्भयति, अजीवारम्भिकी अजीवानारम्भयति, पारिग्रहिकी क्रिया द्विविधा–जीवपारिग्रहिकी अजीवपारिग्रहिकी च, जीवपारिग्रहिकी जीवान् परिगृह्णाति अजीवपारिग्रहिकी अजीवान् परिगृह्णाति, मायाप्रत्ययिकी क्रिया द्विविधा–आत्मभाववञ्चनता च परभाववञ्चनता च, आत्मभाववञ्चनता आत्मीयं भावं निगूहति निकृतिमान् ऋजुभावं दर्शयति, संयमादिशिथिलो वा करणस्फटाटोपं दर्शयति, परभाववञ्चनता तत्तदाचरति येन परो वञ्च्यते कूटलेखकरणादिभिः, मिथ्यादर्शनप्रत्ययिकी क्रिया द्विविधा– अनभिगृहीतमिथ्यादर्शनप्रत्ययिकी च अभिगृहीतमिथ्यादर्शनप्रत्ययिकी च, अनभिगृहीतमिथ्यादर्शनप्रत्ययिकी असंज्ञिनां संज्ञिनामपि यैर्न किञ्चित् कुतीर्थिकमतं प्रतिपन्नं, अभिगृहीतमिथ्यादर्शनप्रत्ययिकी क्रिया द्विविधा–हीनातिरिक्तदर्शने च तद्व्यतिरिक्तदर्शने च, हीना यथा अङ्गुष्ठपर्वमात्र आत्मा यवमात्रः श्यामाकतन्दुलमात्रो वालाग्रमात्रः परमाणुमात्रः । अधिका यथा पञ्चधनुःशतिक आत्मा सर्वगतोऽकर्त्ता अचेतनः

॥६१२॥

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्तिः

प्रत
सूत्रांक
[सू.]

दीप
अनुक्रम
[२२]

इत्येवमादि, एवं हीणाइरित्तदंसणं, तवइरित्तदंसणं नास्त्येवाऽऽत्माऽऽत्मीयो वा भावः नास्त्ययं लोकः न परलोकः असत्स्वभावाः सर्वभावा इत्येवमादि, अपच्चक्खाणकिरिया अविरतानामेव, तेषां न किञ्चिद् विरतिर(तम)स्ति, सा दुविहा– जीवअपच्चक्खाणकिरिया अजीवऽपच्चक्खाणकिरिया य, न केसुइ जीवेसु अजीवेसु य वा विरती अत्थित्ति ५, दिट्ठिया किरिया दुविहा, तंजहा–जीवदिट्ठिया य अजीवदिट्ठीया य, जीवदिट्ठीया आसाईणं चक्खुदंसणवत्तियाए गच्छइ, अजीवदिट्ठिया चित्तकम्माईणं ६, पुट्ठिया किरिया दुविहा पण्णत्ता–जीवपुट्ठिया अजीवपुट्ठिया य, जीवपुट्ठिया जा जीवाहियारं पुच्छइ रागेण वा दोसेण वा, अजीवाहिगारं वा, अहवा पुट्ठियत्ति फरिसणकिरिया, तत्थ जीवफरिसणकिरिया इत्थी पुरिसं नपुंसगं वा स्पृशति, संघट्टेइत्ति भणियं होइ, अजीवेसु सुहनिमित्तं मियलोमाइ वत्थजायं मोत्तिगादि वा रयणजायं स्पृशति ७, पाडुच्चिया किरिया दुविहा–जीवपाडुच्चिया अजीवपाडुच्चिया य, जीवं पडुच्च जो बंधो सा जीवपाडुच्चिया, जो पुण अजीवं पडुच्च रागदोसुब्भवो सा अजीवपाडुच्चिया ८, सामंतोवणिवाइया समन्तादनुपततीति सामंतोवणिवाइया

१ एवं हीनातिरिक्तदर्शनं, तद्व्यतिरिक्तदर्शनं,–अप्रत्याख्यानक्रिया–सा द्विविधा जीवाप्रत्याख्यानक्रिया अजीवाप्रत्याख्यानक्रिया च, न केषुचिज्जीवेषु अजीवेषु च वा विरतिरस्तीति, दृष्टिजा क्रिया द्विविधा, तद्यथा–जीवदृष्टिजा च अजीवदृष्टिजा च, जीवदृष्टिजा अश्वादीनां चक्षुर्दर्शनप्रत्ययाय गच्छति, अजीवदृष्टिजा चित्रकर्मादीनां, प्राश्निकी, पृष्टिजा क्रिया द्विविधा प्रज्ञप्ता–जीवप्राश्निकी अजीवप्राश्निकी च, जीवप्राश्निकी या जीवाधिकारं पृच्छति रागेण वा द्वेषेण वा, अजीवाधिकारं वा, अथवा स्पृष्टिजेति स्पर्शनक्रिया, तत्र जीवस्पर्शनक्रिया स्त्रियं पुरुषं नपुंसकं संघट्टयतीति भणितं भवति, अजीवेषु सुखनिमित्तं मृगलोमादि वस्त्रजातं मौक्तिकादि वा रत्नजातं, प्रातीत्यिकी क्रिया द्विविधा–जीवप्रातीत्यिकी अजीवप्रातीत्यिकी च, जीवं प्रतीत्य यो बन्धः सा जीवप्रातीत्यिकी, यः पुनरजीवं प्रतीत्य रागद्वेषोद्भवः साऽजीवप्रातीत्यिकी, सामन्तोपनिपातिकी–सामन्तोपनिपातिकी

प्रत सूत्रांक [सू.] दीप अनुक्रम [२२]

आवश्यक-हारिभद्रीया ॥६१३॥

सा दुविहा–जीवसामंतोवणिवाइया य अजीवसामंतोवणिवाइया य, जीवसामंतोवणिवाइया जहा–एगस्स संडो तं जणो जहा जहा पलोएइ पसंसइ य तहा तहा सो हरिसं गच्छइ, अजीवेवि रहकम्माई, अहवा सामंतोवणिवाइया दुविहा–देससामंतोवणिवाइया य सव्वसामंतोवणिवाइया य, देससामंतोवणिवाइया प्रेक्षकान् प्रति यत्रैकदेशेनाऽऽगमो भवत्यसंयतानां सा देससामंतोवणिवाइया, सव्वसामंतोवणिवाइया य यत्र सर्वतः समन्तात् प्रेक्षकाणामागमो भवति सा सव्वसामंतोवणिवाइया, अहवा समन्तादनुपतन्ति प्रमत्तसंजयाणं अन्नपाणं प्रति अवंगुरिते संपातिमा सत्ता विणस्संति ८, नेसत्थिया किरिया दुविहा–जीवनेसत्थिया अजीवनेसत्थिया य, जीवनेसत्थिया रायाइसंदेसाउ जहा उदगस्स जंतादीहिं, अजीवनेसत्थिया जहा पहाणकंडाईण गोफणधणुहमाइहिं निसिरइ, अहवा नेसत्थिया जीवे जीवं निसिरइ पुत्तं सीसं वा, अजीवे सूत्रव्यपेतं निसिरइ वत्थं पात्रं वा, सृज विसर्गे इति १०, साहत्थिया किरिया दुविहा–जीवसाहत्थिया अजीवसाहत्थिया

४प्रतिक्रमणा. क्रियाधि०

---

१ सा द्विविधा–जीवसामन्तोपनिपातिकी चाजीवसामन्तोपनिपातिकी च, जीवसामन्तोपनिपातिकी यथा एकस्य षण्ढस्तं जनो यथा यथा प्रलोकते प्रशंसति च तथा तथा स हर्षं गच्छति, अजीवानपि रथकर्मादीनि, अथवा सामन्तोपनिपातिकी द्विविधा–देशसामन्तोपनिपातिकी च सर्वसामन्तोपनिपातिकी च, देशसामन्तोपनिपातकी–सा देशसामन्तोपनिपातिकी, सर्वसामन्तोपनिपातिकी च–सा सर्वसामन्तोपनिपातिकी, अथवा प्रमत्तसंयतानामन्नपानं प्रति अनाच्छादिते संपातिमाः सत्त्वा विनश्यन्ति, नैःशस्त्रिकी क्रिया द्विविधा–जीवनैःशस्त्रिकी अजीवनैःशस्त्रिकी च, जीवनैःशस्त्रिकी यथा राजादिसंदेशात् यथा यन्त्रादिभिरुदकस्य, अजीवनैःशस्त्रिकी यथा पाषाणकाण्डादीनि गोफणधनुरादिभिर्निसृज्यन्ते, अथवा नैःशस्त्रिकी जीवे जीवं निसृजति पुत्रं शिष्यं वा, अजीवे निसृजति, स्वाहस्तिकी क्रिया द्विविधा–जीवस्वाहस्तिकी अजीवस्वाहस्तिकी च.

॥६१३॥

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [सू.]

दीप अनुक्रम [२२]

य, जीवसाहत्थिया जं जीवेण जीवं मारेइ, अजीवसाहत्थिया जहा–असिमाईहिं, अहवा जीवसाहत्थिया जं जीवं सहत्थेण तालेइ, अजीवसाहत्थिया अजीवं सहत्थेण तालेइ वत्थं पत्तं वा ११, आणमणिया किरिया दुविहा–जीवआणमणिया अजीवआणमणिया य, जीवाणमणी जीवं आज्ञापयति परेण, अजीवं वा आणवावेइ १२, वेयारणिया दुविहा–जीववेयारणिया य अजीववेयारणिया य, जीववेयारणिया जीवं विदारेइ, स्फोटयतीत्यर्थः, एवमजीवमपि, अहवा जीवमजीवं वा आभासिएसु विक्केमाणो दो भासिउ वा विदारेइ परियच्छावेइत्ति भणियं होइ, अहवा जीवं वियारेइ असंतगुणेहिं एरिसो तारिसो तुमंति, अजीवं वा वेतारणबुद्धीए भणइ–एरिसं एयंति १३, अणाभोगवत्तिया किरिया दुविहा-अणाभोगआदियणा य अणाभोगणिक्खेवणा य, अणाभोगो–अन्नाणं आदियणआ–गहणं निक्खिवणं–ठवणं, तं गहणं निक्खिवणं वा अणाभोगेण अपमज्जियाइ गिण्हइ निक्खिवइत्ति वा, अहवा अणाभोगकिरिया दुविहा–आयाणनिक्खिवणाभोगकिरिया य

---

१ जीवस्वाहस्तिकी यज्जीवेन जीवं मारयति, अजीवस्वाहस्तिकी यथाऽस्यादिभिः, अथवा जीवस्वाहस्तिकी यज्जीवं स्वहस्तेन ताडयति, अजीवस्वाहस्तिकी अजीवं स्वहस्तेन ताडयति वस्त्रं पात्रं वा, आज्ञापनी क्रिया द्विविधा–जीवाज्ञापनिकी अजीवाज्ञापनिकी च, जीवाज्ञापनी जीवमाज्ञापयति परेण अजीवं वाऽऽज्ञापयति, विक्रीणानो द्विविधा, जीवविदारणिकी च अजीवविदारणिकी च, जीवविदारणिकी जीवं विदारयति, एवमजीवमपि, अथवा जीवमजीवं वा अभाषिकेषु विक्रीणानो द्वैभाषिको वा विदारयति, प्रपञ्चं विधत्ते इति भणितं भवति, अथवा जीवं विचारयति असद्भिर्गुणैरीदृशस्तादृशस्त्वमिति, अजीवं वा विप्रतारणबुद्ध्या भणति–ईदृशमेतदिति, अनाभोगप्रत्ययिकी क्रिया द्विविधा–अनाभोगादानजा अनाभोगनिक्षेपजा च, अनाभोगोऽज्ञानं आदानं ग्रहणं निक्षेपणं स्थापनं, तद् ग्रहणं स्थापनं वाऽनाभोगेनाप्रमार्जितादि गृह्णाति निक्षिपति वा, अथवा अनाभोगक्रिया द्विविधा–आदाननिक्षेपानाभोगक्रिया च

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्ति:

प्रत सूत्रांक [सू.]

दीप अनुक्रम [२२]

आवश्यक-हारिभ-द्रीया ॥६१४॥

४प्रतिक्रमणा. क्रियाधिकारः

उक्कमणअणाभोगकिरिया य, तत्थादाणनिक्खिवणअणाभोगकिरिया रओहरणेण अपमज्जियाइ पत्तचीवराणं आदाणं णिक्खेवं वा करेइ, उक्कमणअणाभोगकिरिया लंघणपवणधावणअसमिक्खगमणागमणाइ १४, अणवकंखवत्तिया किरिया दुविहा–इहलोइयअणवकंखवत्तिया य परलोइयअणवकंखवत्तिया य, इहलोयअणवकंखवत्तिया लोयविरुद्धाइं चोरिक्काईणि करेइ जेहिं वहबंधणाणि इह चेव पावेइ, परलोयअणवकंखवत्तिया हिंसाईणि कम्माणि करेमाणो परलोयं नावकंखइ १५, पओयकिरिया तिविहा पण्णत्ता तं०-मणप्पओयकिरिया वइप्पओयकिरिया कायप्पओयकिरिया य, तत्थ मणप्पओयकिरिया अट्टरुद्दज्झाई इन्द्रियप्रसृतौ अनियमियमण इति, वइप्पओगो–वायाजोगो जो तित्थगरेहिं सावज्जाई गरहिओ तं सेच्छाए भासइ, कायप्पओयकिरिया कायप्पमत्तस्स गमणागमणकुंचणपसारणाइचेट्ठा कायस्स १६, समुदाणकिरिया समग्गमुपादाणं समुदाणं, समुदाओ अट्ठ कम्माइं, तेसिं जाए उवायाणं कज्जइ सा समुदाणकिरिया, सा दुविहा–देसोवघाय-

॥६१४॥

1 उत्क्रमणानाभोगक्रिया च, तत्रादाननिक्षेपानाभोगक्रिया रजोहरणेनाप्रमार्ज्य पात्रचीवरादीनामादानं निक्षेपं वा करोति, उत्क्रमणानाभोगक्रिया लङ्घनप्लवनधावनासमीक्ष्यगमनागमनादि, अनवकाङ्क्षाप्रत्ययिकी क्रिया द्विविधा-ऐहलौकिकानवकाङ्क्षाप्रत्ययिकी च पारलौकिकानवकाङ्क्षाप्रत्ययिकी च, ऐहलौकिकानवकाङ्क्षाप्रत्ययिकी लोकविरुद्धानि चौर्यादीनि करोति यैर्वधबन्धनानि इहैव प्राप्नोति, परलोकानवकाङ्क्षाप्रत्ययिकी हिंसादीनि कर्माणि कुर्वन् परलोकं नावकाङ्क्षते, प्रयोगक्रिया त्रिविधा प्रज्ञप्ता, तद्यथा–मनःप्रयोगक्रिया वाक्प्रयोगक्रिया कायप्रयोगक्रिया च, तत्र मनःप्रयोगक्रिया आर्त्तरौद्रध्यायीन्द्रियप्रसृतौ अनियमितमना इति, वाक्प्रयोगः–वाग्योगः यस्तीर्थकरैः सावद्यादिर्गर्हितस्तं स्वेच्छया भाषते, कायप्रयोगक्रिया कायेन प्रमत्तस्य गमनागमनाकुञ्चनप्रसारणादिः चेष्टा कायस्य, समुदानक्रिया समग्रमुपादानं समुदानं, समुदायोऽष्ट कर्माणि, तेषां ययोपादानं क्रियते सा समुदानक्रिया, सा द्विविधा–देशोपघात–.

प्रत सूत्रांक [सू.]

दीप अनुक्रम [२२]

समुदाणकिरिया सव्वोवघायसमुदाणकिरिया, तत्थ देसोवघाएण समुदाणकिरिया कज्जइ कोइ कस्सइ इंदियदेसोवघायं करेइ, सव्वोवघायसमुदाणकिरिया सव्वप्पयारेण इंदियविणासं करेइ १७, पेज्जवत्तिया पेम्म राग इत्यर्थः, सा दुविहा–मायानिस्सिया लोभनिस्सिया य, अहवा तं वयणं उदाहरइ जेण परस्स रागो भवइ १८, दोसवत्तिया अप्रीतिकारिका सा दुविहा–कोहनिस्सिया य माणनिस्सिया य, कोहनिस्सिया अप्पणा कुप्पइ, परस्स वा कोहमुप्पादेइ, माणणिस्सिया सयं पमज्जइ परस्स वा माणमुप्पाएइ, इरियावहिया किरिया दुविहा–कज्जमाणा वेइज्जमाणा य, सा अप्पमत्तसंजयस्स वीयरायछउमत्थस्स केवलिस्स वा आउत्तं गच्छमाणस्स आउत्तं चिट्ठमाणस्स आउत्तं निसीयमाणस्स आउत्तं तुयट्टमाणस्स आउत्तं भुंजमाणस्स आउत्तं भासमाणस्स आउत्तं वत्थं पडिग्गहं कंबलं पायपुंछणं गिण्हमाणस्स निक्खिवमाणस्स वा जाव चक्खुपम्हनिवायमवि सुहुमा किरिया इरियावहिया कज्जइ, सा पढमसमए बद्धा बिइयसमए वेइया सा बद्धा पुट्ठा वेइया निज्जिण्णा सेअकाले अकम्मंसे यावि भवइ । एयाओ पंचवीस किरियाओ ॥

---

१ समुदानक्रिया सर्वोपघातसमुदानक्रिया, तत्र देशोपघातेन समुदानक्रिया क्रियते कश्चित् कस्यचिद् इन्द्रियदेशोपघातं करोति, सर्वोपघातसमुदानक्रिया सर्वप्रकारेणेन्द्रियविनाशं करोति, प्रेमप्रत्ययिकी–सा द्विविधा–मायानिश्रिता लोभनिश्रिता च, अथवा तद्वचनमुदाहरति येन परस्य रागो भवति, द्वेषप्रत्ययिकी, सा द्विविधा–क्रोधनिश्रिता च माननिश्रिता च, क्रोधनिश्रिता आत्मना कुप्यति परस्य वा क्रोधमुत्पादयति, माननिश्रिता स्वयं माद्यति परस्य वा मानमुत्पादयति, ईर्यापथिकी क्रिया द्विविधा–क्रियमाणा च वेद्यमाना च,सा अप्रमत्तसंयतस्य वीतरागच्छद्मस्थस्य केवलिनो वाऽऽयुक्तं गच्छत आयुक्तं तिष्ठत आयुक्तं निषीदत आयुक्तं त्वग्वर्त्तयत आयुक्तं भुञ्जानस्यायुक्तं भाषमाणस्यायुक्तं वस्त्रं पात्रं कम्बलं पादप्रोञ्छनं गृह्णतो निक्षिपतो वा यावचक्षुःपक्ष्मनिपातमपि (कुर्वतः) सूक्ष्मा क्रिया ईर्यापथिकी क्रियते, सा प्रथमे समये बद्धा द्वितीयसमये वेदिता सा बद्धा स्पृष्टा वेदिता निर्जीर्णा एष्यत्काले अकर्मांशश्चापि भवति, एताः पञ्चविंशतिः क्रियाः ।

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [सू.]

दीप अनुक्रम [२३]

आवश्यक-हारिभ-द्रीया ॥६१५॥

४प्रतिक्रम-णा. समि-त्यधि०

"पडिक्कमामि पंचहिं कामगुणेहिं–सद्देणं रूवेणं रसेणं गंधेणं फासेणं। पडिक्कमामि पंचहिं महव्वएहिं, –पाणाइवायाओ वेरमणं मुसावायाओ वेरमणं अदिण्णादाणाओ वेरमणं मेहुणाओ वेरमणं परिग्गहाओ वेरमणं। पडिक्कमामि पंचहिं समिईहिं–ईरियासमिइए भासासमिइए एसणासमिइए आयाणभंडमत्तनिक्खेवणासमिइए उच्चारपासवणखेलजल्लसिंघाणपारिट्ठावणियासमिइए ॥ सूत्रं ॥

प्रतिक्रमामि पञ्चभिः कामगुणैः, प्रतिषिद्धकरणादिना प्रकारेण हेतुभूतेन योऽतिचारः कृतः, तद्यथा–शब्देनेत्यादि, तत्र काम्यन्त इति कामाः–शब्दादयस्त एव स्वस्वरूपगुणबन्धहेतुत्वाद्गुणा इति, तथाहि–शब्दाद्यासक्तः कर्मणा बद्ध्यत इति भावना ॥ प्रतिक्रमामि पञ्चभिर्महाव्रतैः करणभूतैर्योऽतिचारः कृतः, औदयिकभावगमनेन यत्खण्डनं कृतमित्यर्थः, कथं पुनः करणता महाव्रतानामतिचारं प्रति ?, उच्यते, प्रतिषिद्धकरणादिनैव, किंविशिष्टानि पुनस्तानि ?, तत्स्वरूपाभिधित्सयाऽऽह–प्राणातिपाताद्विरमणमित्यादीनि क्षुण्णत्वान्न विव्रियन्ते, प्रतिक्रमामि पञ्चभिः समितिभिः करणभूताभिर्योऽतिचारः कृतः, तद्यथा–ईर्यासमित्या भाषासमित्येत्यादि, तत्र संपूर्वस्य 'इण् गता' वित्यस्य क्तिन्प्रत्ययान्तस्य समितिर्भवति, सम्–एकीभावेनेतिः समितिः, शोभनैकाग्रपरिणामचेष्टेत्यर्थः, ईर्यायां समितिरीर्यासमितिस्तया, ईर्याविषये एकीभावेन चेष्टनमित्यर्थः, तथा च–ईर्यासमितिर्नाम रथशकटयानवाहनाक्रान्तेषु मार्गेषु सूर्यरश्मिप्रतापितेषु प्रासुकविविक्तेषु पथिषु युगमात्रदृष्टिना भूत्वा गमनागमनं कर्तव्यमिति, भाषणं भाषा तद्विषया समितिर्भाषासमि- ॥६१५॥

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्तिः

प्रत
सूत्रांक
[सू.]

दीप
अनुक्रम
[२३]

तिस्तया, उक्तं च–"भाषासमितिर्नाम हितमितासन्दिग्धार्थभाषणं" एषणा गवेषणादिभेदा शङ्कादिलक्षणा वा तस्यां समितिरेषणासमितिस्तया, उक्तं च–"एषणासमितिर्नाम गोचरगतेन मुनिना सम्यगुपयुक्तेन नवकोटीपरिशुद्धं ग्राह्य'मिति, आदानभाण्डमात्रनिक्षेपणा समितिः, भाण्डमात्रे आदाननिक्षेपविषया समितिः सुन्दरचेष्टेत्यर्थः, तया, इह च सप्त भङ्गा भवन्ति–[1]पत्ताइ न पडिलेहइ ण पमज्जइ, चउभंगो, तत्थ चउत्थे चत्तारि गमा–दुप्पडिलेहियं दुप्पमज्जियं चउभंगो, आइल्ला छ अप्पसत्था, चरिमो पसत्थो, उच्चारप्रश्रवणखेलसिंघाणजल्लानां परिस्थापनिका तद्विषया समितिः सुन्दरचेष्टेत्यर्थः, तया, उच्चारः–पुरीषं, प्रश्रवणं–मूत्रं, खेलः–श्लेष्मा, सिङ्घानं–नासिकोद्भवः श्लेष्मा, जल्लः–मलः, अत्रापि त एव सप्त भङ्गा इति, इह च उदाहरणानि, ईरियासमिईए उदाहरणं—

[2]एगो साहू ईरियासमिईए जुत्तो, सक्कस्स आसणं चलियं, सक्केण देवमज्झे पसंसिओ मिच्छादिट्ठी देवो असद्दहंतो आगओ मच्छियप्पमाणाओ मंडुक्कलियाओ विउव्वइ पच्छओ य हत्थी, गइं ण भिंदइ, हत्थिणा उक्खिविय पाडिओ, न सरीरं पेहइ, सत्ता मे मारियजीवदयापरिणओ। अहवा ईरियासमिईए अरहण्णओ, देवयाए पाओ छिण्णो, अण्णाए

---

१ पात्रादि न प्रतिलिखति न प्रमार्जयति, चतुर्भङ्गिका, तत्र चतुर्थे चत्वारो गमाः–दुष्प्रतिलेखितं दुष्प्रमार्जितं चतुर्भङ्गी, आद्याः षड् अप्रशस्ताः, चरमः प्रशस्तः, २ एकः साधुरीर्यासमित्या युक्तः, शक्रस्यासनं चलितं, शक्रेण देवमध्ये प्रशंसितः, मिथ्यादृष्टिर्देवोऽश्रद्दधान आगतो मक्षिकाप्रमाणा मण्डूकिका विकुर्वति पृष्ठतश्च हस्ती, गतिं न भिनत्ति, हस्तिनोत्क्षिप्य पातितः, न शरीराय स्पृहयति, सत्त्वा मया मारिता इति जीवदयापरिणतः ॥ अथवेर्यासमितावरहन्नकः, देवतया पादश्छिन्नः, अन्यया

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्ति:

पञ्च समितिनाम् सविस्तर-वर्णनं

प्रत सूत्रांक [सू.]

दीप अनुक्रम [२३]

आवश्यक-हारिभ-द्रीया ॥६१६॥

४प्रतिक्रम-णा. समि-त्यधि०

संधिंओ ॥ भासासमिईए–साहू, भिक्खट्ठा नयररोहए कोइ निग्गंथो बाहिं कडए हिंडंतो केणइ पुट्ठो–केवइय आसहत्थी तह निचयो दारुधन्नमाईणं । णिव्विण्णाऽनिव्विण्णा नागरया बेंति मं समिओ ॥ १ ॥ बेइ ण जाणामोत्ति सज्झायझाणजोगवक्खित्ता । हिंडंता न वि पेच्छह ? नवि सुणह किह हु तो बेंति ॥ २ ॥-बहुं सुणेइ कण्णेहीत्यादि–वसुदेवपुव्वजम्मं आहरणं एसणाए समिईए। मगहा नंदिग्गामो गोयमधिज्जाइचक्कयरो ॥ १ ॥ तस्स य धारिणी भज्जा गब्भो तीए कयाइ आहूओ । धिज्जाइ मओ छम्मास गब्भ धिज्जाइणी जाए ॥ २ ॥ माउलसंवड्ढगकम्मकरणवेयारणा य लोएणं । नत्थि तुह एत्थ किंचिवि तो बेती माउलो तं च ॥ ३ ॥ मा सुण लोयस्स तुमं धूयाओ तिण्णि तेसि जेट्ठयरं । दाहामि करे कंमं पकओ पत्तो य वीवाहो ॥ ४ ॥ सा नेच्छई विसण्णो माउलओ बेइ बिइय दाहामि । सावि य तहेव निच्छइ तइयत्ती निच्छए सावि ॥ ५ ॥ निव्विण्णनंदिवद्धणआयरियाणं सगासि निक्खंतो । जाओ छट्ठट्ठखमओ गिण्हइयमभिग्गहमिमं तु ॥ ६ ॥

॥६१६॥

---

१ संहितः ॥ भाषासमितौ–साधुः, भिक्षार्थं नगररोधे कोऽपि निर्ग्रन्थो बहिः कटके हिण्डमानः केनचित् पृष्टः–कियन्तोऽश्वा हस्तिनस्तथा निचयो दारुधान्यादीनाम् । निर्विण्णा अनिर्विण्णा नागरकाः? ब्रुवत इदं समिताः ॥ १ ॥ ब्रुवति न जानाम इति स्वाध्यायध्यानयोगव्याक्षिप्ताः । हिण्डमानाः नैव प्रेक्षध्वं ? नैव श्रृणुथ कथं नु ? तदा ब्रुवति ॥ २ ॥ बहु श्रृणोति कर्णाभ्यामित्यादि ॥ वसुदेवपूर्वजन्माहरणं एषणायां समितौ । मगधेषु नन्दीग्रामो गौतमो धिग्जातीयश्चक्रकरः ॥१॥ तस्य च धारिणीभार्या गर्भस्तस्याः कदाचिज्जातः । धिग्जातीयो मृतः षण्मासगर्भे धिग्जातीया जाते ॥ २ ॥ मातुलसंवर्धनं कर्मकरणं विचारणा च लोकेन । नास्ति तवात्र किञ्चिदपि तदा ब्रवीति मातुलस्त्वं च ॥ ३ ॥ मा श्रृणु लोकस्य त्वं दुहितरस्तिस्रस्तासां ज्येष्ठतरां । दास्यामि कुरु कर्म प्रकृतः प्राप्तश्च विवाहः ॥ ४ ॥ सा नेच्छति विषण्णो मातुलो ब्रवीति द्वितीयां दास्यामि । सापि च तथैव नेच्छति तृतीयेति नेच्छति सापि ॥ ५ ॥ निर्विण्णो नन्दिवर्धनाचार्याणां सकाशे निष्क्रान्तः । जातः षष्ठाष्टक्षपको गृह्णाति चाभिग्रहमिमं तु ॥ ६ ॥

प्रत
सूत्रांक
[सू.]

दीप
अनुक्रम
[२३]

बालगिलाणाईयं वेयावच्चं मए उ कायवं । तं कुणइ तिवसद्धो खायजसो सक्कगुणकित्ती ॥ ७ ॥ असद्दहेण देवस्स आगमो कुणइ दो समणरूवे । अतिसारगहियमेगो अडविठिओ अइगओ बीओ ॥ ८ ॥ बेति गिलाणो पडिओ वेयावच्चं तु सद्दहे जो उ । सो उट्ठेऊ खिप्पं सुयं च तं नंदिसेणेणं ॥ ९ ॥ छट्ठोववासपारणयमाणियं कवल घेत्तुकामेण । तं सुयमेत्तं रहसुट्ठिओ य भण केण कज्जंति ॥ १० ॥ पाणगदवं च तहिं जं णत्थि तेण बेइ कज्जं तु । निग्गय हिंडंतो कुणइ अणेसणं नविय पेल्लेइ ॥ ११ ॥ इय एक्कवारबितियं च हिंडिओ लद्ध ततियवारंमि । अणुकंपाए तरंतो तओ गओ तस्सगासं तु ॥ १२ ॥ खरफरुसनिट्ठुरेहिं अक्कोसइ सो गिलाणओ रुट्ठो । हे मंदभग्ग ! फुक्किय तूससि तं नाममेत्तेणं ॥१३॥ साहुवगारित्ति अह समुद्दिसिउमाओ । एयाएऽवत्थाए तं अच्छसि भत्तलोभिल्लो ॥ १४ ॥ अमियमिव मण्णमाणो तं फरुसगिरं तु सो उ संभंतो । चलणगओ खामेइ धुवइ य तं असुइमललित्तं ॥१५॥ उट्ठेह वयामोत्ती तह काहामी जहा हु अचिरेणं ।

---

१ बालग्लानादीनां वैयावृत्त्यं मया कर्त्तव्यमेव । तत्करोति तीव्रश्रद्धः ख्यातयशाः शक्रगुणकीर्त्तिः ॥ ७ ॥ अश्रद्धानेन देवस्यागमः करोति द्वे श्रमणरूपे । अतिसारगृहीत एकोऽटव्यां स्थितोऽतिगतो द्वितीयः ॥८॥ ब्रवीति ग्लानः पतितो वैयावृत्त्यं तु श्रद्दधाति यस्तु । स उत्तिष्ठतु क्षिप्रं श्रुतं च तन्नन्दिषेणेन ॥९॥ षष्ठोपवासपारणकमानीतं कवलान् गृहीतुकामेन । तच्छ्रुतमात्रे रभसोत्थितश्च भण केन कार्यमिति ? ॥१०॥ पानकद्रव्यं च तत्र यन्नास्ति तेन ब्रवीति कार्यं तु । निर्गतो हिण्डमाने करोत्यनेषणां न च प्रेरयति ॥ ११ ॥ एवमेकवारं द्वितीयं च हिण्डितो लब्धं तृतीयवारे । अनुकम्पया त्वरयन् ततो गतस्तत्सकाशं तु ॥ १२ ॥ खरपरुषनिष्ठुरैराक्रोशति स ग्लानो रुष्टः । हे मन्दभाग्य ! वृथैव तुष्यसि त्वं नाममात्रेण ॥ १३ ॥ साधूपकार्यमहमिति नामाथ समुद्दिश्याथायातः । एतस्यामवस्थायां त्वं तिष्ठसि भक्तलोलुपः ॥ १४ ॥ अमृतमिव मन्यमानस्तां परुषगिरं तु स तु संभ्रान्तः । चरणगतः क्षमयति प्रक्षालयति च तमशुचिमलक्लिन्नम् ॥ १५ ॥ उत्तिष्ठ व्रजाव इति तथा करिष्यामि यथाऽचिरेणैव ।

प्रत
सूत्रांक
[सू.]

दीप
अनुक्रम
[२३]

आवश्यक-
हारिभ-
द्रीया

॥६१७॥

४प्रतिक्रम-
णा. समि-
त्यधि०

होहिह निरुआ तुब्भे बेती न वएमि गंतुं जे ॥ १६ ॥ आरुहया पिट्ठीए आरूढो ताहे तो पयारं च । परमासुइदुग्गंधं मुयई पट्ठीए फरुसं च ॥१७॥ बेइ गिरं धिग्मुंडिय!, वेगविघाओ कओत्ति दुक्खविओ। इय बहुविहमकोसइ पए पए सोऽवि भगवं तु ॥ १८ ॥ ण गणेई फरुसगिरं णयावि तं दुसइ तारिसं गंधं । चंदणमिव मण्णंतो मिच्छामिह दुक्कडं भणइ ॥ १९ ॥ चिंतेइ किह करेमी किह हु समाही हविज्ज साहुस्स ?। इय बहुविहप्पयारं नवि तिण्णो जाहे खोहेउं ॥ २० ॥ ताहे अभित्थुणंतो सुरो गओ आगओ य इयरो य। आलोएइ गुरूहि य धन्नोत्ति तओ अणुसट्ठो ॥ २१ ॥ जह तेणं नवि पेल्लिय एसण इय एसणाइ जइयव्वं । अहवावि इमं अण्णं आहरणं दिट्ठिवादीयं ॥ २२ ॥ जह केइ पंच संजय तण्हछुह-किलंत सुमहमद्धाणं । उत्तिणा वेयालिय पत्ता गामं च ते एगं ॥ २३ ॥ मग्गंति पाणगं ते लोगो य तहिं अणेसणं कुणई। न गहिय न लद्धमियरं कालगया तिसाभिभूया य ॥ २४ ॥ चउत्थीए उदाहरणं–आयरिएण साहू भणिओ–गामं वच्चामो,

१ भविष्यसि नीरोगस्त्वं ब्रवीति शक्नोमि न गन्तुं ॥ १६ ॥ आरोह पृष्ठौ आरूढस्तदा ततः प्रचारं (विष्ठां) च । परमाशुचिदुर्गन्धां मुञ्चति पृष्ठौ परुषां च ॥ १७ ॥ ब्रवीति गिरां धिग् मुण्डित ! वेगविघातः कृत इति दुःखापितः । इति बहुविधमाक्रोशति पदे पदे सोऽपि भगवांस्तु ॥ १८ ॥ न गणयति परुषगिरं न चापि तं दूषयति तादृशं गन्धम् । चन्दनमिव मन्यमानो मिथ्या मे इह दुष्कृतं भणति ॥१९॥ चिन्तयति कथं कुर्वे कथं च समाधिर्भवेत् साधोः ?। इति बहुविधप्रकारैर्नैव शक्तो यदा क्षोभयितुम् ॥ २० ॥ तदाऽभिष्टुवन् सुरो गत आगतश्चेतरश्च । आलोचयति गुरुभिश्च धन्य इति ततोऽनुशिष्टः ॥ २१ ॥ यथा तेन नैवोल्लङ्घितैषणैवमेषणायां यतितव्यं । अथवापीदमन्यदाहरणं दृष्टिवादिकम् ॥ २२ ॥ यथा केचित्पञ्च संयतास्तृष्णाक्षुधाभ्यां क्लिश्यन्तो सुमहान्तमध्वानम् । उत्तीर्णा विकाले च प्राप्ता ग्रामं च ते एकम् ॥ २३ ॥ मार्गयन्ति पानकं ते लोकश्च तत्रानेषणां करोति । न गृहीतं न लब्धमितरत् कालगतास्तृषाभिभूताश्च ॥ २४ ॥ चतुर्थ्यामुदाहरणं–आचार्येण साधुर्भणितः–ग्रामं व्रजामः.

॥६१७॥

प्रत
सूत्रांक
[सू.]

दीप
अनुक्रम
[२३]

उग्गाहिए संते केणइ कारणेण ठिया, एक्को एत्ताहे पडिलेहियाणित्ति काउं ठवेउमारद्धो, साहूहिं चोइओ भणइ–किमित्थ सप्पो अच्छइ ?, सन्निहियाए देवयाए सप्पो विउब्बिओ, एस जहण्णओऽसमिओ, अण्णो तेणेव विहिणा पडिलेहित्ता ठवेइ, सो उक्कोसओ समिओ, एत्थ उदाहरणं–एक्कस्स आयरियस्स पंच सीससयाइं, तेसिमेगो सेट्ठिसुओ पव्वइओ, सो जो जो साहू एइ तस्स तस्स दंडगं निक्खिवइ, एवं तस्स उट्ठियस्स अन्नो एइ अन्नो जाइ, तहावि सो भगवं अतुरियं अचवलं उवरिं हेट्ठा य पमज्जिय ठवेइ, एवं बहुएणवि कालेण न परितम्मइ–चरिमाए समिईए पण्णत्तमिणं तु वीयराएहिं । आहरणं धम्मरुई परिठावणसमिइउवउत्तो ॥ १ ॥ काइयसमाहिपरिट्ठावणे य गहिओ अभिग्गहो तेणं । सक्कप्पसंसा अस्सद्दहणे देवागमविउव्वे ॥ २ ॥ सुबहुं पिवीलियाओ बाहा जुव्वावि काइयसमाही । अन्नो य उट्ठिओ हू साहू बेंती तओ गाढं ॥ ३ ॥ अहयं च काइयाओ बेई अच्छसु परिट्ठवेमित्ति । निग्गए निसिरे जहियं पिवीलिया ओसरे तत्थ ॥ ४ ॥ साहू य

---

१ उद्गाहिते सति केनचित्कारणेन स्थिताः, एकोऽधुना प्रतिलिखितानीतिकृत्वा स्थापयितुमारब्धः, साधुभिर्नोदितो भणति–किमत्र सर्पस्तिष्ठति ?, सन्निहितया देवतया सर्पो विकुर्वितः, एष जघन्योऽसमितः, अन्यस्तेनैव विधिना प्रतिलिख्य स्थापयति, स उत्कृष्टतः समितः, अत्रोदाहरणं–एकस्याचार्यस्य पञ्च शिष्यशतानि, तेष्वेकः श्रेष्ठिसुतः प्रव्रजितः, स यो यः साधुः आयाति तस्य तस्य दण्डकं निक्षिपति, एवं तस्मिन्नुत्थितेऽन्य आयाति अन्यो याति, तथापि स भगवान् अत्वरितमचपलमुपर्यधस्ताच्च प्रमृज्य स्थापयति, एवं बहुनापि कालेन न परिताम्यति । चरमायां समितौ प्रज्ञप्तमिदं तु वीतरागैः । आहरणं धर्मरुचिः पारिष्ठापनिकीसमित्युपयुक्तः ॥ १ ॥ कायिकीसमाधिपारिष्ठापनिकायां च गृहीतोऽभिग्रहस्तेन । शक्रप्रशंसा अश्रद्धाने देवागमो विकुर्वति ॥ २ ॥ सुबहवः पीपिलिका बाधा जवादपि कायिकीसमाधेः । अन्य उत्थितः साधुर्ब्रवीति ततो गाढम् ॥ ३ ॥ अहं च कायिकयाऽऽर्त्तो ब्रवीति तिष्ठ परिष्ठापयामीति । निर्गतो व्युत्सृजति यत्र पिपीलिका अवसर्पन्ति तत्र ॥ ४ ॥ साधुश्च

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्ति:

प्रत
सूत्रांक
[सू.]

दीप
अनुक्रम
[२३]

किंलामिज्जइ पपिए ता वारिओ य देवेणं । सामाइए निसिद्धो मा पिय देवो य आउट्टो ॥ ५ ॥ वंदित्तु गओ बितियं तु दिट्ठिवाइयं खुड्डुए उ एक्को । तेण ण पेहिय थंडिल्ल काइया लोभओ राओ ॥ ६ ॥ थंडिलं न पेहियंती न वोसिरे देवयाएँ उज्जोओ । अणुकंपाएँ कओ से दिट्ठा भूमित्ति वोसिरियं ॥ ७ ॥ एसो समिओ भणिओ अण्णो पुण असमिओ इमो भणिओ । सो काइयभोमाइँ एक्केक्कं नवरि पडिलेहे ॥ ८ ॥ नवि तिण्णि तिण्णि पेहे बेइ किमित्थं निविट्ठो होज्जुट्टो । काऊण उट्टरूवं च निविट्ठा देवया तत्थ ॥ ९ ॥ सो उट्ठिओ य राओ तत्थ गओ नवरि पेच्छए उट्टं । बितियं च गओ तत्थवि ततियंपि य तत्थवि णिविट्ठो ॥ १० ॥ तो अण्णो उट्ठविओ तेसुंपि तहेव देवया भणिओ । कीस न वि सत्तवीसं पेहिसी ? सम्मं पडिवण्णो ॥ ११ ॥ उच्चाराई एसा परिट्ठावण वण्णिया समासेणं । बेइ किमेत्तियं चिय परिठप्पमुआहु अण्णंपि ? ॥ १२ ॥ भण्णइ अण्णंपत्थी किह तं किह वा परिट्ठवेयव्वं । संबंधेणेएणं परिठावणिज्जुत्तिमायाया ॥ १३ ॥

---

१ क्लाम्यते प्रपीतवान् तदा वारितश्च देवेन । सामायिके निषिद्धो मा पा देवश्चावर्जितः ॥ ५ ॥ वन्दित्वा गतः द्वितीयं दृष्टिवादिकं क्षुल्लकस्त्वेकः । तेन न प्रेक्षितं कायिकीस्थण्डिलं लोभतो रात्रौ ॥ ६ ॥ स्थण्डिलं न प्रेक्षितमिति न व्युत्सृजति देवतयोद्योतः । अनुकम्पया कृतः तस्य दृष्टा भूमिरिति व्युत्सृष्टम् ॥ ७ ॥ एष समितो भणितोऽन्यः पुनरसमितोऽयं भणितः । स कायिकभूम्यादि एकैकं परं प्रतिलिखति ॥ ८ ॥ नैव त्रीणि त्रीणि प्रत्युपेक्षते ब्रवीति किमिहो-पविष्टो भवेदुष्ट्रः ? । कृत्वोष्ट्ररूपं चोपविष्टा देवता तत्र ॥ ९ ॥ स उत्थितश्च रात्रौ तत्र गतः परं प्रेक्षते उष्ट्रम् । द्वितीयं च गतस्तत्रापि तृतीयमपि तत्राप्युपविष्टः ॥ १० ॥ ततोऽन्य उत्थापितस्तेष्वपि तथैव देवतया भणितः । कथं नैव सप्तविंशतिं प्रत्युपेक्षसे ? सम्यक् प्रतिपन्नः ॥ ११ ॥ उच्चारादीनामेषा पारिष्ठापनिकी वर्णिता समासेन । ब्रवीति किमेतावदेव पारिष्ठाप्यमुताहो अन्यदपि ॥ १२ ॥ भण्यतेऽन्यदप्यस्ति कथं तत् क वा परिष्ठापयितव्यम् ?। संबन्धेनैतेन पारिष्ठापनिकी निर्युक्तिरायाता ॥ १३ ॥

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्ति:

प्रत सूत्रांक [सू.]

दीप अनुक्रम [२३]

पारिट्ठावणियविहिं वोच्छामि धीरपुरिसपण्णत्तं । जं णाऊण सुविहिया पवयणसारं उवलहंति ॥ १ ॥

व्याख्या—परितैः–सर्वैः प्रकारैः स्थापनं परिस्थापनम्–अपुनर्ग्रहणतया न्यास इत्यर्थः, तेन निर्वृत्ता पारिस्थापनिकी तस्या विधिः–प्रकारः पारिस्थापनिकाविधिस्तं 'वक्ष्ये' अभिधास्ये, किं स्वबुद्ध्योत्प्रेक्ष्य ?, नेत्याह–'धीरपुरुषप्रज्ञप्तम्' अर्थ-सूत्राभ्यां तीर्थकरगणधरप्ररूपितमित्यर्थः, तत्रैकान्ततो वीर्यान्तरायापगमाद्धीरपुरुषः–तीर्थकरो गणधरस्तु धीः–बुद्धिस्तया विराजत इति धीरः । आह–यद्ययं पारिस्थापनिकाविधिर्धीरपुरुषाभ्यां प्ररूपित एव किमर्थं प्रतिपाद्यत इत्युच्यते–धीरपुरुषाभ्यां प्रपञ्चेन प्रज्ञप्तः स एव संक्षेपरुचिसत्त्वानुग्रहायेह सङ्क्षेपेणोच्यत इत्यदोषः, किंविशिष्टं विधिमत आह–यं 'ज्ञात्वा' विज्ञाय 'सुविहिताः' शोभनं विहितम्–अनुष्ठानं येषां ते सुविहिताः, साधव इत्यर्थः, किं ?–प्रवचनस्य सारः प्रवचनसन्दोहस्तम् 'उपलभन्ति' जानन्तीत्यर्थः ॥ सा पुनः पारिस्थापनिक्योघतः एकेन्द्रियनोएकेन्द्रियपरिस्थाप्यवस्तुभेदेन द्विधा भवति, आह—

एगेंदियनोएगेंदियपारिट्ठावणिया समासओ दुविहा । एएसिं तु पयाणं पत्तेय परूवणं वोच्छं ॥ २ ॥

व्याख्या—एकेन्द्रियाः–पृथिव्यादयः, नोएकेन्द्रियाः–त्रसादयस्तेषां पारिस्थापनिकी–एकेन्द्रियनोएकेन्द्रियपारिस्थापनिकी, 'समासतः' संक्षेपेण 'द्विधा' द्विप्रकारा प्रज्ञप्तोक्तेनैव प्रकारेण, 'एएसिं तु पयाणं पत्तेय परूवणं वोच्छं' अनयोः पदयोरेकेन्द्रियनोएकेन्द्रियलक्षणयोः 'प्रत्येकं' पृथक् पृथक् 'प्ररूपणां' स्वरूपकथनां वक्ष्ये–अभिधास्य इति गाथार्थः ॥ २॥ तत्रैकेन्द्रियपारिस्थापनिकीप्रतिपिपादयिषया तत्स्वरूपमेवादौ प्रतिपादयन्नाह—

पुढवी आउक्काए तेऊ वाऊ वणस्सई चेव । एगेंदिय पंचविहा तज्जाय तहा य अतज्जाय ॥ ३ ॥

१०४

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [सू.]

दीप अनुक्रम [२३]

व्याख्या—पृथिव्यप्कायस्तेजो वायुर्वनस्पतिश्चैव एवमेकेन्द्रियाः पञ्चविधाः, एकं त्वगिन्द्रियं येषां ते एकेन्द्रियाः 'पञ्चविधाः' पञ्चप्रकाराः, एतेषां चैकेन्द्रियाणां पारिस्थापनिकी द्विविधा भवति,कथमित्याह–'तज्जाय तहा य अतज्जाय' तज्जातपारिस्थापनिकी अतज्जातपारिस्थापनिकी च, अनयोर्भावार्थमुपरिष्टाद्वक्ष्यतीति गाथार्थः ॥ ३ ॥ आह–सति ग्रहणसम्भवेऽतिरिक्तस्य परिस्थापनं भवति, तत्र पृथिव्यादीनां कथं ग्रहणमित्यत आह—

दुविहं च होइ गहणं आयसमुत्थं च परसमुत्थं च। एक्केक्कंपि य दुविहं आभोगे तह अणाभोगे ॥ ४ ॥

व्याख्या—'द्विविधं तु' द्विप्रकारं च भवति 'ग्रहणं' पृथिव्यादीनां, कथम् ?–'आत्मसमुत्थं च परसमुत्थं च' आत्मसमुत्थं च स्वयमेव गृह्णतः परसमुत्थं परस्माद्गृह्णतः, पुनरेकैकमपि द्विविधं भवति, कथमित्याह–'आभोए तह अणाभोए' आभोगनम् आभोगः, उपयोगविशेष इत्यर्थः, तस्मिन्नाभोगे सति, तथाऽनाभोगे, अनुपयोग इत्यर्थः, अयं गाथाक्षरार्थः ॥ ४ ॥ अयं पुनर्भावार्थो वर्तते–तत्थ[1] ताव आयसमुत्थं कहं च आभोएण होज्ज ?, साहू अहिणा खइओ विसं वा खइयं विसप्फोडिया वा उट्ठिया, तत्थ जो अचित्तो पुढविकाओ केणइ आणिओ सो मग्गिज्जइ, णत्थि आणिल्लओ, ताहे अप्पणावि आणिज्जइ, तत्थवि ण होज्ज अचित्तो ताहे मीसो, अंतो हलखणणकुड्डमाईसु आणिज्जइ, ण होज्ज ताहे अडवीओ पंथे वंमिए वा दवदड्ढए वा, ण होज्ज पच्छा सचित्तोवि घेप्पइ, आसुकारी वा कज्जं होज्जा जो लद्धो सो आणिज्जइ, एवं ॥६१९॥

१ तत्र तावदात्मसमुत्थं कथं चाभोगेन भवेत् ?, साधुरहिना दष्टो विषं वा खादितं विपस्फोटिका वोत्थिता, तत्र योऽचित्तः पृथ्वीकायः केनचिदानीतः स मार्ग्यते, नास्त्यानीतस्तदाऽऽत्मनाऽप्यानीयते, तत्रापि न भवेदचित्तस्तदा मिश्रः, अन्तशो हलखननकुड्यादिभ्य आनीयते, न भवेत्तदाऽटवीतः, पथि वल्मीकात् दवदग्धाद्वा, न भवेत् पश्चात्सचित्तोऽपि गृह्यते, आशुकारि वा कार्यं भवेत् यो लब्धः स आनीयते, एवं

पृथिकायिकादि षड् जीवनिकायस्य सविस्तर-वर्णनं

प्रत सूत्रांक [सू.]

दीप अनुक्रम [२३]

[1]लोणंपि जाणंतो, अणाभोइएण–तेण लोणं मग्गियं अचित्तंति काऊणं मीसं सचित्तं वा घेत्तूण आगओ, पच्छा णायं तत्थेव छड्डेयवं, खंडे वा मग्गिए एयं खंडंति लोणं दिन्नं, तंपि तहिं चेव विगिंचियवं, ण देज्ज ताहे तं अप्पणा विगिंचियवं, एयं आयसमुत्थं दुविहंपि। परसमुत्थं आभोगेण ताव सचित्तदेसमट्टिया लोणं वा कज्जनिमित्तेण दिण्णं, मग्गिएण अणाभोगेण खंडं मग्गियं लोणं देज्ज तस्सेव दायवं, नेच्छेज्ज ताहे पुच्छिज्जइ–कओ तुब्भेहिं आणियं ?, जत्थ साहइ तत्थ विगिंचिज्जइ, न साहेज्ज न जाणामोत्ति वा भणेज्जा ताहे उवलक्खेयवं वण्णगंधरसफासेहिं, तत्थ आगरे परिट्ठविज्जइ, नत्थि आगरो पंथे वा वट्टंति विगालो वा जाओ ताहे सुक्कगं महुरगं कप्परं मग्गिज्जइ, ण होज्ज कप्परं ताहे वडपत्ते पिप्पलपत्ते वा काऊण परिट्ठविज्जइ १। आउक्काए दुविहं गहणं आयाए णायं अणायं च, एवं परेणवि णायं अणायं च, आयाए जाणंतस्स विसकुंभो हणियवो विसफोडिया वा सिंचियवा विसं वा खइयं मुच्छाए वा पडिओ गिलाणो वा, एवमाइसु (कज्जेसु)

---

१ लवणमपि जानन्। अनाभोगिकेन–तेन लवणं मार्गितमचित्तमितिकृत्वा मिश्रं सचित्तं वा गृहीत्वाऽऽगतः, पश्चात् ज्ञातं तत्रैव त्यक्तव्यं, खण्डायां वा मार्गितायामेषा खण्डेति लवणं दत्तं, तदपि तत्रैव त्यक्तव्यं, न दद्यात्तदाऽऽत्मना त्यक्तव्यं, एतदात्मसमुत्थं द्विविधमपि। परसमुत्थमाभोगेन तावत् सचित्तदेशा मृत्तिका लवणं वा कार्याय दत्तं मार्गिते अनाभोगेन खण्डायां मार्गितायां लवणं दद्यात् तस्मायेव दातव्यं, नेच्छेत् तदा पृच्छयते–कुतस्त्वयाऽऽनीतं ?, यतः कथयति तत्र त्यज्यते, न कथयेन्न जानाम इति वा भणेत्तदोपलक्षितव्यं वर्णगन्धरसस्पर्शैः, तत्राकरे परिष्ठाप्यते नास्त्याकरः पथि वा वर्त्तन्ते विकालो वा जातस्तदा शुष्कं मधुरं कर्परं मार्ग्यते न भवेत्कर्परं तदा वटपत्रे पिप्पलपत्रे वा कृत्वा परिष्ठाप्यते। अप्काये द्विविधं ग्रहणमात्मना ज्ञातमज्ञातं च, एवं परेणापि ज्ञातमज्ञातं च, आत्मना जानानस्य विषकुम्भो हन्तव्यो विषस्फोटिका वा सेक्तव्या विषं वा खादितं मूर्च्छयापि वा पतितो ग्लानो वा, एवमादिषु (कार्येषु.)

प्रत सूत्रांक [सू.]

दीप अनुक्रम [२३]

आवश्यक-हारिभ-द्रीया ॥६२०॥

४प्रतिक्रम-णा. परि-ष्ठापनि-क्यधि०

पुव्वमचित्तं पच्छा मीसं अहुणाधोयं तंदुलोदयाइ आउरे कज्जे सचित्तंपि, कए कज्जे सेसं तत्थेव परिठविज्जइ, न देज्ज ताहे पुच्छिज्जइ–कओ आणीयं ?, जइ साहेइ तत्थ परिठवेयव्वं आगरे, न साहेज्जा न वा जाणेज्जा पच्छा वण्णाईहिं उवलक्खेउं तत्थ परिट्ठवेइ, अणाभोगा कोंकणेसु पाणियं अंबिलं च एगत्थ वेतियाए अच्छइ, अविरइया मग्गिया भणइ–एत्तो गिण्हाहि, तेण अंबिलंति पाणियं गहियं, णाए तत्थेव छुभेज्जा, अह ण देइ ताहे आगरे, एवं अणाभोगा आयसमुत्थं, परसमुत्थं जाणंती अणुकंपाए देइ, ण एते भगवंतो पाणियस्स रसं जाणंति हरदोदगं दिज्जा, पडिणीययाए वा देज्जा, एयाणि से वयाणि भज्जंतुत्ति, णाए तत्थेव साहरियव्वं, न देज्ज जओ आणियं तं ठाणं पुच्छिज्जइ, तत्थ नेऊं परिट्ठविज्जइ, न जाणेज्जा वण्णाईहिं लक्खिज्जइ, ताहे णइपाणियं णईए विगिंचेज्जा एवं तलागपाणियं तलाए अगडवाविसरमाइसु सट्ठाणेसु विगिंचिज्जइ, जइ सुक्कं तडागपाणियं वडपत्तं पिप्पलपत्तं वा अद्धेऊण सणियं विगिंचइ, जह उज्जरा न जायंति, पत्ताणं

---

१ पूर्वमचित्तं पश्चान्मिश्रं अधुनाधौतं तन्दुलोदकादि आतुरे कार्ये सचित्तमपि, कृते कार्ये शेषं तत्रैव परिष्ठाप्यते, न दद्याच्चदा पृच्छयते–कुत आनीतं ?, यदि कथयेत्तत्र परिष्ठापयितव्यमाकरे, न कथयेन्न वा जानाति पश्चाद्वर्णादिभिरुपलक्ष्य तत्र परिष्ठापयति, अनाभोगात् कोङ्कणे पानीयमम्लं चैकत्र वेदिकायां तिष्ठतः, अविरतिका मार्गिता भणति–अतो गृहाण, तेनाम्लमिति पानीयं गृहीतं, ज्ञाते तत्रैव क्षिपेत्, अथ न दद्यात्तदाऽऽकरे, एवमनाभोगादात्मसमुत्थं, परसमुत्थं जानानाऽनुकम्पया दद्यात्–नैते भगवन्तः पानीयस्य रसं जानन्ति ह्रदोदकं दद्यात्, प्रत्यनीकतया वा दद्यात् एतान्यस्य व्रतानि भज्यन्त्विति, ज्ञाते तत्रैव संहर्तव्यं, न दद्याद्यत आनीतं तत्स्थानं पृच्छयते तत्र नीत्वा परिष्ठाप्यते, न जानीयाद्वर्णादिभिर्लक्ष्यते तदा नदीपानीयं नद्यां त्यज्यते एवं तटाकपानीयं तटाके अवटवापीसरआदिषु स्वस्थानेषु त्यज्यते, यदि शुष्कं तटाकपानीयं वटपत्रं पिप्पलपत्रं वाऽवष्टभ्य शनैस्त्यज्यते यथा प्रवाहा न जायन्ते, पत्राणा– ॥६२०॥

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [सू.]

दीप अनुक्रम [२३]

[1]असईए भायणस्स कण्णा जाव हेट्ठा सणियं उदयं अलियाविज्जइ ताहे विगिंचिज्जइ, अह कूओदयं ताहे जइ कूवतडा उल्ला तत्थ सणियं निसिरइ, अणुल्लसिओ सुक्कतडा होज्जा उल्लगं च ठाणं नत्थि ताहे भाणं सिक्कएण जडिज्जइ, मूले दोरो बज्झइ, उसक्कावेउ पाणियं ईसिमसंपत्तं मूलदोरो उक्खिप्पइ, ताहे पलोट्टइ, नत्थि कूवो दूरे वा तेणसावयभयं होज्जा ताहे सीयलए महुररुक्खस्स वा हेट्ठा सपडिग्गहं वोसिरइ, न होज्ज पायं ता उल्लियं पुहविकायं मग्गित्ता तेण परिट्ठवेइ, असइ सुक्कंपि उण्होदएण उल्लेत्ता पच्छा परिट्ठविज्जइ, निव्वाघाए चिक्खल्ले खड्डुं खणिऊण पत्तपणालेण विगिंचइ, सोहिं च करेंति, एसा विही, जं पडिनियत्ताए आउक्काएण मीसेउं दिण्णं तं विगिंचेइ, जं संजयस्स पुव्वगहिए पाणिए आउक्काओ अणाभोगेण दिण्णो जइ परिणओ भुंजइ, नवि परिणमइ जेण कालेण थंडिलं पावइ विगिंचियव्वं, जत्थ हरतणुया पडेज्जा तं कालं पडिच्छित्ता विगिंचिज्जइ २। तेउक्काओ तहेव आयसमुत्थो आहोएण संजयस्स अगणिक्काएण कज्जं जायं–अहिडक्को

---

१ असति भाजनस्य कर्णा यावदधस्तात् (पश्चात्) शनैरुदकं क्षिप्यन्ति तदा त्यज्यते, अथ कूपोदकं तदा यदि कूपतट आर्द्रस्तत्र शनैर्निसृज्यते, असिच्यमानः शुष्कतटो भवेत् आर्द्रं च स्थानं नास्ति तदा भाजनं सिक्ककेन बध्यते, मूले दवरको बध्यते, उत्ष्वष्क्य पानीयमीषदसंप्राप्ते मूलदवरक उत्क्षिप्यते, तदा प्रलोठ्यते, नास्ति कूपो दूरे वा स्तेनश्वापदभयं भवेत् तदा शीतले मधुरवृक्षस्याधस्तात् सप्रतिग्रहं व्युत्सृज्यते, न भवेत्पात्रं तदाऽऽर्द्रं पृथ्वीकायं मार्गयित्वा तेन परिष्ठापयति, असति शुष्कमप्युष्णोदकेनार्द्रयित्वा पश्चात् परिष्ठाप्यते, निर्व्याघाते कर्दमे खड्डुं खनित्वा पत्रप्रणालिकया त्यज्यते, शुद्धिं च कुर्वन्ति, एष विधिः, यत् प्रत्यनीकतयाऽप्कायेन मिश्रयित्वा दत्तं तद्विविच्यते, यदि संयतेन पूर्वं गृहीते पानीयेऽप्कायोऽनाभोगेन दत्तो यदि परिणतो भुज्यते, न परिणमति येन कालेन स्थण्डिलं प्राप्यते त्यक्तव्यं, यत्र हरतनुकाः पतेयुस्तं कालं प्रतीच्छ्य त्यज्यते। तेजस्कायस्तथैवात्मसमुत्थ आभोगेन संयतस्याग्निकायेन कार्यं जातं–अहिदष्टो

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्ति:

प्रत सूत्रांक [सू.]

दीप अनुक्रम [२३]

आवश्यक-हारिभद्रीया ॥६२१॥

४प्रतिक्रमणा. परिष्ठापनिक्यधि०

वा [1]डंभिज्जइ फोडिया वा वायगंठी वा अन्त्रवृद्धिर्वा, वसहीए दीहजाईओ पविट्ठो, पोट्टसूलं वा तावेयव्वं, एवमाईहिं आणिए कज्जे कए तत्थेव पडिछुब्भइ, ण देति तो तेहिं कट्ठेहिं जो अगणी तज्जाइओ तत्थेव विगिंचिज्जइ, न होज्ज सोवि न देज्ज वा ताहे तज्जाएण छारेण उच्छाइज्जइ, पच्छा अण्णजाइएणवि, दीवएसु तेलं गालिज्जइ वत्ती य निप्पीलिज्जइ मल्लगसंपुडए कीरइ पच्छा अहाउगं पालेइ, भत्तपच्चक्खायगाइसु मल्लगसंपुडए काऊण अच्छत्ति, सारक्खिज्जइ, कए कज्जे तहेव विवेगो, अणाभोगेण खेलमल्लगालोयच्छारादिसु, तहेव परो आभोएण छारेण दिज्ज वसहीए अगणिं जोइक्खं वा करेज्ज तहेव विवेगो, अणाभोएणवि एए चेव पूयलियं वा सइंगालं देज्जा, तहेव विवेगो २ । वाउक्काए आयसमुत्थं आभोएण, कहं ?, वत्थिणा दिइएण वा कज्जं, सो कयाइ सचित्तो अचित्तो वा मीसो वा भवइ, कालो दुविहो–निद्धो लुक्खो य, णिद्धो तिविहो–उक्कोसाइ, लुक्खोवि तिविहो–उक्कोसाइ, उक्कोसए सीए जाहे धंतो भवइ ताहे जाव पढमपोरिसी

---

१ वा दह्यते स्फोटिका वा वातग्रन्थिर्वा अन्त्रवृद्धिर्वा, वसतौ दीर्घजातीयः प्रविष्टः, उदरशूलं वा तापयितव्यं, एवमादिभिरानीते कार्ये कृते तत्रैव प्रतिक्षिप्यते, न दद्यात्तदा तैः काष्ठैर्योऽग्निस्तज्जातीयस्तत्रैव त्यज्यते, न भवेत् सोऽपि न दद्याद्वा तदा तज्जातेन क्षारेणाच्छाद्यते, पश्चादन्यजातीयेनापि, दीपेभ्यः तैलं गाल्यते वर्त्तिर्निष्पीड्यते मल्लकसंपुटे क्रियते पश्चाद्यथायुष्कं पालयति, भक्तप्रत्याख्यानादिषु मल्लकसंपुटे कृत्वा तिष्ठति, संरक्ष्यते, कृते कार्ये तथैव विवेकः, अनाभोगेन श्लेष्ममल्लकलोचक्षारादिषु, तथैव पर आभोगेन दद्यात् , वसतौ अग्निं ज्योतिर्वा कुर्यात् तथैव विवेकः । अनाभोगेनापि एते चैव पूपलिकां वा साङ्गारां दद्यात् तथैव विवेकः ॥ वायुकाय आत्मसमुत्थमाभोगेन, कथं ?, बस्तिना दृत्या वा कार्यं, स कदाचित् सचित्तोऽचित्तो वा मिश्रो वा भवति, कालो द्विविधः– स्निग्धो रूक्षश्च, स्निग्धस्त्रिविधः–उत्कृष्टादि, रूक्षोऽपि त्रिविधः–उत्कृष्टादिः, उत्कृष्टे शीते यदा ध्मातो भवति तदा यावत् प्रथमपौरुषी

॥६२१॥

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्तिः

प्रत
सूत्रांक
[सू.]

दीप
अनुक्रम
[२३]

ताव अचित्तो बितियाए मीसो ततियाए सचित्तो, मज्झिमए सीए बितियाए आरद्धो चउत्थीए सचित्तो भवइ, मंदसीए तइयाए आरद्धो पंचमाए पोरिसीए सचित्तो, उण्हकाले मंदउण्हे मज्झे उक्कोसे दिवसा नवरि दो तिण्णि चत्तारि पंच य, एवं वत्थिस्स दइयस्स पुवद्धंतस्स एसेव कालविभागो, जो पुण ताहे चेव धमित्ता पाणियं उत्तारिज्जइ, तस्स य पढमे हत्थसए अचित्तो बितिए मीसो तइए सचित्तो, कालविभागो नत्थि, जेण पाणियं पगतीए सीयलं, पुवं अचित्तो मग्गिज्जइ पच्छा मीसो पच्छा सचित्तोत्ति । अणाभोएण एस अचित्तोत्ति मीसगसचित्ता गहिया, परोवि एवं चेव जाणंतो वा देज्जा अजाणंतो वा, णाए तस्सेव अणिच्छंते उवरगं सकवाडं पविसित्ता सणियं मुंचइ, पच्छा सालाएवि, पच्छा वणणिगुंजे महुरे, पच्छा संघाडियाउवि जयणाए, एवं दइयस्सवि, सचित्तो वा अचित्तो वा मीसो वा होउ सवस्सवि एस विही, मा अण्णं विराहेहित्ति ४ । वणस्सइकाइयस्सवि आयसमुत्थं आभोएणं गिलाणाइकज्जे मूलाईण गहण होज्जा, अणाभोएण

---

१ तावदचित्तो द्वितीयायां मिश्रस्तृतीयायां सचित्तः, मध्यमे शीते द्वितीयाया आरभ्य चतुर्थ्यां सचित्तो भवति, मन्दशीते तृतीयस्या आरभ्य पञ्चम्यां पौरुष्यां सचित्तः, उष्णकाले मन्दोष्णे मध्ये उत्कृष्टे दिवसाः परं द्वौ त्रीन् चतुरः पञ्च च, एवं बस्तेर्दतेः, पूर्वध्मातस्यैष एव कालविभागः, यः पुनस्तदैव ध्मात्वा पानीय उत्तार्यते, तस्य च प्रथमे हस्तशते अचित्तो द्वितीये मिश्रस्तृतीये सचित्तः, कालविभागो नास्ति, येन पानीयं प्रकृत्या शीतलं, पूर्वमचित्तो मार्ग्यते पश्चान्मिश्रः पश्चात्सचित्त इति । अनाभोगेन एषोऽचित्त इति मिश्रसचित्तौ गृहीतौ, परोऽप्येवमेव जानन्वा दद्यादजानन्वा, ज्ञाते तस्मै एव अनिच्छति अपवरकं सकपाटं प्रविश्य शनैर्मुच्यते, पश्चात् शालायामपि, पश्चाद्वननिकुञ्जे मधुरे, पश्चात् शृङ्गाटिकायामपि यतनया, एवं दृतेरपि, सचित्तो वाऽचित्तो वा मिश्रो वा भवन्तु सर्वस्याप्येष विधिः, माऽन्यं विरात्सीदिति । वनस्पतिकायिकस्य आत्मसमुत्थमाभोगेन ग्लानादिकार्याय मूलादीनां ग्रहणं भवति, अनाभोगेन

प्रत सूत्रांक [सू.]

दीप अनुक्रम [२३]

आवश्यक-हारिभ-द्रीया ॥६२२॥

४प्रतिक्रम-णा. परि-ष्ठापनि-क्यधि०

गहियं भत्ते वा लोट्टो पडिओ पिट्ठगं वा कुक्कुसा वा, सो चेव पोरिसिविभागो, दुक्कुट्ठिओ चिरंपि होज्जा, परो अल्लगेण मिसियगं चवलगमीसियाणि वा पीलूणि कूरओडियाए वा अंतो छोढूणं करमद्दएहिं वा समं कंजिओ अन्नयरो बीयकाओ पडिओ होज्जा, तिलाण वा एवं गहणं होज्जा, निंबं तिलमाइसु होज्जा, जइ आभोगगहियं आभोगेण वा दिन्नं विवेगो, अणाभोगगहिए अणाभोगदिण्णे वा जइ तरइ विगिंचिउं पढमं परपाए, सपाए, संथारए लट्टीए वा पणओ हवेज्जा ताहे उण्हं सीयं व णाऊण विगिंचणा, एसोवि वणस्सइकाओ पच्छा अंतोकाए एसिं विगिंचणविही, अल्लगं अल्लगखेत्ते सेसाणी आगरे, असइ आगरस्स निव्वाघाए महुराए भूमीए, अंतो वा कप्परे वा पत्ते वा, एस विहित्ति ॥ अत्र तज्जातातज्जातपारिस्थापनिकी प्रत्येकं पृथिव्यादीनां प्रदर्शितैव, भाष्यकारः सामान्येन तल्लक्षणप्रतिपादनायाह—

तज्जायपरिट्ठवणा आगरमाईसु होइ बोद्धव्वा । अतज्जायपरिट्ठवणा कप्परमाईसु बोद्धव्वा ॥ २०५ ॥ (भा०)

व्याख्या—तज्जाते–तुल्यजातीये पारिस्थापनिका २ सा आगरादिषु परिस्थापनं कुर्वतो भवति ज्ञातव्या, आकराः–

१ गृहीतं भक्ते वा लोट्टः* पतितःपिष्टं वा +कुकुसा वा, स एव पौरुषीविभागः, दुष्कुष्टः चिरमपि भवेत्, पर आर्द्रकेण मिश्रितं चपलकमिश्रितानि वा पीलूनि कूरकोटिकायां (क्षिप्रचटिकायां) वाऽन्तः क्षिप्त्वा करमर्दैः समं वा काञ्जिकः अन्यतरो वा बीजकायः पतितो भवेत्, तिलानां वैवं ग्रहणं भवेत्, निम्बं तैलादिषु भवेत्, यथाभोगगृहीतमाभोगेन वा दत्तं विवेकः, अनाभोगगृहीतेऽनाभोगदत्ते वा यदि शक्यते त्यक्तुं प्रथमं परपात्रे स्वपात्रे, संस्तारके लष्ट्यां वा पनको भवेत् तदोष्णं शीतं वा ज्ञात्वा त्यागः, एषोऽपि वनस्पतिकायिकः, पश्चादन्तःकाय एषां विवेकविधिः, आर्द्रमार्द्रकक्षेत्रे शेषाणि आकरे, असत्याकारे निर्व्याघाते मधुरायां भूमौ, अन्तर्वा कर्परस्य वा पात्रस्य वा एष विधिरिति। * कक्कुक. + कणिक्का.

॥६२२॥

प्रत सूत्रांक [सू.]

दीप अनुक्रम [२३]

पृथिव्याद्याकराः प्रदर्शिता एव, अतज्जातीये–भिन्नजातीये परिस्थापनिका २ सा पुनः कर्परादिषु यथा (योगं) परिस्थापनं कुर्वतो बोद्धव्येति गाथार्थः ॥ गतैकेन्द्रियपरिस्थापनिका, अधुना नोएकेन्द्रियपारिस्थापनिकां प्रतिपादयन्नाह—

णोएगिंदिएहिं जा सा सा दुविहा होइ आणुपुव्वीए । तसपाणेहि सुविहिया ! णायव्वा नोतसेहिं च ॥ ५ ॥

व्याख्या—एकेन्द्रिया न भवन्तीति नोएकेन्द्रियाः–त्रसादयस्तैः करणभूतैरिति तृतीया, अथवा तेषु सत्सु तद्विषया वेति सप्तमी, एवमन्यत्रापि योज्यं, याऽसौ पारिस्थापनिका सा 'द्वि(वि)धा' द्विप्रकारा भवति 'आनुपूर्व्या' परिपाट्या, द्वैविध्यमेव दर्शयति–'तसपाणेहिं सुविहिया णायव्वा णोतसेहिं च' त्रसन्तीति त्रसाः त्रसाश्च ते प्राणिनश्चेति समासस्तैः करणभूतैः सुविहितेति सुशिष्यामन्त्रणम्, अनेन कुशिष्याय न देयमिति दर्शयति, ज्ञातव्या–विज्ञेया 'नोतसेहिं च' त्रसा न भवन्तीति नोत्रसा–आहारादयस्तैः करणभूतैरिति गाथार्थः ॥ ५ ॥

तसपाणेहिं जा सा सा दुविहा होइ आणुपुव्वीए । विगलिंदियतसेहिं जाणे पंचिंदिएहिं च ॥ ६ ॥

व्याख्या—त्रसप्राणिभिर्याऽसौ सा द्वि(वि)धा भवति आनुपूर्व्या, 'विकलेन्द्रिया' द्वीन्द्रियादयश्चतुरिन्द्रियपर्यन्तास्तैश्च, 'जाणि'त्ति जानीहि पञ्चेन्द्रियैश्चेति गाथार्थः ॥ ६ ॥

विगलिंदिएहिं जा सा सा तिविहा होइ आणुपुव्वीए । बियतियचउरो यावि य तज्जाया तहा अतज्जाया ॥ ७ ॥

व्याख्या—विकलेन्द्रियैर्याऽसौ सा त्रिविधा भवति आनुपूर्व्या, 'बियतियचउरो यावि य' द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियाँश्चाधिकृत्य, सा च प्रत्येकं द्विभेदा, तथा चाह–'तज्जाय तहा अतज्जाया' तज्जाते–तुल्यजातीये या क्रियते सा तज्जाता,

प्रत सूत्रांक [सू.]

दीप अनुक्रम [२३]

आवश्यक-हारिभ-द्रीया ॥६२३॥

४प्रतिक्रम-णा. प रि ष्ठापनि० क्यधि०

तथा अतज्जाता–अतज्जाते या क्रियत इति गाथार्थः ॥ ७ ॥ ॥ भावार्थस्त्वयं–बेइंदियाणं आयसमुत्थं जलुगा गंडाइसु कज्जेसु गहिया तत्थेव विगिंचिज्जइ, सत्तुया वा आलेवणनिमित्तं ऊरणियासंसत्ता गहिया विसोहित्ता आयरे विगिंचेति, असइ आगरस्स सत्तुएहिं समं निवाघाए, संसत्तदेसे वा कत्थइ होज्ज अणाभोगगहणं तं देसं चेव न गंतव्वं, असिवाईहिं गमेज्जा जत्थ सत्तुया तत्थ कूरं मग्गइ (ग्रं० १६०००), न लहइ तद्देवसिए सत्तुए मग्गइ, असईए बितिए जाव ततिए, असइ पडिलेहिय २ गिण्हइ, वेला वा अइक्कमइ अद्धाणं वा, संकिया वा मत्ते घेप्पंति, बाहिं उज्जाणे देउले पडिसयस्स वा बाहिं रयत्ताणं पत्थरिऊणं उवरि एक्कं घणमसिणं पडलं तत्थ पल्लच्छिज्जंति, तिन्नि ऊरणयपडिलेहणाओ, नत्थि जइ ताहे पुणो पडिलेहणाओ, तिण्णि मुट्ठिओ गहाय जइ सुद्धा परिभुज्जंति, एगंमि दिट्ठे पुणोवि मूलाओ पडिलेहिज्जंति, जे तत्थ पाणा ते मल्लए सत्तुएहिं समं ठविज्जंति, आगराइसु विगिंचइ, नत्थि बीयरहिएसु विगिंचइ, एवं जत्थ पाणयंपि बीयपाए

१ द्वीन्द्रियाणामात्मसमुत्थं जलौका गण्डादिषु कार्येषु गृहीता तत्रैव त्यज्यते, सक्तुका वा आलेपननिमित्तं ऊर्णिकासंसक्ता गृहीता विशोध्याकरे त्यजति, असत्याकारे सक्तुकैः समं निर्व्याघाते, संसक्तदेशे वा कुत्रचित् भवेदनाभोगग्रहणं तं देशमेव न गच्छेत्, अशिवादिभिर्गच्छेत् यत्र सक्तुकास्तत्र कूरो मार्ग्यते, न लभ्यते तद्दैवसिकान् सक्तुकान् मार्गयति, असति द्वैतीयिकान् यावत्तार्त्तीयिकान्, असति प्रतिलिख्य २ गृह्णाति, वेलां वाऽतिक्रामति अध्वानं वा (प्रतिपन्नाः), शङ्किता वा मात्रके गृह्णाति, बहिरुद्यानात् देवकुले प्रतिश्रयस्य वा बहिः रजस्त्राणं प्रस्तीर्य उपर्येकं घनमसृणं पटलं तत्र प्रच्छादयति, त्रिकृत्व ऊरणिकाप्रतिलेखना, नास्ति यदि तदा पुनः प्रतिलेखना, तिस्रो मुष्टीर्गृहीत्वा यदि शुद्धा परिभुज्यन्ते, एकस्यां दृष्टायां पुनरपि मूलात् प्रतिलेखयति, ये तत्र प्राणिनस्ते मल्लके सक्तुकैः समं स्थाप्यन्ते, आकरादिषु त्यज्यन्ते, न सन्ति बीजरहितेषु त्यजति, एवं यत्र पानीयमपि द्वितीयपात्रे.

॥६२३॥

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्ति:

प्रत
सूत्रांक
[सू.]

दीप
अनुक्रम
[२३]

पंडिलेहित्ता उग्गाहिए छुब्भइ, संसत्तं जायं रसएहिं ताहे सपडिग्गहं वोसिरउ, नत्थि पायं ताहे अंबिलिं पाडिहारियं मग्गउ, णो लहेज्ज सुक्कयं अंबिलिं उल्लेऊणं असइ अण्णंमेवि अंबिलिवीयाणि छोढूण विगिंचइ, नत्थि बीयरहिएसु विगिंचइ, पच्छा पडिस्सए पाडिहारिए वा अपाडिहारियं वा तिकालं पडिलेहेइ दिणे दिणे, जया परिणयं तहा विगिंचइ, भायणं च पडिअप्पिज्जइ, नत्थि भायणं ताहे अडवीए अणागमणपहे छाहीए जो चिक्खल्लो तत्थ खड्डं खणिऊण निच्छिड्डुं लिंपित्ता पत्तणालेणं जयणाए छुभइ, एक्कसि पाणएणं भमाडेइ, तंपि तत्थेव छुब्भइ, एवं तिन्नि वारे, पच्छा कप्पेइ सण्हकट्ठेहि य मालं करेंति चिक्खिल्लेणं लिंपइ कंटयछायाए य उच्छाएइ, तेण य भाणएणं सीयलपाणयं ण लयइ, अवसावणेण कूरेण य भाविज्जइ, एवं दो तिण्णि वा दिवसे, संसत्तगं च पाणयं असंतत्तगं च एगो न धरे, गंधेण विसंसिज्जइ, संसत्तं च गहाय न हिंडिज्जइ, विराहणा होज्ज, संसत्तं गहाय न समुद्दिसिज्जइ, जइ परिस्संता जे ण हिंडंति ते लिंति, जे

---

१ प्रतिलिख्योद्ग्राहिके क्षिप्यते, संसक्तं जातं रसजैस्तदा सप्रतिग्रहं व्युत्सृजतु, नास्ति पात्रं तदा चिञ्चिणिकां प्रातिहारिकीं मार्गयतु, न लभेत शुष्कां चिञ्चिणिकां आर्द्रयित्वा असति अन्यस्मिन्नपि चिञ्चिणिकाबीजानि क्षिप्त्वा विविच्यते, नास्ति बीजरहितेषु त्यज्यते, पश्चात् प्रतिश्रये प्रातिहारिके वा अप्रातिहारिके वा त्रिकालं प्रतिलिखति दिने दिने, यदा परिणतं तदा विविच्यते, भाजनं च प्रत्यर्प्यते, नास्ति भाजनं तदाऽटव्यामनागमनपथे छायायां यः कर्दमस्तत्र गर्तं खनित्वा निश्छिद्रं लिप्त्वा पत्रनालेन यतनया क्षिपति, एकशः पानीयेनार्द्रयति, तदपि तत्रैव क्षिपति, एवं त्रीन् वारान्, पश्चात् कल्पयति श्लक्ष्णकाष्ठैश्च मालं करोति कर्दमेन लिम्पति कण्टकच्छायया चाच्छादयति, तेन च भाजनेन शीतलपानीयं न लाति, अवश्रावणेन कूरेण च भाव्यते, एवं द्वौ त्रीन् वा दिवसान्, संसक्तं च पानकमसंसक्तं चैको न धारयेत्, गन्धेन विशस्यते, संसक्तं च गृहीत्वा न हिण्ड्यते, विराधना भवेत्, संसक्तं गृहीत्वा न भुज्यते, यदि परिश्रान्तास्तर्हि ये न हिण्डन्ते ते लान्ति, ये

प्रत सूत्रांक [सू.]

दीप अनुक्रम [२३]

आवश्यक-हारिभ-द्रीया

॥६२४॥

यं पाणा दिट्ठा ते मया होज्जा, एगेण पडिलेहियं बीएण तलिएणं, सुद्धं परिभुंजंति, एवं चेव महियस्सवि गालियदहियस्स नवणीयस्स य का विही ?, महीए एगा उट्टी छुब्भइ, तत्थ तत्थ दीसंति, असइ महियस्स का विही ?, गोरसधोवणे, पच्छा उण्होदयं सियलाविज्जइ, पच्छा महुरे चाउलोदए, तेसु सुद्धं परिभुज्जइ, असुद्धे तहेव विवेगो दहियस्स, पच्छओ उयन्ता णियत्ते पडिलेहिज्जइ, तीराए सुत्तेसुवि एस विही, परोवि आभोयणाभोयाए ताणि दिज्जा ॥ तेइंदियाण गहणं सत्तुयपाणाण पुव्वभणिओ विही, तिलकीडयावि तहेव दहिए वा रल्ला तहेव छगणकिमिओवि तहेव संथारगो वा गहिओ घुणाइणा णाए तहेव तारिसए कट्ठे संकामिज्जइ, उद्देहियाहिं गहिए पोत्ते णत्थि तस्स विगिंचणया, ताहे तेसिंवि लोढाइज्जइ, तत्थ अईंति लोए, छप्पइयाउ विसामिज्जंति सत्तदिवसे, कारणगमणं ताहे सीयलए निव्वाघाए, एवमाईणं तहेव आगरे निवाघाए विवेगो, कीडियाहिं संसत्ते पाणए जइ जीवंति खिप्पं गलिज्जइ, अहे पडिया लेवाडेणेव हत्थेण उद्धरेयव्वा,

४ प्रतिक्रमणा. परिष्ठापनिक्यधि०

१ च प्राणिनो दृष्टास्ते मृता भवेयुः, एकेन प्रतिलेखितं द्वितीयेन तृतीयेन, शुद्धं परिभुञ्जन्ति, एवमेव गोरसस्यापि गालितस्य दध्नो नवनीतस्य च कोविधिः ?, तक्रस्यैकाऽष्टा क्षिप्यते तत्र तत्र दृश्यन्ते, असति तक्रे को विधिः ?, गोरसधावनं, पश्चादुष्णोदकं शीतलीयते पश्चात् मधुरं तन्दुलोदकं, तेषु शुद्धं परिभुज्यते, अशुद्धे तथैव विवेको दध्नः, पश्चात् गच्छन्त आगच्छन्तः प्रतिलेखयन्ति. (उदध्यादेः) तीरादिषु सुप्तेष्वपि एष विधिः, परोऽप्याभोगानाभोगाभ्यां तानि दद्यात् ॥ त्रीन्द्रियाणां ग्रहणं सक्तुप्राणिनां पूर्वभणितो विधिः तिलकीटका अपि तथैव दध्नि वा रल्लाः तथैव गोमयकृमयोऽपि तथैव संस्तारको वा गृहीतो घुणादिभिः ज्ञाते तथैव तादृशे काष्ठे संक्राम्यन्ते, उद्देहिकाभिर्गृहीते पोते नास्ति तस्य विवेकः, तदा तासामपि अवतारणं क्रियते, तत्राप्यान्ति स्वस्थाने, षट्पदिका विश्राम्यन्ते सप्त दिवसान्, कारणे गमनं तदा शीतले निर्व्याघाते, एवमादीनां तथैवाकरे निर्व्याघाते विवेकः, कीटिकाभिः संसक्ते पानीये यदि जीवन्ति क्षिप्रं गाल्यते, अधःपतिता लेपकृतैव हस्तेनोद्धर्त्तव्याः,.

॥६२४॥

प्रत सूत्रांक [सू.]

दीप अनुक्रम [२३]

अलेवडयं चेव पाणयं होइ, एवं मक्खियावि, संघाडएण पुण एगो भत्तं गेण्हइ मा चेव छुब्भइ, बीओ पाणयं, हत्थो अलेवाडओ चेव, जइवि कीडियाउ मइयाउ तहवि गलिज्जंति, इहरहा मेहं उवहणंति मच्छियाहिं वमी हवइ, जइ तंदुलोयगमाइसु पूयरओ ताहे पगासे भायणे छुहित्ता पोत्तेण दद्दरओ कीरइ, ताहे कोसएणं खोरएण वा उक्कड्ढिज्जइ, थोवएण पाणएण समं विगिंचिज्जइ, आउकायं गमित्ता कट्ठेण गहाय उदयस्स ढोइज्जइ, ताहे अप्पणा चेव तत्थ पडइ, एवमाइ तेइंदियाणं, पूयलिया कीडियाहिं संसत्तिया होज्जा, सुक्कओ वा कूरो, ताहे झुसिरे विक्खिरिज्जइ, तहेव तत्थ ताओ पविसंति, मुहुत्तयं च रक्खिज्जइ जाव विप्पसरियाओ। चउरिंदियाणं आसमक्खिया अक्खिंमि अक्खरा उकड्ढिज्जइत्ति घेप्पइ, परहत्थे भत्ते पाणए वा जइ मच्छिया तं अणेसणिज्जं, संजयहत्थे उद्धरिज्जइ, नेहे पडिया छारेण गुंडिज्जइ, कोत्थलगारिया वा वच्छरथे पाए वा घरं करेज्जा सव्वविवेगो, असइ छिंदित्ता, अह अन्नंमि य घरए संकामिज्जंति, संथारए मंकुणाणं

---

१ अलेपकृदेव पानीयं भवति, एवं मक्षिका अपि, संघाटकेन पुनरेको भक्तं गृह्णाति, मैव पप्तन्, द्वितीयः पानीयं, हस्तोऽलेपकृदेव, यद्यपि कीटिका मृतास्तथापि गाल्यन्ते, इतरथा मेधामुपहन्युः मक्षिकाभिर्वान्तिर्भवति, यदि तन्दुलोदकादिषु पूतरकास्तदा प्रकाशे भाजने क्षिप्त्वा पोतेनाच्छादनं क्रियते, ततः कोशेन क्षौरकेण वा निष्काश्यन्ते, स्तोकेन पानीयेन समं त्यज्यन्ते, अप्कायं प्रापय्य काष्ठेन गृहीत्वोदकाग्रे ध्रियन्ते, तदाऽऽत्मनैव तत्र पतन्ति, एवमादि त्रीन्द्रियाणां, पूपलिका कीटिकाभिः संसक्ता भवेत्, शुष्को वा कूरः, तदा शुषिरे विकीर्यते, तथैव ताः प्रविशन्ति, मुहूर्त्तं च रक्ष्यन्ते यावद्विप्रसृताः ॥ चतुरिन्द्रियाणां अश्वमक्षिका अक्ष्णः पुष्पिकां निष्काशयन्ति इति गृह्यन्ते, परहस्ते भक्ते पानीये वा यदि मक्षिकास्तदनेषणीयं, संयतहस्ते उद्ध्रियन्ते, स्नेहेपतिताः क्षारेणावगुण्ड्यन्ते कोत्थलकारिका वा वस्त्रे पात्रे वा गृहं कुर्यात् सर्वविवेकः, असति छित्त्वा, अथान्यस्मिन् गृहे वा संक्राम्यन्ते, संस्तारके मत्कुणानां

प्रत सूत्रांक [सू.]

दीप अनुक्रम [२३]

आवश्यक-हारिभ-द्रीया ॥६२५॥

पुव्वगहिए तहेव घेप्पमाणे पायपुंछणे वा, जइ तिन्नि वेलाउ पडिलेहिज्जंतो दिवसे २ संसज्जइ ताहे तारिसएहिं चेव कट्ठेहिं संकामिज्जंति, दंडए एवं चेव, भमरस्सवि तहेव विवेगो, सअंडए सकट्ठो विवेगो, पूतरयस्स पुव्वभणिओ विवेगो, एवमाइ जहासंभवं विभासा कायव्वा । गता विकलेन्द्रियत्रसपारिस्थापनिका, अधुना पञ्चेन्द्रियत्रसपारिस्थापनिकां विवृण्वन्नाह—

पंचिंदिएहिं जा सा सा दुविहा होइ आणुपुव्वीए । मणुएहिं च सुविहिया, नायव्वा नोयमणुएहिं ॥ ८ ॥

व्याख्या—पञ्च स्पर्शादीनीन्द्रियाणि येषां ते पञ्चेन्द्रियाः–मनुष्यादयस्तैः करणभूतैस्तेषु वा सत्सु तद्विषयाऽसौ पारिस्थापनिका सा द्विविधा भवत्यानुपूर्व्या, मनुष्यैस्तु सुविहिता ! ज्ञातव्या, 'नोमनुष्यैश्च' तिर्यग्भिः, चशब्दस्य व्यवहितः सम्बन्ध इति गाथाक्षरार्थः, ॥ ८ ॥ भावार्थं तूपरिष्टाद्वक्ष्यामः ॥—

मणुएहिं खलु जा सा सा दुविहा होइ आणुपुव्वीए । संजयमणुएहिं तह नायव्वाऽसंजएहिं च ॥ ९ ॥

व्याख्या—मनुष्यैः खलुः याऽसौ सा द्विविधा भवति आनुपूर्व्या संयतमनुष्यैस्तथा ज्ञातव्याऽसंयतैश्चेति गाथार्थः ॥ ९ ॥ भावार्थं तूपरिष्टाद्वक्ष्यामः—

संजयमणुएहिं जा सा सा दुविहा होइ आणुपुव्वीए । सच्चित्तेहिं सुविहिया ! अच्चित्तेहिं च नायव्वा ॥ १० ॥

व्याख्या—'संयतमनुष्यैः' साधुभिः करणभूतैर्याऽसौ पारिस्थापनिका सा द्विविधा भवत्यानुपूर्व्या, सह चित्तेन वर्तन्त

४प्रतिक्रमणाध्य० परिस्थापनिका० ॥६२५॥

१ पूर्वगृहीते तथैव गृह्यमाणे पादप्रोञ्छने वा यदि तिस्रो वाराः प्रतिलिख्यमानो दिवसे दिवसे संसृज्यते तदा तादृशैरेव काष्ठैः संक्राम्यन्ते, दण्डकेऽप्येवमेव, भ्रमरस्यापि विवेकस्तथैव विवेकः, साण्डे सकाष्ठस्य विवेकः, पूतरकस्य पूर्वभणितो विवेकः, एवमादि यथासंभवं विभाषा कर्त्तव्या ।

इति सचित्तास्तैः–जीवद्भिरित्यर्थः, सुविहितेति पूर्ववत् 'अच्चित्तेहिं च णायव'त्ति अविद्यमानचित्तैश्च–मृतैरित्यर्थः, ज्ञातव्या–विज्ञेयेति गाथाक्षरार्थः ॥ १० ॥ इत्थं तावदुद्देशः कृतः, अधुना भावार्थः प्रतिपाद्यते, तत्र यथा सचित्तसंयतानां ग्रहणपारिस्थापनिकासम्भवस्तथा प्रतिपादयन्नाह—

अणभोग कारणेण व नपुंसमाईसु होइ सच्चित्ता। वोसिरणं तु नपुंसे सेसे कालं पडिक्खिज्जा ॥ ११ ॥

व्याख्या—आभोगनमाभोगः–उपयोगविशेषः न आभोगः अनाभोगस्तेन 'कारणेन वा' अशिवादिलक्षणेन 'नपुंसकादिषु' दीक्षितेषु सत्सु भवति 'सचित्ता' इति व्यवहारतः सचित्तमनुष्यसंयतपरिस्थापनिकेति भावना, आदिशब्दाज्जड्डादिपरिग्रहः, तत्र चायं विधिः–योऽनाभोगेन दीक्षितः स आभोगित्वे सति व्युत्सृज्यते, तथा चाह–'वोसिरणं तु नपुंसे'त्ति व्युत्सृजनं–परित्यागरूपं नपुंसके, कर्तव्यमिति वाक्यशेषः, तुशब्दोऽनाभोगदीक्षित इति विशेषयति, 'सेसे कालं पडिक्खिज्ज'त्ति शेषः कारणदीक्षितो जड्डादिर्वा, तत्र 'काल'न्ति यावता कालेन कारणसमाप्तिर्भवत्येतावन्तं कालं जड्डादौ वक्ष्यमाणं च प्रतीक्ष्येत, न तावद्व्युत्सृजेत् इति गाथाक्षरार्थः ॥ ११ ॥ अथ किं तत्कारणं येनासौ दीक्ष्यत इति ?, तत्रानेकभेदं कारणमुपदर्शयन्नाह—

असिवे ओमोयरिए रायदुट्ठे भए व आगाढे। गेलन्ने उत्तिमट्ठे नाणे तवदंसणचरित्ते ॥ १२ ॥

व्याख्या—'अशिवं' व्यन्तरकृतं व्यसनम् 'अवमौदर्यं' दुर्भिक्षं 'राजद्विष्टं' राजा द्विष्ट इति 'भयं' प्रत्यनीकेभ्यः 'आगाढं' भृशम्, अयं चागाढशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते अशिवादिषु 'ग्लानत्वं' ग्लानभावः 'उत्तमार्थः' कालधर्मः,

प्रत सूत्रांक [सू.]

दीप अनुक्रम [२३]

आवश्यक-हारिभद्रीया ॥६२६॥

४ प्रतिक्रमणाध्य० परिस्थापनिका०

'ज्ञानं' श्रुतादि तथा 'दर्शनं' तत्प्रभावकशास्त्रलक्षणं 'चारित्रं' प्रतीतम्, एतेष्वशिवादिषूपकुरुते यो नपुंसकादिरसौ दीक्ष्यत इति, उक्तं च–'[१]रायदुट्ठभएसुं ताणट्ठ णिवस्स वाऽभिगमणट्ठा। वेज्जो व सयं तस्स व तप्पिस्सइ वा गिलाणस्स ॥ १ ॥ गुरुणोव अप्पणो वा णाणाई गिण्हमाणि तप्पिहिई। अचरणदेसा णिन्ते तप्पे ओमासिवेहिं वा ॥ २ ॥ एएहिं कारणेहिं आगाढेहिं तु जो उ पव्वावे। पंडाई सोलसयं कए उ कज्जे विगिंचणया ॥ ३ ॥' जो सो असिवाइकारणेहिं पव्वाविज्जइ नपुंसगो सो दुविहो–जाणओ य अजाणओ य, जाणओ जाणइ जह साहूणं न वट्टइ नपुंसओ पव्वावेउं, अयाणओ न जाणइ, तत्थ जाणओ पण्णविज्जइ जह ण वट्टइ तुज्झ पवज्जा, णाणाइमग्गविराहणा ते भविस्सइ, ता घरत्थो चेव साहूणं वट्टसु तो ते विउला निज्जरा भविस्सइ, जइ इच्छइ लट्ठं, अह न इच्छइ तो तस्स अयाणयस्स य कारगे पव्वाविज्जमाणाणं इमा जयणा कीरइ–

कडिपट्टए य छिहली कत्तरिया भंडु लोय पाढे य। धम्मकहसन्निराउल ववहारविकिंचणं कुज्जा ॥ दारं ॥ १३ ॥

व्याख्या–कडिपट्टगं चास्य कुर्यात्, शिखां चानिच्छतः कर्तरिकया केशापनयनं 'भंडु'त्ति मुण्डनं वा लोचं वा पाढं

---

१ राजद्विष्टभयेषु त्राणार्थाय नृपस्य वाऽभिगमनार्थम्। वैद्यो वा स्वयं तस्य वा प्रतिजागरिष्यति वा ग्लानम् ॥१॥ गुरोर्वाऽऽत्मनो वा ज्ञानादि गृह्णतस्तप्स्यति। अचरणदेशान्निर्गच्छतः तप्स्यति अवमाशिवेषु वा ॥ २ ॥ एतेष्वागाढेषु कारणेषु तु यस्तु प्रव्राजयति। पण्डादि षोडशकं कृते तु कार्ये विवेकः ॥ ३ ॥ यः सोऽशिवादिकारणैः प्रव्राज्यते नपुंसकः स द्विविधः–ज्ञायकोऽज्ञायकश्च, ज्ञायको जानाति यथा साधूनां न कल्पते नपुंसकः प्रव्राजयितुं अज्ञायको न जानाति, तत्र ज्ञायकः प्रज्ञाप्यते यथा न वर्त्तते तव प्रव्रज्या, ज्ञानादिमार्गविराधना ते भविष्यति, तद्गृहे स्थित एव साधूनां (अनुग्रहे) वर्त्तस्व ततस्ते विपुला निर्जरा भविष्यति, यदीच्छति लष्टं, अथ नेच्छति तदा तस्याज्ञायकस्य च कारणे प्रव्राज्यमानानामियं यतना क्रियते।

॥६२६॥

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [सू.]

दीप अनुक्रम [२३]

च विवरीयं धर्मकथां संज्ञिनः कथयेत् राजकुले व्यवहारम्, इत्थं विगिञ्चनं कुर्यादिति गाथाक्षरार्थः ॥१३॥ भावार्थस्त्वयं–पैव्वयंतस्स कडिपट्टओ से कीरइ, भणइ य–अम्हाण पव्वयंताण एवं चेव कयं, सिहली नाम सिहा सा न मुंडिज्जइ, लोओ ण कीरइ, कत्तरीए से केसा कप्पिज्जंति, छुरेण वा मुंडिज्जइ, नेच्छमाणे लोओवि कीरइ, जो नज्जइ जणेण जहा एस नपुंसगो, अनज्जंतेवि एवं चेव कीरइ जणपच्चयनिमित्तं, वरं जणो जाणंतो जहा एस गिहत्थो चेव। पाढग्गहणेण दुविहा सिक्खा–गहणसिक्खा आसेवणसिक्खा य, तत्थ गहणसिक्खाए भिक्खुमाईणं मयाइं सिक्खविज्जंति, अणिच्छमाणे जाणि ससमए परतित्थियमयाइं ताणि पाढिज्जंति, तंपि अणिच्छंते ससमयवत्तवयाएवि अन्नाभिहाणेहिं अत्थविसंवादणाणि पाढिज्जंति, अहवा कमेणं उल्लत्थपल्लत्था से आलावया दिज्जंति, एसा गहणसिक्खा, आसेवणसिक्खाए चरणकरणं ण गाहिज्जइ, किंतु–'वीयारगोयरे थेरसंजुओ रत्तिं दूरे तरुणाणं। गाहेह ममंपि तओ थेरा गाहिंति जत्तेण ॥ १ ॥ वेरग्गकहा

---

१ प्रव्रजतः कटिपट्टकस्तस्य क्रियते, भणति च–अस्माकं प्रव्रजतामेवमेव कृतं, सिहली नाम शिखा सा न मुण्ड्यते, लोचो न क्रियते, कर्त्तर्या तस्य केशाः कल्प्यन्ते, क्षुरप्रेण वा मुण्ड्यते, अनिच्छति लोचोऽपि क्रियते, यो ज्ञायते जनेन यथैष नपुंसकः, अज्ञायमानेऽपि एवमेव क्रियते जनप्रत्ययनिमित्तं, वरं जनो जानातु यथैष गृहस्थ एव। पाठग्रहणेन द्विविधा शिक्षा–ग्रहणशिक्षा आसेवनाशिक्षा च, तत्र ग्रहणशिक्षायां भिक्षुकादीनां मतानि शिक्ष्यन्ते, अनिच्छति यानि स्वसमये परतीर्थिकमतानि तानि पाठ्यन्ते, तदपि अनिच्छति स्वसमयवक्तव्यतामपि अन्याभिधानैरर्थविसंवादनानि पाठ्यन्ते, अथवा क्रमेण विपर्यस्तास्तस्मै आलापका दीयन्ते, एषा ग्रहणशिक्षा, आसेवनशिक्षायां चरणकरणं न ग्राह्यते, किन्तु विचारगोचराः, स्थविरसंयुतो रात्रौ दूरे तरुणानां, पाठय मामपि (यदा भणति) तदा स्थविरा ग्राहयन्ति यत्नेन ॥ १ ॥ वैराग्यकथा

प्रत सूत्रांक [सू.]

दीप अनुक्रम [२३]

विंसयाण य णिंदा उट्ठणिसियणे गुत्ता चुक्कखलिए य बहुसो सरोसमिव तज्जए तरुणा ॥ २ ॥ सरोसं तज्जिज्जइ वरं विप्परिणमंतो,–'धम्मकहा पाढिंति व, कयकज्जा वा से धम्ममक्खंति–मा हण परंपि लोयं अणुव्वया दिक्ख णो तुज्झं ॥ १ ॥ सन्निति दारं ॥ एवं पन्नविओ जाहे नेच्छइ ताहे–'संनि खरकंमिया वा भेसिंति, कओ इहेस संविग्गो? ।निवसट्ठे वा दिक्खिओं एएहिं अनाएँ पडिसेहो ॥ १ ॥ सण्णी–सावओ खरकंमिओ अहभद्दओ वा पुवगमिओ तं भेसेइ–कओ एस तुज्झ मज्झे नपुंसओ ?, सिग्घं नासउ, मा णं ववरोवेहामोत्ति, साहुणोवि तं नपुंसगं वयंति–हरे एस अणारिओ मा ववरोविज्जिहिसि, सिग्घं नस्ससु, जइ नट्ठो लट्ठं, अह कथाइ सो रायउलं उवट्ठावेज्जा– एए ममं दिक्खिऊण धाडंति एवं, सो य ववहारं करेज्जा 'अन्नाए' इति जइ रायउलेणं ण णाओ एएहिं चेव दिक्खिओ अन्ने वा जाणंतया नत्थि ताहे भणइ–

---

१ विषयाणां च निन्दा, उत्थाननिषीदने गुप्ताः, स्खलिते च बहुशः सरोषमिव तर्जयन्ति तरुणाः ॥ २ ॥ सरोषं तर्ज्यते वरं विपरिणमन्–'धर्मकथाः पाठयन्ति वा, कृतकार्या वा तस्मै धर्ममाख्यान्ति–मा जहि परमपि लोकं अनुव्रतानि दीक्षा न तव ॥ १ ॥ संज्ञीति द्वारं ॥ एवं प्रज्ञापितो यदा नेच्छति तदा संज्ञिनः खरकर्मिका वा भापयन्ति, कुत इहैष संविग्नः ? नृपशिष्टे दीक्षित्वा वा एतैरज्ञाते प्रतिषेधः ॥ १ ॥ संज्ञी–श्रावकः खरकर्मिको यथाभद्रको वा पूर्वज्ञापितस्तं भापयति–कुत एष युष्माकं मध्ये नपुंसकः ?, शीघ्रं नश्यतु, मा तं व्यपरोपिषं, साधवोऽपि तं नपुंसकं वदन्ति–हंहो मैषोऽनार्यो व्यपरोपीदिति शीघ्रं नश्य, यदि नष्टो लष्टं, अथ कदाचित् स राजकुलमुपतिष्ठेत–एते मां दीक्षयित्वा निर्धाटयन्ति एवं, स च व्यवहारं कारयेत्, अज्ञात इति यदि राजकुलेन न ज्ञातमेतैरेव दीक्षितोऽन्ये वा ज्ञायका न सन्ति तदा भणन्ति– ॥६२७॥

प्रत सूत्रांक [सू.]

दीप अनुक्रम [२३]

ने एस समणो पेच्छह से नेवत्थं चोलपट्टकाइ, किं अम्ह एरिसं नेवत्थंति ?, अह तेण पुवं चेव ताणि नेच्छियाणि ताहे भण्णइ–एस सयंगिहीयलिंगी, ताहे सो भणइ—

अज्झाविओ मि एएहिं चेव पडिसेहो, किंचऽहीतं ?, तो । छलियकहाइं कहइ कत्थ जई कत्थ छलियाइं ? ॥ १४ ॥
पुव्वावरसंजुत्तं वेरग्गकरं सतंतमविरुद्धं । पोराणमद्धमागहभासानिययं हवइ सुत्तं ॥ १५ ॥
जे सुत्तगुणा वुत्ता तव्विवरीयाणि गाहए पुव्विं । निच्छिण्णकारणाणं सा चेव विगिंचणे जयणा ॥ १६ ॥

गाथात्रयं सूत्रसिद्धं, अह कयाइं सो बहुसयणो रायवल्लहो वा न सक्कइ विगिंचिउं तत्थ इमा जयणा—

कावालिए सरक्खे तव्वण्णियवसहलिंगरूवेणं । वेडुंबगपव्वइए कायव्व विहीऍ वोसिरणं ॥ १७ ॥

व्याख्या—‘कावालिए’त्ति वृथाभागीत्यर्थः, कापालिकलिङ्गरूपेण तेन सह भवति, ‘सरक्खो’त्ति सरजस्कलिङ्गरूपेण, भौतलिङ्गरूपेणेत्यर्थः, ‘तवण्णिए’त्ति रक्तपट्टलिङ्गरूपेण इत्थं ‘वेडुंबगपवइए’ नरेन्द्रादिविशिष्टकुलोद्गतो वेडुम्बगो भण्यते, तस्मिन् प्रव्रजिते सति कर्तव्यं ‘विधिना’ उक्तलक्षणेन ‘व्युत्सृजनं’ परित्याग इति गाथार्थः ॥ १७ ॥ भावार्थस्त्वयं—

---

१ नैष श्रमणः प्रेक्षध्वं तस्य नेपथ्यं चोलपट्टकादि, किमस्माकमीदृशं नेपथ्यमिति ?, अथ तेन पूर्वमेव तानि नेष्टानि तदा भण्यते–एष स्वयंगृहीतलिङ्गः, तदा स भणति–अध्यापितोऽस्म्येतैरेव प्रतिषेधः, किं चाधीतं?, ततः छलितकथादि कथयति क यतिः क (च) छलितादि? ॥ १ ॥ पूर्वापरसंयुक्तं वैराग्यकरं स्वतन्त्रमविरुद्धम् । पौराणमर्धमागधभाषानियतं भवति सूत्रम् ॥ २ ॥ ये सूत्रगुणा उक्तास्तद्विपरीतानि ग्राहयेत् पूर्वम् । निस्तीर्णकारणानां सैव त्यागे यतना ॥ ३ ॥ अथ कदाचित् स बहुस्वजनो राजवल्लभो वा न शक्यते विवेक्तुं तत्रैषा यतना.

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्ति:

प्रत
सूत्रांक
[सू.]

दीप
अनुक्रम
[२३]

निववल्लभबहुपक्खंमि वावि तरुणवसहामिणं बेंति । भिन्नकहाओ भट्ठाण् घडइ इह वच परतित्थी ॥ १८ ॥
तुमए समगं आमंति निग्गओ भिक्खमाइलक्खेणं । नासइ भिक्खुकमाइसु छोढूण तओवि विपलाइ ॥ १९ ॥

गाथाद्वयं निगदसिद्धं, ऐसा नपुंसगविगिंचणा भणिया, इयाणिं जड्डवत्तवया—

तिविहो य होइ जड्डो भासा सरीरे य करणजड्डो य । भासाजड्डो तिविहो जलमम्मण एलमूओ य ॥ २० ॥

व्याख्या—तत्थ जलमूयओ जहा जले बुड्डो भासमाणो बुडुबुडेइ, न से किंचिवि परियच्छिज्जइ एरिसो जस्स सद्दो सो जलमूओ, एलओ जहा बुबुएइ एलगमूओ, मम्मणो जस्स वायाउ खंचिज्जइ, एसो कयाइ पव्वावेज्जा मेहावित्तिकाउं जलमूयएलमूया न कप्पंति पव्वावेउं, किं कारणं ?—

दंसणनाणचरित्ते तवे य समिईसु करणजोए य । उवदिट्ठंपि न गेण्हइ जलमूओ एलमूओ य ॥ २१ ॥
णाणायट्ठा दिक्खा भासाजड्डो अपच्चलो तस्स । सो य बहिरो य नियमा गाहण उड्डाह अहिगरणे ॥ २२ ॥
तिविहो सरीरजड्डो पंथे भिक्खे य होइ वंदणए । एएहिं कारणेहिं जड्डस्स न कप्पई दिक्खा ॥ २३ ॥
अद्धाणे पलिमंथो भिक्खायरियाए अपरिहत्थो य । दोसा सरीरजड्डे गच्छे पुण सो अणुण्णाओ ॥ २४ ॥

गाथाचतुष्कं सूत्रसिद्धं, कारणंतरेण तत्थ य अण्णेवि इमे भवे दोसा,—

॥६२८॥

१ एष नपुंसकविवेको भणितः, इदानीं जड्डवक्तव्यता–तत्र जलमूको यथा जले बूडितो भाषमाणः बूडबूडायते, न तस्य किञ्चिदपि परीक्ष्यते ईदृशो यस्य शब्दः स जलमूकः, एडको यथा बुबूयते एडकमूकः, मन्मनो यस्य वाचः स्खलन्ति, एष कदाचित् प्रव्राज्यते मेधावीतिकृत्वा, जलमूलैडकमूकौ न कल्प्येते प्रव्राजयितुं, किं कारणम्?– कारणान्तरेण तत्र चान्येऽपीमे भवेयुर्दोषाः

प्रत सूत्रांक [सू.]

दीप अनुक्रम [२३]

उद्धुस्सासो अपरक्कमो य गेलन्नलाघवग्गिअहिउदए । जड्डुस्स य आगाढे गेलण्ण असमाहिमरणं च ॥ २५ ॥
सेएण कक्खमाई कुच्छे ण धुवणुप्पिलावणा पाणा । नत्थि गलओ य चोरो निंदिय मुंडाइवाए य ॥ २६ ॥
इरियासमिई भासेसणा य आयाणसमिइगुत्तीसु । नवि ठाइ चरणकरणे कम्मुदएणं करणजड्डो ॥ २७ ॥
एसोवि न दिक्खिज्जइ उस्सग्गेणमह दिक्खिओ होज्जा । कारणगएण केणइ तत्थ विहिं उवरि वोच्छामि ॥ २८ ॥

गाथाचतुष्कं निगदसिद्धं, तत्थ जो सो मम्मणो सो पव्वाविज्जइ, तत्थ विही भण्णइ—

मोत्तुं गिलाणकज्जं दुम्मेहं पडियरइ जाव छम्मासा । एक्केके छम्मासा जस्स व दट्ठुं विगिंचणया ॥ २९ ॥

एक्केकेसु कुले गणे संघे छम्मासा पडिचरिज्जइ, जस्स व दट्ठुं विगिंचणया जड्डुत्तणस्स भवइ तस्सेव सो अहवा जस्सेव दट्ठुं लट्ठो भवइ तस्स सो होइ न होइ तओ विगिंचणया, सरीरजड्डो जावज्जीवंपि परियरिज्जइ—

जो पुण करणे जड्डो उक्कोसं तस्स होंति छम्मासा । कुलगणसंघनिवेयण एवं तु विहिं तहिं कुज्जा ॥ ३० ॥

इयं प्रकटार्थैव, एसा सचित्तमणुयसंजयविगिंचणया, इयाणिं अचित्तसंजयाणं पारिट्ठावणविही भण्णइ, ते पुण एवं होज्जा—

आसुक्कारगिलाणे पच्चक्खाए व आणुपुव्वीए । अचित्तसंजयाणं वोच्छामि विहीइ वोसिरणं ॥ ३१ ॥

---

१ तत्र यः स मन्मनः स प्रव्राज्यते, तत्र विधिर्भण्यते–एकैकेषु कुले गणे सङ्घे षण्मासान् परिचर्यते 'यस्य वा दृष्ट्वा विवेकः जड्ड (मूक) त्वस्य भवति तस्यैव सः, अथवा यस्यैव दृष्ट्वा लष्टो भवति तस्य स (आभाव्यो) भवति न भवति विवेकः, शरीरजड्डो यावज्जीवमपि परिचर्यते । एषा सचित्तमनुष्यसंयतविवेचना, इदानीमचित्तसंयतानां पारिष्ठापनविधिर्भण्यते, ते पुनरेवं भवेयुः–

प्रत सूत्रांक [सू.]

दीप अनुक्रम [२३]

॥६२९॥

व्याख्या—करणं–कारः, अचित्तीकरणं गृह्यते, आशु–शीघ्रं कार आशुकारः, तद्धेतुत्वादहिविषविशूचिकादयो गृह्यन्ते, तैर्यः खल्वचित्तीभूतः, 'गिलाणे'त्ति ग्लानः–मन्दश्च सन् य इति, 'प्रत्याख्याते वाऽऽनुपूर्व्या' करणशरीरपरिकर्मकरणानुक्रमेण भक्ते वा प्रत्याख्याते सति योऽचित्तीभूत इति भावार्थः, एतेषामचित्तसंयतानां 'वक्ष्ये' अभिधास्ये 'विधिना' जिनोक्तेन प्रकारेण 'व्युत्सृजनं' परित्यागमिति गाथार्थः ॥ ३१ ॥

एव य कालगयंमी मुणिणा सुत्तत्थगहियसारेणं । न हु कायव्व विसाओ कायव्व विहीइ वोसिरणं ॥ ३२ ॥

व्याख्या—'एवं च' एतेन प्रकारेण 'कालगते' साधौ मृते सति 'मुनिना' अन्येन साधुना, किम्भूतेन ?–'सूत्रार्थगृहीतसारेण' गीतार्थेनेत्यर्थः, 'नहु' नैव कर्तव्यः 'विषादः' स्नेहादिसमुत्थः सम्मोह इत्यर्थः, कर्तव्यं किन्तु 'विधिना' प्रवचनोक्तेन प्रकारेण 'व्युत्सृजनं' परित्यागरूपमिति गाथार्थः ॥ ३२ ॥ अधुनाऽधिकृतविधिप्रतिपादनाय द्वारगाथाद्वयमाह निर्युक्तिकारः—

पडिलेहणा दिसा णंतए य काले दिया य राओ य। कुसपडिमा पाणगणियत्तणे य तणसीसउवगरणे ॥१२७२॥
उट्ठाणणामगहणे पयाहिणे काउसग्गकरणे य । खमणे य असज्झाए तत्तो अवलोयणे चेव ॥१२७३॥ दारं ॥

व्याख्या—'पडिलेहण'त्ति प्रत्युपेक्षणा महास्थाण्डिल्यस्य कार्या 'दिस'त्ति दिग्विभागनिरूपणा च 'णंतए य'त्ति गच्छमपेक्ष्य सदौपग्रहिकं नन्तकं–मृताच्छादनसमर्थं वस्त्रं धारणीयं, जातिपरश्च निर्देशोऽयं, यतो जघन्यतस्त्रीणि धारणीयानि, चशब्दात्तथाविधं काष्ठं च ग्राह्यं, 'काले दिया य राओ य'त्ति काले दिवा च रात्रौ मृते सति यथोचितं लाञ्छनादि कर्तव्यं ॥६२३॥

अथ प्रतिलेखना, दिशा इत्यादि १६ द्वारानाम् वर्णनं क्रियते

प्रत सूत्रांक [सू.]

दीप अनुक्रम [२३]

कुसपडिम'त्ति नक्षत्राण्यालोच्य कुशपडिमाद्वयमेकं वा कार्यं न वेति 'पाणगि'त्ति उपघातरक्षार्थं पानकं गृह्यते, 'नियत्तणे य'त्ति कथञ्चित्स्थाण्डिल्यातिक्रमे भ्रमित्वाऽऽगन्तव्यं न तेनैव पथा, 'तणे'त्ति समानि तृणानि दातव्यानि, 'सीसं'ति ग्रामं यतः शिरः कार्यं 'उवगरणे'त्ति चिह्नार्थं रजोहरणाद्युपकरणं मुच्यते, गाथासमासार्थः ॥१२७२॥ 'उट्ठाणे'त्ति उत्थाने सति शवस्य ग्रामत्यागादि कार्यं 'णामग्गहणे'त्ति यदि कस्यचित् सर्वेषां वा नाम गृह्णाति ततो लोचादि कार्यं 'पयाहिणे' त्ति परिस्थाप्य प्रदक्षिणा न कार्या, स्वस्थानादेव निवर्तितव्यं, 'काउसग्गकरणे'त्ति परिस्थापिते वसतौ आगम्य कायोत्सर्गकरणं चासेवनीयं 'खमणे य असज्झाए' रत्नाधिकादौ मृते क्षपणं चास्वाध्यायश्च कार्यः, न सर्वस्मिन्, 'तत्तो अवलोयणे चेव' ततोऽन्यदिने परिज्ञानार्थमवलोकनं च कार्यं, गाथासमासार्थः ॥१२७३॥ अधुना प्रतिद्वारमवयवार्थः प्रतिपाद्यते, तत्राऽऽद्यद्वारावयवार्थाभिधित्सयाऽऽह—

जहियं तु मासकप्पं वासावासं च संवसे साहू । गीयत्था पढमं चिय तत्थ महाथंडिले पेहे ॥ १ ॥ (प्र०) ॥

व्याख्या—'यत्रैव' ग्रामादौ मासकल्पं 'वासावासं च' वर्षाकल्पं संवसन्ति 'साधवः' गीतार्थाः प्रथममेव तत्र 'महास्थाण्डिल्यानि' मृतोज्झनस्थानानि 'पेहे'त्ति प्रत्युपेक्षेत त्रीणि, एष विधिरित्ययं गाथार्थः ॥ इयं चान्यकर्तृकी गाथा, दिग्द्वारनिरूपणायाह—

दिसा अवरदक्खिणा दक्खिणा य अवरा य दक्खिणा पुव्वा । अवरुत्तरा य पुव्वा उत्तरपुव्वुत्तरा चेव ॥ २३ ॥

पउरन्नपाणपढमा बीयाए भत्तपाण ण लहंति । तइयाएँ उवहीमाई नत्थि चउत्थीएँ सज्झाओ ॥ ३४ ॥

पंचमियाएँ असंखडि छट्ठीए गणविभेयणं जाण । सत्तमिए गेलन्नं मरणं पुण अट्ठमी बिंति ॥ ३५ ॥

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्ति:

प्रत सूत्रांक [सू.]

दीप अनुक्रम [२३]

आवश्यक-हारिभद्रीया ॥६३०॥

४ प्रतिक्रम० णाध्य० परिस्थाप० निका०

ईमीणं वक्खाणं—अवरदक्खिणाए दिसाए महाथंडिलं पेहियवं, एतीसे इमे गुणा भवंति—भत्तपाणउवगरणसमाही भवइ, एयाए दिसाए तिण्णि महाथंडिल्लाणि पडिलेहिज्जंति, तंजहा—आसण्णे मज्झे दूरे, किं कारणं तिण्णि पडिलेहिज्जंति ?, वाघाओ होज्जा, खेत्तं किट्ठं, उदएण वा पलावियं, हरियकाओ वा जाओ, पाणेहिं वा संसत्तं, गामो वा निविट्ठो सत्थो वा आवासिओ, पढमदिसाए विज्जमाणीए जइ दक्खिणदिसाए पडिलेहिंति तो इमे दोसा—भत्तपाणे न लहंति, अलहंते संजमविराहणं पावंति, एसणं वा पेल्लंति, जं वा भिक्खं अलभमाणा मासकप्पं भंजंति, वच्चंताण य पंथे विराहणा दुविहा-संजमायाए तं पावेंति, तम्हा पढमा पडिलेहेयव्वा, जया पुण पढमाए असई वाघाओ वा उदगं तेणा वाला तया बिइया पडिलेहिज्जति, बिइयाए विज्जमाणीए जइ तइयं पडिलेहेइ तो उवगरणं न लहंति, तेण विणा जं पावंति, चउत्था दक्खिणपुव्वा तत्थ पुण सज्झायं न कुणंति, पंचमीया अवरुत्तरा, एताए कलहो संजयगिहत्थअण्णउत्थेहिं सद्धिं, तत्थ उड्डाहो

१ आसां व्याख्यानं—अपरदक्षिणस्यां दिशि महास्थण्डिलं प्रत्युपेक्षितव्यं, अस्या इमे गुणाः भवन्ति—भक्तपानोपकरणसमाधिर्भवति, एतस्यां दिशि त्रीणि स्थण्डिलानि प्रतिलिख्यन्ते, तद्यथा—आसन्ने मध्ये दूरे, किं कारणं त्रीणि स्थण्डिलानि प्रतिलिख्यन्ते ?, व्याघातो भवेत् क्षेत्रं वा कृष्टं उदकेन वा प्लावितं हरितकायो वा जातः प्राणिभिर्वा संसक्तं ग्रामो वोषितः सार्थो वाऽऽवासितः, प्रथमदिशि विद्यमानायां यदि दक्षिणदिशि प्रतिलिखन्ति तदेमे दोषाः—भक्तपानं न लभन्ते, अलभमाने संयमविराधनां प्राप्नुवन्ति एषणां वा प्रेरयन्ति, यद्वा भिक्षामलभमाना मासकल्पं भञ्जन्ति व्रजतां च पथि विराधना द्विविधा—संयमस्यात्मनः तां प्राप्नुवन्ति, तस्मात् प्रथमा प्रतिलेखितव्या, यदा पुनः प्रथमायामसत्यां व्याघातो वा उदकं स्तेना व्यालाः तदा द्वितीया प्रतिलिख्यते, द्वितीयस्यां विद्यमानायां यदि तृतीयां प्रतिलिखति तदोपकरणं न लभन्ते, तेन विना यत् प्राप्नुवन्ति, चतुर्थी दक्षिणपूर्वा तत्र पुनः स्वाध्यायं न कुर्वन्ति, पञ्चमी अपरोत्तरा, एतस्यां कलहः संयतगृहस्थान्यतीर्थिकैः सार्धं, तत्रोड्डाहः

॥६३०॥

प्रत सूत्रांक [सू.]

दीप अनुक्रम [२३]

विंराहणा य, छट्ठी पुव्वा, ताए गणभेओ चारित्तभेओ वा, सत्तमिया उत्तरा, तत्थ गेलण्णं जं च परियावणाइ, पुव्वुत्तरा अण्णंपि मारेति, एए दोसा तम्हा पढमाए दिसाए पडिलेहेयव्वं, तीए असइ बिइयाए पडिलेहेयव्वं, तीए सो चेव गुणो जो पढमाए, बिइयाए विज्जमाणीए जइ तइयाए पडिलेहेइ सो चेव दोसो जो तइयाए, एवं जाव चरिमाए पडिलेहे-माणस्स जो चरिमाए दोसो सो भवइ, बिइयाए दिसाए अविज्जमाणीए तइयाए दिसाए पडिलेहेयव्वं, तीए सो चेव गुणो जो पढमाए, तइयाए दिसाए विज्जमाणीए जइ चउत्थं पडिलेहेइ सो चेव दोसो जो चउत्थीए, एवं जाव चरिमाए दोसो सो भवइ, एवं सेसाओवि दिसाओ नेयव्वाओ । दिसित्ति बिइयं दारं गयं, इयाणिं 'णंतए'त्ति, वित्थारायामेणं जं पमाणं भणियं तओ वित्थारेणवि आयामेणवि जं अइरेगं लहइ चोक्खसुइयं सेयं च जत्थ मलो नत्थि चित्तलं वा न भवइ सुइयं सुगंधि ताणि गच्छे जीविउवक्कमणनिमित्तं धारेयव्वाणि जहन्नेण तिन्नि, एगं पत्थरिज्जइ एगेण पाउणीओ बज्झंति, तइयं

१ विराधना च, षष्ठी पूर्वा, तस्यां गणभेदश्चारित्रभेदो वा, सप्तम्युत्तरा, तत्र ग्लानत्वं यच्च परितापनादि, पूर्वोत्तराऽन्यमपि मारयति, एते दोषास्तस्मात् प्रथमायां दिशि प्रतिलेखितव्यं, तस्यामसत्यां द्वितीयस्यां प्रतिलेखितव्यं, तस्यां स एव गुणो यः प्रथमायां, द्वितीयस्यां विद्यमानायां यदि तृतीयस्यां प्रतिलि-खति स एव दोषो यस्तृतीयस्यां, एवं यावच्चरमायां प्रतिलिखतो यश्चरमायां दोषः स भवति, द्वितीयायां दिशि अविद्यमानायां तृतीयस्यां दिशि प्रतिलेखि-तव्यं, तस्यां स एव गुणो यः प्रथमायां, तृतीयस्यां दिशि विद्यमानायां यदि चतुर्थीं प्रतिलिखति स एव दोषो यश्चतुर्थ्यां, एवं यावच्चरमायां दोषः स भवति, एवं शेषा अपि दिशो नेतव्याः, दिगिति द्वितीयं द्वारं गतं । इदानीमनन्तकमिति–विस्तारायामाभ्यां यत्प्रमाणं भणितं ततो विस्तारेणापि आयामेनापि यदतिरेकवत् लभते चोक्षं शुचि श्वेतं च यत्र मलो नास्ति चित्रयुक्तानि वा न भवन्ति शुचीनि सुगन्धीनि तानि गच्छे जीवितोपक्रमनिमित्तं धारयितव्यानि जघन्येन त्रीणि, एकं प्रस्तीर्यते एकेन प्रावृतो बध्यते तृतीय–

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्ति:

प्रत सूत्रांक [सू.]

दीप अनुक्रम [२३]

आवश्यक-हारिभ-द्रीया ॥६३१॥

उंवरिं पाउणिज्जंति, एयाणि तिण्णि जहण्णेण उक्कोसेण गच्छं णाऊण बहुयाणवि घिप्पंति, जइ ण गेण्हइ पच्छित्तं पावेइ, आणा विराहणा दुविहा, मइलकुचेले णिज्जंते दट्ठुं लोगो भणइ—इहलोए चेव एसा अवत्था परलोए पावतरिया, चोक्खुसुइएहिं पसंसति लोओ—अहो लट्ठो धम्मोत्ति पव्वज्जमुवगच्छंति सावयधम्मं पडिवज्जंति, अहवा णत्थि णंतयंति रयणीए नीणेहामित्ति अच्छावेइ तत्थ उट्ठाणाई दोसो, तत्थ विराहणा णामं कस्सइ गिण्हेज्जा तत्थ विराहणा, तम्हा घेत्तव्वाणि णंतयाणि, ताणि पुण वसहा सारवेंति, पक्खियचाउम्मासियसंवच्छरिए पडिलेहिज्जंति, इहरहा मइलिज्जंति दिवसे दिवसे पडिलेहिज्जंताणि, एत्थ गाहा—

पुव्वं दव्वालोयण पुव्विं गहणं च णंतकट्ठस्स । गच्छंमि एस कप्पो अनिमित्ते होउवक्कमणं ॥ ३६ ॥

इमीसे अक्खरगमणिया—पुव्वं ठायंता चेव तणडगलछाराइ दव्वमालोएंति, पुव्विं गहणं च कट्ठस्स तत्थ अन्नत्थ वा, तत्थ कट्ठस्स गहणे को विही ? वसहीए ठायंतओ चेव सागारियसंतयं वहणकट्ठं पलोएंति, किंनिमित्तं वहणकट्ठं अवलोइज्जइ ?,

४ प्रतिक्रमणाध्य० अचित्तसंयतमनुष्यपारि०

॥६३१॥

---

१ मुपरि प्राव्रियते (प्रावार्यते), एतानि त्रीणि जघन्येन उत्कर्षेण गच्छं ज्ञात्वा बहुकान्यपि गृह्यन्ते, यदि न गृह्णाति प्रायश्चित्तं प्राप्नोति—आज्ञा विराधना द्विविधा, मलिनकुचेलान् नीयमानान् दृष्ट्वा लोको भणति—इहलोक एवैषाऽवस्था परलोके पापतरा, शुचिचोक्षैः प्रशंसति लोकः—अहो लष्टो धर्म इति प्रव्रज्यामुपगच्छन्ति श्रावकधर्मं प्रतिपद्यन्ते, अथवा नास्त्यनन्तकमिति रजन्यां नेष्यामीति स्थापयति तत्रोत्थानादिर्दोषः, तत्र विराधना नाम कश्चिद्गृह्णीयात् तत्र विराधना, तस्माद् ग्रहीतव्यान्यनन्तकानि, तानि पुनर्वृषभा रक्षन्ति, पाक्षिकचातुर्मासिकसांवत्सरिकेषु प्रतिलिख्यन्ते, इतरथा मलिनयन्ते दिवसे दिवसे प्रतिलिख्यमानानि, अत्र गाथा—अस्या अक्षरगमनिका—पूर्वं तिष्ठन्त एव तृणडगलक्षारादि द्रव्यमालोकयन्ति, पूर्वं ग्रहणं च काष्ठस्य तत्रान्यत्र वा, तत्र काष्ठस्य ग्रहणे को विधिः ?—वसतौ तिष्ठन्नेव सागारिकसत्कं वहनकाष्ठं प्रलोकयति, किं निमित्तं वहनकाष्ठं अवलोक्यते ?,.

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्ति:

प्रत सूत्रांक [सू.]

दीप अनुक्रम [२३]

कोइ अनिमित्तमरणेण कालं करेज्ज राओ ताहे जइ सागारियं वहणकट्ठं अणुण्णवणट्ठाए तं उट्ठवेंति ता 'आउज्जोओ' आउज्जोयणाई अहिगरणदोसो तम्हा उ न उट्ठवेयव्वो, जइ एगो साहू समत्थो तं नीणेउं ताहे कट्ठं न घेप्पइ, अह न तरइ तो जत्तिया सक्केइ तो तेण पुव्वपडिलेहिएण कट्ठेण नीणेंति, तं च कट्ठं तत्थेव जइ परिठवेंति तो अण्णेण गहिए अहिगरणं, सागारिओ वा तं अपेच्छंतो एएहिं नीणियंति पदुट्ठो वोच्छेयं कडगमद्दाई करेज्जा तम्हा आणेयव्वं, जइ पुण आणेत्ता तहेव पवेसंति तो सागारिओ दट्ठूण मिच्छत्तं गच्छेज्जा, एए भणंति जहा अम्ह अदिण्णं न कप्पइ इमं चऽणेहिं गहियंति, अहवा भणेज्ज–समणा! पुणोवि तं चेव आणेहत्ति, अहो णेहिं हदुसरक्खावि जिया, दुगुंछेज्जमयगं वहिऊण मम घरं आणेन्ति उड्डाहं करेज्जा वोच्छेयं वा करेज्जा, जम्हा एए दोसा तम्हा आणेत्ता एक्को तं घेत्तूण बाहिं अच्छंति, सेसा अइन्ति, जइ ताव सागारिओ ण उट्ठेइ ताहे आणित्ता तहेव ठवेंति जह आसी, अह उट्ठिओ ताहे साहेंति–तुब्भे पासुत्तेल्लया

१ कश्चिदनिमित्तमरणेन कालं कुर्यात् रात्रौ तदा यदि सागारिकं वहनकाष्ठस्य अनुज्ञापनाय समुत्थापयन्ति तदा 'अप्कायोद्योतौ' अप्कायोद्योतादयोऽधिकरणदोषास्तस्मान्नोत्थापयितव्यः, यद्येकः साधुः समर्थस्तं नेतुं तदा काष्ठं न गृह्यते, अथ न शक्नोति तदा यावन्तः शक्नुवन्ति ततः तेन पूर्वप्रतिलिखितेन काष्ठेन नयन्ति, तच्च काष्ठं तत्रैव यदि परिष्ठापयन्ति ततोऽन्येन गृहीतेऽधिकरणं, सागारिको वा तदपश्यन् एतैर्नीतमिति प्रद्विष्टो व्युच्छेदं कटकमर्दादि कुर्यात् तस्मादानेतव्यं, यदि पुनरानीय तथैव प्रवेशयन्ति तदा सागारिको दृष्ट्वा मिथ्यात्वं गच्छेत्, एते भणन्ति यथाऽस्माकमदत्तं न कल्पते इदं चैभिर्गृहीतमिति, अथवा भणेत्–श्रमणाः! पुनरपि तदेवानयतेति, अहो अमीभिर्विट्सरजस्का अपि जिताः, जुगुप्सनीयमृतकं वहित्वा मम गृहमानयन्तीत्युड्डाहं कुर्यात् व्युच्छेदं वा कुर्यात्, यस्मादेते दोषास्तस्मादानीय एकस्तद्गृहीत्वा बहिस्तिष्ठति, शेषा आयान्ति, यदि तावत्सागारिको नोत्तिष्ठति (नोत्थितः) तदाऽऽनीय तथैव स्थापयन्ति यथाऽऽसीत्, अथोत्थितस्तदा कथयन्ति–यूयं प्रसुप्ता

प्रत सूत्रांक [सू.]

दीप अनुक्रम [२३]

आवश्यक-हारिभद्रीया ॥६३२॥

४प्रतिक्रम-णाध्य० अचित्तसं-यतमनु-ष्यपारि०

अम्हेंहिं न उट्ठविया, रत्तिं चेव कालगओ साहू, सो तुब्भच्चयाए वहणीए णीणिओ, सा किं परिठविज्जउ आणिज्जउ ?, जं सो भणइ तं कीरइ, अह तेहिं अजाणिज्जंतेहिं ठविए पच्छा सागारिएण णायं जहा एएहिं एयाए वहणीए परिट्ठविउं परिट्ठवियन्ति, तत्थ उद्धरुट्ठो अणुणेयव्वो, आयरिया कइयवेण पुच्छंति–केणइ कयं ?, अमुएणंति, किं पुण अणापुच्छाए करेसि ?, सो सागारियपुरओ अंबाडेऊण निच्छुब्भइ कइयवेण, जइ सागारिओ भणइ–मा निच्छुब्भउ, मा पुणो एवं कुज्जा, तो लट्ठं, अह भणइ–मा अच्छउ पच्छा सो अण्णाए वसहीए ठाइ, बितिज्जिओ से दिज्जउ, माइट्ठाणेण कोइ साहू भणइ–मम एस नियओ जइ निच्छुब्भइ तो अहंपि गच्छामि, अहवा सागारिएणं समं कोइ कलहेइ, सोवि निच्छुब्भइ, सो से बितिज्जओ होइ, जइ बहिया पच्चवाओ वसही वा नत्थि ताहे सव्वे णेंति । णंतकट्ठदारं गयं इयाणिं कालेत्ति दारं, सो य दिवसओ कालं करेज्ज राओ वा—

---

१ अस्माभिर्नोत्थापिताः, रात्रावेव कालगतः साधुः, स त्वदीयया वहन्या नीतः, सा किं परिष्ठाप्यतामानीयतां (वा) ?, यत् स भणति तत् क्रियते, अथ तैरज्ञायमानैः स्थापिते पश्चात् सागारिकेण ज्ञातं यथैतैरेतया वहन्या परिष्ठाप्य परिस्थापितमिति, तत्र तीव्ररोषोऽनुनेतव्यः, आचार्याः कैतवेन पृच्छन्ति–केन कृतं ?, अमुकेनेति, किं पुनरनापृच्छया करोषि ?, स सागारिकस्य पुरतो निर्भर्त्स्य निष्काश्यते कैतवेन, यदि सागारिको भणेत्–मा निष्काशीः, मा पुनरेवं कुर्याः, तदा लष्टं, अथ भणति–मा तिष्ठतु पश्चात् सोऽन्यस्यां वसतौ तिष्ठति, द्वितीयस्तस्य दीयते, मातृस्थानेन कश्चित् साधुर्भणति–ममैष निजको यदि निष्काश्यते तदाऽहमपि गच्छामि, अथवा सागारिकेण सह कश्चित् कलहयति, सोऽपि निष्काश्यते, स तस्य द्वितीयो भवति, यदि बहिः प्रत्यपायो वसतिर्वा नास्ति तदा सर्वे निर्गच्छन्ति । अनन्तककाष्ठद्वारं गतं, इदानीं काल इति द्वारं, स च दिवसतः कालं कुर्यात् रात्रौ वा ॥६३२॥

प्रत
सूत्रांक
[सू.]

दीप
अनुक्रम
[२३]

सहसा कालगयंमी मुणिणा सुत्तत्थगहियसारेण । न विसाओ कायव्वो कायव्व विहीइ वोसिरणं ॥ ३७ ॥

सहसा कालगयंमित्ति आसुकारिणा—

जं वेलं कालगओ निक्कारण कारणे भवे निरोहो । छेयणबंधणजग्गणकाइयमत्ते य हत्थउडे ॥ ३८ ॥
अन्नाविट्ठसरीरे पंता वा देवया उ उट्ठेज्जा । काइयं डब्बहत्थेण मा उट्ठे बुज्झ गुज्झया ! ॥ ३९ ॥
वित्तासेज्ज हसेज्ज व भीमं वा अट्टहास मुंचेज्जा । अभीएणं तत्थ उ कायव्व विहीएँ वोसिरणं ॥ ४० ॥

इमीणं वक्खाणं–'जं वेलं कालगओ'त्ति जाए वेलाए कालगओ दिया वा राओ वा सो ताहे वेलाए नेयव्वो 'निक्कारण'त्ति एवं ताव निक्कारणे 'कारणे भवे निरोहो'त्ति कारणे पुणो भवे निरोहो नाम–अच्छाविज्जइ, किं च कारणं, ? रत्ति ताव आरक्खिय तेणयसावयभयाइ बारं वा ताव न उग्घाडिज्जइ महाजणणाओ वा सो तंमि गामे णयरे वा दंडिगाईहिं वा आयरिओ वा सो तंमि णयरे सड्ढेसु वा लोगविक्खाओ वा भत्तपच्चक्खाओ वा सण्णायगा वा से भणंति–जहा अम्हं अपुच्छाए ण णीणेयव्वोत्ति, अहवा तंमि लोगस्स एस ठवणा–जहा रत्तिं न नीणियव्वो, एएण कारणेणं रत्तीए ण णीणिज्जइ,

१ सहसा कालगते इत्याशुकारिणा. आसां व्याख्यानं–'यस्यां वेलायां कालगतः' इति यस्यां वेलायां कालगतो दिवा वा रात्रौ वा स तस्यां वेलायां नेतव्यः 'निष्कारण' इति एवं तावन्निष्कारणे 'कारणे भवेन्निरोधः' इति कारणे भवेत् निरोधो नाम स्थाप्यते, किं च कारणं ?, रात्रौ तावत् आरक्षकाः स्तेन श्वापदभयानि द्वारं वा तावन्नोद्घाट्यते महाजनज्ञातो वा स तस्मिन् ग्रामे नगरे वा दण्डिकादिभिर्वाऽऽदृतो वा स तस्मिन्नगरे श्राद्धेषु वा कुलेषु लोकविख्यातो वा प्रत्याख्यातभक्तो वा सज्ञातीया वा तस्य भणन्ति–यदस्माकमनापृच्छया न नेतव्य इति, अथवा तस्मिन् लोकस्यैषा स्थापना यथा रात्रौ न नेतव्यः, एतेन कारणेन रात्रौ न नीयते.

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्ति:

प्रत सूत्रांक [सू.]

दीप अनुक्रम [२३]

आवश्यक-हारिभद्रीया ॥६३३॥

४ प्रतिक्रमणाध्य० अचित्तसंयतमनुष्यपारि०

दिवसओवि चोक्खाणं णंतयाणं असईए दंडिओवा एइ नीइ वा तेण दिवसओ संविक्खाविज्जइ, एवं कारणेण निरुद्धस्स इमा विही 'छेयण बंधण' इत्यादि, जो सो मओ सो लंछिज्जइ, 'बंधण'न्ति अंगुट्ठाइ बज्झंति, संथारो वा परिठ्ठवणनिमित्तं दोरेहिं उग्गाहिज्जइ, 'जग्गण'न्ति जे सेहा बाला अपरिणया य ते ओसारिज्जंति, जे गीयत्था अभीरू जियनिद्दा उवायकुसला आसुकारिणो महाबलपरक्कमा महासत्ता दुद्धरिसा कयकरणा अप्पमाइणो एरिसा ते जागरंति, 'काइयमत्ते य'त्ति जागरंतेहिं काइयामत्तो न परिठ्ठविज्जइ 'हत्थउडे'त्ति जइ उट्ठेइ तो ताओ काइयमत्ताओ हत्थउडेणं काइयं गहाय सिंचंति, जइ पुण जागरंता अच्छिंदिय अबंधिय तं सरीरं जागरंति सुवंति वा आणाई दोसा, कहं ?–'अण्णाइट्ठसरीरे' अन्याविष्टशरीरं सामान्येन तावद् व्यन्तराधिष्ठितमाख्यायते विसेसे पुण पंता वा देवया वा उट्ठेज्जा, पंता नाम पडणीया, सा पंता देवया छलेज्जा कलेवरे पविसिउं उट्ठेज्ज वा पणच्चए वा आहाविज्ज वा, जम्हा एए दोसा तम्हा छिंदिउं बंधिउं वा

---

१ दिवसेऽपि चोक्षाणामनन्तकानामसत्त्वे दण्डिको वाऽऽयाति गच्छति वा तेन दिवसे प्रतीक्ष्यते, एवं कारणेन निरुद्धस्यैष विधिः–'छेदनबन्धने'त्यादि, यः स मृतः स लाञ्छ्यते, बन्धनमिति अङ्गुष्ठौ बध्येते, संस्तारको वा पारिष्ठापनिकीनिमित्तं दवरकैरुद्ग्राह्यते, जागरणमिति ये शैक्षा बाला अपरिणताश्च तेऽपसार्यन्ते, ये गीतार्था अभीरवो जितनिद्रा उपायकुशला आशुकारिणो महाबलपराक्रमा महासत्त्वा दुर्धर्षाः कृतकरणा अप्रमादिनः ईदृशास्ते जाग्रति, कायिकीमात्रं चेति जाग्रद्भिः कायिकीमात्रकं न परिष्ठाप्यते, हस्तपुटश्चेति यद्युत्तिष्ठति तदा ततः कायिकीमात्रकात् हस्तपुटेन कायिकीं गृहीत्वा सिञ्चन्ति, यदि पुनर्जाग्रतोऽच्छित्वाऽबद्ध्वा तत् शरीरं जाग्रति स्वपन्ति वा आज्ञादयो दोषाः, कथम् ?–'अन्याविष्टशरीरं–विशेषे पुनः प्रान्ता वा देवता वोत्तिष्ठेत्, प्रान्ता नाम प्रत्यनीका, सा प्रान्ता देवता छलेत् कलेवरे प्रविश्योत्तिष्ठेत् प्रनृत्येद्वाऽऽधावेद्वा, यस्मादेते दोषास्तस्मात् छित्त्वा बद्ध्वा वा

॥६३३॥

प्रत सूत्रांक [सू.]

दीप अनुक्रम [२३]

जागरेयव्वं, अह कयाइ जागरंताणवि उट्ठिज्जा ताहे इमा विही 'काइयं डबहत्थेणं' जो सो काइयमत्तओ ताओ काइयं-पासवणं 'डब्वेण(हत्थे)णे'ति वामहत्थेण वा, इमं च वुच्चइ-'मा उट्ठे बुज्झ गुज्झगा' मा संथाराओ उट्ठेहित्ति, बुज्झ मा पमत्तो भव, गुज्झगा इति देवा, तहा जागरंताणं जइ कहंचि इमे दोसा भवंति 'वित्तासेज्ज हसेज्ज व भीमं वा अट्टहास मुंचेज्जा' तत्थ वित्तासणं-विगरालरूवाइदरिसणं हसणं-साभावियहासं चेव भीमं बीहावणयं अट्टहासं भीसणो रोमहरिसजणणो सद्दो तं मुंचेज्ज वा, तत्थ किं कायव्वं ?-'अभीएणं' अबीहंतेणं 'तत्थ' वित्तासणाईमि 'कायव्वं' करेयव्वं विहीए पुव्वुत्ताए पडिवज्जमाणाए वा 'वोसिरणं'ति परिट्ठवणं, तत्थ जाहे एव कालगओ ताहे चेव हत्थपाया उज्जुया कज्जंति, पच्छा थद्धा न तीरंति उज्जुया करेउं, अच्छीण सेसं मीलिज्जंति, तुंडे व से मुहपोत्तियाए बज्झइ, जाणि संधाणाणि अंगुलिअंतराणं तत्थ ईसिं

---

१ जागरितव्यं, अथ कदाचित् जाग्रतामपि उत्तिष्ठेत् तदैषो विधिः-'कायिकीं वामहस्तेन' यः स कायिकीपतद्ग्रहस्तस्मात् कायिकीं-प्रश्रवणं 'डब्बेणं' वामहस्तेन वा, इदं चोच्यते-मोत्तिष्ठ बुध्यस्व गुह्यक, मा संस्तारकादुत्तिष्ठेति, बुध्यस्व मा प्रमत्तो भूः, गुह्यका इति देवाः, तथा जाग्रतां जदि कथञ्चिदिमे दोषा भवन्ति-वित्रासयेत् हसेद्वा भीमं वा अट्टहासं मुञ्चेत्, तत्र वित्रासणं-विकरालरूपादिदर्शनं हसनं-स्वाभाविकहास्यमेव भयानकं भीमं अट्टहासं भीषणो रोमहर्षजननः शब्दस्तं मुञ्चेद्वा, तत्र किं कर्तव्यं ?, अभीतेन-अबिभ्यता तत्र वित्रासने कर्त्तव्यं विधिना पूर्वोक्तेन प्रतिपाद्यमानेन व्युत्सर्जनमिति परिष्ठापनं, तत्र यदैव कालगतस्तदैव हस्तपादौ ऋजुकौ क्रियेते, पश्चात् स्तब्धौ न तीर्येते ऋजुकौ विधातुं, अक्षिभ्यः शेषं निमीलति, तुण्डे वा तस्य मुखपोतिका बध्यते, यानि संधानानि अङ्गुल्यन्तराणां तत्रेषत्

प्रत सूत्रांक [सू.]
दीप अनुक्रम [२३]

फालिज्जइ, पायंगुट्ठेसु हत्थंगुट्ठएसु य बज्झइ, आहरणमाईणि कहिज्जंति, एवं जागरंति, एसा विही कायव्वा । कालेत्ति दारं सप्पसंगं गयं, इयाणिं कुसपडिमत्ति दारं, तत्थ गाहा—

दोन्नि य दिवड्ढखेत्ते दब्भमया पुत्तला उ कायव्वा । समखेत्तंमि उ एक्को अवड्ढऽभीए ण कायव्वो ॥ ४१ ॥

द्वौ च सार्द्धक्षेत्रे, नक्षत्र इति गम्यते, दर्भमयौ पुत्तलकौ कार्यौ, समक्षेत्रे च एकः, 'अवड्ढऽभीए ण कायव्वो'त्ति उपार्द्धभोगिष्वभीचिनक्षत्रे च न कर्तव्यः पुत्तलक इति गाथाक्षरार्थः ॥ ४१ ॥ एवमन्यासामपि स्वबुद्ध्याऽक्षरगमनिका कार्या, भावार्थं तु वक्ष्यामः, प्रकृतगाथाभावार्थः–कालगए समणे णक्खत्तं पलोइज्जइ, जइ न पलोएति असमाचारी, पलोइए पणयालीसमुहुत्तेसु नक्खत्तेसु दोण्णि कज्जंति, अकरणे अन्ने दो कड्ढइ, काणि पुण पणयालीसमुहुत्ताणि ?, उच्यते—

तिण्णेव उत्तराइं पुणव्वसू रोहिणी विसाहा य । एए छ नक्खत्ता पणयालमुहुत्तसंजोगा ॥ ४२ ॥

तीसमुहुत्तेसु पुण पण्णरससु एगो कीरइ, अकरणे एगं चेव कड्ढइ, तीसमुहुत्तियाणि पुण इमाणि—

अस्सिणिकित्तियमियसिर पुस्सो मह फग्गु हत्थ चित्ता य । अणुराह मूल साढा सवणधणिट्ठा य भद्दवया ॥ ४३ ॥
तह रेवइत्ति एए पन्नरस हवंति तीसइमुहुत्ता । नक्खत्ता नायव्वा परिट्ठवणविहीय कुसलेणं ॥ ४४ ॥

---

१ पात्यते, पादाङ्गुष्ठेषु हस्ताङ्गुष्ठेषु च बध्यते, आहरणादीनि कथ्यन्ते, एवं जाग्रति, एष विधिः कर्त्तव्यः । काल इति द्वारं सप्रसङ्गं गतं, इदानीं कुशप्रतिमेति द्वारं, तत्र गाथा–कालगते श्रमणे नक्षत्रं प्रलोक्यते, यदि न प्रलोक्यतेऽसमाचारी, प्रलोकिते पञ्चचत्वारिंशन्मुहूर्त्तेषु नक्षत्रेषु द्वे क्रियेते, अकरणे अन्यौ द्वौ मारयति, कानि पुनः पञ्चचत्वारिंशन्मुहूर्त्तानि ?, त्रिंशन्मुहूर्त्तेषु पुनः पञ्चदशसु एकः क्रियते, अकरणे एकं मारयत्येव, त्रिंशन्मुहूर्त्तिकानि पुनरिमानि.

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [सू.] दीप अनुक्रम [२३]

पंनरसमुहुत्तिएसु पुण अभीइंमि य एक्कोवि न कीरइ, ताणि पुण एयाणि—

सयभिसया भरणीओ अद्दा अस्सेस साइ जेट्ठा य । एए छ नक्खत्ता पनरसमुहुत्तसंजोगा ॥ ४५ ॥

कुसपडिमत्ति दारं गयं, इयाणिं पाणयंति दारं—

सुत्तत्थतदुभयविऊ पुरओ घेत्तूण पाणय कुसे य । गच्छइ य जउड्डाहो परिट्ठवेऊण आयमणं ॥ ४६ ॥

इमाए वक्खाणं–आगमविहिण्णू मत्तएण समं असंसट्ठपाणयं कुसा य समच्छेया अवरोप्परमसंबद्धा हत्थचउरंगुलप्पमाणा घेत्तुं पुरओ (पिट्ठओ) अणवयक्खंतो गच्छइ थंडिलाभिमुहो जेण पुव्वं थंडिलं दिट्ठं, दब्भासइ केसराणि चुणाणि वा घिप्पंति, जइ सागारियं तो परिट्ठवेत्ता हत्थपाए सोएंति य आयमंति य जेहिं वूढो, आयमणग्गहणेणं जहा जहा उड्डाहो न होइ तहा तहा सूयणंति गाथार्थः ॥ ॥ इयाणिं नियत्तणित्ति दारं—

थंडिलवाघाएणं अहवावि अणिच्छिए अणाभोगा । भमिऊण उवागच्छे तेणेव पहेण न नियत्ते ॥ ४७ ॥

एवं निज्जमाणे थंडिलस्स वाघाएण, वाघाओ पुण तं उदयहरियसंमीसं होज्जा अणाभोगेण वा अनिच्छियं थंडिलं तो

---

१ पञ्चदशमुहूर्त्तिकेषु पुनरभिजिति चैकोऽपि न क्रियते, तानि पुनरेतानि । कुशप्रतिमेति द्वारं गतं, इदानीं पानीयमिति द्वारं, अस्या व्याख्यानं–आगमविधिज्ञो मात्रकेण सममसंसृष्टपानीयं कुशांश्च समच्छेदान् परस्परमसंबद्धान् हस्तचतुरङ्गुलप्रमाणान् गृहीत्वा पुरतः पृष्ठतोऽपश्यन् गच्छति स्थण्डिलाभिमुखः येन पूर्वं दृष्टं, दर्भादिष्वसत्सु केशराणि चौर्णानि वा गृह्यन्ते, यदि सागारिकं तदा परिष्ठाप्य हस्तपादयोः शौचं कुर्वन्ति आचामन्ति च यैर्व्यूढः, आचमनग्रहणेन यथा यथोड्डाहो न भवति तथा सूचनमिति । इदानीं निवर्त्तनमिति द्वारं, एवं नीयमाने स्थण्डिलस्य व्याघातेन, व्याघातः पुनस्तत् उदकहरितसंमिश्रं भवेत् अनाभोगेन वाऽनिष्टं स्थण्डिलं तदा

प्रत सूत्रांक [सू.]

दीप अनुक्रम [२३]

भमिऊण पयाहिणं अकरेंतेहिं उवागच्छियवं, जइ तेणेव मग्गेण नियत्तंति तो असमायारी, कयाइ उट्ठेज्जा, सो य जओ चेव उट्ठेइ तओ चेव पहावेइ, पच्छा जओ चेव उट्ठेइ तओ चेव पहावेइ, जओ गामो तओ पहावेज्जा, तम्हा भमिऊण जओ थंडिलं उवहारियं तत्थ गंतवं, न तेणेव पहेणं, नियत्तणित्ति दारं—

कुसमुट्ठी एगाए अवोच्छिण्णाइ एत्थ धाराए। संथारं संथरेज्जा सवत्थ समो उ कायवो ॥ ४८ ॥

व्याख्या—जाहे थंडिलं पमज्जियं भवइ ताहे कुसमुट्ठीए एगाए अवोच्छिण्णाए धाराए संथारो संथरिज्जइ, सो य सवत्थ समो कायवो, विसमंमि इमे दोसा—

विसमा जइ होज्ज तणा उवरि मज्झे व हेट्ठओ वावि। मरणं गेलण्णं वा तिण्हंपि उ निद्दिसे तत्थ ॥ ४९ ॥

उवरिं आयरियाणं मज्झे वसहाण हेट्ठि भिक्खूणं। तिण्हंपि रक्खणट्ठा सवत्थ समा उ कायवा ॥ ५० ॥

गाथाद्वयमपि पाठसिद्धं, जइ पुण तणा ण होज्जा तो इमो विही—

जत्थ य नत्थि तणाइं चुण्णेहिं तत्थ केसरेहिं वा। कायवोऽत्थ ककारो हेट्ठ तकारं च बंधेज्जा ॥ ५१ ॥

---

१ भ्रान्त्वा प्रदक्षिणमकुर्वद्भिरुपागन्तव्यं, यदि तेनैव मार्गेण निवर्तन्ते तदाऽसामाचारी, कदाचिदुत्तिष्ठेत्, स च यत्रैवोत्तिष्ठेत् तत एव प्रधावति, पश्चाद्यत एव उत्तिष्ठति तत एव प्रधावति, यतो ग्रामस्तत एव प्रधावेत्, तस्मात् भ्रान्त्वा यत्र स्थण्डिलमवधारितं तत्र गन्तव्यं, न तेनैव पथा, निवर्त्तनेति द्वारं। यदा स्थण्डिलं प्रमार्जितं भवति तदा कुशमुष्ट्यैकयाऽव्युच्छिन्नया धारया संस्तारकः संस्तीर्यते, स च सर्वत्र समः कर्त्तव्यः, विषमे इमे दोषाः। यदि पुनस्तृणानि न भवेयुस्तदैष विधिः.

प्रत सूत्रांक [सू.]

दीप अनुक्रम [२३]

व्याख्या—जत्थ तणा न विज्जंति तत्थ चुण्णेहिं नागकेसरेहिं वा अवोच्छिन्नाए धाराए ककारो कायव्वो हेट्ठा य तकारो बंधेयव्वो, असइ चुण्णाणं केसराणं वा पलेवयाईहिंवि किरइ। तणत्ति दारं गयं, इयाणिं सीसत्ति दारं, तत्थ—

जाए दिसाएँ गामो तत्तो सीसं तु होइ कायव्वं। उट्ठेंतरक्खणट्ठा एस विही से समासेणं ॥ ५२ ॥

इमीए वक्खाणं–जाए दिसाए गामो परिट्ठविज्जंतस्स तओ सीसं कायव्वं, पडिस्सयाओऽवि णीणंतेहिं पुव्वं पाया णीणेयव्वा पच्छा सीसं, किंनिमित्तं–?, 'उट्ठेंतरक्खणट्ठा' जओ उट्ठेइ तओ चेव गच्छइ सपडिहुत्ते गच्छंते अमंगलंतिकट्टु। सीसत्ति दारं, इयाणिं उवगरणेत्ति दारं—

चिण्हट्ठा उवगरणं दोसा उ भवे अचिंधकरणंमि। मिच्छत्त सो व राया व कुणइ गामाण वहकरणं ॥ ५३ ॥

इमीए वक्खाणं–परिट्ठाविज्जंते अहाजायमुवगरणं ठवेयव्वं–मुहपोत्तिया रयहरणं चोलपट्टओ य, जइ एवं न ठवेंति असमाचारी आणाविराहणा, तत्थ दिट्ठे जणेण दंडिओ सोच्चा कुविओ कोवि उद्दविओत्ति गामवहणं करेज्ज मिच्छत्तं

---

१ यत्र तृणानि न विद्यन्ते तत्र चूर्णैर्नागकेशरैर्वाऽव्युच्छिन्नया धारया ककारः कर्त्तव्यः अधस्ताच्च तकारो बद्धव्यः, असत्सु चूर्णेषु केशरेषु वा प्रलेपादिभिरपि क्रियते। तृणानीति द्वारं गतं, इदानीं शीर्षमिति द्वारं, तत्र–अस्या व्याख्यानं–यस्यां दिशि ग्रामः परिष्ठापयतस्तस्यां शीर्षं कर्त्तव्यं, प्रतिश्रयादपि नीयमानैः पूर्वं पादौ निष्काशयितव्यौ पश्चाच्छीर्षं, किंनिमित्तं ?, उत्तिष्ठतो रक्षार्थं, यत उत्तिष्ठति तत एव गच्छति सप्रतिपक्षे (परावृत्य) गच्छत्यमङ्गलमितिकृत्वा। शीर्षमिति द्वारं, इदानीमुपकरणमिति द्वारं, अस्या व्याख्यानं–परिष्ठाप्यमाने यथाजातमुपकरणं स्थाप्यं मुखवस्त्रिका रजोहरणं चोलपट्टकश्च, यद्येवं न स्थापयन्ति असामाचारी आज्ञाविराधना, तत्र दृष्टे जनेन दण्डिकः श्रुत्वा कुपितः कोऽप्युपद्रावित इति ग्रामवधं कुर्यात् मिथ्यात्वं

प्रत सूत्रांक [सू.]

दीप अनुक्रम [२३]

वा गच्छेज्ज, जहा उज्जेणयस्स तच्चण्णियलिंगेणं कालगयस्स मिच्छत्तं जायं तच्चण्णियपरिसेवणाए, पच्छा आयरिएहिं पडिबोहिओ, जस्स वा गामस्स सगासे परिट्ठविओ सो गामो कालेण पडिवइरं दवाविज्जइ दंडिएण, एए दोसा जम्हा अचिन्धकरणे। उवगरणेत्ति दारं गयं, इयाणिं उट्ठाणेत्ति दारं, तत्थ गाहाओ—

वसहि निवेसण साही गाममज्झे य गामदारे य। अंतरउज्जाणंतर निसीहिया उट्ठिए वोच्छं ॥ ५४ ॥

वसहिनिवेसणसाही गामद्धं चेव गाम मोत्तव्वो। मंडलकंडुद्देसे निसीहिया चेव रज्जं तु ॥ ५५ ॥

इमीणं वक्खाणं—कलेवरं नीणेज्जमाणं वसहीए चेव उट्ठेइ वसही मोत्तवा, निवेसणे उट्ठेइ निवेसणं मोत्तवं, निवेसणंति एगद्दारं वइपरिक्खित्तं अणेगघरं फलिहियं, साहीए उट्ठेइ साही मोत्तवा, साही घराण पंती, गाममज्झे उट्ठेइ गामद्धं मोत्तवं, गामद्दारे उट्ठेइ गामो मोत्तव्वो, गामस्स उज्जाणस्स य अंतरा उट्ठेइ मंडलं मोतवं, मंडलंति विसयमंडलं, उज्जाणे उट्ठेइ कंडं मोत्तवं, कंडंति देसखंडं मंडलाओ महल्लतरं भण्णइ, उज्जाणस्स य निसीहियाए य अंतरा उट्ठेइ देसो मोत्तव्वो,

१ वा गच्छेत्, यथोज्जयिनीकस्य तच्चण्णिक (तद्वर्णिक) लिङ्गेन कालगतस्य मिथ्यात्वं जातं तच्चनिकपरिषेवणया, पश्चादाचार्यैः प्रतिबोधितः, यस्य वा ग्रामस्य सकाशे परिष्ठापितः स ग्रामः कालेन प्रतिवैरं दाप्यते दण्डिकेन, एते दोषा यस्मादचिह्नकरणे। उपकरणमिति द्वारं गतं, इदानीमुत्थानमिति द्वारं, तत्र गाथे—अनयोर्व्याख्यानं—कलेवरं निष्काश्यमानं वसतावेवोत्तिष्ठति वसतिर्मोक्तव्या, निवेशने उत्तिष्ठति निवेशनं मोक्तव्यं निवेशनमिति एकद्वारा वृतिपरिक्षिप्ताऽनेकगृह फलहिका, पाटके उत्तिष्ठति पाटको मोक्तव्यः, पाटको (शाखा) गृहाणां पङ्क्तिः, ग्राममध्ये उत्तिष्ठति ग्रामार्धं मोक्तव्यं, ग्रामद्वारे उत्तिष्ठति ग्रामो मोक्तव्यः, ग्रामस्योद्यानस्य चान्तरोत्तिष्ठति मण्डलं मोक्तव्यं, मण्डलमिति विषयमण्डलं (देशस्य लघुतमो विभागः), उद्याने उत्तिष्ठति काण्डं (लघुतरो भागः) मोक्तव्यं, काण्डमिति देशखण्डं मण्डलाद्बृहत्तरं भण्यते, उद्यानस्य नैषेधिक्याश्चान्तरोत्तिष्ठति देशो (लघु) मोक्तव्यः.

प्रत सूत्रांक [सू.]

दीप अनुक्रम [२३]

निंसीहिय्राए उट्ठेइ रज्जं मोत्तवं, एवं ता निज्जंतस्स विही, तंमि परिठ्ठविए गीयत्था एगपासं मुहुत्तं संविक्खंति, कयावि परिठ्ठविओवि उट्ठेज्जा, तत्थ निसीहियाए जइ उट्ठेइ तत्थेव पडिओ उवस्सओ मोत्तवो, निसीहियाए उज्जाणस्स य अंतरा जइ पडइ निवेसणं मोत्तवं, उज्जाणे पडइ साही मोत्तवा, उज्जाणस्स गामस्स य अंतरा जइ पडइ गामद्धं मोत्तवं, गामदारे पडइ गामो मोत्तवो, गाममज्झे पडइ मंडलं मोत्तवं, साहीए पडइ कंडो मोत्तवो, निवेसणे पडइ देसो मोत्तवो, वसहीए पडइ रज्जं मोत्तवं, तथा चाह भाष्यकारः—

वच्चंते जो उ कमो कलेवर पवेसणंमि वोचत्थो । णवरं पुण णाणत्तं गामद्दारंमि बोद्धव्वं ॥ २०६ ॥ (भा०) ॥

अत्र विपर्यस्तक्रमेऽङ्गीकृते तुल्यतैव नानात्वं, तथा च निर्गमनेऽपि ग्रामद्वारोत्थाने ग्रामपरित्याग उक्तः, इहापि स एवेति तुल्यता, निज्जूढो जइ बिइयं वारं एत्ति दो रज्जाणि मोत्तव्वाणि, तइयाए तिण्णि रज्जाणि, तेण परं बहुसोऽवि वारे पविसंते तिण्णि चेव रज्जाणि मोत्तवाणि—

असिवाइकारणेहिं तत्थ वसंताण जस्स जो उ तवो । अभिगहियाणभिगहिओ सा तस्स उ जोगपरिवुड्ढी ॥ ५६ ॥

---

१ नैषेधिक्यामुत्तिष्ठति राज्यं मोक्तव्यं, एवं तावत् नीयमाने विधिः, तस्मिन् परिष्ठापिते गीतार्था एकपार्श्वे मुहूर्त्तं प्रतीक्षन्ते, कदाचित् परिष्ठापितोऽप्युत्तिष्ठेत्, तत्र नैषेधिक्यामुत्तिष्ठति यदि तत्रैव पतित उपाश्रयो मोक्तव्यः, नैषेधिक्या उद्यानस्य चान्तरा यदि पतति निवेशनं मोक्तव्यं, उद्याने पतति शाखा (पाटको) मोक्तव्याः, उद्यानस्य ग्रामस्य चान्तरा यदि पतति ग्रामार्धं मोक्तव्यं, ग्रामद्वारे पतति ग्रामो मोक्तव्यः, ग्राममध्ये पतति मण्डलं मोक्तव्यं, शाखायां पतति काण्डं मोक्तव्यं, निवेशने पतति देशो मोक्तव्यः, वसतौ पतति राज्यं मोक्तव्यं । निर्यूढो यदि द्वितीयमपि वारमायाति द्वे राज्ये मोक्तव्ये तृतीयस्यां त्रीणि राज्यानि, ततः परं बहुशोऽपि वारा प्रविशति त्रीण्येव राज्यानि मोक्तव्यानि.

प्रत सूत्रांक [सू.] दीप अनुक्रम [२३]

आवश्यक-हारिभ-द्रीया ॥६३७॥

इमीए वक्खाणं–जइ बहिया असिवाईहिं कारणेहिं न निग्गच्छंति ताहे तत्थेव वसंता जोगवुड्ढिं करेंति, नमोक्कारइत्ता पोरिसिं करेंति, पोरिसित्ता पुरिमड्ढं, सइ सामत्थे आयंबिलं पारेइ, असइ निव्वीयं, असमत्थो जइ तो एक्कासणयं, एवं सबिइयं, पुरिमड्ढतित्ता चउत्थं, चउत्थइत्ता छट्ठं, एवं विभासा। उट्ठाणेत्ति गयं, इयाणिं णामगहणेत्ति दारं—

गिण्हइ णामं एगस्स दोण्हमहवावि होज्ज सव्वेसिं। खिप्पं तु लोयकरणं परिण्णगणभेयबारसमं ॥ ५७ ॥

इमीए वक्खाणं–जावइयाणं णामं गेण्हइ तावइयाणं खिप्पं लोयकरणं 'परिण्णं'ति बारसमं च दिज्जइ, अतरंतस्स दसमं अट्ठमं छट्ठं चउत्थाइ वा, गणभेओ य कीरइ, ते गणाओ य णिन्ति। णामग्गहणेत्ति दारं गयं, इयाणिं पयाहिणेत्ति दारं—

जो जहियं सो तत्तो नियत्तइ पयाहिणं न कायव्वं। उट्ठाणाई दोसा विराहणा बालवुड्ढाई ॥ ५८ ॥

इमीए वक्खाणं–परिट्ठवेत्ता जो जओ सो तओ चेव नियत्तति, पयाहिणं न करेइ, जइ करिंति उट्ठेइ विराहणा बालवुड्ढाईणं, जओ सो जदहिमुहो ठविओ तओ चेव धावइ। पयाहिणेत्ति पयं गयं, इयाणिं काउस्सग्गकरणेत्ति दारं गाहा—

४ प्रतिक्रमणा० परिष्ठापनासमिति:

---

१ अस्या व्याख्यानं–यदि बहिरशिवादिभिः कारणैर्न निर्गच्छन्ति तदा तत्रैव वसन्तो योगवृद्धिं कुर्वन्ति, नमस्कारीयाः पौरुषीं कुर्वन्ति, पौरुषीयाः पुरिमार्धं, सति सामर्थ्ये आचामाम्लं पारयति, असति निर्विकृतिकं, असमर्थो यदि तदैकाशनकं, एवं सद्वितीयं, पूर्वार्धीयाश्चतुर्थं, चतुर्थीयाः षष्ठं, एवं विभाषा। उत्थानमिति गतं, इदानीं नामग्रहणमिति द्वारं,-अस्या व्याख्यानं–यावतां नाम गृह्णाति तावतां क्षिप्रं लोचकरणं 'परिज्ञा' मिति द्वादशमश्च दीयते, अशक्नुवतो दशमोऽष्टमः षष्ठः चतुर्थादिर्वा, गणभेदश्च क्रियते, ते गणाच्च निर्यान्ति। नामग्रहणमिति द्वारं गतं, इदानीं प्रदक्षिणेति द्वारं–अस्या व्याख्यानं–परिष्ठाप्य यो यत्र स तत एव निवर्त्तते प्रदक्षिणां न करोति, यदि कुर्वन्स्थुत्तिष्ठति विराधना बालवृद्धादीनां, यतः स यदभिमुखः स्थापितस्तत एव धावति। प्रदक्षिणेति पदं गतं, इदानीं कायोत्सर्गकरणमिति द्वारं गाथा.

॥६३७॥

प्रत
सूत्रांक
[सू.]

दीप
अनुक्रम
[२३]

उट्ठाणाई दोसा उ होंति तत्थेव काउसग्गंमि । आगम्मुवस्सयं गुरुसगासे विहीएँ उस्सग्गो ॥ ५९ ॥

ईमीए वक्खाणं–कोइ भणेज्जा–तत्थेव किमिति काउस्सग्गो न कीरइ?, भण्णंति–उट्ठाणाई दोसा हवंति, तओ आगम्म चेइहरं गच्छंति, चेइयाइं वंदित्ता संतिनिमित्तं अजियसंतित्थयं पढंति, तिण्णि वा थुइओ परिहायमाणाओ कड्ढिज्जंति, तओ आगंतुं आयरियसगासे अविहिपारिट्ठावणियाए काउस्सग्गो कीरइ, एतावान् वृद्धसम्प्रदायः, आयरणा पुण ओमच्छगरयहरणेण गमणागमणं किर आलोइज्जइ, तओ जाव इरिया पडिकमिज्जइ तओ चेइयाइं वंदित्तेत्यादि सिवे विही, असिवे न कीरइ, जो पडिस्सए अच्छइ सो उच्चारपासवणखेलमत्तगे विगिंचइ वसहिं पमज्जइत्ति काउस्सग्गदारं गयं, इयाणिं खमणासज्झायस्स दारा भण्णंति—

खमणे य असज्झाए राइणिय महाणिणाय नियगा वा । सेसेसु नत्थि खमणं नेव असज्झाइयं होइ ॥ ६० ॥

व्याख्या—क्षपणं अस्वाध्यायश्च जइ 'राइणिओ'त्ति आयरिओत्ति 'महाणिणाओ'त्ति महाजणणाओ नियगा वा

---

१ अस्या व्याख्यानं-कश्चिद् भणेत्–तत्रैव किमिति कायोत्सर्गो न क्रियते ?, भण्यते–उत्थानादयो दोषा भवन्ति, तत आगम्य चैत्यगृहं गच्छन्ति, चैत्यानि वन्दित्वा शान्तिनिमित्तमजितशान्तिस्तवं पठन्ति, तिस्रो वा स्तुतीः परिहीयमानाः कथयन्ति, तत आगत्याचार्यसकाशेऽविधिपरिष्ठापनिक्यै कायोत्सर्गः क्रियते, आचरणा पुनरुन्मस्तकरजोहरणेन गमनागमनं किलालोच्यते, ततो यावदीर्या प्रतिक्रम्यते ततश्चैत्यानि वन्दित्वेत्यादि शिवे विधिः, अशिवे न क्रियते, यः प्रतिश्रये तिष्ठति स उच्चारप्रश्रवणश्लेष्ममात्रकाणि शोधयति वसतिं प्रमार्जयति इति कायोत्सर्गद्वारं गतं, इदानीं क्षपणास्वाध्याययोर्द्वारे भण्येते–यदि रात्निक इति आचार्य इति महानिनाद इति महाजनज्ञातो निजका वा.

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्ति:

प्रत सूत्रांक [सू.]

दीप अनुक्रम [२३]

आवश्यक-हारिभद्रीया ॥६३८॥

४ प्रतिक्रमणा० परिष्ठापनासमितिः

सण्णायगा वा से अत्थि, तेसिं अधितित्ति कीरइ, 'सेसेसु नत्थि खमणं' सेसेसु साहुसु न कीरइ खमणं, णेव असज्झाइयं होइ, सज्झाओवि कीरइत्ति भणियं, एवं ताव सिवे, असिवे खमणं नत्थि जोगवुड्ढी कीरइ, काउस्सग्गो अविहिविगिंचणियाए ण कीरइ, पडिस्सए मुहुत्तयं संचिक्खाविज्जइ जाव उवउत्तो, तत्थ अहाजायं न कीरइ, तत्थ जेण संथारएण णीणिओ सो विकरणो कीरइ, जइ न करेंति असमाचारी पवड्ढइ, अहिगरणं आणेज्ज वा देवया पंता तम्हा विकरणो कायव्वो, खमणासज्झाइगदारा गया, अवलोयणेत्ति दारं—

अवरज्जुयस्स तत्तो सुत्तत्थविसारएहिं थिरएहिं । अवलोयण कायव्वा सुहासुहगइनिमित्तट्ठा ॥ ६१ ॥

जं दिसि विकड्ढियं खलु सरीरयं अक्खुयं तु संचिक्खे । तं दिसि सिवं वयंती सुत्तत्थविसारया धीरा ॥ ६२ ॥

एएसिं वक्खाणं–'अवरुज्ज (रज्ज) यस्स'त्ति बिइयदिणंमि अवलोयणं च कायव्वं, सुहासुहजाणणत्थं गइजाणणत्थं च, तं पुण कस्स घेप्पइ ?–आयरियस्स महिड्ढियस्स भत्तपच्चक्खाइयस्स अण्णो वा जो महातवस्सी, जं दिसं तं सरीरं कड्ढियं तं

---

१ सज्ञातीया वा तस्य सन्ति, तेषामधृतिरिति क्रियते, 'शेषेषु नास्ति क्षपणं' शेषेषु साधुषु न क्रियते क्षपणं, नैवास्वाध्यायिकं भवति, स्वाध्यायोऽपि क्रियते इति भणितं, एवं तावत् शिवे, अशिवे क्षपणं नास्ति योगवृद्धिः क्रियते, कायोत्सर्गोऽविधिपारिष्ठापनिक्यै न क्रियते, प्रतिश्रये मुहूर्त्तं प्रतीक्ष्यते यावदुपयुक्तः, तत्र यथाजातं न क्रियते, तत्र येन संस्तारकेण निष्काशितः सोऽविकल्प्यः क्रियते, यदि न कुर्वन्ति असामाचारी प्रवर्धते, अधिकरणमानयेद्वा देवता प्रान्ता, तस्माद्विकरणः कर्त्तव्यः, क्षपणास्वाध्यायद्वारे गते, अवलोकनमिति द्वारं, एतयोर्व्याख्यानं–द्वितीयदिनेऽवलोकनं च कर्त्तव्यं शुभाशुभज्ञानार्थं गतिज्ञानार्थं च, तत् पुनः कस्य गृह्यते ?, आचार्यस्य महर्धिकस्य प्रत्याख्यातभक्तस्य अन्यो वा यो महातपस्वी, यस्यां दिशि तच्छरीरकं कृष्टं

॥६३८॥

प्रत सूत्रांक [सू.]

दीप अनुक्रम [२३]

दिसं सुभिक्खं सुहविहारं च वदंति, अह तत्थेव संविक्खियं अक्खुयं ताहे तंमि देसे सिवं सुभिक्खं सुहविहारं च भवइ, जइदिवसे अच्छइ तइवरिसाणि सुभिक्खं, एयं सुहासुहं, इयाणिं ववहारओ गइं भणामि—

एत्थ य थलकरणे विमाणिओ जोइसिओ वाणमंतर समंमि । गड्डाए भवणवासी एस गई से समासेण ॥ ६३ ॥

निगदसिद्धैव, व्याख्यातं द्वारगाथाद्वयं, साम्प्रतं तस्मिन्नेव द्वारगाथाद्वितये यो विधिरुक्तः स सर्वः क्व कर्तव्यः क्व वा न कर्तव्य इति प्रतिपादयन्नाह—

एसा उ विही सव्वा कायव्वा सिवंमि जो जहिं वसइ । असिवे खमण विवड्डी काउस्सग्गं च वज्जेज्जा ॥ ६४ ॥

व्याख्या—'एसे'ति अणंतरवक्खायविही मेरा सीमा आयरणा इति एगट्ठा, 'कायव्वा' करेयव्वा तुशब्दोऽवधारणे ववहियसंबंधओ कायव्वो एवं, कंमि ? 'सिवंमि'त्ति प्रान्तदेवताकृतोपसर्गवर्जिते काले 'जो' साहू 'जहिं' खेत्ते वसइ, असिवे कहं ? असिवे खमणं विवज्जइ, किं पुण ?, जोगविवड्ढी कीरइ, 'काउस्सग्गं च वज्जेज्जा' काउस्सग्गो य न कीरइ ॥ साम्प्रतमुक्तार्थोपसंहारार्थं गाथामाह—

एसो दिसाविभागो नायव्वो दुविहदव्वहरणं च । वोसिरणं अवलोयण सुहासुहगईविसेसो य ॥ ६५ ॥

---

१ तस्यां दिशि सुभिक्षं सुखविहारश्च वदन्ति, यदि तत्रैव तत् कृष्टं अक्षुण्णं तदा तस्मिन् देशे शिवं सुभिक्षं सुखविहारश्च भवति, यतिदिवसान् तिष्ठति ततिवर्षाणि सुभिक्षं, एतत् शुभाशुभं, इदानीं व्यवहारतो गतिं भणामि–अनन्तरो व्याख्यातविधिः मर्यादा सीमा आचरणेत्येकार्थाः, कर्त्तव्या, व्यवहितः संबन्धः कर्त्तव्य एवं, कस्मिन् ?,–यः साधुर्यत्र क्षेत्रे वसति, अशिवे कथं ?–अशिवे क्षपणं विवर्ज्यते, किंपुनः ?, योगविवृद्धिः क्रियते, 'कायोत्सर्गं च वर्जयेत्' कायोत्सर्गश्च न क्रियते ।

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्ति:

प्रत सूत्रांक [सू.]

दीप अनुक्रम [२३]

आवश्यक-हारिभद्रीया ॥६३९॥

४ प्रतिक्रमणा० परिष्ठापनासमितिः

व्याख्या—'एसो' इति अणंतरदारगाहादुयस्सऽत्थो किं ?–'दिसाविभागो णायव्वो' दिसिविभागो नाम अचित्तसंजयपरिट्ठावणियविहिं पइ दिसिप्पदरिसणं संखेवेण दिसिपडिवज्जावणंति भणियं होइ, अहवा दिसिविभागो मूलदारगहणं, सेसदारोवलक्खणं चेयं दट्ठव्वं, अचित्तसंजयपारिट्ठावणियं पइ एसो दारविवेओ णायव्वोत्ति भणियं होइ, 'दुविहदव्वहरणं चे'ति दुविहदव्वं णाम पुव्वकालगहियं कुसाइ णायव्वमिति अणुवट्टए, 'वोसिरणं'ति संजयसरीरस्स परिट्ठवणं 'अवलोयणं' बिइयदिणे निरिक्खणंति 'सुहासुहगइविसेसो य'त्ति सुहासुहगतिविससो वंतराइसु उववायभेया यत्ति भणियं होइ, एसा अचित्तसंजयपारिट्ठावणिया भणिया, इयाणिं असंजयमणुस्साणं भण्णइ, तत्थ गाहा—

असंजयमणुएहिं जा सा दुविहा य आणुपुव्वीए। सचित्तेहिं सुविहिया ! अचित्तेहिं च नायव्वा ॥ ६६ ॥

इयं निगदसिद्धैव, तत्थ सचित्तेहिं भण्णइ, कहं पुण तीए संभवोत्ति ?, आह—

कप्पट्ठगरूयस्स उ वोसिरणं संजयाण वसहीए। उदयपह बहुसमागम विपज्जहालोयणं कुज्जा ॥ ६७ ॥

---

१ अनन्तरगाथाद्विकस्यार्थः, किं ?, 'दिग्विभागो ज्ञातव्यः' दिग्विभागो नामाचित्तसंयतपारिष्ठापनिकीविधिं प्रति दिक्प्रदर्शनं संक्षेपेण दिक्प्रतिपादनमिति भणितं भवति, अथवा दिग्विभाग इति मूलद्वारग्रहणं, शेषद्वारोपलक्षणं चैतत् द्रष्टव्यं, अचित्तसंयतपारिष्ठापनिकीं प्रति एष द्वारविवेको ज्ञातव्य इति भणितं भवति, द्विविधद्रव्यहरणं चेति द्विविधद्रव्यं नाम पूर्वकालगृहीतं कुशादि ज्ञातव्यमिति अनुवर्त्तते, व्युत्सर्जनमिति संयतशरीरस्य परिष्ठापनं, अवलोकनं द्वितीयदिवसे निरीक्षणमिति शुभाशुभगतिविशेषो व्यन्तरादिषूपपातभेदाश्चेति भणितं भवति। एषाऽचित्तसंयतपारिष्ठापनिकी भणिता, इदानीमसंयतमनुष्याणां भण्यते, तत्र गाथा–तत्र सचित्तैर्भण्यते, कथं पुनस्तस्याः संभव इति ?, आह.

॥६३९॥

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [सू.]

दीप अनुक्रम [२३]

व्याख्या—[1]काइ अविरइया संजयाण वसहीए कप्पट्ठगरूवं साहरेज्जा, सा तिहिं कारणेहिं छुब्भेज्जा, किं ?–एएसिं उड्डाहो भवउत्ति छुहेज्जा पडिणीययाए, काइ साहम्मिणी लिंगत्थी एएहिं मम लिंगं हरियंति एएण पडिणिवेसेण कप्पट्ठगरूवं पडियस्सयसमीवे साहरेज्जा, अहवा चरिया तव्वण्णिगिणी बोडिगिणी पाहुडिया वा मा अम्हाणं अजसो भविस्सइ तओ संजओवस्सगसमीवे ठवेज्जा एएसिं उड्डाहो होउत्ति, अणुकंपाए काइ दुकाले दारयरूवं छड्डिउंकामा चिंतेइ–एए भगवंतो सत्तहियट्ठाए उवट्ठिया, एतेसिं वसहीए साहरामि, एए सिं भत्तं पाणं वा दाहिंति, अहवा कहिंवि सेज्जायरेसु वा इयरघरेसु वा छुभिस्संति, अओ साहुवस्सए परिट्ठवेज्जा, भएण काइ य रंडा पउत्थवइया साहरेज्जा, एए अणुकंपिइहिंति, तत्थ का विही ?–दिवसे २ वसही वसहेहिं चत्तारि वारा परियंचियव्वा, पच्चुसे पओसे अवरण्हे अड्ढरत्ते, मा मा एए दोसा होहिंति, जइ विगिंचंती दिट्ठा ताहे बोलो कीरइ–एसा इत्थिया दारयरूवं छड्डेऊण पलाया, ताहे लोगो एइ पेच्छइ य तं

१ काचिदविरतिका संयतानां वसतौ कल्पस्थकरूपं संहरेत्, सा त्रिभिः कारणैः क्षिपेत्, किं ?, एतेषामुड्डाहो भवत्विति क्षिपेत् प्रत्यनीकतया, काचित् साधर्मिणी लिङ्गार्थिनी एतैर्मम लिङ्गं हृतमिति एतेन प्रतिनिवेशेन कल्पकस्थकरूपं प्रतिश्रयसमीपे संहरेत्, अथवा चरिका तद्वर्णिकी ब्राह्मणी प्राभृतिका वाऽस्माकमयशो मा भूत्ततः संयतोपाश्रयसमीपे स्थापयेत् एतेषां उड्डाहो भवत्विति, अनुकम्पया काचिद्दुष्काले दारकरूपं त्यक्तुकामा चिन्तयति–एते भगवन्तः सत्त्वहितार्थायोपस्थिताः, एतेषां वसतौ संहरामि, एतेऽस्मै भक्तं पानं वा दास्यन्ति, अथवा कुत्रचित् शय्यातरेषु वा इतरगृहेषु वा निक्षेप्स्यन्ति, अतः साधूपाश्रये परिस्थापयेत्, भयेन काचिच्च रण्डा प्रोषितपतिका संहरेत्, एतेऽनुकम्पयिष्यन्ति, तत्र को विधिः ?, दिवसे दिवसे वसतिर्वृषभैश्चतुः कृत्वः पर्येतव्या–प्रत्यूषसि प्रदोषे अपराह्णे अर्धरात्रे, मा मा एते दोषा भूवन्, यदि त्यजन्ती दृष्टा तदा रावः क्रियते–एषा स्त्री दारकरूपं त्यक्त्वा पलायिता, तदा लोक एति पृच्छति च तां.

प्रत सूत्रांक [सू.]
दीप अनुक्रम [२३]

ताहे सो लोगो जं जाणउ तं करेउ, अह न दिट्ठा ताहे विगिंचिज्जइ, उदयपहे जणो वा जत्थ पएसे पए निग्गओ अच्छइ तत्थ ठवेत्ता पडिचरइ अण्णओमुहो जहा लोगो न जाणइ जहा किंचि पडिक्खंतो अच्छइ, जहा तं सुणएण काएण वा मज्जारेण वा न मारिज्जइ, जाहे केणइ दिट्ठं ताहे सो ओसरइ । सचित्तासंजयमणुयपरिट्ठावणिया गया, इयाणिं अचित्तासंजयमणुयपरिट्ठावणिया भण्णइ—

पडिणीयसरीरछुहणे वणीमगाईसु होइ अचित्ता । तोवेक्खकालकरणं विप्पजहविगिंचणं कुज्जा ॥ ६८ ॥

व्याख्या—पडिणीओ कोइ वणीमगसरीरं छुहेज्ज जहा एएसिं उड्डाहो भवउत्ति, वणीमगो वा तत्थ गंतूण मओ, केणइ वा मारेऊण एत्थ निद्दोसंति छड्डिओ, अविरइयाए मणुस्सेण वा उक्कलंबियं होज्जा, तत्थ तहेव बोलं करेंति, लोगस्स कहिज्जइ, एसो णट्ठोत्ति, उक्कलंबिए निव्विण्णेण वारेंताणं रडंताणं मारिओ अप्पा होज्जा ताहे दिट्ठे ण कालक्खेवो कायव्वो, पडिलेहिऊण जइ कोइ नत्थि ताहे जत्थ कस्सइ निवेसणं न होइ तत्थ विगिंचिज्जइ उप्पेक्खेज्ज वा, पओसो वट्टइ संचरइ

१ तदा स लोको यज्जानातु तत्करोतु, अथ न दृष्टा तदा त्यज्यते, उदकपथे जनो वा यत्र प्रदेशे प्रगे निर्गतस्तिष्ठति तत्र स्थापयित्वा प्रतिचरति अन्यतोमुखो यथा लोको न जानाति यथा किञ्चित् प्रतीक्षमाणस्तिष्ठति, यथा तत् शुना काकेन वा मार्जारेण वा न मार्यते, यदा केनचिद्दृष्टं तदा सोऽपसरति। सचित्तासंयतमनुष्यपरिष्ठापना गता, इदानीमचित्तासंयतमनुजपरिष्ठापना भण्यते—प्रत्यनीकः कश्चित् वनीपकशरीरं क्षिपेत् यथैतेषामुड्डाहो भवत्विति, वनीपको वा तत्रागत्य मृतः, केनचिद्वा मारयित्वाऽत्र निर्दोषमिति त्यक्तः, अविरतिकया मनुष्येण वोद्बद्धं भवेत्, तत्र तथैव रवं कुर्वन्ति, लोकाय कथ्यते—एष नष्ट इति, उद्बद्धे निर्विण्णेन वारयत्सु रटत्सु मारित आत्मा भवेत् तदा दृष्टे न कालक्षेपः कर्त्तव्यः, प्रतिलिख्य यदि कोऽपि नास्ति तदा यत्र कस्यचिन्निवेशनं न भवति तत्र त्यज्यते उपेक्ष्यते वा, प्रदोषो वर्त्तते संचरति

प्रत सूत्रांक [सू.]

दीप अनुक्रम [२३]

१लोगो ताहे निस्संचरे विवेगो जहा एत्थ आएसे ण उवेक्खेयव्वो ताहे चेव विगिंचिज्जइ अइपहाए संचिक्खावेत्ता अप्पसागारिए विगिंचिज्जइ, जइ नत्थि कोइ पडियरइ, अह कोइ पडियरइ तस्सेव उवरिं छुब्भइ, एवं विप्पजहणा, विगिंचणा णामं जं तत्थ तस्स भंडोवगरणं तस्स विवेगो, जइ रुहिरं ताहे न छड्डिज्जइ, एक्कहा वा विहा वा मग्गो नज्जिहित्ति, ताहे बोलकरणविभासा। अचित्तासंजयमणुयपारिट्ठावणिया गया, इयाणिं णोमणुयपारिट्ठावणिया भण्णइ—

णोमणुएहिं जा सा तिरिएहिं सा य होइ दुविहा उ। सच्चित्तेहि सुविहिया! अच्चित्तेहिं च नायव्वा॥ ६९॥

निगदसिद्धा, दुविहंपि एगगाहाए भण्णइ—

चाउलोयगमाईहिं जलचरमाईण होइ सच्चित्ता। जलथलखहकालगए अचित्ते विगिंचणं कुज्जा॥ ७०॥

इमीए वक्खाणं–णोमणुस्सा २ सचित्ता अचित्ता य, सचित्ता चाउलोदयमाइसु, चाउलोदयगहणं जहा ओघनिज्जुत्तीए तत्थ निवुड्डओ आसि मच्छओ मंडुकलिया वा, तं घेत्तूण थेवेण पाणिएण सह निज्जइ, पाणियमंडुक्को पाणियं

---

१ लोकः तदा निस्सञ्चारे विवेको यथाऽत्रादेशो नोपेक्षितव्यस्तदैव त्यज्यते अतिप्रभाते प्रतीक्ष्याल्पसागारिके त्यज्यते, यदि नास्ति कोऽपि प्रतिचरति, अथ कोऽपि प्रतिचरति तस्यैवोपरि क्षिप्यते, एवं विप्रहानं, विवेको नाम यत्तत्र तस्य भाण्डोपकरणं तस्य त्यागः, यदि रुधिरं तदा न त्यज्यते, एकधा द्विधा वा मार्गो ज्ञास्यते इति, तदा बोलकरणविभाषा। अचित्तासंयतमनुजपारिष्ठापनिकी गता, इदानीं नोमनुजपारिष्ठापनिकी भण्यते–द्विविधमप्येकगाथया भण्यते–अस्या व्याख्यानं–नोमनुष्या० (द्विविधा) सचित्ता अचित्ता च, सचित्ता तन्दुलोदकादिषु, तन्दुलोदकग्रहणं यथा ओघनिर्युक्तौ तत्र ब्रूडित आसीत् मत्स्यो मण्डूकिका वा, तां गृहीत्वा स्तोकेन पानीयेन सह नीयते, पानीयमण्डूको जलं

प्रत
सूत्रांक
[सू.]

दीप
अनुक्रम
[२३]

आवश्यक-हारिभ-द्रीया ॥६४१॥

४ प्रतिक्र-मणा० परिष्ठाप-नासमितिः

दट्ठूण उड्डेइ, मच्छओ बला छुब्भइ, आइग्गहणेण संसट्ठपाणएण वा गोरसकुंडए वा तेल्लभायणे वा एवं सच्चित्ता, अच्चित्ता अणिमिसओ केणइ आणीओ पक्खिणा पडिणीएण वा, थलयरो उंदुरो घरकोइलो एवमाई, खहचरो हंसवायसमयूराई, जत्थ सदोसं तत्थ विवेगो अप्पसागारिए बोलकरणं वा, निद्दोसे जाहे रुच्चइ ताहे विगिंचइ । तसपाणपारिट्ठावणिया गया, इयाणिं णोतसपाणपारिट्ठावणिया भण्णइ

णोतसपाणेहिं जा सा दुविहा होइ आणुपुव्वीए । आहारंमि सुविहिआ ! नायव्वा नोअआहारे ॥ ७१ ॥

णोतस्स निगदसिद्धा, नवरं नोआहारो उवगरणाइ, तत्थ—

आहारंमि उ जा सा सा दुविहा होइ आणुपुव्वीए । जाया चेव सुविहिया ! नायव्वा तह अजाया य ॥ ७२ ॥

'आहारे' आहारविषये याऽसौ पारिस्थापनिका सा 'द्विविधा' द्विप्रकारा भवति 'आनुपूर्व्या' परिपाट्या, द्वैविध्यं दर्शयति–'जाया चेव सुविहिया ! णायव्वा तह अजाया य' तत्र दोषात् परित्यागार्हाहारविषया या सा जाता, ततश्च जाता चैव 'सुविहिता' इत्यामन्त्रणं प्राग्वत्, ज्ञातव्या, तथाऽजाता च, तत्रातिरिक्तनिरवद्याहारपरित्यागविषयाऽजातोच्यत इति गाथार्थः ॥ ७२ ॥ तत्र जातां स्वयमेव प्रतिपादयन्नाह— ॥६४१॥

---

१ दृष्ट्वोत्तिष्ठति, मत्स्यो बलात्क्षिप्यते, आदिग्रहणेन संसृष्टपानीयेन वा गोरसकुण्डे वा तैलभाजने वा एवं सचित्ता, अचित्ता–अनिमेषः केनचिदानीतः पक्षिणा प्रत्यनीकेन वा, स्थलचरो मूषको गृहकोकिला एवमादि, खेचरः हंसवायसमयूरादि, यत्र सदोषस्तत्र विवेकोऽल्पसागारिके रावकरणं वा, निर्दोषे यदा रोचति तदा त्यज्यते । त्रसप्राणपारिष्ठापनिकी गता, इदानीं नोत्रसप्राणपारिष्ठापनिकी भण्यते.

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [सू.]

दीप अनुक्रम [२३]

आहाकम्मे य तहा लोहविसे आभिओगिए गहिए । एएण होइ जाया वोच्छं से विहीएँ वोसिरणं ॥ ७३ ॥

व्याख्या—आधाकर्म-प्रतीतं तस्मिन्नाधाकर्मणि च तथा ‘लोहविसे आभिओगिए गहिए’त्ति लोभाद्गृहीते ‘विसे’त्ति विषकृते गृहीते ‘आभिओगिए’त्ति वशीकरणाय मन्त्राभिसंस्कृते गृहीते सति कथञ्चिन्मक्षिकाव्यापत्तिचेतोऽन्यथात्वादिलिङ्गतश्च ज्ञाते सति ‘एतेन’ आधाकर्मादिना दोषेण भवति ‘जाता’ पारिस्थापनिका दोषात्परित्यागार्हाहारविषयेत्यर्थः, ‘वोच्छं से विहीए वोसिरणं’ति वक्ष्येऽस्या विधिना-जिनोक्तेन व्युत्सर्जनं-परित्यागमित्यर्थः, ॥ ७३ ॥

एगंतमणावाए अचित्ते थंडिल्ले गुरुवइट्ठे । छारेण अक्कमित्ता तिट्ठाणं सावणं कुज्जा ॥ ७४ ॥

व्याख्या—एकान्ते ‘अनापाते’ स्त्र्याद्यापातरहिते ‘अचेतने’ चेतनाविकले ‘स्थण्डिल्ये’ भूभागे ‘गुरूपदिष्टे’ गुरुणा व्याख्याते, अनेनाविधिज्ञेन परिस्थापनं न कार्यमिति दर्शयति, ‘छारेण अक्कमित्ता’ भस्मना सम्मिश्र्य ‘तिट्ठाणं सावणं कुज्ज’त्ति सामान्येन तिस्रो वाराः श्रावणं कुर्यात्–अमुकदोषदुष्टमिदं व्युत्सृजामि एवं, विशेषतस्तु विषकृताभियोगिकादेरेवापकारकस्यैष विधिः, न त्वाधाकर्मादेः, तद्गतं प्रसङ्गेनैव भणिष्याम इति गाथार्थः ॥ ७४ ॥ अजातपारिस्थापनिकीं प्रतिपादयन्नाह—

आयरिए य गिलाणे पाहुणए दुल्लहे सहसलाहे । एसा खलु अज्जाया वोच्छं से विहीएँ वोसिरणं ॥ ७५ ॥

व्याख्या—आचार्ये सत्यधिकं गृहीतं किञ्चिद्, एवं ग्लाने प्राघूर्णके दुर्लभे वा विशिष्टद्रव्ये सति सहसलाभे-विशिष्टस्य कथञ्चिल्लाभे सति अतिरिक्तग्रहणसम्भवः, तस्य च या पारिस्थापनिका एषा खलु ‘अजाता’ अदुष्टाधिकाहारपरित्यागविषयेत्यर्थः, ‘वोच्छं से विहीएँ वोसिरणं’ प्राग्वदिति गाथार्थः ॥ ७५ ॥

प्रत सूत्रांक [सू.] दीप अनुक्रम [२३]

आवश्यक-हारिभद्रीया ॥६४२॥

४ प्रतिक्रमणा० परिष्ठापनासमितिः

एगंतमणावाए अचित्ते थंडिले गुरुवइट्ठे । आलोए तिण्णि पुंजे तिट्ठाणं सावणं कुज्जा ॥ ७६ ॥

व्याख्या—पूर्वार्द्धं प्राग्वत् 'आलोए'त्ति प्रकाशे त्रीन् पुञ्जान् कुर्यात्, अत एव मूलगुणदुष्टे त्वेकमुत्तरगुणदुष्टे तु द्वाविति प्रसङ्गः, तथा 'तिट्ठाणं सावणं कुज्ज'त्ति पूर्ववदयं गाथार्थः ॥ ७६ ॥ गताऽऽहारपारिस्थापनिका, अधुना नोआहारपारिस्थापनिकां प्रतिपादयति—

णोआहारंमी जा सा सा दुविहा होइ आणुपुव्वीए । उवगरणंमि सुविहिया ! नायव्वा नोयउवगरणे ॥ ७७ ॥

निगदसिद्धा, नवरं नोउपकरणं श्लेष्मादि गृह्यते,—

उवगरणंमि उ जा सा सा दुविहा होइ आणुपुव्वीए । जाया चेव सुविहिया ! नायव्वा तह अजाया य ॥ ७८ ॥

निगदसिद्धैव, नवरमुपकरणं वस्त्रादि,—

जाया य वत्थपाए वंका पाए य चीवरं कुज्जा । अजायवत्थपाए वोच्चत्थे तुच्छपाए य ॥ १ ॥ (प्र०) ॥

व्याख्या—जाता च वस्त्रे पात्रे च वक्तव्या, चोदनाभिप्रायस्तावद्वस्त्रे मूलगुणादिदुष्टे वङ्कानि पात्रे च चीवरं कुर्यात्, अजाता च वक्तव्या-वस्त्रे पात्रे च 'वोच्चत्थे तुच्छपाए य' चोदनाभिप्रायो वस्त्रं विपर्यस्तं-ऋजु स्थाप्यते पात्रं च ऋजु स्थाप्यत इति, सिद्धान्तं तु वक्ष्यामः, एष तावद् गाथार्थः ॥ इयं चान्यकर्तृकी गाथा ।— ॥६४२॥

दुविहा जायमजाया अभिओगविसे य सुद्धऽसुद्धा य । एगं च दोण्णि तिण्णि य मूलुत्तरसुद्धजाणट्ठा ॥ ७९ ॥

व्याख्या—द्विविधा जाताअजातापारिस्थापनिका-आभिओगिकी विषे च अशुद्धा शुद्धा च, तत्र शुद्धा अजाता भवि-

प्रत
सूत्रांक
[सू.]

दीप
अनुक्रम
[२३]

ष्यति, अयं च प्राग्निर्दिष्टः सिद्धान्तः–'एगं च दोण्णि तिण्णि य मूलुत्तरसुद्धि जाणाहि' मूलगुणाऽसुद्धे एको ग्रन्थिः पात्रे च रेखा, उत्तरगुणासुद्धे द्वौ, शुद्धे त्रय इति गाथार्थः ॥ अवयवार्थस्तु गाथाद्वयस्याप्ययं सामाचार्यभिज्ञैर्गीत इति–उवगरणे णोउवगरणे य, उवगरणे जाया अजाया य, जाया वत्थे पाए य, अजायावि वत्थे पत्ते य, जाया णाम वत्थपायं मूलगुणअसुद्धं उत्तरगुणअसुद्धं वा अभिओगेण वा विसेण वा, जइ विसेण आभिओगियं वा वत्थं पायं वा खंडाखंडिं काऊण विगिंचियव्वं, सावणा य तहेव, जाणि अइरित्ताणि वत्थपायाणि कालगए वा पडिभग्गे वा साहारणगहिए वा जाएज्ज एत्थ का विगिंचणविही ?, चोयओ भणइ–आभिओगविसाणं तहेव खंडाखंडिं काऊण विगिंचणं मूलगुणअसुद्धवत्थस्स एक्कं वंकं कीरइ, उत्तरगुणअसुद्धस्स दोण्णि वंकाणि, सुद्धं उज्जुयं विगिंचिज्जइ, पाए मूलगुणऽसुद्धे एगं चीरं दिज्जइ, उत्तरगुणअसुद्धे दोन्नि चीरखंडाणि पाए छुब्भंति, सुद्धं तुच्छं कीरइ–रित्तयंति भणियं होइ, आयरिया भणंति–एवं सुद्धंपि असुद्धं भवइ, कहं ?, उज्जुयं ठवियं, एगेण वंकेण मूलगुणअसुद्धं जायं, दोहिं उत्तरगुणअसुद्धं, एकवंकं दुवंकं वा होज्जा दुवंकं

१ उपकरणे नोउपकरणे च, उपकरणे जाता अजाता च, जाता वस्त्रे पात्रे च, अजाताऽपि वस्त्रे पात्रे च, जाता नाम वस्त्रपात्रं मूलगुणाशुद्धमुत्तरगुणाशुद्धं वा अभियोगेन वा विषेण वा, यदि विषेणाभियोगिकं वा वस्त्रं पात्रं वा खण्डशः कृत्वा परिष्ठापनीयं, रेखाश्च तथैव, यान्यतिरिक्तानि वस्त्रपात्राणि कालगते वा प्रतिभग्ने वा साधारणगृहीते वा याचेत, अत्र कः परिष्ठापनविधिः ?–चोदको भणति–आभियोगिकविषयोः तथैव खण्डशः कृत्वा विवेकः मूलगुणाशुद्धवस्त्रस्य एकं वक्रं क्रियते, उत्तरगुणाशुद्धस्य द्वे वक्रे, शुद्धमृजुकं त्यज्यते, पात्रे मूलगुणाशुद्धे एकं चीवरं दीयते, उत्तरगुणाशुद्धे द्वे चीवरखण्डे पात्रे क्षिप्येते, शुद्धं तुच्छं क्रियते–रिक्तमिति भणितं भवति, आचार्या भणन्ति–एवं शुद्धमप्यशुद्धं भवति, कथं ?, ऋजुकं स्थापितं, एकेन वक्रेण मूलगुणाशुद्धं जातं, द्वाभ्यामुत्तरगुणाशुद्धं, एकवक्रं द्विवक्रं वा भवेत् द्विवक्रं

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [सू.]

दीप अनुक्रम [२३]

॥६४३॥

[१]एकवंकं वा होज्जा, एवं मूलगुणे उत्तरगुणो होज्जा उत्तरगुणे वा मूलगुणो होज्जा, एवं चेव पाएवि होज्जा, एगं चीवरं निग्गयं मूलगुणासुद्धं जायं, दोहिं विणिग्गएहिं सुद्धं जायं, जे य तेहिं वत्थपाएहिं परिभुंजिएहिं दोसा तेसिं आवत्ती भवइ, तम्हा जं भणियं ते तं न जुत्तं, तओ कहं दाउं विगिंचियव्वं ?, आयरिया भणंति–मूलगुणे असुद्धे वत्थे एगो गंठी कीरइ उत्तरगुणअसुद्धे दोण्णि सुद्धे तिण्णि एवं वत्थे, पाए मूलगुणअसुद्धे अंतो अड्डए एगसण्हिया रेहा कीरइ, उत्तरगुणअसुद्धे दोण्णि, सुद्धे तिण्णि रेहाओ, एवं णायं होइ, जाणएण कायव्वाणि, कहिं परिट्ठवेयव्वाणि ?–एगंतमणावाए सह पत्ताबंधरयत्ताणेण, असइ पडिलेहणियाए दोरेण मुहे बज्झइ, उद्धमुहाणि ठविज्जंति, असइ ठाणस्स पासल्लियं ठविज्जइ, जओ वा आगमो तओ पुप्फयं कीरइ, एयाए विहीए विगिंचिज्जइ, जइ कोइ आगारो पावइ तहावि वोसट्ठाऽहिगरणा

---

१ वैकवक्र भवेत्, एवं मूलगुण उत्तरगुणो भवेत् उत्तरगुणे वा मूलगुणो भवेत्, एवमेव पात्रेऽपि भवेत्, एकं चीवरं निर्गतं मूलगुणाशुद्धं जातं, द्वयोर्विनिर्गतयोः शुद्धं जातं, ये च तेषु वस्त्रपात्रेषु परिभुज्यमानेषु दोषास्तेषामापत्तिर्भवति, तस्मात् यद् भणितं त्वया तन्न युक्तं, ततः कथं दत्त्वा (चिह्नं) विवेक्तव्यं?, आचार्या भणन्ति–मूलगुणाशुद्धे वस्त्रे एको ग्रन्थिः क्रियते उत्तरगुणाशुद्धे द्वौ शुद्धे त्रयः एवं वस्त्रे, पात्रे मूलगुणाशुद्धे अन्तस्तले एका श्लक्ष्णा रेखा क्रियते उत्तरगुणाशुद्धे द्वे शुद्धे तिस्रो रेखाः, एवं ज्ञातं भवति, ज्ञानेन कर्त्तव्यानि, क्व परिष्ठापनीयानि ?, एकान्तेऽनापाते सह पात्रबन्धरजस्त्राणाभ्यां, असत्यां पात्रप्रतिलेखनिकाया दवरकेण मुखं बध्यते, ऊर्ध्वमुखानि स्थाप्यन्ते, असति स्थाने पार्श्ववर्त्ति स्थाप्यते, यतो वाऽऽगमनं ततः (तस्यां दिशि) पुष्पकं (पृष्ठं) क्रियते, एतेन विधिना त्यज्यते, यदि कश्चिदपवादः प्राप्नोति तथापि व्युत्सृष्टाः अधिकरणमाश्रित्य

॥६४३॥

प्रत
सूत्रांक
[सू.]

दीप
अनुक्रम
[२३]

सुद्धा साहुणो, जेहिं अण्णेहिं साहूहिं गहियाणि जइ कारणे गहियाणि ताणि य सुद्धा जावज्जीवाए परिभुंजंति, मूलगुण-उत्तरगुणेसु उप्पण्णे ते विगिंचइ, गतोपकरणपारिस्थापनिका, अधुना नोउपकरणपारिस्थापनिका प्रतिपाद्यते, आह च—

नोउवगरणे जा सा चउव्विहा होइ आणुपुव्वीए। उच्चारे पासवणे खेले सिंघाणए चेव ॥ ८० ॥

व्याख्या—निगदसिद्धैव, विधिं भणति—

उच्चारं कुव्वंतो छायं तसपाणरक्खणट्ठाए। कायदुयदिसाभिग्गहे य दो चेवऽभिगिण्हे ॥ ८१ ॥
पुढवि तसपाणसमुट्ठिएहिं एत्थं तु होइ चउभंगो। पढमपयं पसत्थं सेसाणि उ अप्पसत्थाणि ॥ ८२ ॥

इमीणं वक्खाणं—जस्स गहणी संसज्जइ तेण छायाए वोसिरियव्वं, केरिसियाए छायाए?—जोताव लोगस्स उवभोगरुक्खो तत्थ न वोसिरिज्जइ, निरुवभोगे वोसिरिज्जइ, तत्थवि जा सयाओ पमाणाओ निग्गया तत्थेव वोसिरिज्जइ, असइ पुण निग्गयाए तत्थेव वोसिरिज्जइ असति रुक्खाणं काएणं छाया कीरइ तेसु परिणएसु वच्चइ, काया दोण्णि—तसकाओ थावरकाओ य, जइ पडिलेहेइवि पमज्जइऽवि तो एगिंदियावि रक्खिया तसावि, अह पडिलेहेइ न पमज्जइ तो थावरा रक्खिया तसा परिच्चत्ता, अह न

१ शुद्धाः साधवः, यैरन्यैः साधुभिर्गृहीतानि यदि कारणे गृहीतानि तानि च शुद्धानि यावज्जीवं परिभुञ्जन्ति, मूलगुणोत्तरगुणेषु (शुद्धेषु) उत्पन्नेषु तानि विविच्यन्ते–अनयोर्व्याख्यानं–यस्य ग्रहणी संसज्यते तेन छायायां व्युत्स्रष्टव्यं, कीदृश्यां छायायां ?, यस्तावल्लोकस्योपभोगवृक्षस्तत्र न व्युत्सृज्यते, निरुपभोगे व्युत्सृज्यते, तत्रापि या स्वकीयात् प्रमाणात् निर्गता तत्रैव व्युत्सृज्यते, असत्यां पुनर्निर्गतायां तत्रैव व्युत्सृज्यते असत्सु वृक्षेषु कायेन छाया क्रियते तेषु परिणतेषु व्रज्यते, कायौ द्वौ–त्रसकायः स्थावरकायश्च, यदि प्रतिलेखयत्यपि प्रमार्जयत्यपि तदैकेन्द्रिया अपि रक्षितास्त्रसा अपि, अथ प्रतिलेखयति न प्रमार्जयति तदा स्थावरा रक्षिताः, त्रसाः परित्यक्ताः, अथ न

प्रत सूत्रांक [सू.]

दीप अनुक्रम [२४]

पडिलेहेइ पमज्जइ थावरा परिचत्ता तसा रक्खिया, इयरत्थ दोवि परिचत्ता, सुप्पडिलेहियसुप्पमज्जिएसुवि पढमं पयं पसत्थं, बिइयतइए एक्केक्केण चउरथं दोहिवि अप्पसत्थं, पढमं आयरियव्वं सेसा परिहरियव्वा, दिसाभिग्गहे–'उभे मूत्रपुरीषे च, दिवा कुर्यादुदङ्मुखः। रात्रौ दक्षिणतश्चैव, तस्य आयुर्न हीयते ॥ १ ॥' दो चेव एयाउ अभिगेण्हंति, डगलगहणे तहेव चउभंगो, सूरिये गामे एवमाइ विभासा कायव्वा जहासंभवं ॥ अधुना शिष्यानुशास्तिपरां परिसमाप्तिगाथामाह—

गुरुमूलेवि वसंता अनुकूला जे न होंति उ गुरूणं । एएसिं तु पयाणं दूरंदूरेण ते होंति ॥ ८३ ॥

व्याख्या—'गुरुमूले' गुर्वन्तिकेऽपि 'वसन्तः' निवसमानाः अनुकूला ये न भवन्त्येव गुरूणाम्, एतेषां 'पदानां' उक्तलक्षणानां, तुशब्दादन्येषां च दूरंदूरेण ते भवन्ति, अविनीतत्वात्तेषां श्रुतापरिणतेरिति गाथार्थः ॥ पारिस्थापनिकेयं समाप्तेति ॥

पडिक्कमामि छहिं जीवनिकाएहिं–पुढविकाएणं आउकाएणं तेउकाएणं वाउकाएणं वणस्सइकाएणं तसकाएणं। पडिक्कमामि छहिं लेसाहिं–किण्हलेसाए नीललेसाए काउलेसाए तेउलेसाए पम्हलेसाए सुक्कलेसाए ॥ पडिक्कमामि सत्तहिं भयट्ठाणेहिं। अट्ठहिं मयट्ठाणेहिं। नवहिं बंभचेरगुत्तीहिं। दसविहे समणधम्मे। एक्कारसहिं उवासगपडिमाहिं। बारसहिं भिक्खुपडिमाहिं। तेरसहिं किरियाठाणेहिं ॥६४४॥

१ प्रतिलेखयति प्रमार्जयति स्थावराः परित्यक्ताः त्रसा रक्षिताः, इतरत्र द्वयेऽपि परित्यक्ताः, सुप्रत्युपेक्षितसुप्रमार्जितयोरपि प्रथमं पदं प्रशस्तं, द्वितीयतृतीययोरेकैकेन चतुर्थं द्वाभ्यामपि अप्रशस्तं, प्रथममाचरितव्यं शेषाः परिहर्त्तव्याः, दिगभिग्रहे–द्वे एवैते अभिगृह्णेते, डगलकग्रहणे तथैव चतुर्भङ्गी, सूर्ये ग्रामे एवमादि विभाषा कर्त्तव्या यथासंभवं ।

प्रत
सूत्रांक
[सू.]

दीप
अनुक्रम
[२४]

प्रतिक्रमामि षड्भिर्जीवनिकायैः प्रतिषिद्धकरणादिना प्रकारेण हेतुभूतैर्यो मया दैवसिकोऽतिचारः कृतः, तद्यथा–पृथिवीकायेनेत्यादि । प्रतिक्रमामि षड्भिर्लेश्याभिः करणभूताभिर्यो मया दैवसिकोऽतिचारः कृतः, तद्यथा—कृष्णलेश्ययेत्यादि–'कृष्णादिद्रव्यसाचिव्यात्, परिणामो य आत्मनः । स्फटिकस्येव तत्रायं, लेश्याशब्दः प्रयुज्यते ॥ १ ॥' कृष्णादिद्रव्याणि तु सकलप्रकृतिनिष्यन्दभूतानि, आसां च स्वरूपं जम्बूखादकदृष्टान्तेन ग्रामघातकदृष्टान्तेन च प्रतिपाद्यते–'जह जंबुतरुवरेगो सुपक्कफलभरियनमियसालग्गो । दिट्ठो छहिं पुरिसेहिं ते बिंती जंबु भक्खेमो ॥ १ ॥ किह पुण ? ते बेंतेक्को आरुहमाणाण जीवसंदेहो । तो छिंदिऊण मूले पाडेमुं ताहे भक्खेमो ॥ २ ॥ बितिआह एद्दहेणं किं छिण्णेणं तरूण अम्हंति ? । साहा महल्ल छिंदह तइओ बेंती पसाहाओ ॥ ३ ॥ गोच्छे चउत्थओ उण पंचमओ बेति गेण्हह फलाइं । छट्ठो बेंती पडिया एएच्चिय खाह घेत्तुं जे ॥ ४ ॥ दिट्ठंतस्सोवणओ जो बेंति तरूवि छिन्न मूलाओ । सो वट्टइ किण्हाए सालमहल्ला उ नीलाए ॥ ५ ॥ हवइ पसाहा काऊ गोच्छा तेऊ फला य पम्हाए । पडियाए सुक्कलेसा अहवा अण्णं उदाहरणं ॥ ६ ॥

---

१ यथा जम्बूतरुवर एकः सुपक्कफलभारनम्रशालाग्रः । दृष्टः षड्भिः पुरुषैस्ते ब्रुवते जम्बूः भक्षयामः ॥ १ ॥ कथं पुनः ? तेषामेको ब्रवीति आरुहतां जीवसंदेहः । तद् व्युच्छिद्य मूलात् पातयामस्ततो भक्षयामः ॥ २ ॥ द्वितीय आह–एतावता तरुणा छिन्नेनास्माकं किम् ? । शाखां महतीं छिन्त तृतीयो ब्रवीति प्रशाखाम् ॥ ३ ॥ गुच्छान् चतुर्थः पुनः पञ्चमो ब्रवीति गृह्णीत फलानि । षष्ठो ब्रवीति पतितानि एतान्येव खादामो गृहीत्वा ॥ ४ ॥ दृष्टान्तस्योपनयो–यो ब्रवीति तरुमपि छिन्त मूलात् । स वर्त्तते कृष्णायां शाखां महतीं तु नीलायाम् ॥५॥ भवति प्रशाखां कापोती गुच्छान् तैजसी फलानि च पद्मायाम् । पतितानि शुक्ललेश्या अथवाऽन्यदुदाहरणम् ॥ ६ ॥

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्तिः

षड् लेश्यायाः वर्णनं

प्रत सूत्रांक [सू.]

दीप अनुक्रम [२४]

॥६४५॥

चौरा गामवहत्थं विणिग्गया एगो बेंति घाएह । जं पेच्छह सव्वं दुपयं च चउप्पयं वावि ॥ ७ ॥ बिइओ माणुस पुरिसे य तइओ साउहे चउत्थे य । पंचमओ जुज्झंते छट्ठो पुण तत्थिमं भणइ ॥८॥ एक्कं ता हरह धणं बीयं मारेह मा कुणह एवं । केवल हरह धणंती उवसंहारो इमो तेसिं ॥ ९ ॥ सव्वे मारेहत्ती वट्टइ सो किण्हलेसपरिणामो । एवं कमेण सेसा जा चरमो सुक्कलेसाए ॥ १० ॥ आदिल्लतिण्णि एत्थं अपसत्था उवरिमा पसत्था उ । अपसत्थासुं वट्टिय न वट्टियं जं पसत्थासुं ॥ ११ ॥ एसऽइयारो एयासु होइ तस्स य पडिक्कमामित्ति । पडिकूलं वट्टामी जं भणियं पुणो न सेवेमि ॥ १२ ॥

प्रतिक्रमामि सप्तभिर्भयस्थानैः करणभूतैर्यो मया दैवसिकोऽतिचारः कृत इति, तत्र भयं मोहनीयप्रकृतिसमुत्थ आत्मपरिणामस्तस्य स्थानानि–आश्रया भयस्थानानि–इहलोकादीनि, तथा चाह सङ्ग्रहणिकारः—

इहपरलोयादाणमकम्हाआजीवमरणमसिलोए' त्ति

अस्य गाथाशकलस्य व्याख्या—'इहपरलोअ' त्ति इहलोकभयं परलोकभयं, तत्र मनुष्यादिसजातीयादन्यस्मान्मनु-

१ चौरा ग्रामवधार्थं विनिर्गता एको ब्रवीति घातयत । यं पश्यत तं सर्वं द्विपदं च चतुष्पदं वापि ॥ ७ ॥ द्वितीयो मनुष्यान् पुरुषांश्च तृतीयः सायुधान् चतुर्थश्च । पञ्चमो युध्यमानान् षष्ठः पुनस्तत्रेदं भणति ॥ ८ ॥ एकं तावद्धरत धनं द्वितीयं मारयत मा कुरुतैवम् । केवलं हरत धनं उपसंहारोऽयं तस्य ॥ ९ ॥ सर्वान् मारयतेति वर्त्तते स कृष्णलेश्यापरिणामः । एवं क्रमेण शेषाः यावच्चरमः शुक्कलेश्यायाम् ॥ १० ॥ आद्यास्तिस्रोऽत्राप्रशस्ता उपरितनाः प्रशस्तास्तु । अप्रशस्तासु वृत्तं न वृत्तं प्रशस्तासु यत् ॥ ११ ॥ एषोऽतिचार एतासु भवति तस्माच्च प्रतिक्राम्यामि । प्रतिकूलं वर्त्ते यद्भणितं पुनर्न सेवे ॥ १२ ॥ ॥६४५॥

सप्त भय, अष्ट मद आदीनां वर्णनं

प्रत
सूत्रांक
[सू.]

दीप
अनुक्रम
[२४]

ष्यादेरेव सकाशात् भयमिहलोकभयं, विजातीयात्तु तिर्यग्देवादेः सकाशाद्भयं परलोकभयम्, आदीयत इत्यादानं–धनं तदर्थं चौरादिभ्यो यद्भयं तदादानभयम्, अकस्मादेव–बाह्यनिमित्तानपेक्षं गृहादिष्वेवावस्थितस्य रात्र्यादौ भयम् अकस्माद्भयं, 'आजीवे' ति आजीविकाभयं निर्धनः कथं दुर्भिक्षादावात्मानं धारयिष्यामीत्याजीविकाभयं, मरणाद्भयं मरणभयं प्रतीतमेव, 'असिलोगो'त्ति अश्लाघाभयम्–अयशोभयमित्यर्थः, एवं क्रियमाणे महदयशो भवतीति तद्भयान्न प्रवर्तत इति गाथाशकलाक्षरार्थः ॥ मदः–मान [ग्रन्थाग्रं० १६५००] स्तस्य स्थानानि–पर्याया भेदा मदस्थानानि, इह च प्रतिक्रमामीति वर्तते, अष्टभिर्मदस्थानैः करणभूतैर्यो मया दैवसिकोऽतिचारः कृत इति, एवमन्येष्वपि सूत्रेष्वायोज्यं, कानि पुनरष्टौ मदस्थानानि ?, अत आह सङ्ग्रहणिकारः–

जाईकुलबलरूवे तवईसरिए सुए लाहे ॥ १ ॥

अस्य व्याख्या–कश्चिन्नरेन्द्रादिः प्रव्रजितो जातिमदं करोति, एवं कुलबलरूपतपऐश्वर्यश्रुतलाभेष्वपि योज्यमिति ॥ नवभिर्ब्रह्मचर्यगुप्तिभिः, शेषं पूर्ववत्, ताश्चेमाः—

वसहिकहनिसिज्जिंदियं कुड्डुंतरपुव्वकीलियपणीए । अइमायाहारविभूसणा य नव बंभगुत्तीओ ॥ १ ॥

व्याख्या—ब्रह्मचारिणा तद्गुप्त्यनुपालनपरेण न स्त्रीपशुपण्डकसंसक्ता वसतिरासेवनीया, न स्त्रीणामेकाकिनां कथा कथनीया, न स्त्रीणां निषद्या सेवनीया, उत्थितानां तदासने नोपवेष्टव्यं, न स्त्रीणामिन्द्रियाण्यवलोकनीयानि, न स्त्रीणां कुड्यान्तरितानां मोहनसंसक्तानां क्वणितध्वनिराकर्णयितव्यः, न पूर्वक्रीडितानुस्मरणं कर्तव्यं, न प्रणीतं भोक्तव्यं,

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [सू.]

दीप अनुक्रम [२४]

आवश्यक-हारिभद्रीया ॥६४६॥

४ प्रतिक्रमणाध्य०

स्निग्धमित्यर्थः, नातिमात्राहारोपभोगः कार्यः, न विभूषा कार्या, एता नव ब्रह्मचर्यगुप्तय इति गाथार्थः ॥ श्रमणः– प्राग्निरूपितशब्दार्थस्तस्य धर्मः–क्षान्त्यादिलक्षणस्तस्मिन् दशविधे–दशप्रकारे श्रमणधर्मे सति तद्विषये वा प्रतिषिद्धकरणादिना यो मयाऽतिचारः कृत इति भावना। दशविधधर्मस्वरूपप्रतिपादनायाह सङ्ग्रहणिकारः—

खंती य मद्दवज्जव मुत्ती तव संजमे य बोद्धव्वे। सच्चं सोयं आकिंचणं च बंभं च जइधम्मो ॥ १ ॥

क्षान्तिः श्रमणधर्मः, क्रोधविवेक इत्यर्थः, चशब्दस्य व्यवहितः सम्बन्धः, मृदोर्भावः मार्दवं मानपरित्यागेन वर्तनमित्यर्थः, तथा ऋजुभाव आर्जवं–मायापरित्यागः, मोचनं मुक्तिः, लोभपरित्याग इति भावना, तपो द्वादशविधमनशनादि, संयमश्चाश्रवविरतिलक्षणः 'बोद्धव्यः' विज्ञेयः श्रमणधर्मतया, सत्यं प्रतीतं, शौचं संयमं प्रति निरुपलेपता, आकिञ्चन्यं च, कनकादिरहितत्येत्यर्थः, ब्रह्मचर्यं च, एष यतिधर्मः, अयं गाथाक्षरार्थः ॥ अन्ये त्वेवं वदन्ति—खंती मुत्ती अज्जव मद्दव तह लाघवे तवे चेव। संयम चियागऽकिंचण बोद्धव्वे बंभचेरे य ॥ १ ॥ तत्र लाघवम्–अप्रतिबद्धता, त्यागः–संयतेभ्यो वस्त्रादिदानं, शेषं प्राग्वत्, गुप्त्यादीनां चाऽऽद्यदण्डकोक्तानामपीहोपन्यासोऽन्यविशेषाभिधानाददुष्ट इति ॥ ॥६४६॥ एकादशभिरुपासकप्रतिमाभिः करणभूताभिर्योऽतिचार इति, उपासकाः–श्रावकास्तेषां प्रतिमाः–प्रतिज्ञा दर्शनादिगुणयुक्ताः कार्या इत्यर्थः, उपासकप्रतिमाः, ताश्चैता एकादशेति—

दंसणवयसामाइय पोसहपडिमा अबंभ सच्चित्ते। आरंभपेसउद्दिट्ठ वज्जए समणभूए य ॥ १ ॥

दशविध-श्रमणधर्मस्य वर्णनं

प्रत सूत्रांक [सू.]

दीप अनुक्रम [२४]

व्याख्या—दर्शनप्रतिमा, एवं व्रतसामायिकपौषधप्रतिमा अब्रह्मसचित्तआरम्भप्रेष्यउद्दिष्टवर्जकः श्रमणभूतश्चेति, अयमासां भावार्थः—सम्मद्दंसणसंकाइसल्लपामुक्कसंजुओ जो उ। सेसगुणविप्पमुक्को एसा खलु होंति पडिमा उ ॥ १ ॥ बिइया पुण वयधारी सामाइयकडो य तइयया होइ। होइ चउत्थी चउद्दसि अट्ठमिमाईसु दियहेसु ॥ २ ॥ पोसह चउविहंपी पडिपुण्णं सम्म जो उ अणुपाले। पंचमि पोसहकाले पडिमं कुणएगराईयं ॥ ३ ॥ असिणाणवियडभोई पगासभोइत्ति जं भणिय होइ। दिवसओं न रत्ति भुंजे मउलिकडो कच्छ णवि रोहे ॥ ४ ॥ दिय बंभयारि राई परिमाणकडे अपोसहीएसुं। पोसहिए रत्तिंमि य नियमेणं बंभयारी य ॥ ५ ॥ इय जाव पंच मासा विहरइ हु पंचमा भवे पडिमा। छट्ठीए बंभयारी ता विहरे जाव छम्मासा ॥ ६ ॥ सत्तम सत्त उ मासे णवि आहारे सचित्तमाहारं। जं जं हेट्ठिल्लाणं तं तो परिमाण सव्वंपि ॥ ७ ॥ आरंभसयंकरणं अट्ठमिया अट्ठमास वज्जेइ। नवमा णव मासे पुण पेसारंभे विवज्जेइ ॥ ८ ॥

---

१ शङ्कादिदोषशल्यप्रमुक्तसम्यक्त्वसंयुतो यस्तु। शेषगुणविप्रमुक्त एषा खलु भवति प्रतिमा ॥ १ ॥ द्वितीया पुनर्व्रतधारी कृतसामायिकश्च तृतीया भवति। भवति चतुर्थी चतुर्दश्यष्टम्यादिषु दिवसेषु ॥ २ ॥ पोषधं चतुर्विधमपि प्रतिपूर्णं सम्यग् यस्तु अनुपालयति। पञ्चमी पोषधकाले प्रतिमां करोत्येकरात्रिकीम् ॥ ३ ॥ अस्नानो दिवसभोजी प्रकाशभोजीति यद्भणितं भवति। दिवसे न रात्रौ भुङ्क्ते कृतमुकुलः कच्छं नैव बध्नाति ॥ ४ ॥ दिवा ब्रह्मचारी रात्रौ कृतपरिमाणोऽपोषधिकेषु। पोषधिको रात्रौ च नियमेन ब्रह्मचारी च ॥ ५ ॥ इति यावत् पञ्च मासान् विहरति पञ्चमी भवेत् प्रतिमा। षष्ठ्यां ब्रह्मचारी तावत् विहरेत् यावत् षण्मासाः ॥ ६ ॥ सप्तमी सप्तैव मासान् नैवाहारयेत् सचित्तमाहारम्। यद्यदधस्तनीनां तत्तदुपरितनासु सर्वमपि ॥ ७ ॥ आरम्भस्य स्वयंकरणं अष्टम्यां अष्ट मासान् वर्जयति। नवमी नव मासान् पुनः प्रेषारम्भान् विवर्जयति ॥ ८ ॥

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्तिः

एकादश-श्रावकप्रतिज्ञायाः वर्णनं

प्रत सूत्रांक [सू.]

दीप अनुक्रम [२४]

आवश्यक-हारिभ-द्रीया ॥६४७॥

दसमा पुण दस मासे उद्दिट्ठकयंपि भत्त नवि भुंजे । सो होई छुरमुंडो छिहलिं वा धारए जाहिं ॥ ९ ॥ जं निहियमत्थजायं पुच्छंति नियाण नवरि सो आह । जइ जाणे तो साहे अह नवि तो बेंति नवि जाणे ॥ १० ॥ खुरमुंडो लोओ वा रयहरण पडिग्गहं च गेण्हित्ता । समणब्भूओ विहरे णवरिं सण्णायगा उवरिं ॥ ११ ॥ ममिकारअवोच्छिन्ने वच्चइ सण्णायपल्लि दट्ठुं जे । तत्थवि साहुव्व जहा गिण्हइ फासुं तु आहारं ॥ १२ ॥ एसा एक्कारसमा इक्कारसमासियासु एयासु । पण्णवणवितहअसद्दहाणभावाउ अइयारो ॥ १३ ॥

४ प्रतिक्रमणाध्य०

द्वादशभिर्भिक्षुप्रतिमाभिः प्रतिषिद्धकरणादिना प्रकारेण योऽतिचारः कृत इति, क्रिया प्राग्वत्, तत्रोद्गमोत्पादनैषणादिशुद्धभिक्षाशिनो भिक्षवः–साधवस्तेषां प्रतिमाः–प्रतिज्ञा भिक्षुप्रतिमाः, ताश्चेमा द्वादश—

मासाई सत्तंता पढमाबितिसत्त (सत्त) राइदिणा । अहराई एगराई भिक्खूपडिमाण बारसगं ॥ १ ॥

मासाद्याः सप्तान्ताः 'प्रथमाद्वित्रिसप्त (सप्त) रात्रिदिवा' प्रथमा सप्तरात्रिकी, द्वितीया सप्तरात्रिकी, तृतीया

---

१ दशमी पुनर्दश मासान् उद्दिष्टकृतमपि भक्तं नैव भुङ्क्ते । स भवति क्षुरमुण्डः शिखां वा धारयति यस्याम् ॥ ९ ॥ यन्निहितमर्थजातं पृच्छतां निजानां परं स ब्रवीति । यदि जानाति तदा कथयति अथ नैव ब्रवीति नैव जाने ॥ १० ॥ क्षुरमुण्डो लोचो वा रजोहरणं पतद्ग्रहं च गृहीत्वा । श्रमणभूतो विहरति नवरं सज्ञातीयानामुपरि ॥ ११ ॥ ममीकारेऽव्युच्छिन्ने व्रजति सज्ञातीयपल्लीं द्रष्टुम् । तत्रापि साधुवत् यथा गृह्णाति प्रासुकं त्वाहारम् ॥ १२ ॥ एषैकादशी एकादशमासिकी एतासु । वितथप्रज्ञापनाऽश्रद्धानभावात्त्वतिचारः ॥ १३ ॥ मासाद्याः सप्तान्ताः प्रथमा द्वितीया तृतीया सप्तरात्रिन्दिवमाना । अहोरात्रिकी एकरात्रिकी भिक्षुप्रतिमानां द्वादशकम् ॥ १ ॥ ॥६४७॥

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्ति:

द्वादश-भिक्षुप्रतिज्ञाया: वर्णनं

प्रत सूत्रांक [सू.]

दीप अनुक्रम [२४]

सप्तरात्रिकी, अहोरात्रिकी, एकरात्रिकी, इदं भिक्षुप्रतिमानां द्वादशकमिति । अयमासां भावार्थः–पंडिवज्जइ संपुण्णो संघयणधिइजुओ महासत्तो । पडिमाउ जिणमयंमी संमं गुरुणा अणुण्णाओ ॥ १ ॥ गच्छेच्चिय निम्माओ जा पुव्वा दस भवे असंपुण्णा । नवमस्स तइयवत्थुं होइ जहण्णो सुयाभिगमो ॥ २ ॥ वोसट्ठचत्तदेहो उवसग्गसहो जहेव जिण-कप्पी । एसण अभिग्गहीया भत्तं च अलेवयं तस्स ॥ ३ ॥ गच्छा विणिक्खमित्ता पडिवज्जे मासियं महापडिमं । दत्तेग-भोयणस्सा पाणस्सवि एग जा मासं ॥ ४ ॥ पच्छा गच्छमईए एव दुमासि तिमासि जा सत्त । नवरं दत्तीवुड्ढी जा सत्त उ सत्तमासीए ॥ ५ ॥ तत्तो य अट्ठमीया हवइ हु पढमसत्तराइंदी । तीय चउत्थचउत्थेणऽपाणएणं अह विसेसो ॥ ६ ॥ तथा चाऽऽगमः–"पढमसत्तराइंदियाणं भिक्खूपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स कप्पइ से चउत्थेणं भत्तेणं अपाणएणं बहिया गामस्स वे"त्यादि, उत्ताणगपासल्लीणसज्जीवावि ठाणे ठाइत्ता । सहउवसग्गे घोरे दिव्वाई तत्थ अविकंपो ॥ ७ ॥

---

१ प्रतिपद्यते एताः संपूर्णः संहननधृतियुतो महासत्त्वः । प्रतिमा जिनमते सम्यक् गुरुणाऽनुज्ञातः ॥ १ ॥ गच्छे एव निष्णातो यावत् पूर्वाणि दश भवेयुरसंपूर्णानि । नवमस्य तृतीयं वस्तु भवति जघन्यः श्रुताधिगमः ॥ २ ॥ व्युत्सृष्टत्यक्तदेहः उपसर्गसहो यथैते जिनकल्पी । एषणा अभिगृहीता भक्तं चालेपकृत्तस्य ॥ ३ ॥ गच्छाद्विनिष्क्रम्य प्रतिपद्यते मासिकीं महाप्रतिमाम् । दत्तिरेका भोजनस्य पानस्याप्येका यावन्मासः ॥ ४ ॥ पश्चाद् गच्छमायाति एवं द्विमासिकी त्रिमासिकी यावत् सप्तमासिकी । नवरं दत्तिवृद्धिः यावत् सप्तैव सप्तमास्याम् ॥ ५ ॥ ततश्चाष्टमी भवति प्रथमसप्तरात्रिन्दिवा । तस्यां चतुर्थच-तुर्थेनापानकेनासौ विशेषः ॥ ६ ॥ प्रथमां सप्तरात्रिन्दिवां भिक्षुप्रतिमां प्रतिपन्नस्यानगारस्य कल्पतेऽथ चतुर्थेन भक्तेनापानकेन बहिर्ग्रामस्य वेत्यादि, उत्तानः पार्श्वतो नैषधिको वाऽपि स्थानं स्थित्वा । सहते उपसर्गान् घोरान् दिव्यादीन् तत्राविकम्पः ॥ ७ ॥

प्रत सूत्रांक [सू.]
दीप अनुक्रम [२४]

आवश्यक-हारिभ-द्रीया ॥६४८॥

४ प्रतिक्र-मणाध्य०

दोच्चावि एरिसच्चिय बहिया गामाइयाण णवरं तु । उक्कुडलगंडसाई डंडाइतिउव ठाइत्ता ॥ ८ ॥ तच्चाएवि एवं णवरं ठाणं तु तस्स गोदोही । वीरासणमहवावी ठाइज्ज व अंबखुज्जो वा ॥ ९ ॥ एमेव अहोराई छट्ठं भत्तं अपाणयं णवरं । गामणयराण बहिया वग्घारियपाणिए ठाणं ॥ १० ॥ एमेव एगराई अट्ठमभत्तेण ठाण बाहिरओ । ईसीपब्भारगए अणिमिसनयणेगदिट्ठीए ॥ ३ ॥ साहट्टु दोवि पाए वग्घारियपाणि ठायई ठाणं । वाघारि लंबियभुओ सेस दसासुं जहा भणियं ॥४॥

त्रयोदशभिः क्रियास्थानैः प्रतिषिद्धकरणादिना प्रकारेण हेतुभूतैर्योऽतिचारः कृत इति, क्रिया पूर्ववत्, करणं क्रिया, कर्मबन्धनिबन्धना चेष्टेत्यर्थः, तस्याः स्थानानि–भेदाः पर्याया अर्थायानर्थायेत्यादयः क्रियास्थानानि, तानि पुनस्त्रयोदश भवन्तीति, आह च सङ्ग्रहणिकारः—

अट्ठा[1]णट्ठा[2] हिंसा[3]ऽकम्हा[4] दिट्ठी[5] य[6] मोसे[7]ऽदिण्णे[8] य । अज्झत्थ[9]माणमेत्ते[10] माया[11]लोहे[12] रियावहिया[13] ॥ १ ॥

व्याख्या—अर्थाय क्रिया, अनर्थाय क्रिया, हिंसायै क्रिया, अकस्मात् क्रिया, 'दिट्ठिय' त्ति दृष्टिविपर्यासक्रिया च सूचनात्सूत्रमितिकृत्वा, मृषाक्रियाऽदत्तादानक्रिया च, अध्यात्मक्रिया, मानक्रिया, मित्रदोषक्रिया, मायाक्रिया, लोभक्रिया

---

१ द्वितीयाऽपीदृश्येव बहिर्ग्रामादीनां परं तु । उत्कुटुकासनो वक्रकाष्ठशायी वा दण्डायतिको वा स्थित्वा ॥ ८ ॥ तृतीयस्यामप्येवं परं स्थानं तु तत्र गोदोहिका । वीरासनमथवाऽपि तिष्ठेद्वाऽऽम्रकुब्जो वा ॥ ९ ॥ एवमेवाहोरात्रिकी षष्ठं भक्तमपानकं परम् । ग्रामनगरयोर्बहिस्तात् प्रलम्बभुजस्तिष्ठति स्थानम् ॥ १० ॥ एवमेवैकरात्रिकी अष्टमभक्तेन स्थानं बहिः । ईषत्प्राग्भारगतोऽनिमिषनयन एकदृष्टिकः ॥ ११ ॥ संहृत्य द्वावपि पादौ प्रलम्बितभुजस्तिष्ठति स्थानम् । 'वाघारि' लम्बितभुजः शेषं दशासु यथा भणितम् ॥ १२ ॥

॥६४८॥

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्तिः

त्रयोदश-क्रियास्थानानाम् वर्णनं

प्रत सूत्रांक [सू.]

दीप अनुक्रम [२४]

ईर्यापथक्रिया, अयमासां भावार्थः—तसथावरभूएहिं जो दंडं निसिरई हु कज्जंमि । आय परस्स व अट्ठा अट्ठादंडं तयं बेंति ॥ १ ॥ जो पुण सरडाईयं थावरकायं च वणलयाईयं । मारेत्तुं छिंदिऊण व छड्डे एसो अणट्ठाए ॥ २ ॥ अहिमाइ वेरियस्स व हिंसिंसु हिंसइव हिंसिहिई । जो दंडं आरभइ हिंसादंडो भवे एसो ॥ ३ ॥ अन्नट्ठाए निसिरइ कंडाइ अन्न-माहणे जो उ । जो व नियंतो सस्सं छिंदिज्जा सालिमाई य ॥ ४ ॥ एस अकम्हादंडो दिट्ठिविवज्जासओ इमो होइ । जो मित्तममित्तंती काउं घाएइ अहवावि ॥ ५ ॥ गामाईघाएसु व अतेण तेणंति वावि घाएज्जा । दिट्ठिविवज्जासे सो किरि-याठाणं तु पंचमयं ॥ ६ ॥ आयट्ठा णायगाइण वावि अट्ठाएँ जो मुसं वयइ । सो मोसपच्चईओ दंडो छट्ठो हवइ एसो ॥ ७ ॥ एमेव आयणायगअट्ठा जो गेण्हइ अदिन्नं तु । एसो अदिन्नवत्ती अज्झत्थीओ इमो होइ ॥ ८ ॥ नवि कोवि किंचि भणई तहविहु हियएण दुम्मणो किंपि । तस्सऽज्झत्थी संसइ चउरो ठाणा इमे तस्स ॥ ९ ॥ कोहो माणो माया

---

१ त्रसस्थावरभूतेषु यो निसृजति कार्ये । आत्मनः परस्य वाऽर्थाय अर्थदण्डं तं ब्रुवते ॥ १ ॥ यः पुनः सरटादिकं स्थावरकायं च वनलतादिकम् । मारयित्वा छित्वा वा त्यजति एषोऽनर्थाय ॥ २ ॥ अह्यादेर्वैरिणो वा अहिंसीत् हिनस्ति वा हिंसिष्यति । यो दण्डमारभते हिंसादण्डो भवेदेषः ॥ ३ ॥ अन्यार्थाय निसृजति कण्डादि अन्यमाहन्ति यस्तु । यो वा गच्छन् शस्यं छिन्द्यात् शाल्यादींश्च ॥ ४ ॥ एषोऽकस्माद्दण्डो दृष्टिविपर्यासतोऽयं भवति । यो मित्रममित्रमितिकृत्वा घातयत्यथवाऽपि ॥ ५ ॥ ग्रामादिघातेषु वा अस्तेनं स्तेनमिति वाऽपि घातयेत् । दृष्टिविपर्यासात् स क्रियास्थानं तु पञ्चमम् ॥ ६ ॥ आत्मार्थं ज्ञातीयादीनां वाऽप्यर्थाय यो मृषा वदति । स मृषाप्रत्ययिको दण्डो भवत्येषः षष्ठः ॥ ७ ॥ एवमेवात्मज्ञातीयार्थं यो गृह्णात्यदत्तं तु । एषोऽदत्तप्रत्ययोऽध्यात्मस्थोऽयं भवति ॥ ८ ॥ नैव कोऽपि किञ्चिद्भणति तथापि हृदये दुर्मना किमपि । तस्याध्यात्मस्थः शंसति चत्वारि स्थानानीमानि तस्य ॥ ९ ॥ क्रोधो मानो माय-

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [सू.]

दीप अनुक्रम [२५]

आवश्यक-हारिभ-द्रीया

॥६४९॥

४ प्रतिक्र-मणाध्य०

लोहो अज्झत्थकिरिय एवेसो । जो पुण जाइमयाई अट्ठविहेणं तु माणेणं ॥ १० ॥ मत्तो हीलेइ परं खिंसइ परिभवइ माणवत्तेसा । मायपिइनायगाईण जो पुण अप्पेवि अवराहे ॥ ११ ॥ तिव्वं दंडं करेइ डहणंकणबंधतालणाईयं । तं मित्त-दोसवत्ती किरियाठाणं हवइ दसमं ॥ १२ ॥ एक्कारसमं माया अण्णं हियर्यमि अण्ण वायाए । अण्णं आयरई या स क-म्मुणा गूढसामत्थो ॥ १३ ॥ मायावत्ती एसा तत्तो पुण लोहवत्तिया इणमो । सावज्जारंभपरिग्गहेसु सत्तो महंतेसु ॥१४॥ तह इत्थी कामेसुं गिद्धो अप्पाणयं च रक्खंतो । अण्णेसिं सत्ताणं वहबंधणमारणं कुणइ ॥ १५ ॥ एसो उ लोहवित्ती इरियावहियं अओ पवक्खामि । इह खलु अणगारस्सा समिईगुत्तीसुगुत्तस्स ॥ १६ ॥ सययं तु अप्पमत्तस्स भगवओ जाव चक्खुपम्हंपि । निवयइ ता सुहुमा विहु इरियावहिया किरिय एसा ॥ १७ ॥

चोद्दसहिं भूयगामेहिं पन्नरसहिं परमाहंमिएहिं सोलसहिं गाहासोलसएहिं सत्तरसविहे संजमे अट्ठारस-विहे अबंभे एगूणवीसाए णायज्झयणेहिं वीसाए असमाहिठाणेहिं ॥

---

१ लोभोऽध्यात्मक्रिय एवैषः । यः पुनर्जातिमदादिनाऽष्टविधेन तु मानेन ॥ १० ॥ मत्तो हीलयति परं निन्दति परिभवति मानप्रत्ययिकी एषा । माता-पितृज्ञातीयानां यः पुनरल्पेऽप्यपराधे ॥ ११ ॥ तीव्रं करोति दण्डं दहनाङ्कनबन्धताडनादिकम् । तत् मित्रद्वेषप्रत्ययिकं क्रियास्थानं भवति दशमम् ॥ १२ ॥ एकादशमं माया अन्यत् हृदये अन्यद्वाचि । अन्यदाचरति स कर्मणा गूढसामर्थ्यः ॥ १३ ॥ मायाप्रत्ययिक्येषा ततः पुनर्लोभप्रत्ययिक्येषा । सावद्यारम्भपरि-ग्रहेषु सक्तो महत्सु ॥ १४ ॥ तथा स्त्रीकामेषु गृद्ध आत्मानं च रक्षन् । अन्येषां सत्त्वानां वधमारणाङ्कनबन्धनानि करोति ॥ १५ ॥ एष तु लोभप्रत्ययिक ईर्या-पथिकमतः प्रवक्ष्यामि । इह खल्वनगारस्य समितिगुप्तिसुगुप्तस्य ॥ १६ ॥ सततं त्वप्रमत्तस्य भगवतो यावच्चक्षुःपक्ष्मापि । निपतति तावत् सूक्ष्मा ईर्या-पथिकी क्रियैषा ॥ १७ ॥

॥६४९॥

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [सू.]

दीप अनुक्रम [२५]

चतुर्दशभिर्भूतग्रामैः, क्रिया पूर्ववत्, भूतानि–जीवास्तेषां ग्रामाः–समूहा भूतग्रामास्तैः, ते चैवं चतुर्दश भवन्ति—

एगिंदियसुहुमियरा सण्णियर पणिंदिया य सबीतिचउ। पज्जत्तापज्जत्ता भेएणं चोद्दसग्गामा ॥ १ ॥

व्याख्या—एकेन्द्रियाः–पृथिव्यादयः सूक्ष्मेतरा भवन्ति, सूक्ष्मा बादराश्चेत्यर्थः, संज्ञीतराः पञ्चेन्द्रियाश्च, संज्ञिनोऽसंज्ञिनश्चेति भावना, 'सबीतिचउ'त्ति सह द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियैः, एते हि पर्याप्तकापर्याप्तकभेदेन चतुर्दश भूतग्रामा भवन्ति, स्थापना चेयं

ए सू ऽप	सु प	बाद ऽप	बा प
	बे ऽप	बें० प	
	ते ऽप	ते प	
	च ऽप	च प	
ऽसं ऽप	ऽसं प	सं ऽप	सं प

एवं चतुर्दशप्रकारो भूतग्रामः प्रदर्शितः, अधुनाऽमुमेव गुणस्थानद्वारेण दर्शयन्नाह सङ्ग्रहणिकारः—

मिच्छद्दिट्ठी सासायणे य तह सम्ममिच्छदिट्ठी य अविरयसम्मद्दिट्ठी विरयाविरए पमत्ते य ॥ १ ॥

तत्तो य अप्पमत्तो नियट्टिअनियट्टिबायरे सुहुमे। उवसंतखीणमोहे होइ सजोगी अजोगी य ॥ २ ॥

गाथाद्वयस्य व्याख्या—कश्चिद्भूतग्रामो मिथ्यादृष्टिः, तथा सास्वादनश्चान्यः, सहैव तत्त्वश्रद्धानरसास्वादनेन वर्तत इति सास्वादनः, क्वणद्घण्टालालान्यायेन प्रायः परित्यक्तसम्यक्त्वः, तदुत्तरकालं षडावलिकाः, तथा चोक्तम्—"उवसमसंमत्तातो चयतो मिच्छं अपावमाणस्स। सासायणसंमत्तं तदंतरालंमि छावलियं ॥ १ ॥" तथा सम्यग्मिथ्यादृष्टिश्च

१ उपशमसम्यक्त्वात् च्यवमानस्य मिथ्यात्वमप्राप्नुवतः। सास्वादनसम्यक्त्वं तदन्तराले षडावलिकाः ॥ १ ॥

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्तिः

जीवानाम् १४ भेदानां वर्णनं

प्रत
सूत्रांक
[सू.]

दीप
अनुक्रम
[२५]

आवश्यक-हारिभद्रीया ॥६५०॥ ४ प्रतिक्रमणाध्य०

सम्यक्त्वं प्रतिपद्यमानः प्रायः सञ्ज्ञाततत्त्वरुचिरित्यर्थः, तथाऽविरतसम्यग्दृष्टिः–देशविरतिरहितः सम्यग्दृष्टिः, विरताविरतः–श्रावकग्रामः, प्रमत्तश्च प्रकरणात्प्रमत्तसंयतग्रामो गृह्यते, ततश्चाप्रमत्तसंयतग्राम एव, 'णियट्टिअणियट्टिबायरो'त्ति निवृत्तिबादरोऽनिवृत्तिबादरश्च, तत्र क्षपकश्रेण्यन्तर्गतो जीवग्रामः क्षीणदर्शनसप्तकः निवृत्तिबादरो भण्यते, तत ऊर्ध्वं लोभाणुवेदनं यावदनिवृत्तिबादरः, 'सुहुमे'त्ति लोभाणून् वेदयन् सूक्ष्मो भण्यते, सूक्ष्मसम्पराय इत्यर्थः, उपशान्तक्षीणमोहः श्रेणिपरिसमाप्तावन्तर्मुहूर्तं यावदुपशान्तवीतरागः क्षीणवीतरागश्च भवति, सयोगी अनिरुद्धयोगः भवस्थकेवलिग्राम इत्यर्थः, अयोगी च निरुद्धयोगः शैलेश्यां गतो ह्रस्वपञ्चाक्षरोद्गिरणमात्रकालं यावत् इति गाथाद्वयसमासार्थः ॥ व्यासार्थस्तु प्रज्ञापनादिभ्योऽवसेयः ॥ पञ्चदशभिः परमाधार्मिकैः, क्रिया पूर्ववत्, परमाश्च तेऽधार्मिकाश्च २, संक्लिष्टपरिणामत्वात्परमाधार्मिकाः, तानभिधित्सुराह सङ्ग्रहणिकारः—

[1]अंबे [2]अंबरिसी चेव, [3]सामे [4]अ सबले इय । [5]रुद्दो[6]वरुद्द[7]काले य, [8]महाकालेत्ति आवरे ॥ १ ॥
[9]असिपत्ते [10]धणकुंभे[11], [12]वालू [13]वेयरणी इय । [14]खरस्सरे महाघोसे,[15] एए पन्नरसाहिया ॥ २ ॥

इदं गाथाद्वयं सूत्रकृन्निर्युक्तिगाथाभिरेव प्रकटार्थाभिर्व्याख्यायते–धाडेंति पहावेंति य हणंति बंधंति (विंधंति—विध्यन्ति) तह निसुंभंति । मुंचंति अंबरतले अंबा खलु तत्थ नेरइया ॥ १ ॥ ओहयहए य तहियं निस्सण्णे कप्पणीहिं ॥६५०॥

१ धाटयन्ति (प्रेरयन्ति) प्रधावयन्ति (भ्रमयन्ति) च घ्नन्ति बध्नन्ति तथा भूमौ पातयन्ति । मुञ्चन्ति अम्बरतलात् अम्बाः खलु तत्र नैरयिकान् ॥ १ ॥ उपहतहतान् तत्र च निःसंज्ञान् कल्पनीभिः

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्तिः

परमाधार्मिकानां १५ भेदानां वर्णनं

प्रत सूत्रांक [सू.]

दीप अनुक्रम [२५]

कंप्पंति । बिदलियचदुलयछिन्ने अंबरिसा तत्थ नेरइए ॥ २ ॥ साडणपाडणतुन्नण (तोदण) विंधण (बंधण) रज्जूत-ल(लय)प्पहारेहिं । सामा नेरइयाणं पवत्तयंती अपुण्णाणं ॥ ३ ॥ अंतगयफेफ (यकीक) साणि य हिययं कालेज्जफुप्फुसे चुण्णे । सबला नेरइयाणं पवत्तयंती अपुण्णाणं ॥ ४ ॥ असिसत्तिकुंततोमरसूलतिसूलेसु सूइचिइयासु । पोएंति रुद्दकम्मा नरयपाला तहिं रोद्दा ॥ ५ ॥ भंजंति अंगमंगाणि ऊरू बाहू सिराणि करचरणे । कप्पंति कप्पणीहिं उवरुद्दा पावकम्मरए ॥ ६ ॥ मीरासु सुंडएसु य कंडूसु पयणगेसु य पयंति । कुंभीसु य लोहीसु य पयंति काला उ नेरइया ॥ ७ ॥ कप्पिंति कागिणीमंसगाणिं छिंदंति सीहपुच्छाणि । खायंति य नेरइए महाकाला पावकम्मरए ॥ ८ ॥ हत्थे पाए ऊरू बाहू य सिरं च अंगुवंगाणि । छिंदंति पगामं तु असिनेरइया उ नेरइए ॥ ९ ॥ कण्णोट्ठनासकरचरणदसणथणपूअऊरुबाहूणं । छेयणभेयण-साडण असिपत्तधणूहिं पाडिंति ॥ १० ॥ कुंभीसु य पइणीसु य लोहीसु कंडुलोहकुंभीसु । कुंभी उ नरयपाला हणंति

१ कल्पन्ते । द्विदलवत् तिर्यकृछिन्नान् अम्बर्षयस्तत्र नैरयिकान् (कुर्वन्ति) ॥ २ ॥ शातनपातनवयनव्यथनानि रज्जुलताप्रहारैः । श्यामा नैरयिकाणां प्रवर्त्तयन्ति अपुण्यानाम् ॥ ३ ॥ अन्त्रगतकीकसानि हृदयं कालेयकफुप्फुसानि चूर्णयन्ति । शबला नैरयिकाणां प्रवर्त्तयन्त्यपुण्यानाम् ॥ ४ ॥ असिशक्तिकुन्त-तोमरशूलत्रिशूलेषु सूचिचितिकासु । प्रोतयन्ति रुद्रकर्माणस्तु नरकपालास्तत्र रौद्राः ॥ ५ ॥ भञ्जन्ति अङ्गोपाङ्गानि ऊरुणी बाहू शिरः करौ चरणौ । कल्पन्ते कल्पनीभिः उपरुद्राः पापकर्मरताः ॥ ६ ॥ दीर्घचुल्लीषु शुण्ठकेषु च कुम्भीषु च कन्दूषु प्रचनकेषु (प्रचण्डेषु) च पचन्ति । कुम्भीषु च लौहीषु च पचन्ति कालास्तु नारकान् ॥ ७ ॥ कल्पन्ते काकिणी (श्लक्ष्ण) मांसानि छिन्दन्ति सिंहपुच्छान् (पृष्ठिवर्धान्) । खादयन्ति च नैरयिकान् महाकालाः पापकर्मरतान् ॥ ८ ॥ हस्तौ पादौ ऊरुणी बाहू च शिरः अङ्गोपाङ्गानि । छिन्दन्ति प्रकाममेव असिनरकपालास्तु नैरयिकान् ॥९॥ कर्णोष्ठनासिकाकरचरणदशनस्तनपूतोरु-बाहूनाम् । छेदनभेदनशातनानि असिपत्रधनुर्भिः पातयन्ति ॥ १० ॥ कुम्भीषु च पचनीषु च लौहीषु कन्दूलोहकुम्भीषु । कुम्भिकास्तु नरकपाला घ्नन्ति

प्रत
सूत्रांक
[सू.]

दीप
अनुक्रम
[२५]

पाइंति नरएसु ॥ ११ ॥ तडतडतडस्स भुंजति भज्जणे कलंबुवालुयापट्ठे । वालुयगा नेरइया लोलेंति अंबरतलंमि ॥ १२॥ वसपूयरुहिरकेसट्ठिवाहिणी कलकलंतजउसोत्तं । वेयरणिनिरयपाला नेरइए ऊ पवाहंति ॥ १३ ॥ कप्पंति करगतेहिं कप्पंति परोप्परं परसुएहिं । संबलियमारुहंती खरस्सरा तत्थ नेरइए ॥ १४ ॥ भीए य पलायंते समंतओ तत्थ ते निरुंभंति । पसुणो जहा पसुवहे महघोसा तत्थ नेरइए ॥ १५ ॥ षोडशभिर्गाथाषोडशैः सूत्रकृताङ्गाद्यश्रुतस्कन्धाध्ययनैरित्यर्थः, क्रिया पूर्ववत्, तानि पुनरमून्यध्ययनानि—

समयो वेयालीयं उवसग्गपरिण्णथीपरिण्णा य । निरयविभत्तीवीरत्थओ य कुसीलाणं परिहासा ॥ १ ॥
वीरियधम्मसमाही मग्गसमोसरणं अहतहं गंथो । जमईयं तह गाहासोलसमं होइ अज्झयणं ॥ २ ॥

गाथाद्वयं निगदसिद्धमेव,

सप्तदशविधे संयमे, सप्तदशविधे–सप्तदशप्रकारे संयमे सति, तद्विषयो वा प्रतिषिद्धकरणादिना प्रकारेण योऽतिचारः कृत इति, क्रियायोजना पूर्ववत्, सप्तदशविधसंयमप्रतिपादनायाह—

---

१ पाचयन्ति नरकेषु ॥ ११ ॥ तडतडतडत्कुर्वन्तो भृज्जन्ति भ्राष्टे कदम्बवालुकापृष्ठे । वालुका नैरयिकपालाः लोलयन्त्यम्बरतले ॥ १२ ॥ वसापूयरुधिरकेशास्थिवाहिनीं कलकलज्जलश्रोतसम् । वैतरणीनरकपाला नैरयिकांस्तु प्रवाहयन्ति ॥ १३ ॥ कल्पन्ते क्रकचैः कल्पयन्ति परस्परं परशुभिः । शाल्मलीमारोहयन्ति खरस्वरास्तत्र नैरयिकान् ॥ १४ ॥ भीतांश्च पलायमानान् समन्ततस्तत्र तान्निरुन्धन्ति । पशून् यथा पशुवधे महाघोषास्तत्र नैरयिकान् ॥ १५ ॥ ॥६५१॥

प्रत सूत्रांक [सू.] दीप अनुक्रम [२५]

पुढविदगअगणिमारुयवणस्सइ बितिचउपणिंदिअजीवो । पेहुप्पेहपमज्जणपरिट्ठवणमणोवईकाए ॥ १ ॥

व्याख्या—पुढवाइयाण जाव य पंचेंदियसंजमो भवे तेसिं । संघट्टणाइ न करे तिविहेणं करणजोएणं ॥ १ ॥ अजीवेहिवि जेहिं गहिएहिं असंजमो हवइ जइणो । जह पोत्थदूसपणए तणपणए चम्मपणए य ॥ २ ॥ गंडी कच्छवि मुट्ठी संपुडफलए तहा छिवाडी य । एयं पोत्थयपणगं पण्णत्तं वीयराएहिं ॥ ३ ॥ बाहल्लपुहुत्तेहिं गंडीपोत्थो उ तुलगो दीहो । कच्छवि अंते तणुओ मज्झे पिहुलो मुणेयव्वो ॥ ४ ॥ चउरंगुलदीहो वा वट्टागिइ मुट्ठिपोत्थओ अहवा । चउरंगुलदीहोच्चिय चउरस्सो वावि विण्णेओ ॥ ५ ॥ संपुडओ दुगमाई फलगावोच्छं छिवाडिमेत्ताहे । तणुपत्तूसियरूवो होइ छिवाडी बुहा बेंति ॥ ६ ॥ दीहो वा हस्सो वा जो पिहुलो होइ अप्पबाहुल्ले । तं मुणियसमयसारा छिवाडिपोत्थं भणंतीह ॥ ७ ॥ दुविहं च दूसपणयं समासओ तंपि होइ नायव्वं । अप्पडिलेहियपणयं दुप्पडिलेहं च विण्णेयं ॥ ८ ॥ अप्पडिलेहियदूसे

१ पृथ्व्यादयो यावच्च पञ्चेन्द्रियाः संयमो भवेत्तेषाम् । संघट्टनादि न करोति त्रिविधेन करणयोगेन ॥ १ ॥ अजीवेष्वपि येषु गृहीतेषु असंयमो भवति यतेः । यथा पुस्तकदूष्यपञ्चके तृणपञ्चके चर्मपञ्चके च ॥ २ ॥ गण्डी कच्छपी मुष्टिः संपुटफलकस्तथा सृपाटिका च । एतत् पुस्तकपञ्चकं प्रज्ञप्तं वीतरागैः ॥ ३ ॥ बाहल्यपृथक्त्वैर्गण्डीपुस्तकं तु तुल्यं दीर्घम् । कच्छपी अन्ते तनुकं मध्ये पृथु मुणितव्यम् ॥ ४ ॥ चतुरङ्गुलं दीर्घं वा वृत्ताकृति मुष्टिपुस्तकमथवा । चतुरङ्गुलदीर्घमेव चतुरस्रं वाऽपि विज्ञेयं ॥ ५ ॥ संपुटः फलकानि द्विकादीनि वक्ष्ये सृपाटिकामधुना । तनुपत्रोच्छ्रितरूपं भवति सृपाटिका बुधा ब्रुवते ॥ ६ ॥ दीर्घो वा ह्रस्वो वा यः पृथुर्भवत्यल्पबाहल्यः । तं ज्ञातसमयसाराः सृपाटिकापुस्तकं भणन्तीह ॥ ७ ॥ द्विविधं च दूष्यपञ्चकं समासतस्तदपि भवति ज्ञातव्यम् । अप्रतिलेखितपञ्चकं दुष्प्रतिलेखं च विज्ञेयम् ॥ ८ ॥ अप्रतिलेखितदूष्यपञ्चके

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्तिः

संयमस्य १७ भेदानां वर्णनं

प्रत सूत्रांक [सू.]

दीप अनुक्रम [२५]

आवश्यक-हारिभ-द्रीया

॥६५२॥

४ प्रतिक्रम-मणाध्य०

तूली उवहाणगं च नायवं । गंडुवहाणालिंगणि मसूरए चेव पोत्तमए ॥ ९ ॥ पल्हवि कोयवि पावार णवयए तहा य दाढि-गालीओ । दुप्पडिलेहियदूसे एयं बीयं भवे पणयं ॥ १० ॥ पल्हवि हत्थुत्थरणं कोयवओ रूयपूरिओ पडओ । दढिगालि धोयपोत्ती सेस पसिद्धा भवे भेया ॥ ११ ॥ तणपणयं पुण भणियं जिणेहिं जियरायदोसमोहेहिं । साली वीही कोद्दव-रालग रण्णेतणाइं च ॥ १२ ॥ अलएलगाविमहिसी मिगाणमइणंच पंचमं होइ । तलिगा खलुग बज्झे कोसग कत्ती य बीयं तु ॥ १३ ॥ अह वियडहिरन्नाई ताइ न गिण्हइ असंजमो साहू । ठाणाइ जत्थ चेते पेहपमज्जित्तु तत्थ करे ॥ १४ ॥ एसा पेहुवपेहा पुणो य दुविहा उ होइ नायवा । वावारावावारे वावारे जह उ गामस्स ॥ १५ ॥ एसो उविक्खगो हू अवा-वारे जहा विणस्संतं । किं एयं नु उवेक्खसि दुविहाए वेत्थ अहिगारो ॥ १६ ॥ वावारुवेक्ख तहियं संभोइय सीयमाण चोएइ । चोएई इयरंपी पावयणीयंमि कज्जंमि ॥ १७ ॥ अवावार उवेक्खा नवि चोएइ गिहिं तु सीयंतं । कम्मेसुं

---

१ तूली उपधानकं च ज्ञातव्यम् । गण्डोपधानमालिङ्गिनी मसूरकश्चैव पोतमयः ॥ ९ ॥ पल्हवी (प्रल्हत्तिः) कौतपी प्रावारो नवत्वक् तथा दंष्ट्रा-गाली तु । दुष्प्रतिलिखितदूष्ये एतद् द्वितीयं भवेत् पञ्चकम् ॥ १० ॥ पल्हवी हस्तास्तरणं कौतपो रुतपूरितः पटः । दंष्ट्रागाली धौतपोतं शेषौ प्रसिद्धौ भवेतां भेदौ ॥ ११ ॥ तृणपञ्चकं पुनर्भणितं जिनैर्जितरागद्वेषमोहैः । शालिर्व्रीहिः कोद्रवः रालकोऽरण्यतृणानि च ॥ १२ ॥ अजैडकगोमहिषाणां मृगाणामजिनं च पञ्चमं भवति । तलिका खल्लको वर्ध्रः कोशः कर्त्तरी च द्वितीयं तु ॥ १३ ॥ अथ हिरण्यविकटादीनि (अजीवाः) तानि न गृह्णाति असंयमः (मत्वात्) साधुः । स्थानादि यत्र चिकीर्षेत् प्रेक्ष्य प्रमार्ज्य तत्र कुर्यात् ॥ १४ ॥ एषा प्रेक्षा उपेक्षा पुनर्द्विविधा तु भवति ज्ञातव्या । व्यापारेऽव्यापारे व्यापारे यथैव (इन्द्रिय) ग्रामस्य ॥ १५ ॥ एष उपेक्षकः अव्यापारे यथा विनश्यत् । किमेतत्तूपेक्षसे द्विविधयाऽप्यत्राधिकारः ॥१६॥ व्यापारोपेक्षा तत्र सांभोगिकान् सीदतश्चोदयति । चोदयति इतरमपि प्रावचनीये कार्ये ॥ १७ ॥ अव्यापारोपेक्षा नैव चोदयति गृहिणं तु सीदन्तम् । कर्मसु

॥६५२॥

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्ति:

प्रत सूत्रांक [सू.]

दीप अनुक्रम [२५]

बहुविहेसुं संजम एसो उवेक्खाए ॥ १८ ॥ पाए सागारिएसुं अपमज्जित्तावि संजमो होइ । ते चेव पमज्जंते असागारिए संजमो होइ ॥ १९ ॥ पाणेहिं संसत्तं भत्तं पाणमहवावि अविसुद्धं । उवगरणपत्तमाई जं वा अइरित्त होज्जाहि ॥ २० ॥ तं परिठवणविहीए अवहट्टु संजमो भवे एसो । अकुसलमणवइरोहे कुसलाण उदीरणं जं तु ॥ २१ ॥ मणवइसंजम एसो काए पुण जं अवस्सकज्जंमि । गमणागमणं भवई तओवउत्तो कुणइ संमं ॥ २२ ॥ तवज्जं कुम्मस्सव सुसमाहियपाणिपायकायस्स । हवई य कायसंजमो चिट्ठंतस्सेव साहुस्स ॥ २३ ॥ अष्टादशप्रकारे अब्रह्मणि–अब्रह्मचर्ये सति तद्विषयो वा प्रतिषिद्धकरणादिना प्रकारेण योऽतिचारः कृत इति, क्रिया पूर्ववत्, तत्राष्टादशविधाब्रह्मप्रतिपादनायाह सङ्ग्रहणिकारः—

ओरालियं च दिव्वं मणवइकाएण करणजोएणं । अणुमोयणकारवणे करणेणऽट्ठारसाबंभं ॥ १ ॥

व्याख्या—इह मूलतो द्विधाऽब्रह्म भवति–औदारिकं तिर्यग्मनुष्याणां दिव्यं च भवनवास्यादीनां, चशब्दस्य व्यवहितः सम्बन्धः, मनोवाक्कायाः करणं त्रिधा, योगेन त्रिविधेनैवानुमोदनकारापणकरणेन निरूपितं, पश्चानुपूर्व्योपन्यासः,

---

१ बहुविधेषु संयम एष उपेक्षायाः ॥ १८ ॥ पादौ सागारिकेषु अप्रमार्ज्यापि (अप्रमृजत्यपि) संयमो भवति । तावेव प्रमार्जयति असागारिके संयमो भवति ॥ १९ ॥ प्राणिभिः संसक्तं भक्तं पानमथवाऽप्यविशुद्धम् । उपकरणपात्रादि यद्वाऽतिरिक्तं भवेत् ॥ २० ॥ तत् परिष्ठापनविधिनाऽपहृत्यसंयमो भवेदेषः । अकुशलमनोवाचोरोधे कुशलयोरुदीरणं यत्तु ॥ २१ ॥ मनोवाक्संयमावेतौ काये पुनर्यदवश्यकार्ये । गमनागमनं भवति तदुपयुक्तः करोति सम्यक् ॥ २२ ॥ तद्वर्जं कूर्मस्येव सुसमाहितपाणिपादकायस्य । भवति च कायसंयमस्तिष्ठत एव साधोः ॥ २३ ॥

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्तिः

अब्रह्मचर्यस्य १८ भेदानां वर्णनं

प्रत सूत्रांक [सू.]

दीप अनुक्रम [२५]

आवश्यक-हारिभ-द्रीया

॥६५३॥

अब्रह्माष्टादशविधं भवति, इयं भावना–औदारिकं स्वयं न करोति मनसा ३, नान्येन कारयति मनसा ३, कुर्वन्तं नानुमोदते मनसा ३, एवं वैक्रियमपि । प्राकृतशैल्या छान्दसत्वाच्चैकोनविंशतिभिर्ज्ञाताध्ययनैरिति वेदितव्यं, पाठान्तरं वा–'एगूणवीसाहिं णायज्झयणेहिंति' एवमन्यत्रापि द्रष्टव्यं, क्रिया पूर्ववत्, ज्ञाताध्ययनानि ज्ञाताधर्मकथान्तर्वर्तीनि, तान्येकोनविंशति अभिधानतः प्रतिपादयन्नाह सङ्ग्रहणिकारः

उक्खित्तणाए संघाडे, अंडे कुम्मे य सेलए । तुंबे य रोहिणी मल्ली, मागंदी चंदिमा इय ॥ १ ॥

दावद्दवे उदगणाए, मंडुक्के तेयली इय । नंदिफले अवरकंका, आयन्ने सुंसु पुंडरिया ॥ २ ॥

गाथाद्वयं निगदसिद्धं,। विंशतिभिरसमाधिस्थानैः, क्रिया प्राग्वदेव, तानि चामूनि–दवदवचारऽपमज्जिय दुपमज्जियेऽइरित्तसिज्जआसणिए । राइणियपरिभासिय थेरभूओवघाई य ॥ १ ॥ संजलणकोहणो पिट्ठिमंसिएऽभिक्खऽभिक्खमोहारी । अहिकरणकरोईरणे अकालसज्झायकारी या ॥ २ ॥ ससरक्खपाणिपाए सद्दकरो कलह झंझकारी य । सूरप्पमाणभोती वीसइमे एसणासमिए ॥ ३ ॥ गाथात्रयम्, अस्य व्याख्या—समाधानं समाधिः–चेतसः स्वास्थ्यं मोक्षमार्गेऽवस्थितिरित्यर्थः, न समाधिरसमाधिस्तस्य स्थानानि–आश्रया भेदाः पर्याया असमाधिस्थानान्युच्यन्ते, दवदवचारि दुयं दुयं निरवेक्खो वच्चंतो इहेव अप्पाणं पडणादिणा असमाहीए जोएइ, अन्ने य सत्ते बाधंते

४ प्रतिक्रमणाध्य०

॥६५३॥

१ द्रुतद्रुतचारी द्रुतं द्रुतं निरपेक्षो व्रजन् इहैवात्मानं पतनादिनाऽसमाधिना योजयति अन्यांश्च सत्त्वान् बाधमानान्

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्तिः

असमाधिस्थानानां २० भेदानां वर्णनं

प्रत सूत्रांक [सू.]

दीप अनुक्रम [२५]

असमाहीए जोएइ, सत्तवहजणिएण य कंमुणा परलोएवि अप्पाणं असमाहीए जोएइ, अतो द्रुत २ गन्तृत्वमसमाधिकारणत्वादसमाधिस्थानम्, एवमन्यत्रापि यथायोगं स्वबुद्ध्याऽक्षरगमनिका कार्येति, अपमज्जिए ठाणे निसीयणतुयट्टणाइ आयरंतो अप्पाणं विच्छुगडंकादिणा सत्ते य संघट्टणादिणा असमाहीए जोएइ, एवं दुपमज्जिएवि आयरंतो, अइरित्ते सेज्जाआसणिएत्ति अइरित्ताए सेज्जाए घंघसालाए अण्णेवि आवासेंति अहिगरणाइणा अप्पाणं परे य असमाहीए जोएइ आसणं–पीढफलगाइ तंपि अइरित्तमसमाहीए जोएइ, रायणियपरिभासी राइणिओ–आयरिओ अण्णो वा जो महल्लो जाइसुयपरियायादीहिं तस्स परिभासी परिभवकारी असुद्धचित्तत्तणओ अप्पाणं परे य असमाहीए जोयइ, थेरोवघाई थेरा–आयरिया गुरवो ते आयारदोसेण सीलदोसेण य णाणाईहिं उवहणति, उवहणंतो दुट्ठचित्तत्तणओ अप्पाणमण्णे य असमाहीए जोएइ, भूयाणि एगिंदिया ते अणट्ठाए उवहणइ उवहणंतो असमाहीए जोएइ, संजलणोत्ति मुहुत्ते २ रूसइ

१ असमाधिना योजयति, सत्त्ववधजनितेन च कर्मणा परलोकेऽपि आत्मानमसमाधिना योजयति १, अप्रमार्जिते स्थाने निषीदनत्वग्वर्तनाद्याचरन् आत्मानं वृश्चिकदंशादिना सत्त्वांश्च संघट्टनादिनाऽसमाधिना योजयति २, एवं दुष्प्रमार्जितेऽप्याचरन् ३, अतिरिक्तशय्यासनिक इति अतिरिक्तायां शय्यायां घट्ट-(बृहत्) शालायां अन्येऽप्यावासयन्ति अधिकरणादिनाऽऽत्मानं परांश्चासमाधिना योजयति, आसनं–पीठफलकादि तदप्यतिरिक्तमसमाधिना योजयति ४, रात्निकपरिभाषी रात्निकः–आचार्यः अन्यो वा यो महान् जातिश्रुतपर्यायादिभिः तस्य परिभाषी–पराभवकारी अशुद्धचित्तत्वात् आत्मानं परांश्चासमाधिना योजयति ५, स्थविरोपघाती स्थविराः–आचार्याः गुरवः तान् आचारदोषेण शीलदोषेण च ज्ञानादिभिरुपहन्ति, उपघ्नन् दुष्टचित्तत्वादात्मानं परांश्च असमाधिना योजयति ६, भूता एकेन्द्रियाः तान् अनर्थायोपहन्ति उपघ्नन् असमाधिना योजयति, संज्वलन इति मुहूर्ते २ रुष्यति

प्रत सूत्रांक [सू.]

दीप अनुक्रम [२५]

आवश्यक-हारिभ-द्रीया ॥६५४॥

४ प्रतिक्र-मणाध्य०

रुसंतो अप्पाणमण्णे य असमाहीए जोएइ, कोहणोत्ति सइ कुद्धो अच्चंतकुद्धो भवइ, सो य परमप्पाणं च असमाहीए जोएइ, एवं क्रिया वक्तव्या, पिट्ठिमंसिएत्ति परंमुहस्स अवण्णं भणइ, अभिक्खभिक्खमोहारीति अभिक्खणमोहारिणीं भासं भासइ जहा दासो तुमं चोरो वत्ति जं वा संकियं तं निस्संकियं भणइ एवं चेवत्ति, अहिगरणकरोदीरण अहिगरणाइं करेति अण्णेसिं कलहेइत्ति भणियं होति यन्त्रादीनि वा उदीरति, उवसंताणि पुणो उदीरेति, अकालसज्झायकारी य कालियसुयं उग्घाडापोरिसीए पढइ, पंतदेवया असमाहीए जोएइ, ससरक्खपाणिपाओ भवइ ससरक्खपाणिपाए सह स-रक्खेण ससरक्खे अथंडिला थंडिलं संकमंतो न पमज्जइ थंडिल्लाओवि अथंडिलं कण्हभोमाइसु विभासा ससरक्खपाणिपाए ससरक्खेहिं हत्थेहिं भिक्खं गेण्हइ अहवा अणंतरहियाए पुढवीए निसीयणाइ करेंतो ससरक्खपाणिपाओ भवति, सद्दं करेइ असंखडबोलं करेइ विगालेवि महया सद्देण उ वएइ वेरत्तियं वा गारत्थियं भासं भासइ, कलहकरेत्ति अप्पणा कलहं करेइ

१ रुष्यन् आत्मानमन्यांश्चासमाधिना योजयति ८, क्रोधन इति सकृत् क्रुद्धः अत्यन्तक्रुद्धो भवति, स च परमात्मानं चासमाधिना योजयति९, पृष्ठमांसाद इति पराङ्मुखस्यावर्णं भणति१०,अभीक्ष्णमभीक्ष्णमवधारक इति अभीक्ष्णमवधारिणीं भाषां भाषते यथा दासस्त्वं चौरो वेति यद्वा शङ्कितं तत् निःशङ्कितं भणति एवमे-वेति११, अधिकरणकर उदीरकः अधिकरणानि करोति अन्येषां कलहयतीति भणितं भवति, यन्त्रादीनि वोदीरयति, उपशान्तानि पुनरुदीरयति १२-१३,अकाल-स्वाध्यायकारी च कालिकश्रुतं चोद्घाटपौरुष्यां पठति, प्रान्तदेवताऽसमाधिना योजयेत् १४, सरजस्कपाणिपादो भवति सरजस्कपाणिपादः सह रजसा सरजस्कः अस्थण्डिलात् स्थण्डिलं संक्रामन् न प्रमार्जयति स्थण्डिलादपि अस्थण्डिलं कृष्णभूमादिषु विभाषा ससरजस्कपाणिपादः ससरजस्काभ्यां हस्ताभ्यां भिक्षां गृह्णाति अथवाऽनन्तर्हितायां पृथ्व्यां निषीदनादि कुर्वन् ससरजस्कपाणिपादो भवति १५, शब्दं करोति–कलहबोलं करोति विकालेऽपि महता शब्देनैव वदति वैरात्रिकं वा गार्हस्थभाषां भाषते १६, कलहकर इति आत्मना कलहं करोति

॥६५४॥

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [सू.]

दीप अनुक्रम [२६]

तं करेइ जेण कलहो भवइ, झंझकारी य जेण २ गणस्स भेओ भवइ सवो वा गणो झंझविओ अच्छइ तारिसं भासइ करेइ वा, सूरप्पमाणभोइत्ति सूर एव पमाणं तस्स उदियमेत्ते आरद्धो जाव न अत्थमेइ ताव भुंजइ सज्झायमाई ण करेति, पडिचोइओ रूसइ, अजीरगाई य असमाहि उप्पज्जइ, एसणाऽसमिएत्ति अणेसणं न परिहरइ पडिचोइओ साहूहिं समं भंडइ, अपरिहरंतो य कायाणमुवरोहे वट्टइ, वट्टंतो अप्पाणं असमाहीए जोएइत्ति गाथात्रयसमासार्थः ॥ विस्तरस्तु दशाख्याद् ग्रन्थान्तरादवसेय इति,

एक्कवीसाए सबलेहिं बावीसाए परीसहेहिं तेवीसाए सूयगडज्झयणेहिं चउवीसाए देवेहिं पंचवीसाए भावणाहिं छव्वीसाए दसाकप्पववहाराणं उद्देसणकालेहिं सत्तावीसविहे अणगारचरित्ते अट्ठावीसविहे आयारकप्पे एगूणतीसाए पावसुयपसंगेहिं तीसाए मोहणियठाणेहिं एगतीसाइ सिद्धाइगुणेहिं बत्तीसाए जोगसंगहेहिं (सूत्रं)

एकविंशतिभिः शबलैः क्रिया प्राग्वत्, तत्र शबलं चित्रमाख्यायते, शबलचारित्रनिमित्तत्वात् करकर्मकरणादयः क्रियाविशेषाः शबला भण्यन्ते, तथा चोक्तं—अवराहंमि पयणुए जेण उ मूलं न वच्चई साहू । सबलेंति तं चरित्तं तम्हा सबलत्तणं बेंति ॥ १ ॥ तानि चैकविंशतिशबलस्थानानि दर्शयन्नाह—

१ तत्करोति येन कलहो भवति १७, झञ्झकारी च येन येन गणस्य भेदो भवति सर्वो वा गणो झञ्झितो वर्त्तते तादृशं भाषते करोति वा १८, सूर्यप्रमाणभोजीति सूर्य एव प्रमाणं तस्योदयमात्रादारब्धः यावत् नास्तमयति तावत् भुनक्ति स्वाध्यायादि न करोति, प्रतिचोदितो रुष्यति, अजीर्णत्वादि चासमाधिरुत्पद्यते १९, एषणाऽसमित इत्यनेषणां न परिहरति प्रतिचोदितः साधुभिः समं कलहयति, अपरिहरंश्च कायानामुपरोधे वर्त्तते, वर्त्तमान आत्मानमसमाधिना योजयति २०। अप-

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्ति:

२१ शबल-दोषाणां स्वरुपम् एवं व्याख्या:

प्रत सूत्रांक [सू.]

दीप अनुक्रम [२६]

आवश्यक-हारिभद्रीया

॥६५५॥

४ प्रतिक्र-मणाध्य० २१शबलाः

तंजह उ हत्थकम्मं कुव्वंते मेहुणं च सेवंते । राइं च भुंजमाणे आहाकंमं च भुंजंते ॥ १ ॥ तत्तो य रायपिंडं कीयं पामिच्च अभिहडं छेज्जं । भुंजंते सबले ऊ पच्चक्खियऽभिक्खभुंजइ य ॥ २ ॥ छम्मासब्भंतरओ गणा गणं संकमं करेंते य । मासब्भंतर तिण्णि य दगलेवा ऊ करेमाणो ॥ ३ ॥ मासब्भंतरओ वा माइठाणाइं तिन्नि करेमाणे । पाणाइवायउट्टिं कुव्वंते मुसं वयंते य ॥ ४ ॥ गिण्हंते य अदिण्णं आउट्टि तह अणंतरहियाए । पुढवीय ठाणसेज्जं निसीहियं वावि चेतेइ ॥ ५ ॥ एवं ससणिद्धाए ससरक्खाचित्तमंतसिललेलुं । कोलावासपइट्ठा कोल घुणा तेसि आवासो ॥ ६ ॥ संडसपाणसबीओ जाव उ संताणए भवे तहियं । ठाणाइ चेयमाणो सबले आउट्टिआए उ ॥ ७ ॥ आउट्टि मूलकंदे पुप्फे य फले य बीयहरिए य । भुंजंते सबलेए तहेव संवच्छरस्संतो ॥ ८ ॥ दस दगलेवे कुणं तह माइट्ठाण दस य वरिसन्तो । आउट्टिय सीउदगं वग्घारियहत्थमत्ते य ॥ ९ ॥ दव्वीए भायणेण व दीयंतं भत्तपाण घेत्तूणं । भुंजइ सबलो एसो इगवीसो होइ नायव्वो ॥ १० ॥

आसां व्याख्या—हत्थकम्मं सयं करेंति परेण वा करेंते सबले १, मेहुणं च दिव्वाइ ३ अइक्कमाइसु तिसु सालंबणे य सेवंते सबले २, राइं च भुंजमाणेत्ति, एत्थ चउभंगो–दिया गेण्हइ दिया भुंजइ ह्या[४]अतिक्कमाइसु ४ सबले, सालंबणे

०राधे प्रतनुके येन तु न मूलं व्रजति साधुः । शबलयति तत् चारित्रं तस्मात् शबलत्वं ब्रुवते ॥ १ ॥ तद्यथा तु हस्तकर्म कुर्वंति मैथुनं च सेवमाने । रात्रौ च भुञ्जाने आधाकर्म च भुञ्जाने ॥ १ ॥ ततश्च राजपिण्डं क्रीतं प्रामित्यं अभिहृतमाच्छेद्यम् । भुञ्जाने शबलस्तु प्रत्याख्यायाभीक्ष्णं भुनक्ति च॥२॥ षण्मास्यभ्यन्तरतो गणाद् गणं संक्रमं कुर्वंश्च । मासाभ्यन्तरे त्रींश्च दकलेपांस्तु कुर्वन्॥३॥मासाभ्यन्तरतो वा मातृस्थानानि त्रीणि कुर्वन् । प्राणातिपातमाकुट्टया कुर्वन् मृषा वदंश्च॥४॥ गृह्णाति चादत्तं आकुट्टया तथाऽनन्तर्हितायां । पृथ्व्यां स्थानं शय्यां नैषेधिकीं वाऽपि करोति ॥ ५ ॥ एवं सस्निग्धायां सरजस्कचित्तवच्छिलालेलुनि । कोलावासप्रतिष्ठा कोला घुणास्तेषामावासः ॥ ६ ॥ साण्डसप्राणसबीजो यावत् ससंतानको भवेत् तत्र । स्थानादि कुर्वन् शबल आकुट्टयैव ॥ ७ ॥ आकुट्टया मूलकन्दान् पुष्पाणि च फलानि च बीजहरितानि च । भुञ्जानः शबल एष तथैव संवत्सरस्यान्तः ॥८॥ दश दकलेपान् कुर्वन् तथा दश मातृस्थानानि च वर्षान्तः । आकुट्टया शीतोदकं प्रलम्बिते (अल्पवृष्टौ) हस्तमात्रेण च॥ ९ ॥ दर्व्या भाजनेन वा (उदकार्द्रेण) दीयमानं भक्तपानं गृहीत्वा । भुनक्ति शबल एष एकविंशतितमो भवति ज्ञातव्यः ॥ १० ॥ हस्तकर्म स्वयं करोति परेण वा कारयति शबलो मैथुनं च दिव्यादि अतिक्रमादिभिस्त्रिभिः सालम्बनश्च सेवमानः शबलः, रात्रौ च भुञ्जाने, अत्र चतुर्भङ्गी–दिवा गृह्णाति दिवा भुङ्क्ते ४ अतिक्रमादिषु शबलः सालम्बने

॥६५५॥

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्ति:

प्रत सूत्रांक [सू.]

दीप अनुक्रम [२६]

पुण जयणाए, संनिहिमाईसु पडिसेवणाए चेव, एवमन्यत्रापि द्रष्टव्यं ३,'आहाकंमं च भुंजंते' प्रकटार्थं ४ रायपिंड ५ कीय६ पामिच्च ७ अभिहड ८ अच्छेज्ज ९ पसिद्धा 'पच्चक्खियभिक्ख भुंजइ य' असइं पच्चक्खिय २ भुंजए सबले १०, अंतो छण्हं मासाणं गणाओ गणसंकमं करेंते सबले अण्णत्थ णाणदंसणचरित्तट्ठयाए ११, 'मासब्भंतर तिण्णि य दगलेवे ऊ करेमाणे' लेवोत्ति नाभिप्पमाणमुदगं, भणियं च–"जंघद्धा संघट्टो णाभी लेवो परेण लेवुवरि"त्ति, अंतो मासस्स तिन्नि उदगलेवे उत्तरंते सबले१२,तिण्णि य माइट्ठाणाइं पच्छायणाईणि कुणमाणे सबले१३,आउट्टिआए–उपेत्य पुढवाइ पाणाइवायं कुणमाणे सबले१४, मुसं वयंते सबले१५, अदिण्णं च गिण्हमाणे सबले१६, अणंतरहियाए सचित्तपुढवीए ठाणं काउस्सग्गं सेज्जं सयणं निसीहियं च कुणमाणे सबले, ससणिद्धे दगेण ससरक्खा पुढविरएण, चित्तमंतसिला सचेयणा सिलत्ति भणियं होति, लेलू लेट्ठू, कोला–घुणा तेसिमावासो घुणखइयं कट्ठं, तत्थ ठाणाइं करेमाणे सबले, एवं सह अंडाईहिं जं तत्थवि ठाणाइ

---

१ पुनर्यतनया, सन्निध्यादेः प्रतिषेवणायामेव, आधाकर्मणि च भुञ्जाने, राजपिण्डं क्रीतं प्रामित्यं अभिहृतं आच्छेद्यं प्रसिद्धानि प्रत्याख्यायाभीक्ष्णं भुनक्ति च–असकृत् प्रत्याख्याय २ भुङ्क्ते शबलः, अन्तः षण्णां मासानां गणात् गणसंक्रमं कुर्वन् शबलः अन्यत्र ज्ञानदर्शनचारित्रार्थात्, मासाभ्यन्तरे त्रींश्चोदकलेपान् कुर्वन्, लेप इति नाभिप्रमाणमुदकं, भणितं च–जङ्घार्धे संघट्टो नाभिर्लेपः परतो लेपोपरीति, अन्तः मासस्य त्रीनुदकलेपानुत्तरन् शबलः, त्रीणि च मातृस्थानानि प्रच्छादनादीनि कुर्वन् शबलः, ज्ञात्वा पृथ्व्यादिप्राणातिपातं कुर्वन् शबलः, मृषा वदन् शबलः, अदत्तं च गृह्णन् शबलः, अनन्तर्हितायां सचित्तपृथ्व्यां स्थानं कायोत्सर्गं शय्यां (वसतिं) शयनं नैषेधिकीं च कुर्वन् शबलः, सस्निग्धोदकेन सरजस्कः पृथ्वीरजसा चित्तमती शिला सचेतना शिलेति भणितं भवति, लेलु–लेष्टुः, कोलाः–घुणाः तेषामावासो घुणखादितं काष्ठं, तत्र स्थानादि कुर्वन् शबलः, एवं सहाण्डादिभिः यत् तत्रापि स्थानादि

प्रत सूत्रांक [सू.]

दीप अनुक्रम [२६]

आवश्यक-हारिभद्रीया ॥६५६॥

४ प्रतिक्रमणाध्य० २१शबलाः

चेएमाणो सबले१७,आउट्टिआए मूलाई भुंजंते सबले१८,वरिसस्संतो दस दगलेवे य माइट्ठाणाइं कुव्वंते सबले,१९-२०सीओदगवग्घारिय हत्थमत्तेण गलंतेणंति भणियं होइ,एवं दव्वीए गलंतीए भायणेण य दिज्जंतं घेत्तूण भुंजमाणे सबले२१अयं च समासार्थः व्यासार्थस्तु दशाख्यग्रन्थान्तरादवसेयः,एवमसम्मोहार्थं दशानुसारेण सबलस्वरूपमभिहितं, सङ्ग्रहणिकारस्त्वेवमाह—

वरिसंतो दस मासस्स तिन्नि दगलेवमाइठाणाइं । आउट्टिया करेंतो वेहालियादिण्णमेहुण्णे ॥ १ ॥
निसिभत्तकम्मनिवपिंड कीयमाई अभिक्खसंवरिए । कंदाई भुंजंते उदउल्लहत्थाइ गेहणं च ॥ २ ॥
सच्चित्तसिलाकोले परविणिवाई ससिणिद्ध ससरक्खो । छम्मासंतो गणसंकमं च करंकमभिइ सबले ॥ ३ ॥

अस्य गाथात्रयस्यापि व्याख्या प्राग्निरूपितसबलानुसारेण कार्या । द्वाविंशतिभिः परीषहैः, क्रिया पूर्ववत् , तत्र “मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिषोढव्याः परीषहाः” (तत्त्वा० अ०९सू० ८) सम्यग्दर्शनादिमार्गाच्यवनार्थं ज्ञानावरणीयादिकर्मनिर्जरार्थं च परि–समन्तादापतन्तः क्षुत्पिपासादयो द्रव्यक्षेत्रकालभावापेक्षाः सोढव्याः–सहितव्या इत्यर्थः, परीषहांस्तान् स्वरूपेणाभिधित्सुराह—

खुहा पिवासा सीउण्हं दंसाचेला रइत्थिओ । चरियानिसीहिया सेज्जा अक्कोस वह जायणा ॥ १ ॥

॥६५६॥

---

१ कुर्वन् शबलः, ज्ञात्वा मूलादि भुञ्जानः शबलः, वर्षस्यान्तर्दश दकलेपान् दश च मातृस्थानानि कुर्वन् शबलः, शीतोदकार्द्रहस्तमात्राभ्यां गलद्भ्यामिति भणितं भवति, एवं दर्व्या गलन्त्या भाजनेन च दीयमानं गृहीत्वा भुञ्जानः शबलः

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्तिः

२२ परिषहाः, तेषां स्वरुपम् एवं व्याख्या:

प्रत सूत्रांक [सू.]

दीप अनुक्रम [२६]

अलाभ रोगे तणफासा मलसक्कारपरीसहा । पण्णा अण्णाणसंमत्तं इइ बावीस परीसहा ॥ २ ॥

व्याख्या—क्षुत्परीषहः–क्षुद्वेदनामुदितामशेषवेदनातिशायिनीं सम्यग्विषहमाणस्य जठरान्त्रविदाहिनीमागमविहितेनान्धसा शमयतोऽनेषणीयं च परिहरतः क्षुत्परीषहजयो भवति, अनेषणीयग्रहणे तु न विजितः स्यात् क्षुत्परीषहः, १, एवं पिपासापरीषहोऽपि द्रष्टव्यः २, 'सीयं'ति शीते महत्यपि पतति जीर्णवसनः परित्राणवर्जितो नाकल्प्यानि वासांसि परिगृह्णीयात् परिभुञ्जीत वा, नापि शीतार्तोऽग्निं ज्वालयेत् अन्यज्वालितं वा नाऽऽसेवयेत् , एवमनुतिष्ठता शीतपरीषहजयः कृतो भवति ३, 'उण्हं' उष्णपरितप्तोऽपि न जलावगाहनस्नानव्यजनवातादि वाञ्छयेत् , नैवातपत्राद्युष्णत्राणायाऽऽददीतेति, उष्णमापतितं सम्यक् सहेत, एवमनुतिष्ठतोष्णपरीषहजयः कृतो भवति ४, 'दंस'त्ति दंशमशकादिभिर्दश्यमानोऽपि न ततः स्थानादपगच्छेत् , न च तदपनयनार्थं धूमादिना यतेत, न च व्यजनादिना निवारयेदिति, एवमनुतिष्ठता दंशपरिषहजयः कृतो भवति५, एवमन्यत्रापि क्रिया योज्या, 'अचेल'त्ति अमहाधनमूल्यानि खण्डितानि जीर्णानि च वासांसि धारयेत् न च तथाविधो दैन्यं गच्छेत् , तथा चागमः–'परिजुण्णेहिं वत्थेहिं, होक्खामित्ति अचेलए । अदुवा सचेलए होक्खं, इति भिक्खू न चिंतए ॥ १ ॥' इत्यादि ६, 'अरति'त्ति विहरतस्तिष्ठतो वा यद्यरतिरुत्पद्यते तत्रोत्पन्नारतिनाऽपि सम्यग्धर्मारामरतेनैव संसारस्वभावमालोच्य भवितव्यं, 'इत्थीउ'त्ति न स्त्रीणामङ्गप्रत्यङ्गसंस्थानहसितललितनयनविभ्रमादिचेष्टां चिन्तयेत् , न जातुचिच्चक्षुरपि तासु निवेशयेत् मोक्षमार्गार्गलासु कामबुद्ध्येति ८, 'चरिय'त्ति

१ परिजीर्णेषु वस्त्रेषु भविष्याम्यचेलकः । अथवा सचेलको भविष्यामीति भिक्षुर्न चिन्तयेत् ॥ १ ॥

प्रत सूत्रांक [सू.] दीप अनुक्रम [२६]

आवश्यक-हारिभद्रीया ॥६५७॥

४ प्रतिक्रमणाध्य० २२ परिषहाः

वर्जितालस्यो ग्रामनगरकुलादिष्वनियतवसतिर्निर्ममत्वः प्रतिमासं चर्यामाचरेदिति ९, 'निसीहिय'त्ति निषीदन्त्यस्यामिति निषद्या-स्थानं तत् स्त्रीपशुपण्डकविवर्जितां वसतिं सेवेत पश्चाद्धाविनस्त्विष्टानिष्टोपसर्गान् सम्यगधिसहेत १०, 'सेज्ज'त्ति शय्या संस्तारकः—चम्पकादिपट्टो मृदुकठिनादिभेदेनोच्चावचः प्रतिश्रयो वा पांशूत्करप्रचुरः शिशिरो बहुधर्मको वा तत्र नोद्विजेत ११, 'अक्कोस'त्ति आक्रोशः-अनिष्टवचनं तच्छ्रुत्वा सत्येतरालोचनया न कुप्येत १२, 'वह'त्ति वधः—ताडनं पाणिपार्ष्णिलताकशादिभिः, तदपि शरीरमवश्यंतया विध्वंसत एवेति मत्वा सम्यक् सहेत, स्वकृतकर्मफलमुपनतमित्येवमभिसंचिन्तयेत् १३, 'जायण'त्ति याचनं-मार्गणं, भिक्षोर्हि वस्त्रपात्रान्नपानप्रतिश्रयादि परतो लब्धव्यं सर्वमेव, शालीनतया च न याच्ञां प्रत्याद्रियते, साधुना तु प्रागल्भ्यभाजा सञ्जाते कार्ये स्वधर्मकायपरिपालनाय याचनमवश्यं कार्यमिति, एवमनुतिष्ठता याच्ञापरीषहजयः कृतो भवति १४, 'अलाभ'त्ति याचितालाभेऽपि प्रसन्नचेतसैवाविकृतवदनेन भवितव्यं १५, 'रोग'त्ति रोगः-ज्वरातिसारकासश्वासादिस्तस्य प्रादुर्भावे सत्यपि न गच्छनिर्गताश्चिकित्सायां प्रवर्तन्ते, गच्छवासिनस्त्वल्पबहुत्वालोचनया सम्यक् सहन्ते, प्रवचनोक्तविधिना प्रतिक्रियामाचरन्तीति, एवमनुतिष्ठता रोगपरीषहजयः कृतो भवति १६, 'तणफास'त्ति अशुषिरतृणस्य दर्भादेः परिभोगोऽनुज्ञातो गच्छनिर्गतानां गच्छनिवासिनां च, तत्र येषां शयनमनुज्ञातं निष्पन्नानां ते तान् दर्भान् भूमावास्तीर्य संस्तारोत्तरपट्टकौ च दर्भाणामुपरि विधाय शेरते, चौरापहृतोपकरणा वा प्रतनुसंस्तारपट्टकावत्यन्तजीर्णत्वात्, तथाऽपि तं परुषकुशदर्भादितृणस्पर्शं सम्यक् सहेत १७, ॥६५७॥

प्रत
सूत्रांक
[सू.]

दीप
अनुक्रम
[२६]

'मल'त्ति स्वेदवारिसम्पर्कात्कठिनीभूतं रजो मलोऽभिधीयते, स वपुषि स्थिरतामितो ग्रीष्मोष्मसन्तापजनितघर्मजलादार्द्रतां गतो दुर्गन्धिर्महान्तमुद्वेगमापादयति, तदपनयनाय न कदाचिदभिलषेत्–अभिलाषं कुर्यात् १८, 'सक्कारपरीसहे'त्ति सत्कारो–भक्तपानवस्त्रपात्रादीनां परतो लाभः पुरस्कारः–सद्भूतगुणोत्कीर्तनं वन्दनाभ्युत्थानासनप्रदानादिव्यवहारश्च, तत्रासत्कारितोऽपुरस्कृतो वा न द्वेषं यायात् १९, 'पण्ण'त्ति प्रज्ञायतेऽनयेति प्रज्ञा–बुद्ध्यतिशयः, तत्प्राप्तौ न गर्वमुद्वहेत् २०, 'अण्णाणं'ति कर्मविपाकजादज्ञानान्नोद्विजेत २१, 'असंमत्तं'ति असम्यक्त्वपरीषहः, सर्वपापस्थानेभ्यो विरतः प्रकृष्टतपोऽनुष्ठायी निःसङ्गश्चाहं तथापि धर्माधर्मात्मदेवनारकादिभावान्नेक्षे अतो मृषा समस्तमेतदिति असम्यक्त्वपरीषहः, तत्रैवमालोचयेत्–धर्माधर्मौ पुण्यपापलक्षणौ यदि कर्मरूपौ पुद्गलात्मकौ ततस्तयोः कार्यदर्शनानुमानसमधिगम्यत्वं, अथ क्षमाक्रोधादिकौ धर्माधर्मौ ततः स्वानुभवत्वादात्मपरिणामरूपत्वात् प्रत्यक्षविरोधः, देवास्त्वत्यन्तसुखासक्तत्वान्मनुष्यलोके कार्याभावात् दुष्षमानुभावाच्च न दर्शनगोचरमायान्ति, नारकास्तु तीव्रवेदनार्ताः पूर्वकृतकर्मोदयनिगडबन्धनवशीकृतत्वादस्वतन्त्राः कथमायान्तीत्येवमालोचयतोऽसम्यक्त्वपरीषहजयो भवति, 'बावीस परीसह'त्ति एते द्वाविंशतिपरीषहा इति गाथाद्वयार्थः ॥त्रयोविंशतिभिः सूत्रकृताध्ययनैः, क्रिया पूर्ववत्, तानि पुनरमूनि—

पुंडरीयंकिरियट्ठाणं आहारपरिण्णेपच्चक्खाणकिरियाँ य । अणगारअद्दनालंद सोलसाइं च तेवीसं ॥ १ ॥

गाथा निगदसिद्धैव ॥ चतुर्विंशतिभिर्देवैः, क्रिया पूर्ववत्, तानुपदर्शयन्नाह–

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्ति:

प्रत सूत्रांक [सू.]

दीप अनुक्रम [२६]

आवश्यक-हारिभ-द्रीया

॥६५८॥

४ प्रतिक्रम-मणाध्य० २५भावना:

भवणवणजोइवेमाणिया य दसअट्ठपंचएगविहा । इइ चउवीसं देवा केइ पुण बेंति अरहंता ॥ १ ॥

इयमपि निगदसिद्धैव ॥ पञ्चविंशतिभिर्भावनाभिः, क्रिया पूर्ववत्, प्राणातिपातादिनिवृत्तिलक्षणमहाव्रतसंरक्षणाय भाव्यन्त इति भावनाः, ताश्चेमाः–

इरियासमिए सया जए, उवेह भुंजेज व पाणभोयणं । आयाणनिक्खेवदुगुंछ संजए, समाहिए संजमए मणोवई ॥ १ ॥ अहस्ससच्चे अणुवीइ भासए, जे कोहलोहभयमेव वज्जए । स दीहरायं समुपेहिया सिया, मुणी हु मोसं परिवज्जए सया ॥ २ ॥ सयमेव उ उग्गहजायणे; घडे मतिमं निसम्म सइ भिक्खु उग्गहं । अणुण्णविय भुंजिज्ज पाणभोयणं, जाइत्ता साहंमियाण उग्गहं ॥ ३ ॥ आहारगुत्ते अविभूसियप्पा, इत्थिं न निज्झाइ न संथवेज्जा । बुद्धो मुणी खुड्डकहं न कुज्जा, धम्माणुपेही संधए बंभचेरं ॥ ४ ॥ जे सद्दरूवरसगंधमागए, फासे य संपप्प मणुण्णपावए । गिहीपदोसं न करेज्ज पंडिए, स होइ दंते विरए अकिंचणे ॥ ५ ॥

गाथाः पञ्च, आसां व्याख्या–ईरणम् ईर्या, गमनमित्यर्थः, तस्यां समितः–सम्यगित ईर्यासमितः, ईर्यासमितता प्रथमभावना यतोऽसमितः प्राणिनो हिंसेदतः सदा यतः-सर्वकालमुपयुक्तः सन् ‘उवेह भुंजेज्ज व पाणभोयणं’“उवेह’त्ति अवलोक्य भुञ्जीत पानभोजनं, अनवलोक्य भुञ्जानः प्राणिनो हिंसेत, अवलोक्य भोक्तव्यं द्वितीयभावना, एवमन्यत्राप्यक्षरगमनिका कार्या, आदाननिक्षेपौ-पात्रादेर्ग्रहणमोक्षौ आगमप्रसिद्धौ जुगुप्सति–करोत्यादाननिक्षेपजुगुप्सकः,अजुगुप्सन् प्राणिनो हिंस्यात् तृतीयभावना, संयतः–साधुः समाहितः सन् संयमे ‘मणोवइ’त्ति अदुष्टं मनः प्रवर्तयेत्, दुष्टं प्रवर्तयन् प्राणिनो हिंसेत् चतुर्थी भावना, एवं वाचमपि पञ्चमी भावना, गताः प्रथमव्रतभावनाः। द्वितीयव्रतभावनाः प्रोच्यन्ते–‘अहस्ससच्चे’त्ति अहास्यात् ॥६५८॥

पञ्च महाव्रतानां २५ भावनाया; वर्णनं

प्रत सूत्रांक [सू.]

दीप अनुक्रम [२६]

सत्यः, हास्यपरित्यागादित्यर्थः, हास्यादनृतमपि ब्रूयात्, अतो हास्यपरित्यागः प्रथमभावना, अनुविचिन्त्य-पर्यालोच्य भाषेत, अन्यथाऽनृतमपि ब्रूयात् द्वितीयभावना, यः क्रोधं लोभं भयमेव वा त्यजेत्, स इत्थम्भूतो दीर्घरात्रं-मोक्षं समुपेक्ष्य-सामीप्येन द्रष्टा (दृष्टा) 'सिया' स्यात् मुनिरेव मृषां परिवर्जेत सदा, क्रोधादिभ्योऽनृतभाषणादिति भावनात्रयं, गता द्वितीयव्रतभावनाः। तृतीयव्रतभावनाः प्रोच्यन्ते-'स्वयमेव' आत्मनैव प्रभुं प्रभुसंदिष्टं वाऽधिकृत्य अवग्रहयाञ्चायां प्रवर्तेते अनुविचिन्त्यान्यथाऽदत्तं गृह्णीयात् प्रथमभावना, 'घडे मइमं निसम्म'त्ति तत्रैव तृणाद्यनुज्ञापनायां चेष्टेत मतिमान् निशम्य-आकर्ण्य प्रतिग्रहदातृवचनमन्यथा तददत्तं गृह्णीयात्, परिभोग इति द्वितीया भावना, 'सइ भिक्खु उग्गहं'ति सदा भिक्षुरवग्रहं स्पष्टमर्यादयाऽनुज्ञाप्य भजेत, अन्यथाऽदत्तं संगृह्णीयात्, तृतीया भावना, अनुज्ञाप्य गुरुमन्यं वा भुञ्जीत पानभोजनम्, अन्यथाऽदत्तं गृह्णीयात् चतुर्थी भावना, याचित्वा साधर्मिकाणामवग्रहं स्थानादि कार्यमन्यथा तृतीयव्रतविराधनेति पञ्चमी भावना, उक्तास्तृतीयव्रतभावनाः। साम्प्रतं चतुर्थव्रतभावनाः प्रोच्यन्ते—'आहारगुत्ते'त्ति आहारगुप्तः स्यात् नातिमात्रं स्निग्धं वा भुञ्जीत, अन्यथा ब्रह्मव्रतविराधकः स्यात् प्रथमा भावना, अविभूषितात्मा स्याद्-विभूषां न कुर्याद्, अन्यथा ब्रह्मव्रतविराधकः स्यात् द्वितीया भावना, स्त्रियं न निरीक्षेत तदव्यतिरेकादिन्द्रियाणि नाऽऽलोकयेद्, अन्यथा ब्रह्मविराधकः स्यात् तृतीया भावना, 'न संथवेज्ज'त्ति न स्त्र्यादिसंसक्तां वसतिं सेवेत, अन्यथा ब्रह्मविराधकः स्यात् चतुर्थी भावना, बुद्धः-अवगततत्त्वः मुनिः-साधुः क्षुद्रकथां न कुर्यात् स्त्रीकथां स्त्रीणां वेति, अन्यथा ब्रह्मविराधकः स्यात् पञ्चमी भावना,'धम्म (धम्माणु) पेही संधए बंभचेरं'ति निगदसिद्धम्, उक्ताश्चतुर्थव्र-

प्रत सूत्रांक [सू.]

दीप अनुक्रम [२६]

आवश्यक-हारिभ-द्रीया ॥६५९॥

४ प्रतिक्र-मणाध्य० २५भावनाः

तभावनाः। पञ्चमव्रतभावनाः प्रोच्यन्ते–यः शब्दरूपरसगन्धानागतान्, प्राकृतशैल्याऽलाक्षणिकोऽनुस्वारः, स्पर्शांश्च संप्राप्य मनोज्ञपापकान्–इष्टानिष्टानित्यर्थः, गृद्धिम्–अभिष्वङ्गलक्षणां, प्रद्वेषः प्रकटस्तं न कुर्यात् पण्डितः, स भवति दान्तो विरतोऽकिञ्चन इति, अन्यथाऽभिष्वङ्गादेः पञ्चममहाव्रतविराधना स्यात्, पञ्चापि भावनाः, उक्ताः पञ्चमहाव्रतभावनाः, अथवाऽसम्मोहार्थं यथाक्रमं प्रकटार्थाभिरेव भाष्यगाथाभिः प्रोच्यन्ते–"पणवीस भावणाओ पंचण्ह महव्वयाणमेयाओ। भणियाओ जिणगणहरपुज्जेहिं नवर सुत्तंमि ॥ १ ॥ इरियासमिइ पढमा आलोइयभत्तपाणभोई य। आयाणभंडनिक्खेवणा य समिई भवे तइया ॥ २ ॥ मणसमिई वयसमिई पाणइवायंमि होंति पंचेव। हासपरिहारअणुवीइ भासणा कोहलोहभयपरिण्णा ॥ ३ ॥ एस मुसावायस्स अदिन्नदाणस्स होंतिमा पंच। पहुसंदिट्ठ पहू वा पढमोग्गह जाएँ अणुवीई ॥ ४ ॥ उग्गहणसील बिइया तत्थोग्गेण्हेज्ज उग्गहं जहियं। तणडगलमल्लगाई अणुण्णवेज्जा तहिं तहियं ॥ ५ ॥ तच्चंमि उग्गहं तू अणुण्णवे सारिउग्गहे जा उ। तावइय मेर काउं न कप्पई बाहिरा तस्स ॥ ६ ॥ भावण चउत्थ साहंमियाण सामण्णमण्णपाणं तु। संघाडगमाईणं भुंजेज्ज अणुण्णवियए उ ॥ ७ ॥ पंचमियं गंतूणं साहम्मियउग्गहं अणुण्णविया। ठाणाई चेएज्जा पंचेव अदिण्णदाणस्स ॥ ८ ॥ बंभवयभावणाओ णो अइमायापणीयमाहारे। दोच्च अविभूसणा ऊ विभूसवत्ती न उ हवेज्जा ॥ ९ ॥ तच्चा भावण इत्थीण इंदिया मणहरा ण णिज्झाए। सयणासणा विचित्ता इत्थिपसुविवज्जिया सेज्जा ॥ १० ॥ एस चउत्था ण कहे इत्थीण कहं तु पंचमा एसा। सद्दा रूवा गंधा रसफासा पंचमी एए ॥ ११ ॥ रागद्दोसविवज्जण अपरिग्गहभावणाउ पंचेव। सव्वा पणवीसेया एयासु न वट्टियं जं तु ॥ १२ ॥" ॥६५९॥

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्ति:

प्रत सूत्रांक [सू.]

दीप अनुक्रम [२६]

षड्विंशतिभिर्दशाकल्पव्यवहाराणामुद्देशनकालैः, क्रिया पूर्ववत्, तानेवोद्देशनकालान्–श्रुतोपचारान् दर्शयन्नाह सङ्ग्रहणिकारः

दस उद्देसणकाला दसाण कप्पस्स होंति छच्चेव । दस चेव ववहारस्स वहोंति सव्वेवि छव्वीसं ॥ १ ॥

निगदसिद्धा । सप्तविंशतिप्रकारेऽनगारचारित्रे सति–साधुचारित्रे सति तद्विषयो वा प्रतिषिद्धादिना प्रकारेण योऽतिचारः कृत इति प्राग्वत्, सप्तविंशतिभेदान् प्रतिपादयन्नाह सङ्ग्रहणिकारः–

वयछक्कमिंदियाणं च निग्गहो भावकरणसच्चं च । खमयाविरागयावि य मणमाईणं निरोहो य ॥ १ ॥

कायाण छक्क जोगाण जुत्तया वेयणाऽहियासणया । तह मारणंतियऽहियासणा य एएऽणगारगुणा ॥ २ ॥

गाथाद्वयम्, अस्य व्याख्या–व्रतषट्कं–प्राणातिपातादिविरतिलक्षणं रात्रिभोजनविरतिपर्यवसानम्, इन्द्रियाणां च श्रोत्रादीनां निग्रहः–इष्टेतरेषु शब्दादिषु रागद्वेषाकरणमित्यर्थः, भावसत्यं–भावलिङ्गम् अन्तःशुद्धिः, करणसत्यं च बाह्यं प्रत्युपेक्षणादिकरणसत्यं भण्यते, क्षमा क्रोधनिग्रहः, विरागता लोभनिग्रहः, मनोवाक्कायानामकुशलानामकरणं कुशलानामनिरोधश्च, कायानां–पृथिव्यादीनां षट्कं सम्यगनुपालनविषयतयाऽनगारगुणा इति, संयमयोगयुक्तता, वेदना–शीतादिलक्षणा तदभिसहना वा, तथा मारणान्तिकाऽभिसहना च–कल्याणमित्रबुद्ध्या मारणान्तिकोपसर्गसहनमित्यर्थः एतेऽनगारगुणा इति गाथाद्वयार्थः ॥ अष्टाविंशतिविध आचार एवाऽऽचारप्रकल्पः, क्रिया पूर्ववत्, अष्टाविंशतिभेदान् दर्शयति–

सत्थपरिण्णा लोगो विजओ य सीओसणिज्ज संमत्तं । आवंति धुवविमोहो उवहाणसुय महापरिण्णा य ॥ १ ॥

पिंडेसणसिज्जिरियां भासज्जाया य वत्थपाएसा । उग्गहपडिमा सत्तेक्कतयं भावणविमुत्तीओ ॥ २ ॥

उग्घायमणुग्घायं आरूवणा तिविहमो णिसीहं तु । इय अट्ठावीसविहो आयारपकप्पणामोऽयं ॥ ३ ॥

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्तिः

अनगार (साधु) चारित्राणां २७ भेदानां वर्णनं

प्रत सूत्रांक [सू.]

दीप अनुक्रम [२६]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित: मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०] मूलसूत्र-[०१] आवश्यक मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्ति:

आवश्यक-हारिभ-द्रीया ॥६६०॥

४ प्रतिक्र-मणाध्य० २९ पाप-श्रुतानि

गाथात्रयं निगदसिद्धमेव, एकोनत्रिंशद्भिः पापश्रुतप्रसङ्गैः, क्रिया पूर्ववत्, पापोपादानानि श्रुतानि पापश्रुतानि तेषां प्रसङ्गाः–तथाऽऽसेवनारूपा इति, पापश्रुतानि दर्शयन्नाह सङ्ग्रहणिकारः—

अट्ठनिमित्तंगाइं दिव्वुप्पायंतलिक्खभोमं च । अंगसरलक्खणवंजणं च तिविहं पुणोक्केक्कं ॥ १ ॥
सुत्तं वित्ती तह वत्तियं च पावसुय अउणतीसविहं । गंधव्वनट्टवत्थुं आउं धणुवेयसंजुत्तं ॥ २ ॥

गाथाद्वयम्, अस्य व्याख्या—अष्ट निमित्ताङ्गानि दिव्यं–व्यन्तराद्यट्टहासादिविषयम्, उत्पातं–सहजरुधिरवृष्ट्यादि-विषयम्, अन्तरिक्षं–ग्रहभेदादिविषयं, भौमं–भूमिविकारदर्शनादेवास्मादिदं भवतीत्यादिविषयम्, अङ्गम्–अङ्गविषयं स्वरं–स्वरविषयं, व्यञ्जनं–मषादि तद्विषयं, तथा च–अङ्गादिदर्शनतस्तद्विदो भाविनं सुखादि जानन्त्येव, त्रिविधं पुनरेकैकं दिव्यादि सूत्रं वृत्तिः तथा वार्तिकं च, इत्यनेन भेदेन–दिव्वाईण सरूवं अंगविवज्जाण होंति सत्तण्हं । सुत्तं सहस्स लक्खो य वित्ती तह कोडि वक्खाणं ॥ १ ॥ अंगस्स सयसहस्सं सुत्तं वित्ती य कोडि विन्नेया । वक्खाणं अपरिमियं इयमेव य वत्तियं जाण ॥ २ ॥' पापश्रुतमेकोनत्रिंशद्विधं, कथम्?, अष्टौ मूलभेदाः सूत्रादिभेदेन त्रिगुणिताश्चतुर्विंशतिः गन्धर्वादिसंयुक्ता एकोनत्रिंशद्भवन्ति, 'वत्थुं'ति वास्तुविद्या 'आउ'न्ति वैद्यकं, शेषं प्रकटार्थं ॥ ॥६६०॥

१ दिव्यादीनां स्वरूपमङ्गविवर्जितानां भवति सप्तानाम् । सूत्रं सहस्रं लक्षं च वृत्तिस्तथा कोटी व्याख्यानम् ॥ १ ॥ अङ्गस्य शतसहस्रं सूत्रं वृत्तिश्च कोटी विज्ञेया । व्याख्यानमपरिमितं इदमेव वार्त्तिकं जानीहि ॥ २ ॥

*** पापश्रुत-प्रसङ्गानां २९ भेदानां वर्णनं

भाग 30

‘आवश्यक’-मूलसूत्र [१/३] मूलं एवं मलयगिरिसूरिजी रचिता टीका परिसमाप्ता:

मूल संशोधकः सम्पादकश्च पूज्य आनंदसागरसूरीश्वरजी महाराज साहेब

किंचित् वैशिष्ट्य समर्पितेन सह पुन: संकलनकर्ता मुनि दीपरत्नसागरजी [M.Com., M.Ed., Ph.D., श्रुतमहर्षि]

	सवृत्तिक-आगम-सुत्ताणि भाग १ से ४० में कहां क्या मिलेगा?		
भाग	इस भागमे समाविष्ट आगम के नाम और आगम-क्रम		कुलपृष्ठ
01	आगम ०१ आचार मूलं एवं वृत्ति भाग-१ श्रुतस्कन्ध-१, अध्ययन- १,२		३१४
02	आगम ०१ आचार मूलं एवं वृत्ति, भाग-२ श्रुतस्कन्ध-१, अध्ययन- ३ से ९, श्रुतस्कन्ध- २		५८६
03	आगम ०२ सूत्रकृत मूलं एवं वृत्ति, भाग-१ श्रुतस्क्न्ध-१, अध्ययन- १ से १३		४९८
04	आगम ०२ सूत्रकृत मूलं एवं वृत्ति, भाग-२ श्रुतस्क्न्ध-१, अध्ययन १४ से १६, श्रुतस्कन्ध-२		३९२
05	आगम ०३ स्थान मूलं एवं वृत्ति, भाग-१ स्थान- १ से ४		५९४
06	आगम ०३ स्थान मूलं एवं वृत्ति, भाग-२ स्थान- ५ से १० संपूर्ण		४९४
07	आगम ०४ समवाय मूलं एवं वृत्ति.		३३८
08	आगम ०५ भगवती मूलं एवं वृत्ति, भाग-१ शतक- १ से ६		५९२
09	आगम ०५ भगवती मूलं एवं वृत्ति, भाग-२ शतक- ७ से ११		५५२
10	आगम ०५ भगवती मूलं एवं वृत्ति, भाग-३ शतक- १२ से २०		५१४
11	आगम ०५ भगवती मूलं एवं वृत्ति, भाग-४ शतक- २१ से ४१ संपूर्ण		३८४
12	आगम ०६ ज्ञाताधर्मकथा मूलं एवं वृत्ति.		५२२
13	आगम-७,८,९,१०उपासकदशा, अंतकृतदशा, अनुत्तरोपपातिकदशा, प्रश्नव्याकरण मूलं एवं वृत्ति.		५३८
14	आगम-११,१२, विपाक, उववाई मूलं एवं वृत्ति.		३८४
15	आगम १३ राजप्रश्नीय मूलं एवं वृत्ति.		३१४
16	आगम१४ जीवाजीवाभिगम भाग-१ मूलं एवं वृत्ति. [प्रतिपत्ति-३-अतर्गत] सूत्र- १ से १३८		४८०
17	आगम१४ जीवाजीवाभिगम भाग-२ मूलं एवं वृत्ति. [प्रतिपत्ति-३-अतर्गत] सूत्र- १३९ से प्रतिपत्ती-१० संपूर्ण		४८८
18	आगम १५ प्रज्ञापना भाग-१ मूलं एवं वृत्ति. पद- १ से ५		४२६
19	आगम १५ प्रज्ञापना भाग-२ मूलं एवं वृत्ति. पद- ६ से २२		५१४
20	आगम १५ प्रज्ञापना भाग-३ मूलं एवं वृत्ति. पद- २३ से ३६ संपूर्ण		३३६
21	आगम १६ सूर्यप्रज्ञप्ति मूलं एवं वृत्ति.		६१०

	सवृत्तिक-आगम-सुत्ताणि भाग १ से ४० में कहां क्या मिलेगा?		
भाग	इस भागमे समाविष्ट आगम के नाम और आगम-क्रम		कुलपृष्ठ
22	आगम १७ चन्द्रप्रज्ञप्ति मूलं एवं वृत्ति.		६१४
23	आगम१८ जंबूद्विपप्रज्ञप्ति भाग-१ मूलं एवं वृत्ति. वक्षस्कार- १ एवं २.		३७६
24	आगम१८ जंबूद्विपप्रज्ञप्ति भाग-२ मूलं एवं वृत्ति. वक्षस्कार- ३ एवं ४.		४२६
25	आगम१८ जंबूद्विपप्रज्ञप्ति भाग-३ मूलं एवं वृत्ति. वक्षस्कार- ५ से ७.		३४४
26	आगम १९-३२ निरयावलिका, कल्पवतंसिका, पुष्पिका, पुष्पचूलिका, वृष्णिदशा, चतु:शरण, आतुरपरत्याख्यान, महाप्रत्याख्यान, भक्तपरिज्ञा, तंदुलवैचारिक, संस्तारक, गच्छाचार, गणिविदया, देवेन्द्रस्तव मूलं एवं छाया		३१२
27	आगम ३३ थी ३९ मरणसमाधि मूलं एवं छाया, निशीथ, ब्रुहत्कल्प, व्यवहार, दशाश्रुतस्कंध, जीतकल्प/पंचकल्प, महानिशीथ मूलं एव		३३०
28	आगम ४० आवश्यक मूलं एवं वृत्ति, भाग-१, निर्युक्ति- १ से ५२१		४६६
29	आगम ४० आवश्यक मूलं एवं वृत्ति, भाग-२, निर्युक्ति- ५२२ से ९५१		४४२
30	आगम ४० आवश्यक मूलं एवं वृत्ति, भाग-३ निर्युक्ति- ९५२ से १२७३ अपूर्ण, [अध्ययन- १ से ४ अपूर्ण]		४६४
31	आगम ४० आवश्यक मूलं एवं वृत्ति, भाग-४ निर्युक्ति- १२७३ अपूर्ण से १६२३, [अध्ययन- ४ अपूर्ण से ६ संपूर्ण]		४२६
32	आगम ४१/१ ओघनिर्युक्ति मूलं एवं वृत्ति.		४७२
33	आगम ४१/२ पिंडनिर्युक्ति मूलं एवं वृत्ति.		३७६
34	आगम ४२ दशवैकालिक मूलं एवं वृत्ति.		५९०
35	आगम ४३ उत्तराध्यन मूलं एवं वृत्ति, भाग-१, अध्ययन- १ से ५		५२२
36	आगम ४३ उत्तराध्यन मूलं एवं वृत्ति, भाग-२, अध्ययन- ६ से २१		४८२
37	आगम ४३ उत्तराध्यन मूलं एवं वृत्ति, भाग-३, अध्ययन- २२ से ३६		४६६
38	आगम ४४ नन्दिसूत्र मूलं एवं वृत्ति.		५२८
39	आगम ४५ अनुयोगद्वार् मूलं एवं वृत्ति.		५६०
40	कल्प[बारसा]सूत्र... चतु:शरण, तन्दुलवैचारिक, गच्छाचार मूलं एवं वृत्ति.		३९४

नमो नमो निम्मलदंसणस्स

पूज्य आनंद-क्षमा-ललित-सुशील-सुधर्मसागर गुरूभ्यो नम:

आगम [40/3]

भाग-३०, निर्युक्ति:- (९५२ से १२७३.अपूर्ण) + (अध्ययन १ से ४.अपूर्ण)

[शेष निर्युक्ति-१२७३ एवं शेष अध्ययन-४ भाग-३१स्य आरंभे वर्तते]

पूज्य आगमोध्धारक आचार्य श्री सागरानंदसूरीश्वरेण संशोधित: संपादितश्च

"आवश्यक मूलसूत्र" (मूलसूत्र-१/३) [मूलं एवं हरिभद्रसूरि-रचिता वृत्ति:]

(किंचित् वैशिष्ठ्यं समर्पितेन सह)

मुनि दीपरत्नसागरेण पुन: संकलित:

"आवश्यक" मूलं एवं वृत्ति: नामेण परिसमाप्त:

"सवृत्तिक-आगम-सुत्ताणि" श्रेणि, भाग-30

आगम

वाचना शताब्दी वर्ष

नमो नमो निम्मलदंसणस्स

सवृत्तिक-आगम-सुत्ताणि

मूल संशोधक

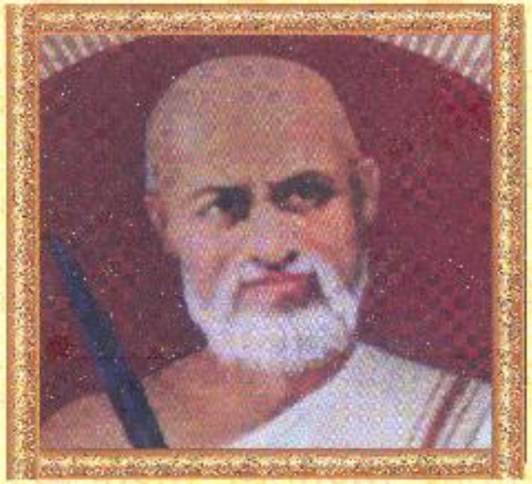

पूज्यपाद आगमोद्धारक आचार्य

श्री आनंदसागरसूरीश्वरजी महाराज

अभिनव-संकलनकर्ता

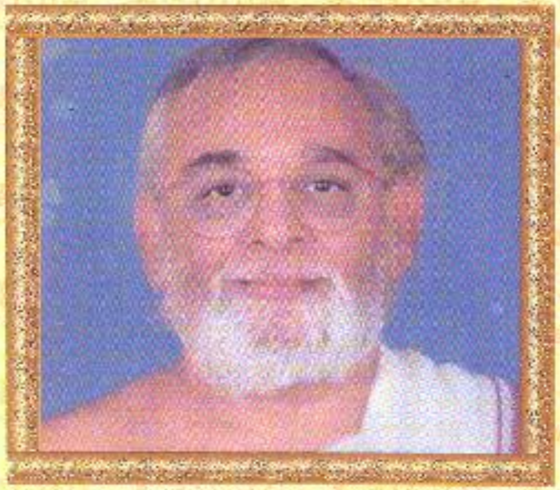

आगम दिवाकर **मुनिश्री दीपरत्नसागरजी**

[M.Com., M.Ed., Ph.D., श्रुतमहर्षि]

प्रत-प्राप्ति और पेज-सेटिंग कर्ता : www.jainelibrary.org के चेरमन श्री प्रवीणभाई शाह, अमेरिका

मुद्रक : नवप्रभात प्रिन्टींग प्रेस अमदाबाद Mo 9825598855 / 9825306275

ईस प्रोजेक्ट के संपूर्ण-अनुदान-दाता

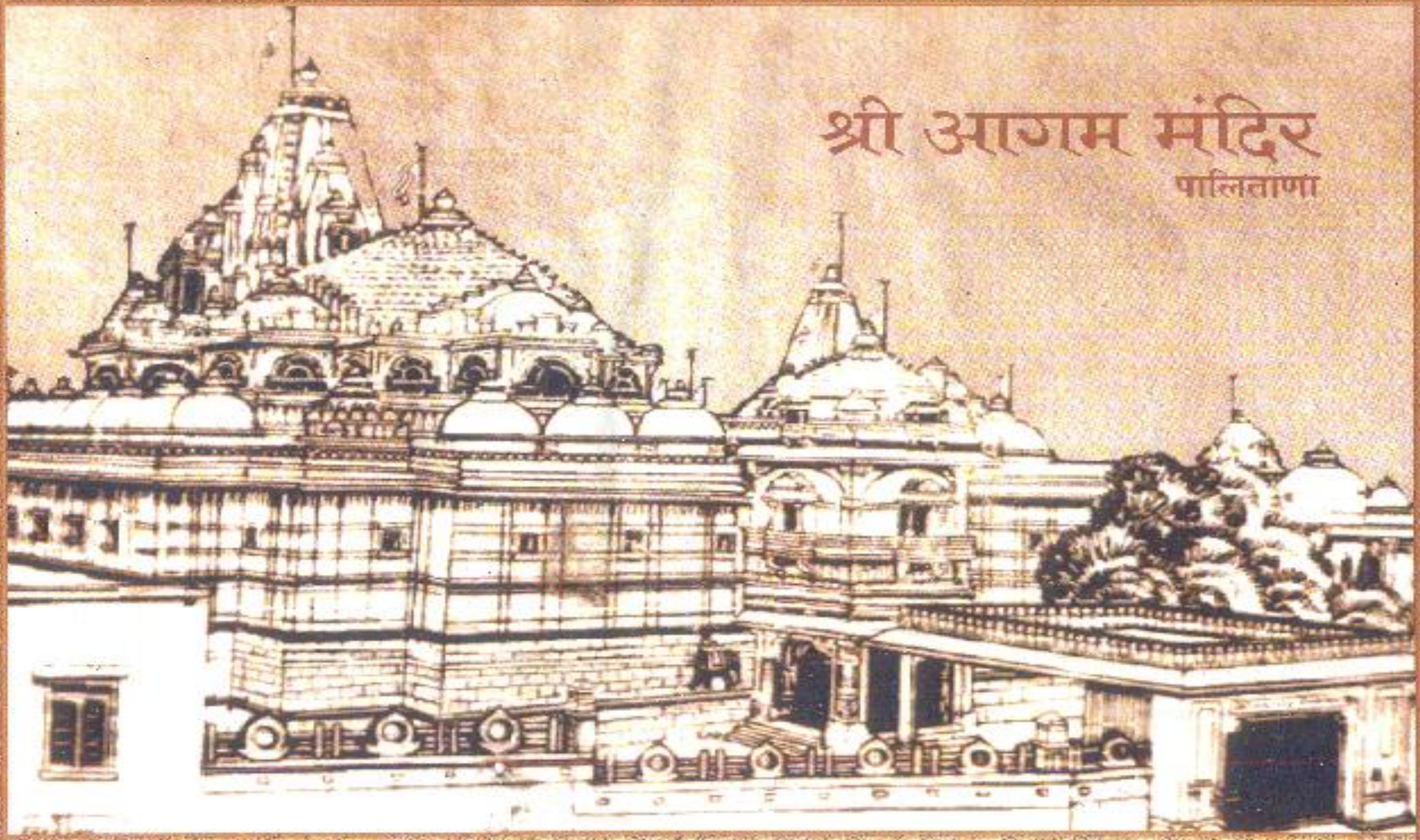

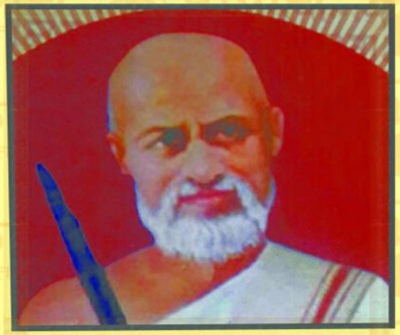

मूल संशोधक

पूज्यपाद आगमोद्धारक आचार्य

श्री आनंदसागरसूरीश्वरजी महाराजसाहेब

आगम ४०

“आवश्यक” मूलं एवं वृत्तिः [३]

अभिनव-संकलनकर्ता

आगम दिवाकर **मुनिश्री दीपरत्नसागरजी**
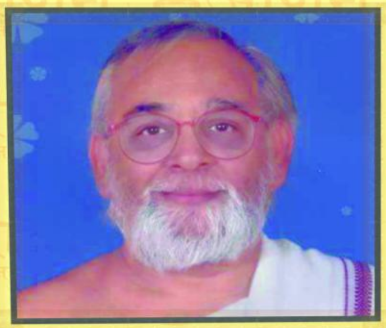
[M.Com., M.Ed., Ph.D., श्रुतमहर्षि]